



अन्तर्राष्ट्रीय ध  
व  
सम्बन्ध ले  
व : )  
विदेश  
नीति

दी स्टूडेंट्स बुक कम्पनी ।



# अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

व

## विदेश नीति

( १९१६-१९६८ )

लेखकगण

प्रो० कालूराम शर्मा एम० ए०

स्वयं पदक प्राप्त कर्त्ता

वनस्पती विद्यापीठ, वनस्पती

प्रो० वीरेन्द्र कुमार शर्मा, एम ए

स्नातकोत्तर राजनीति विभाग,

व्यानन्द कालेज, अजमेर

प्रो० राम पाण्डे

प्रवक्ता इतिहास

सेठ मोतीलाल कालेज, मुम्बई



‘दी स्टूडेंट्स बुक’ कम्पनी



प्रकाशक —

दो स्टूडेंट्स युक कम्पनी  
बीहा रास्ता, सोनती गेट,  
जयपुर ३ जोधपुर

तृतीय संशोधित संस्करण  
सन् १९६६

मूल्य ११) रु०

मुद्रक —

श्री जय अम्बे प्रेस,  
जयपुर ।

## तृतीय संस्करण की भूमिका

“अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध” का तृतीय परिवर्धित संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ा हर्ष है। प्रथम एवं द्वितीय संस्करणों में पाठकों और आलाचकों ने जिन बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया था, प्रस्तुत संस्करण में उनका समावेश कर दिया गया है। आज का विश्व निरन्तर विकासशील है और उसमें निरन्तर नूतन परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक चेतन्य नागरिक के लिए, विशेषकर राजनीति शास्त्र के अध्येताओं के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय जगत की प्रत्येक मुख्य घटना से परिचित रहना आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में सन् 1968 तक घटित घटनाओं एवं नवीनतम विवसित स्वतन्त्र राष्ट्रों का वर्णन सम्मिलित कर इसे up-to-date बना दिया है—विशेषतः, भारत-चीन सीमा विवाद, प्रमुख देशों की विदेशी नीति अफ्रीका, एशियाई, सगठन के साथ, रूस-चीन मतभेद, अरब-इजरायली संघर्ष, भारत-पाक युद्ध, तथा निःशस्त्रीकरण की दिशा में बड़े देशों का परीक्षण समाप्ति समझौता आदि विषयों का आलोचना सहित समावेश किया गया है। तृतीय संस्करण में एक और विशेषता है कि विश्व के बड़े देशों की विदेश नीतियों (Foreign policies) का विस्तार तथा आलोचनात्मक तरीके से समावेश किया है। वर्तमान समय तक की घटनाओं का वर्णन किसी भी पुस्तक में न मिलने के कारण विद्यार्थियों की कठिनाइयों का निवारण करने का प्रयास भी प्रस्तुत संस्करण में किया गया है। आशा ही नहीं वरन् विश्वास है कि प्रस्तुत संस्करण हर तरह से राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

—लेखकगण

## प्रस्तावना

आज का ससार नये और अभावि के विनाशकारी साह पर खड़ा है। नष्ट-नीति की घोड़ीसी भूल से मानव सभ्यता का अस्तित्व समाप्त हो सकता है क्योंकि शांति और सुरक्षा के उत्तरदायी रक्षक, ससार के महान् शक्तिशाली राष्ट्र अपने बतव्यों से निमुन हो गये हैं। उनमें मयकर प्रतिस्पर्धा चल रही है—युद्ध के महा विनाशकारी उपकरणों का सृजन किया जा रहा है, अपनी अपनी शक्ति के प्रशान की भावना बलवती होती जा रही है और मानव समाज भ्रमधार में पड़े हुए मुझाविर की भांति विनाश की तलाश में चिन्तित हैं, इस मयकर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का कम करने के लिए व्याकुल है।

इस अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के मूल कारण समझने के लिये जा उत्तरदायी घटनाओं एवं परिस्थितियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समझना अनिवार्य हो जाता है जिन्होंने इसे उत्पन्न किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ही एक ऐसी कुंजी है जो आज

की जटिल समस्याओं का नग्न इतिहास बतला सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी सावधानी से कदम बढ़ाने की जरूरत है। निष्पक्ष अध्ययन की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक उपरोक्त दृष्टि का साकार रूप है। जहाँ तक संभव हो सका है निष्पक्ष विचार सरणी को अपनाया गया है और परस्पर विरोधी विचारों का भी विस्तार सहित विवेचन किया गया है। इसके परिणामस्वरूप सामान्य लोगों और विशेषकर विद्यार्थियों के लिए इस विषय का समझना बहुत ही सरल हो गया है। इसके अतिरिक्त विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की दृष्टि से भौगोलिक एवं राजनीतिक मानचित्रों, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के महाद्विर्देशकों के चित्रों तथा समुक्त राष्ट्र संघ की विविध समितियों से सम्बंधित चाटस आदि को भी पुस्तक में पर्याप्त एवं उचित स्थान दिया गया है। जहाँ तक संभव हो सका है सरल एवं सुंदर भाषा का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने का मुख्य कारण यह है कि इस विषय पर अंग्रेजी भाषा में तो कई पुस्तकें उपलब्ध हैं परन्तु हिन्दी भाषा में एक या दो से अधिक पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं और जो हैं उनमें भी कुछ न कुछ कमियाँ रह गई हैं। फिर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों का चक्र भी इतनी तेजी से चल रहा है कि पुरानी पुस्तकें अप्रगुण दिखलाई पड़ती हैं। इससे विद्यार्थियों की कठिनाई बढ जाती है। अतः हमने विविध विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों का मनन करके 1968 तक के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का उल्लेख किया है। एक बात और—इस प्रयास में हमने अंग्रेजी की अधिकृत पुस्तकों का पूरा पूरा लाभ उठाया है और अधिकृत विद्वानों के विचारों को भी पुस्तक में पर्याप्त स्थान दिया है।

हमारा परिश्रम कहा तक सफल रहा है, इसका निणाय तो पुस्तक के पाठक ही कर सकेंगे। फिर भी, बिना किसी सकोच या भ्रिभ्रक के हम यह चाहते हैं कि यदि पाठकों को प्रस्तुत पुस्तक में कुछ कमी या दोष दिखलाई पड़े या कुछ सुझाव देने हों तो वे निःसकोच होकर हमें अपने विचार लिख भेजें। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि आगामी संस्करण में उनके उचित सुझावों को उचित स्थान देने का प्रयत्न किया जायेगा।

प्रस्तुत पुस्तक को पूरा करने में, समय समय पर बहुत से विद्वानों का सहयोग एवं मार्गनिर्देशन मिलता रहा है, अतः वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। दयोंचंद्र इतिहासकार श्री सुधाशुभ्रपण बनर्जी, आचार्य कुमारी सुशीला व्यास प्राध्यापिका, राजनीतिशास्त्र विभाग और श्री त्रिलोकी नाथ रैना, पुस्तकालयाध्यक्ष, बनस्पती विद्यापीठ तथा श्री रामनारायण जी 'मृदुल कोटा' और श्री शशेंद्र, उदयपुर के हम विशेष कृतज्ञ हैं।

—लेखकगण

# विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

## पहला अध्याय—अंतर्राष्ट्रीय सम्बंध

1-6

विषय प्रवेश । अंतर्राष्ट्रीयता क्या है, अंतर्राष्ट्रीयता का महत्व, अंतर्राष्ट्रीय सम्बंधों की उत्पत्ति और विकास, संचालन कैसे होता है ?

## दूसरा अध्याय—पेरिस शान्ति अधिवेशन

7-35

पेरिस शान्ति सम्मेलन । प्रादेशिक व्यवस्था, सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण, मूल्यसूचको की सुरक्षा । वित्तन और शान्ति समझौते, चौदह बिंदु और शान्ति समझौते, क्लेमण्टो और शान्ति समझौते, लायड जाज और शान्ति समझौते । जर्मनी का आर्थिक ध्वंस । सामान्य समीक्षा । नये सप्ताह की रूप रेखा ।

## तीसरा अध्याय—राष्ट्र-संघ की कहानी

36-58

भूमिका, अवधारणा, राष्ट्र संघ का जन्म । संघ के उद्देश्य । सगठन-असेम्बली, कौंसिल, सचिवालय, अन्य समितियाँ, धार्मिक सगठन, न्यायालय । राष्ट्र-संघ के कार्य । राष्ट्र संघ की उपलब्धियाँ—राजनीतिक आदेश पद्धति, मूल्यसूचको की सुरक्षा, अन्य उपलब्धियाँ । राष्ट्र संघ—सामान्य समीक्षा ।

## चौथा अध्याय—क्षतिपूर्ति की समीक्षा

59-79

शान्ति सम्मेलन और क्षतिपूर्ति, क्षतिपूर्ति आयोग और अमेरिका, विभाजन अनुपात । अंतरिम युगतान और जर्मनी, चुकान कार्यक्रम, युगतान चुकान की कठिनाइयाँ । विलम्ब काल की भाँति, स्तूर आधिपत्य, निष्क्रिय प्रतिरोध और फ्रेंच नीति । दावस योजना के दाप । युग समिति योजना । सीमा शुल्क ऐवय । हूवर विलम्ब काल । लासेन सम्मेलन । मित्रराष्ट्रों के आपसी युद्ध-भ्रूण । विश्व की आर्थिक व्यवस्था का भग हो जाना—सकट का सूत्रपात, तर्क के कारण, दूर करने के उपाय । आर्थिक सकट के परिणाम ।

## पाँचवाँ अध्याय—सामूहिक सुरक्षा प्रयत्न काल

80-96

भूमिका । फ्रांस और सुरक्षा की समस्या—फ्रांस व सुरक्षात्मक समझौते । अन्य देशों के प्रयत्न । प्रतिश्रव और सुरक्षा का प्रश्न—परस्पर सहायता संधि, जेनेवा प्रोटोकल, लोकार्नो-समझौता । लोकार्नो के बाद सुरक्षा प्रयत्न—पेरिस समझौता, रोम और लंदन के समझौते ।

**छठा अध्याय—नि शस्त्रीकरण की समस्या**

97-108

नि शस्त्रीकरण की समस्या—कठिनाइयाँ । वाशिंगटन सम्मेलन । जेनेवा सम्मेलन । एंग्लोफ्रेंच समझौता । ल दन नौ सम्मेलन । नौ सैनिक सम्मिधियों की समाप्ति । राष्ट्र संधि के प्रयत्न नि शस्त्रीकरण सम्मेलन । पुनःशस्त्रीकरण प्रतियोगिता । नि शस्त्रीकरण की असफलता के कारण ।

**सातवाँ अध्याय—फासिस्टवाद, नाजीवाद एवं साम्यवाद 109-120**

इटली फासिस्टवाद के चहुल म—पृष्ठभूमि, फासिज्म की उत्पत्ति, मुसालिनी का प्रारम्भिक जीवन, फासिस्ट दल का उत्थान । जर्मनी नाजीवाद में प्रभुत्व में—प्रजातन्त्र की विदेशी नीति, नात्सी नेता हिटलर, नात्सी काय-धर्म, नात्सी दल की प्रगति, नात्सी सत्ता का हड़बड़, उन्नति के कारण । रूस साम्यवादी हो गया—रूसी क्रांति, साम्यवादी रूस की विदेश नीति ।

**आठवाँ अध्याय—सामूहिक सुरक्षा का अवसान 121-140**

सामूहिक सुरक्षा । मंचूरिया पर जापानी अधिकार । हिटलर की विदेश नीति आधार, राष्ट्र संधि से अलग होना, पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौता, आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न, जर्मनी की पुनःशस्त्रीकरण । इटली द्वारा इथोपिया पर अधिकार । रोम बलिन टोकियो धुरी का निर्माण । स्पेन का गृह-युद्ध जापान द्वारा चीन पर आक्रमण । आस्ट्रिया पर जबरदस्ती । चेकोस्लोवाकिया का अंग-अंग-भूनिष्ठ समझौता, भूनिष्ठ के बाद । मंगोलिया । प्रसादन का अंत ।

**नवाँ अध्याय—प्रसादन की नीति 141-156**

ब्रिटिश प्रसादन नीति एवं उसका आधार—इटली के प्रति प्रसादन नीति, जर्मनी के प्रति प्रसादन नीति, जापान के प्रति प्रसादन नीति, फ्रांस की प्रसादन नीति नीति के आधार । अमेरिका की प्रसादन नीति नीति के आधार, इटली और जर्मनी के प्रति प्रसादन, जापान के प्रति प्रसादन ।

**दसवाँ अध्याय—द्वितीय महायुद्धकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन एवं****शांति समझौते 157-179**

भूमिका । अटलांटिक चार्टर, मयुक्त राष्ट्रों की घोषणा । विविध-सम्मेलन । मास्को सम्मेलन, बाहिरा सम्मेलन, तहरान सम्मेलन, यास्को सम्मेलन, सेंट फ्रांसिस्को सम्मेलन, पीटर्सबर्ग सम्मेलन । युद्धोपरांत 'शान्ति संधियाँ—पूर्व और पश्चिम में दूरार, विदेशी शक्तियों की परिपक्व सम्मेलन-उत्पन्न सम्मेलन, मास्को सम्मेलन । पांच शान्ति संधियाँ द्वितीय के साथ संधि,

रुमानियों के साथ सन्धि, बल्गेरिया के साथ सन्धि, फिनलैण्ड के साथ सन्धि, हंगरी के साथ सन्धि । जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ सन्धि के प्रयत्न । जापान के साथ सन्धि ।

ग्यारहवां अध्याय—समुक्त राष्ट्र-संघ ।

180-2264

१. प्रस्तावना । प्रारम्भिक प्रयत्न सन् फ्रांसिस्को सम्मेलन ।। गैरयुक्त राष्ट्र ।  
संघ की प्रस्तावना । उद्देश्य ।। मुख्य अंग, महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक  
तथा सामाजिक परिषद अंतरराष्ट्रीय, धर्म-संघ, यूनेस्को मरक्षण परिषद,  
अंतरराष्ट्रीय, यासासय । मूल मानव, अधिकार विकास, मानव अधिकार  
आयोग । सामूहिक सुरक्षा-नाटो, अणुशक्ति नियंत्रण । सशोधन । संयुक्त राष्ट्र  
संघ और राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ का मल्याकन ।

वारहृचं अध्याय—मन्तराष्ट्रीय राजनीति (1945-59) 227-278

(1) सोवियत, सप्त और अमेरिका की, विदेश नीति ।

संसार की दो प्रमुख समस्याएँ । सोवियत संघ की विदेश नीति ध्येय, प्रातरिक व्यवस्था का ठोस प्रबंध, स्तालिन युग की विदेश नीति, 'पूर्वी' यूरोप में सोवियत प्रभुत्व, विश्व में साम्यवाद का पसार करना, पश्चिम का उग्र विरोध तथा रूस का लोह आवरण । शांति का प्रदर्शन तथा आंदोलन—चीन और कोरिया । स्तालिनवादी नीति की समीक्षा । सोवियत विदेश नीति का दूसरा दौर—लोह आवरण का अन्त, आर्थिक सहायता की नई रीति, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति, राष्ट्रीय स्वतंत्रता का समर्थन । रूसी विदेश नीति की समीक्षा । अमेरिका की विदेश नीति सहयोग की भावना, कठोरता एवं धैर्य की नीति, आर्थिक नीति द्वारा साम्यवाद का सीमन, सैनिक समझौते की श्रृंखला, 'आइजनहावर सिद्धांत' । अमेरिकन नीति का सिंहावलोकन ।

(2) प्रादेशिक सैनिक सन्धियां और संगठन ।

पृष्ठभूमि । अमेरिकन राज्यों का संगठन । डकक की संधि । ब्रसेल्स संधि संगठन । उत्तर अटलांटिक संधि संगठन । मजुमस की संधि । बगदाद पेट्रोल । दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि संगठन । यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय । वारसा संधि । विविध समझौते । सैनिक संधियों का विरोध ।

(3) शीत युद्ध ।

शीत युद्ध क्या है ? शीत युद्ध की प्रगति और उसके कारण । शीत युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ ।

## (4) अन्तर्राष्ट्रीय नॉक-नॉक ।

जर्मनी और बर्लिन की एकीकरण समस्या । साम्यवादी चीन की समस्या । स्वेज सकट । कोरिया की समस्या । हंगरी का हत्याकांड । मध्य-पूर्व की समस्या । इराक की क्रांति । निःशस्त्रीकरण की समस्या । उपसंहार ।

तेरहवाँ अध्याय—निकट पूर्व की समस्या 279-303

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि । रूमानिया, यूगोस्लाविया, ग्रीस, बल्गेरिया, तुर्कानिया । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निकट पूर्व-विविध शक्तियों की रणभूमि, सधु मंत्री संधि की रचना, महात् शक्तियों के विशेष हित, बाल्कन मंत्री संधि । द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त ।

चौदहवाँ अध्याय—पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका 304-356

(मध्यपूर्व की समस्या)

मध्यपूर्व के प्रभावकारी तत्व—भौगोलिक स्थिति, तेल का महत्व, आर्थिक जीवन, यहाँ के लोग, अरब राष्ट्रीयता अखिल अरब की भावना । तुर्की—ओटोमन साम्राज्य का अवनतन, संधि और शासन की संधियाँ, तुर्की का आधुनिकीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तुर्की । इजरायल—ऐतिहासिक भूमिका, कलहवारी तत्व, अरबों और यहूदियों के झगड़े, संयुक्त राष्ट्र संधि और फिलिस्तीन, इजरायल राज्य की घोषणा अरब इजरायल संधि के परिणाम । मिश्र-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, राष्ट्रवादी आन्दोलन, पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति, मिश्र की राज्य क्रान्ति, स्वेज नहर का इतिहास, स्वेज राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि, राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया ? राष्ट्रीयकरण की प्रतिक्रिया, मिश्र पर आक्रमण, आक्रमण के परिणाम । संयुक्त अरब एमिरात । सीरिया—सीरिया में फ्रेंच शासन, पूर्ण स्वाधीनता । लेबनान—फ्रेंच शासन, पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति, लेबनान सकट में, सकट का अन्त । जोर्डन—ट्रांसजोर्डन का अन्तर्मुख, जोर्डन में सकट । इराक—स्वाधीनता, इराकी क्रांति । सौदी अरब—सौदी अरब राज्य का प्रादुर्भाव, द्वितीय महायुद्ध के बाद । ईरान रिजा शाह के नेतृत्व में, आधुनिक ईरान की नीति । निष्कर्ष ।

पन्द्रहवाँ अध्याय—पूर्वी एशिया का जागरण 357-397

(मध्यपूर्व की समस्या)

वाशिंगटन सम्मेलन का मूल्यांकन । चीन का उत्तरी गृह-युद्ध कुओमिन्तांग की प्रगति, व्यांगकाई शेक का उत्थान, मंचूरिया पर जापानी आक्रमण-कारण, भ्रष्टाचार, राष्ट्रमण्य और मंचूरिया, शघाई विवाद, युद्ध विराम संधि, मंचूरियन विवाद तथा महान् शक्तियाँ । चीन में जापानी साम्राज्य का प्रसार, चीन जनता का आन्दोलन व्यांग का अपरहण । चीन में जापान की प्रगति । राष्ट्र संध और चीन जापान विवाद । चीन जापान युद्ध और रूसी नीति । चीन में साम्यवादी शासन-साल चीन की वैदेशिक नीति ।

(2) जापान की विदेश नीति—जापान का जागरण, पेरिस सम्मेलन और जापान, वाशिंगटन सम्मेलन और उसके बाद, तनाका मेमोरियल, मंचूरिया के उपराज्य, एशिया के लिये नूतन व्यवस्था, एटी कोमिटन पैक्ट, रूस और जापान के आपसी सम्बन्ध ।

(3) कोरिया-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, कोरिया का विभाजन, कोरिया का गृहयुद्ध ।

(4) अन्य देश—हिन्देशिया, हिन्दचीन, मलाया ।

सोसलहवाँ अध्याय—ब्रिटिश राष्ट्र मंडल

398—407

प्रस्तावना । राष्ट्र मंडल का विकास—1931 का वेस्ट मिन्सटर का विधान । एशिया में राष्ट्रमंडल । वर्तमान स्थिति । राष्ट्रमंडल के उद्देश्य । राष्ट्र मण्डलीय सम्बंध एवं विभिन्न अंग । राष्ट्रमंडल की सफलता—कोलम्बो योजना, योजना की सफलता ।

सतरहवाँ अध्याय—नवजागृत अफ्रीका

408—425

अफ्रीका में जागृति, अफ्रीका एकता आन्दोलन व एशियाई सम्बंध, बेल्जियन कांगो व दक्षिणी रोडेशिया का प्रश्न ।

अठारहवाँ अध्याय—चीन रूस विवाद

426—434

कारण, चीन रूस सम्बंधों का अविष्य, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव ।

उन्नीसवाँ अध्याय—पश्चिमी एशिया-अरब ईजराइल संध

435—443

संध का बीजारोपण, कारण, वर्तमान संध, संध की स्थिति, समाधानाय विभिन्न प्रयत्न, महाशक्तियों का रुख, भारत का दृष्टिकोण ।

बीसवाँ अध्याय—वियतनाम का प्रश्न

444—455

क्षेत्रीय परिचय, हिन्द चीन, फ्रांस की पुन प्रतिक्रिया—फ्रांस तथा वियतनाम में लड़ाई, जेनेवा सम्मेलन, वर्तमान संकट का आरम्भ, संध एवं



जटिल विदेश समस्या के रूप में, विपतनाम युद्ध—नये परिणाम, समस्या का समाधान कैसे ?

इसकीसवीं अध्याय—भारत की विदेश नीति

456-486

स्वतंत्रता प्राप्ति पर विदेश नीति का दृष्टिकोण, आधार, पंचशील का सिद्धांत, भारत और महाशक्तियाँ, भारत व पड़ोसी राष्ट्र, भारत व साम्यवादी चीन, भारत नेपाल व लडा, साम्यवादी चीन की विदेश नीति-साधन, चीन रुस सम्बंध, चीन और भारत-पाकिस्तान एशिया-समुक्त राष्ट्र मध्य उपसंहार ।

आइसवीं अध्याय—अमेरिका की वर्तमान विदेश नीति

487-493

कैनेडी की विदेश नीति, क्यूबा संकट, जॉनसन की विदेश नीति, अमेरिका व लाल चीन, रुस अमेरिकी निकटता, आलोचना व मूल्यांकन ।

तेइसवीं अध्याय—रुस की वर्तमान विदेश नीति

494-500

ख्रुश्चेव की विदेश नीति, फोसोजिन के समय में रुस की वर्तमान नीति, चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण व पाक को सय सामग्री, सोवियत रुस व विश्व, रुस व चीन, आलोचना ।

चौबीसवीं अध्याय—निःशस्त्रीकरण की समस्या

501-514

सारथ्य— निःशस्त्रीकरण एवं अस्त्र नियंत्रण, निःशस्त्रीकरण आवश्यक—क्यों ? निःशस्त्रीकरण एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता, व्यवहारिक कठिनाइयाँ, ऐतिहासिक अवलोकन, सुभाव ।

## अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

युद्ध के विनाशकारी परिणामों से बचने के लिए, शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिए भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयत्न किए गए। बुद्ध, महावीर, ईसा, कृष्णसिंह, शंकर, मुहम्मद, गांधी आदि जिनने भी मनुष्य जाति के पथ प्रदर्शक हुए हैं, उन सबने ऐसा ही प्रयत्न किया जिससे मनुष्य जाति सुखी हो सके, लोकमानस में बंधुत्व की, समझौते की, भावना विकसित हो सके। परन्तु इससे होता क्या है। मनुष्य समाज सदा से ही इसके विपरीत आचरण करता रहा है। एक दूसरे पर अत्याचार करता रहा है पड़ोसिया को लूटता रहा है और अपने ही बंधु बांधवों का सहार करने के लिए सेना और द्वाहास्त्र में वृद्धि करता रहा है। आखिर क्यों ? किसलिए ? एक तरफ हम यह कहते हैं कि मानव, सभ्यता और सभ्यता के क्षेत्र में उत्पत्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया है तो दूसरी तरफ हृदय विदारक युद्धों का दृश्य देखते हैं। इसका कारण है—लोकमानस की वह आदिम प्रवृत्ति जो उसके साथ ही निपकी हुई चली आई है। मानव के अन्तर्गत में द्वितीय हुई वह पाशविक प्रवृत्ति, जो उसे अपने प्रथम पूज से विरासन में मिली है और जिसका दमन करने में या त्याग करने में यह असफल रहा है। इस सुप्त पाशविक प्रवृत्ति को बारबार भक्त-भोर करके जाग्रत करने का कार्य किया है, बुद्धिजीवियों ने और आज की समाज परल व्यवस्था ने अस्तिग्न सघर्ष वृत्ति को अधिक तीव्र कर दिया है। इतना ही नहीं बल्कि आज की राजनीति ऐसी ही देना, व्यक्तियों से समायोजित है। स्वर्गीय इतिहासकार श्री एच जी वेल्स ने इस प्रवृत्ति को परल कर कहा था—‘यदि मनुष्य ने युद्ध को समाप्त नहीं किया तो युद्ध मनुष्य का समाप्त कर डालेगा।’<sup>१</sup> आज के परमाणु युग में यह चेतावनी सत्य के बहुत अधिक निकट है। बीसवीं सदी के केवल पूर्वार्द्ध में दो महाविनाशकारी विश्वव्यापी युद्ध हो चुके हैं और आज का मनुष्य यह समझने लगा है कि युद्ध द्वारा न तो किसी कठिनाई का अंत हुआ, न किसी लाभदायक वस्तु का प्रादुर्भाव और न कोई समस्या ही सुलभ सकी। वरन् लाखों मनुष्यों का सहार हो गया और ससार प्रायः शक्तिहीन एवं नष्ट भ्रष्ट हो गया। युद्ध और विप्लव प्रायः व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। अतः आज के युग की मांग है—युद्धों से मुक्ति। और यह मुक्ति

प्रतिहिंसा से प्राप्त नहीं हो सकती। केवल शांतिमय साधनों से, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु आज के लोकमानस का सगठन इस प्रकार के साधनों की उपलब्धि के अनुकूल वातावरण और क्षेत्र का निर्माण करने में असफल है और उम समय तक असफल रहेगा, जब तक आदिम पाशविक वृत्ति का परित्याग नहीं किया जायेगा। वास्तव में यह चिर सत्य है कि जब तक मनुष्य अपनी इस अहंकार तथा स्वाय से परिपूर्ण पाशविक प्रवृत्ति का परित्याग नहीं करेगा, युद्ध के बाढ़ल मंडराते ही रहेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी विघवा की चूड़ियों की भाँति टूटते ही रहेंगे। कलुषित चन्द्र के समान घटते बढ़ते ही रहेंगे। मानव स्वतंत्रता सही अर्थ में, प्रवाश्यरूप से कभी फलीभूत न हो सकेगी और कोई आश्चर्य नहीं यदि एक दिन, आदि मानव जब पुन अपनी आँख खोलेगा तो उसे अपनी चिरपरिचित सृष्टि के दशान अवश्य हो जायेंगे।

आदि युग में पृथ्वी की सुन्दर, उपजाऊ घाटियों में मानव ने अपनी सम्पत्ता और सत्कृति का विकास किया था और धीरे धीरे यह विकास बढ़ता ही गया। उस युग में, यातायात तथा विचार वाहन के उन्नत साधनों के अभाव में एक देश का दूसरे देश से सम्पर्क बहुत कम था। अतः अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्या जटिल रूप धारक उनके समुख उपस्थित न हो सकी। प्रत्येक देश के अपने रीति रिवाज, नियम तथा प्रथाएँ थी और उस देश का लोकमानस इनसे बंधा हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र की उन्नति की कल्पना करने लगा और फलस्वरूप राष्ट्रीयता का उदय हुआ। राष्ट्रियता के पथ भ्रष्ट हो जाने से साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन

मिला और विनाशकारी महायुद्धों का सूत्रपात हुआ। अतः मानव समाज को इस संहार से बचाने के लिए, राज्यों के बीच शांति को बनाए रखने के लिए समय-समय पर कुछ नूतन व्यवस्थाओं का जन्म हुआ। इन व्यवस्थाओं को हम मोटे रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' कह सकते हैं। इसके अनुयायियों के हृदय में यह भावना बनी रहती है कि सभी राज्यों में समानता, सहयोग व शांति का सर्वध्वजा बना रहे। सभी देश व राज्य एक ही लोकमानस के अंग ह और सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण में ही सबका कल्याण है। इसी भाव या दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीयता कहते हैं। एक विद्वान ने लिखा है कि "पारिभाषिक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीयता राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक उस नीति का नाम है जो सभी राज्यों की स्वतंत्रता, समानता व सहयोग की समर्थन और युद्ध, अशांति तथा साम्राज्यवाद की विरोधी होती है।" अन्तर्राष्ट्रीयता लोकमानस का ऐसा अंग है जिसमें जीवन के हर पक्ष की आवश्यकताएँ एक दूसरे से बंधी हुई हैं, क्योंकि आज का ससार आत्म निर्भर न होकर परस्पर निर्भर है। प्रत्येक देश इच्छा या अनिच्छा से दूसरे देशों से सम्बन्धित है। अतः हम राजनयिकों भी यही लिखा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का मन्त्र—वे सम्बन्ध जो सभी

के बीच, समूहों और व्यक्तियों तथा एक दूसरे व्यक्तियों के बीच पैदा होते हैं अथवा कायम हैं, जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय समाज पर पड़ना स्वाभाविक है।" अस्तु अन्तर्राष्ट्रीयता का समझने के लिए हमें लोकमानस का रूप तथा स्वरूप, राज्यों के परस्पर सम्बन्ध और इन सम्बन्धों को नियंत्रित करने वाले सिद्धांतों का समझना चाहिए। तभी हम सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीयता का अभिप्राय समझने में सफल होंगे।

प्राचीन युग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बहुत कम था, क्योंकि मानव का भौगोलिक ज्ञान सीमित था। अतएव प्रत्येक महाद्वीप के निवासियों को अपनी आवश्यकताओं को बिना किसी की सहायता से पूरा करना पड़ता था। परन्तु यातायात तथा विचारवाहन के उन्नत साधनों ने समय और दूरी पर विजय प्राप्त करके अन्तर्राष्ट्रीयता ससार के विभिन्न देशों को एक दूसरे का पड़ोसी बना दिया है। वैज्ञानिक यन्त्र—रेडियो, तार, टेलीविजन आदि के द्वारा प्रतिक्षण विचार, समाचार बाजार भाव आदि एक स्थान से दूसरे

स्थान पहुँच रहे हैं। इसके साथ ही साथ मानवीय दृष्टिकोण भी बदल चुका है और वह स्वयं को विस्तृत भूमिगत का निवासी मानने लगा है। ससार के किसी देश में घटित होने वाली महत्वपूर्ण घटना के प्रभाव से कोई अन्य देश अप्रभावित नहीं रह सकता। फिर राजनीतिक क्षेत्र में घटने वाली घटनाओं से तो कोई देश कैसे अप्रभावित रह सकता है। विज्ञान के बढ़ने कड़मो ने मनुष्य को अणु परमाणु तथा कृत्रिम उपग्रहों एवं दूरभाषक अस्त्रों का ज्ञान प्रदान करके उसकी सामर्थ्य शक्ति को अवश्य ही बढ़ावा दिया है परन्तु यदि ससार को महान् शक्तियों में सहानुभूति एवं सामंजस्य स्थापित न हो सका तो एक दिन मानव सम्पत्ति ही समाप्त हो जायेगी। इसे रोकने की आवश्यकता है और इसे ही अन्तर्राष्ट्रीयता कहा जाता है। इसके महत्व का उल्लेख करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि आज हम चाहे अपने दुराग्रहवश स्वीकार न करें, लेकिन यह एक प्रखर सत्य है कि हम 'एक ससार' में रह रहे हैं और जाति, धर्म, संस्कृति, देश, भाषा तथा सिद्धांतवाद की वे दीवारें जिन्होंने शताब्दियों से मनुष्य का समुचित घेरा में बंद कर रखा है, अब और अधिक समय तक खड़ी न रह सकेंगी। इस समय तो सारी मनुष्य जाति एक ही नौका पर सवार है और वह या तो एक साथ जल समाधि लेगी या एक साथ तट पर लगेगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्न केवल युद्ध विलास के प्रश्न नहीं हैं, वे हमारे जीवन मरण के प्रश्न हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सच्चा अध्ययन इस बात की स्पष्ट चेतावनी है कि यदि राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को उसी भाँति स्वार्थ की भावना से अनुप्राणित होकर संचालित करते हैं, जैसा कि वे सदैव करते रहे हैं, तो तृतीय विश्वयुद्ध का निवारण असम्भव हो जायेगा और हम यह भूले नहीं हैं कि प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के परिणाम मानव जाति के लिए कितने विनाशकारी प्रमाणित हुए थे।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि प्रारम्भ से ही मानव में पार्श्विक प्रवृत्ति की प्रधानता रही है, फलतः विग्रह की सम्भावना उत्पन्न हुई। विग्रह को शांत करने के उपाय भी ढूँढे जाते रहे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की उत्पत्ति युद्धों के विनाशकारी भय और इस भय से मुक्ति दिलवाने वाले साधनों के कारण ही हुई हैं। परन्तु शांति स्थापित करने वाले ये साधन प्रवास्य रूप से सवथा अपर्याप्त और कृत्रिम थे। असंस्कृत आत्माभिमान एवं जातीय तथा राष्ट्रीय

लिप्साएँ, युद्ध के पश्चात् थोड़ी सी भी शिथिल न हुई—जैसी की तैसी बनी रही। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस दिशा में सक्रिय रुचि के साथ नूतन साधनों की खोजा जाय। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में डच राजनीतिज्ञ ह्यूगो ग्रेशियस ने तत्कालीन प्रथाओं और नतिक नियमों को आधार बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लिखित रूप दिया जो बाद में “युद्ध और शांति” के नियम कहनाये और १६४८ ई० में वेस्टफेलिया की कांग्रेस ने इन नियमों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाकर उन्हें मान्यता प्रदान की। इस प्रकार सब प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को वैधानिक महत्व प्राप्त हुआ। परन्तु इससे समस्या का समाधान नहीं हुआ। ये नियम केवल भावना बन कर रह गये। आवश्यकता हुई एक ऐसी सस्था की जो इन नियमों का कार्यान्वित करवा सके और उन राज्यों को जो इनका उल्लंघन कर दंड दे सके। १७वीं और १८वीं शताब्दियों में इस संबंध में अनेक योजनाएँ रखी गईं जिनमें डक डी सली, ग्रैंडे दि सेण्ट पियरे, काट की योजना आदि अधिक महत्वपूर्ण थीं। परन्तु ये कभी कार्यान्वित न हो सहीं। वैसे इन योजनाओं से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का यह सिद्धांत प्रचलित हुआ कि समस्त स्वतंत्र राज्य न केवल पूर्णतया स्वाधीन होते हैं वरन् एक दूसरे के साथ समता का व्यवहार करते हैं और इसके अतिरिक्त कि वे शक्तिशाली हो अथवा निबल वे समान अधिकारा तथा कर्तव्यों से सम्पन्न होते हैं। इस युग में इस प्राचीन सिद्धांत की बिल्कुल त्याग दिया गया कि यूरोप में पवित्र रोमन सम्राट के समान कोई निर्जीव सत्ता स्थापित करदी जाय अथवा यह कि यूरोपीय राज्यों का नेतृत्व पोप के समान किसी धर्माचार्य को सौंप दिया जाय।

नेपोलियन के युद्धों के समय यूरोप की शक्तियों की संगठित रहने की विशेष आवश्यकता हुई थी। अतः यूरोप की चार महान शक्तियों—दुर्लुड, आस्ट्रिया, प्रुशिया और रूस ने १ मार्च १८१४ ई० को बीस साल तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था द्वारा संगठित रहने का निश्चय किया। नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप का राजनीतिज्ञान ने नयी समझौते सम्मेलन करके शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने का प्रयत्न किया। और “पवित्र संधि” (Holy Alliance) तथा “संतुष्टी-सम्मेलन” के समान कोई योजना बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों का दृढ़ करने का प्रयत्न किया। किन्तु ये अपने उद्देश्यों की पूर्ति में अधिक समय तक सफल नहीं हुये।

वैज्ञानिक उन्नति के परिणाम स्वरूप प्रगतिशील राष्ट्रों की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई और युद्ध की आशंकाएँ भी बढ़ी। इस भय से मुक्त होने के लिये विश्वशान्ति और आपसी समझौते के लिए होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं और योजनाओं की धूम मच गई। सन् १८६६ और १९०७ में दो सम्मेलन हुए जो "हेग कांफ़ेंस" (Hague Conferences) के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी योजनानुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती-यायालय स्थापित किया गया। धुरु में तो इस यायालय ने राज्यों के आपसी झगड़ों के कई मामले तय किये परन्तु इसकी प्रगति रुक गई। प्रथम विश्व युद्ध के अंत में राष्ट्र सघ और द्वितीय महायुद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना की गई। इन संस्थाओं से अन्तर्राष्ट्रीय सबंध बहुत सीमा तक सुधरे। इसके अतिरिक्त गैर-सरकारी स्तर पर भी कई महत्वपूर्ण प्रयत्न बहुत पहिले से हात आ रहे हैं। आज के युग में हमें दोनों तरह के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन देखने को मिलते हैं। परन्तु ये संगठन चाहे सरकारी हो या गैरसरकारी, इनका आधार स्वेच्छापूर्ण सहयोग ही है। राज्यों की सावभौम सत्ता (Sovereignty) का सिद्धांत अब भी बना हुआ है, किसी राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करने या न करने को बहने के लिए कोई बाह्यनी सत्ता अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं है और शायद भविष्य में भी स्थापित नहीं हो सकेगी।

अब हम संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन पर प्रकाश डालेंगे। अति प्राचीन काल से ही एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रों में अपने दूत भेजने का प्रचलन था। परन्तु ये दूत किरयाल तब न रहत थे। आधुनिक युग में इन दूतों को स्थिर तौर पर रखना आवश्यक हो गया है। प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र दूसरे स्वतंत्र

संचालन कैसे राष्ट्र में अपना राजदूत (Ambassador) रखना है।  
होता है समान दर्जे के कूटनीतिक प्रतिनिधियों का ही आदान प्रदान राज्या के द्वारा होता है। यदि स्वतंत्र राज्य किसी एक बड़े राष्ट्र

के नेतृत्व में संगठित हो तो वे राजदूत न भेजकर उच्चायुक्त (High Commissioner) भेजते हैं। उदाहरणार्थ भारत का अमेरिका स्थित कूटनीतिक प्रतिनिधि राजदूत कहलाता है। जबकि इंग्लैण्ड स्थित प्रतिनिधि हाई कमिश्नर कहलाता है क्योंकि भारत ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का एक सदस्य है। एक स्वतंत्र राष्ट्र किसी परतंत्र राष्ट्र में भी अपना प्रतिनिधि रख सकता है। इस स्थिति में वह प्रतिनिधि वाणिज्य दूत (Counselors) कहलाता है। ईसाई धर्म के गुरु 'पोप' भी स्वतंत्र रूप से किसी राष्ट्र में अपना प्रतिनिधि रख सकता है। उसके प्रतिनिधि पाप दूत (Legate of the Pope) और धर्मदूत (Nuncios) कहलाते हैं। राजदूत से निम्न स्तर का अधिकारी 'अधिदूत' (Chargé d'affaires) कहलाता है। अभी कभी कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र में अपना विशेष दूत भी भेजता है। यह दूत "असाधारण एवं पूर्णाधिकार प्राप्त दूत" (Envoy Extraordinary and Mini-

ster Plenipotentiary ) कहलाता है । राजदूत के साथ सांस्कृतिक सहचारी, प्रेस सहचारी, सूचनाधिकारी, कारकुन आदि कई अधिकारी और कर्मचारी भी रहते हैं । जिन देशों में राजदूत नियुक्त किए जाते हैं, वहाँ उन्हें 'महामहिम' कहा जाता है और उन्हें जो सम्मान विशेष सुविधाएँ, उम्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं वे दूसरों को नहीं होते ।

राजदूत नीति प्रतिपादित नहीं करता । यह काम सरकार का और विरोध विदेश मंत्री का होता है । राजदूत को अपनी सरकार की निर्धारित की हुई नीति का पालन करना पड़ता है ।<sup>१</sup> राजदूत का दोहरा उत्तरायित्व होता है । वे जिस देश में अपने देश की सरकार की नीतियों को व्यावहारिक रूप देने और उन्हें क्रियान्वित करने के लिए भेजे जाते हैं, परन्तु उनका इतना ही महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व यह भी है कि वे जिस देश में नियुक्त हो उसकी नीति, रवया और आम परिस्थितियाँ में भी अपने देश की सरकार को परिचित कराये । विदेश में स्थिति कूटनीतिक मण्डला के माध्यम से संचार का सारा काम युक्त निधि में या विरोध सदनराहको के हाथ भेजे गये कूटनीतिक ढाँच के धैर्य की सहायता में होना है ।

कभी-कभी राजदूतों या कूटनीतिक प्रतिनिधियों के द्वारा झगड़े नहीं निपटाये जाते हैं तो तीसरी पार्टी के मध्य ( good offices ) की मध्यस्था से निपटारा किया जाता है । अन्तिम मध्यम अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन और निम्न सम्मेलन है । इस प्रकार पारस्परिक मनमोहा का गुनभाया जाता है और अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास होता है ।





## द्वितीय अध्याय पेरिस शांति अधिवेशन

शांति अधिवेशन की प्रथम औपचारिक बैठक, युद्धबंदी के तुरंत बाद ही न हो सकी और शांति संधियों के आलेखन का कार्य युद्ध बंदी के ठीक दो मास उपरांत ही प्रारम्भ हो सका और ठीक इक्कीस मास बाद पेरिस शांति व्यवस्था में सम्मिलित अंतिम संधि पर हस्ताक्षर किये गये । १९१८ ई० में युद्ध समाप्ति के पूर्व ही

**भूमिका** मित्रराष्ट्रों ने शांति सम्मेलन करने का निश्चय कर लिया था । शून्य सम्मेलन से सम्बंधित समस्याओं—ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक आदि पर अधिक से अधिक तथ्या और आंकड़ों को एकत्र करने का प्रयत्न शुरू किया जा चुका था । इस प्रयत्न में मित्रराष्ट्रों के विशेषज्ञ और कर्मचारी, बहुत बड़ी संख्या में अपने काम में जुटे हुये थे, क्योंकि उपलब्ध आंकड़ों तथा तथ्यों के आधार पर ही बहुत सी जटिल और परस्पर विरोधी समस्याओं का समाधान करना था ।

महायुद्ध में प्राप्त ने अत्यधिक धन तथा साहस से परिपूर्ण भूमिका का अभिनय किया था । अतः उसके सम्मानार्थ उसकी राजधानी पेरिस को शांति अधिवेशन का केंद्र चुना

**पेरिस** गया । पेरिस को केंद्र चुनकर मित्रराष्ट्रों ने मराती की । क्योंकि महायुद्ध की ज्वाला ने पेरिस के सौ दशक का नष्ट कर दिया था और पेरिस की जनता युद्ध की पीड़ा से कराह रही थी । पेरिस के

उत्पादित, उर्ध्वजिन एवं प्रतिशोत्रात्मक बातवबरण का शांति सम्मेलन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और पारलाम स्वल्प संधियों के प्राप्त विस्तार के आश्वासन से दूर हाते गये । यदि परिम २ स्थान पर जेनेवा या किसी अन्य शांतिमय स्थान को केंद्र चुना जाता तो शायद सम्मेलन के प्रतिनिधियों का शांति पूर्वक संधियों की धाराओं को विचारित करने का अवसर उपलब्ध हो जाता ।<sup>१</sup>

शांति सम्मेलन में पराजित राष्ट्रों जिसमें युतयुव यूरोप की तीन महाशक्तियाँ भी सम्मिलित थी, को निमंत्रित न करने मित्रराष्ट्रों ने दूसरी गलती की । एक आस्ट्रिया हंगरी था जिसका अस्तित्व समाप्त हो चुका था । आस्ट्रिया और तीन महाशक्तियाँ हंगरी पृथक् पृथक् राज्य बन चुके थे और दोनों ही राज्यों के अधि निमंत्रित नहीं की गईं । काग आग का छीनकर चेकास्लोवाकिया का निर्माण किया जा चुका था । कुछ भाग पोलैण्ड में मिला दिया गया और कुछ यूगोस्लाविया में और कुछ

इटली को दिया जा चुका था। दूसरी महाशक्ति रूस थी जो कि युद्ध समाप्ति के एक वर्ष पूर्व ही युद्ध से पृथक् हो चुका था और अन्त साम्यवादी सरकार और सरकार विरोधी शक्तियों के संघर्ष के कारण यह युद्ध का केन्द्र बना हुआ था।

परन्तु तीसरी शक्ति जर्मनी का सम्मेलन में सम्मिलित क्यों नहीं किया गया ? भूतकाल में आयोजित सभी शांति सम्मेलनों में विजेता और पराजित, दोनों ही देशों के प्रतिनिधि संधि की वार्ता में सम्मिलित हुआ करते थे और कम से कम पराजित देशों को पैरवी करने की छूट दी जाती थी। परन्तु पेरिस शांति सम्मेलन के कएधारों ने आपस में मिलकर ही संधि के प्रारूप को तैयार करने का और बाद में जर्मन प्रतिनिधियों को स्वीकृति के लिये दिखाने का निश्चय कर लिया था।

मिशराष्ट्रों के इस निराश के पीछे कई कारण थे और इन कारणों की पृष्ठभूमि में, जर्मनी को सम्मेलन में सम्मिलित न करने के लिये यह क्षमा भी किया जा सकता है। संधि की धारायाँ बोलकर स्वयं मिशराष्ट्रों में गहरे वाद विवाद और मतभेद का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। परन्तु वे बाह्य रूप में अपनी एकता का प्रदर्शन भी करना चाहते थे। यदि जर्मनी को सम्मिलित किया जाता तो वे अपने इस उद्देश्य में सफल नहीं होते और उनके वाद विवाद से जर्मनी फायदा उठाने का तथा मिशराष्ट्रों में फूट डालने का प्रयत्न करता। इसके अतिरिक्त जर्मन अपनी पराजय से बोखराये हुये थे और वाद विवाद के तीव्र होने की भावना भी थी जिसके परिणामस्वरूप जर्मनों के प्रति पहिल से विद्यमान घृणा के और अधिक बढ़ने की संभावना थी। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि शांति सम्मेलन से जर्मनी को बहिष्कृत करना वास्तव में एक भूल थी। भावी युद्ध की भूमिका का निर्माण करने की दिशा में यह पहला कदम था। इसने जर्मनी का यह कहने के लिये कि यह सन्धि अत्यन्त लाचार है, अवसर प्रदान किया और बाद में जर्मनी ने संधि का पूरा करने के लिये अपने आपको नतिक दृष्टि से उत्तरदायी भी नहीं माना।

१९१८ के प्रारम्भ से ही विविध मिशराष्ट्रों ( लगभग ३२ राष्ट्रों के ) के प्रतिनिधियों का पेरिस में आगमन शुरू हो गया। अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन अपने पूर्व-निर्धारित नीतियों की परम्परा को तोड़कर अशांत महासागर का पारकर शांति सम्मेलन में भाग लने के लिये यूरोप आया। नवम्बर १९१८ में अमेरिका के आम सम्मेलन के चुनावों में उसका दल पराजित हो चुका था परन्तु अमेरिकन सचिवान की विचित्र विनिष्टताओं के कारण आगामी दो वर्ष तक उसका अग्र्य पद सुरक्षित था। फिर भी आम चुनावों के परिणामस्वरूप उसकी सत्ता प्रभुता में कुछ कम आ गई थी। इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व उसका प्रधानमंत्री लायड जॉर्ज कर रहा था और उसका दल हाल ही में आया

जित आम-चुनाव में सफलता प्राप्त कर चुका था। आम चुनाव के समय लॉर्ड जार्ज का मुख्य कार्य क्रम था युद्ध के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों का सजा देना और शत्रु से युद्ध के खर्च को प्राप्त करना (Make Germany Pay)। इटली का प्रधानमंत्री मोरलेण्डो अपने सहयोगियों के समान प्रभाव धाली नहीं था। शांति सम्मेलन पर छा जाने वाला व्यक्ति बलीभैरवों था—फ्रांस का वयोवृद्ध प्रधानमंत्री। उसका मुख्य कार्य समार को सुधारना नहीं था, परन्तु १८७१ के नियमों को बदल देना और फ्रांस की सीमाओं की रक्षा करना था।

शांति सम्मेलन के उद्घाटन के तुरन्त बाद ही यह अनुभव किया गया कि वत्तीस राष्ट्रों की समिति बहुत बड़ी है और इससे सुगमता व सफलता के साथ निराय पर नहीं पहुँचा जा सकता। अतः प्रमुख समस्याओं के समाधान का चार बड़ों की काम 'दस की परिपद' के हाथ में सोप दिया गया। परन्तु यह सख्या भी अधिक प्रमाणित हुई और 'चार बड़ों' की समिति का निर्माण किया गया। ये चार थे—विंस्टन, लॉर्ड जार्ज, क्लेमेंटा और मोरलेण्डो, क्रमशः से अमेरिका, इंग्लण्ड फ्रांस और इटली के नेता। इन चार बड़ों में से भी, संधि के स्वरूप को निश्चित करने में सबसे अधिक प्रभाव का उपयोग जार्ज क्लेमेंटा ने किया। परन्तु ज्यों ही चार बड़ों ने विचार विमर्श शुरू किया त्यों ही बाद विवाद उठ खड़ा हुआ और इटली का प्रधानमंत्री अपने देश लौट गया। अतः संधि समझौते के अंतिम रूप को तैयार करने का उत्तरदायित्व तीन बड़ों पर आ पड़ा।

शांति अधिवेशन को प्रारम्भ से ही कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। एक तरफ विंस्टन का आदर्शवाद था, एक सुखी सत्तार की वृत्ति थी। दूसरी तरफ पश्चिम के राजनीतिज्ञों का यथार्थवाद पराजित देशों को हड़पने की तुलना थी। इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करना कठिन कार्य था। इसके अतिरिक्त निम्न समस्याएँ भी अधिवेशन के कार्य में रोड़े अटक रही थी—(१) राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र का मसविदा (२) फ्रांस की सुरक्षा का सवाल और राइन के दायिने तट का भविष्य (३) इटली और पोलैण्ड के दावे (४) जर्मनी के उपनिवेशों तथा तुर्की के सीमाओं का निराय (५) क्षतिपूर्ति की समस्या (६) अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की समस्या और (७) गुप्त संधियों के बचनों का कार्यान्वित करने की समस्या। ये सब समस्याएँ ऐसी थीं जिन पर एक मत होना असम्भव था।

मौटे तौर पर, शांति परिपद को चार प्रमुख विषयों को निपटाना था—(१) प्रादेशिक व्यवस्था—अर्थात् संधियों के भूगोल की रचना करना। (२) राष्ट्रसंघ अर्थात् इस प्रकार के साधन का जुटान का प्रयत्न करना जिसके द्वारा राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदों और झगड़ों को जो विश्वयुद्ध में परिवर्तित होते आये हैं, शांतिपूर्वक और उचित ढंग से निपटाया जा सके। और सत्तार में शांति व व्यवस्था स्थिर रह सके। (३) सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण एवं

दूसरे से सबधित प्रश्न और भावी शांति की स्थापना । (४) क्षतिपूर्ति जहाँ तक सम्भव हो सके पराजित देशों को युद्ध का हर्जाना देने को बाध्य करना ।

पेरिस के शांति अधिवेशन ने काफी वाद विवाद और समय के उपरांत इन विषयों को मुनभाया । और यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न असह्य उलझी हुई समस्याओं को हल करने के प्रयत्न की दृष्टि से, मित्रराष्ट्रों वर्साय की संधि और पराजित शक्तियों के मध्य, प्रमुख मित्रराष्ट्रा तथा नव-निमित्त देशों के साथ, यहाँ तक कि स्वयं मित्रराष्ट्रों के मध्य, एक दजन से भी अधिक संधियों और कबजे जना को लिखा गया और उन पर हस्ताक्षर किये गए, परन्तु जर्मनी के साथ सम्झौत संधि, शांतिपरिपद की निस्संदेह सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है<sup>१</sup> । यही कारण है पेरिस की शांति व्यवस्था को प्रायः वर्साय की संधि के नाम से संबोधित किया जाता है । वास्तव में वर्साय की संधि तो शांति समझौते के केवल एक भाग का नाम है, सम्पूर्ण व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण भाग, वह संधि जो मित्रराष्ट्रों द्वारा पराजित जर्मनी पर आरोपित (dictated) की गई थी और जिस पर प्रजातांत्रिक जर्मनी के प्रतिनिधियों ने २८ जून १९१९ का अपने हस्ताक्षर किए ।

वर्साय की संधि में १५ भाग, ४४ अनुच्छेद और अनेक सूचियाँ हैं । संधि को अंग्रेजी और फ्रेंच दोनों भाषाओं में लिपिबद्ध किया गया था । संधि की महत्वपूर्ण बातें निम्न हैं—

जर्मन साम्राज्य का कुछ सीमा तक अंग अंग बर दिया गया ।<sup>१</sup> फ्रांस का भूसाक्ष और लारेन के प्रांत, बेल्जियम को ब्रूसेल, मलमेडी और मोरेसेनेट, बेल्जियम को मेमल, पोलैंड को पूर्वी गालिसिया और पश्चिमी प्रशा का भाग, चेकोस्लावकिया को अवर गालिसिया का कुछ भाग, डेनमार्क को श्लेजविग प्रांत, मित्रराष्ट्रों के निरीक्षण में डेनमार्क का बंदरगाह, इत्यादि दिया गया । इसके अनतिरिक्त सार की कोयले की खानों वाले क्षेत्र को १५ वर्षों के लिए फ्रेंच अधिकार में रखा गया । जर्मनी के प्रशान्त सागरोय द्वीप समूह चीन और जापान तथा अफ्रीका के उपनिवेश फ्रांस, ब्रिटेन और बेल्जियम में बाँट दिए गए और कुछ का राष्ट्रसंघ के नियंत्रण में रखा गया ।<sup>२</sup> जर्मनी पर क्षतिपूर्ति को रकम भी पार दी गई । उसकी सैनिक शक्ति को कम कर दिया गया और युद्ध सामग्री पर अधिकार बन्द लिया गया या फिर नष्ट कर दी गई । इसमें राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव को भी सम्मिलित किया गया था ।

१० सितम्बर १९१९ को आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मन की संधि की गई । इस संधि के पूर्व ही आस्ट्रिया-हंगरी का विस्तृत साम्राज्य समाप्त हो चुका था और

अब दो पृथक राज्यों—आस्ट्रिया और हंगरी में विभाजित था। दोनों राज्यों में प्रजातन्त्र की स्थापना हो चुकी थी। सेंट जर्मेन की संधि के अनुसार आस्ट्रिया के बोहेमिया तथा मोरेविया के प्रदेशों को पृथक् करके चेकोस्लोवाकिया का निर्माण किया गया। चेकोस्लोवाकिया को आस्ट्रिया साइलेशिया और आस्ट्रिया के नाचे के भाग का कुछ हिस्सा प्राप्त हुआ। बाल्शिया, हर्जोगोविना, क्रोशिया आदि सब प्रधान प्रांतों को सर्बिया के साथ मिला दिया गया और यूगोस्लाविया का निर्माण किया गया। आस्ट्रिया के दक्षिणी टाइरोल, ट्रिन्टीनो, ट्रिस्ट, इनेलिया तथा डालमेशियन तट के दो द्वीप, इटली को प्राप्त हुए। गैलेशिया पोलैण्ड को प्राप्त हुआ। रूमानिया को बुकोविना (Bukovina) प्राप्त हुआ। इस संधि ने आस्ट्रिया का मतप्राय कर दिया। उसका विस्तृत साम्राज्य समाप्त हो गया और अब वह एक छोटा धल राज्य मात्र रह गया और उसकी आबादी ७० लाख से भी कम हो गई। इसके अतिरिक्त उस पर भी क्षतिपूर्ति की गहरी रकम लाद दी गई। संधि को अत्यधाराएँ बर्साय के समान ही थी। उसमें सैनिक शक्ति को कम करके ३० ००० तक सीमित कर दिया गया। संधि में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था यह रखी गई कि भविष्य में आस्ट्रिया जर्मनी के साथ किसी प्रकार का संध नहीं बनायेगा।

४ जून १९२० को हंगरी के साथ ट्रायना की संधि की गई। संधि में ऐसी होने का कारण हंगरी का आंतरिक गृह युद्ध था। हैप्सबर्ग वंश के राज्य के समाप्त होने ही हंगरी में एक प्रजातान्त्रिक सरकार का स्थापना की गई परन्तु शीघ्र ही साम्यवादियों ने अधिकार जमा लिया। रूमानिया की सहायता से साम्यवादी शासन का तख्ता पलटा गया और नवीर्णित सरकार ने उपरोक्त संधि को। हंगरी के पुराने राज्य के बड़े बड़े टुकड़े उसके तीन पड़ोसियों—रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया को बांट लिए गए। कुछ भाग आस्ट्रिया को भी प्राप्त हुआ। इन काट छाट के परिणाम स्वरूप हंगरी का आकार पहले का एक तिहाई रह गया और उसकी आबादी ६० लाख तक रह गई। अन्य पराजित देशों की तरह उसकी रैना का भी कम कर दिया गया और क्षतिपूर्ति लाद दी गई।

२७ नवम्बर १९१८ को न्यूनी (Neuilly) की संधि की गई। बाल्कन राज्यों में यही एक हतमाय राज्य था जिसने जर्मनी का साथ दिया था। इस अथराएँ ने लिए उस ग्रेन तथा ईजियन सागर—यूली की संधि का तट प्रदेश यूनान को, मेनिडोनिया का अधिकांश भाग यूगोस्लाविया को, डाब्रूजा का भाग रूमानिया को देना पड़ा। ग्रेना का जिब्रल्टर, दक्षिणी तथा अर्धवृत्त हानि अन्य पराजित राज्यों का भाग उसे भी उठानी पड़ी।

१० अगस्त १६२० को तुर्कों के साथ सेत्रे की संधि को गई। इसके अनुसार यूनान का एशिया माइनर का अधिकांश भाग, एड्रियानोपल, गलीपोली तथा स्मर्ना का कुछ भाग प्राप्त हुआ। इटली को टार्डेनोज द्वीप समूह, सेत्रे की संधि रहोडस और अडालिया के प्रांत मिले। अर्मीनिया, हेजाज और कुर्दिस्तान को स्वतंत्र कर दिया गया। सार्डप्रस, ब्रिटेन को मिला। मिश्र, इंग्लैण्ड के और सीरिया फ्रांस के सरक्षण में रखे गए। सेना भी कम कर दी गई। परंतु यह संधि बर्मा भी वार्ग्यन्वित नहीं हो सकी। कमाल के नेतृत्व में तुर्कों ने कमाल कर दिया और २४ जुलाई १६२३ को दूसरी संधि 'लासेन' स्थापन पर की गई।

अब हम इन संधियों के सामूहिक चित्र का मनन करेंगे।

## प्रादेशिक व्यवस्था

### ( Territorial Settlement )

सन् १६७०-७१ के फ्रेंको प्रसियन युद्ध में फ्रांस की जमनी से पराजित होना पड़ा था और परिणाम स्वरूप अल्सास और लोरेन से हाथ धोना पड़ा। पेरिस शांति व्यवस्था की प्रादेशिक व्यवस्था के अनुसार जमनी को इन दोनो प्रांतों से हाथ धोना पड़ा और ये प्रांत पुनः फ्रांस की सौंप दिये गए। फ्रांस को १५ वर्ष की अवधि के लिए सार की कोयले की खानों का स्वामित्व भी दिया गया। १५ वर्षों के बाद सार के निवासियों को अपने भविष्य का निश्चय करने का अधिकार दिया गया अर्थात् वह यह तय करने का अधिकार दिया गया कि वे फ्रांस के साथ रहना चाहते हैं या जर्मनी के साथ। चूंकि अधिकांश लोग जर्मन थे, अतः यह पक्की सम्भावना थी कि वे जर्मनी के साथ मिलेंगे और १६१५ में ऐसा ही हुआ। जर्मनी के कुछ छोटे प्रांत डेनजियम को दिए गए जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

फ्रांस राइन तक के प्रांतों को लेने की ताक में था। बहुत से फ्रेंच लोगों का अभी भी यह याद था कि रोमा साम्राज्य के गॉल प्रांत, फ्रांस, की सीमा यहाँ तक फैली हुई थी। पॉप ने तर्क दते हुए कहा कि केवल इससे ही फ्रांस को अपने राष्ट्र के विरुद्ध सुरक्षित सीमान्त प्राप्त हो सकेगा। परंतु इंग्लैण्ड और अमेरिका ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। विलसन आत्म निर्णय के सिद्धान्त में विश्वास रखता था। उसने स्पष्ट कहा कि किसी देश के सीमान्त का निश्चय सीमान्त निवासियों को इच्छा का ध्यान रखते हुए हो दिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में लाया जर्मनी का अपनी मातृभूमि से छूटकर होना पड़ता और विलसन के सिद्धान्त की भी हत्या हो जाती। अतः फ्रांस को अपना जिद छोड़नी पड़ी।

सन् १८६४ ई० में जर्मनी ने डेनमार्क से जर्मन श्लेजविग प्रांत छीन कर अपने राज्य में मिला लिया था। अब इस प्रांत में जनमत, लिया गया। जनमत के परिणाम स्वरूप श्लेजविग प्रांत का उत्तरा भाग डेनमार्क को वापस लौटा दिया गया। इस प्रकार युद्ध में सम्मिलित हुये बिना ही डेनमार्क को प्रादेशिक लाभ प्राप्त हो गया।



### प्रथम महायुद्ध में जर्मनी द्वारा लीये गये प्रांत

जर्मनी के पूर्वी सीमा त को तय करना सबसे अधिक कठिन कार्य सिद्ध हुआ। क्योंकि बाल्टिक से लेकर चेकास्लोवाकिया तक, एक दूसरे के विरोधी और एक दूसरे से घृणा करने वाले जर्मन और पोल लोग, अत्यधिक अस्पष्ट रूप से अंतर्निहित हाकर बने हुये थे। बाल्टिक तट पर वित्तुला के पूव में जर्मन आवादी वाला पूर्वी प्रणिया था तो वित्तुला के पश्चिम में डोंजग बन्दरगाह के अतिरिक्त

जर्मन पालिश सीमा त पोल आवादी का इनाका था। इसलिए आत्मनिर्णय के सिद्धांत के अनुसार पूर्वी प्रणिया जर्मन ही बना रहा परंतु पोलैंड को समुद्र तक पहुँचने के लिए जो गिनियारा दिया गया उसके परिणाम

स्वरूप पूर्वी प्रणिया का जर्मनी से सम्बन्ध टूट गया। अर्थात् जर्मनी को फ्रेडरिक महान की विजय से वंचित कर दिया गया। डेजिग जर्मन आवादी प्रधान नगर था परंतु पोलैंड का प्राकृतिक सामुद्रिक द्वार भी था। इसलिए डेजिग को जर्मनी से प्रयत्न करके राष्ट्र मन्त्र के संरक्षण में रखा गया। डेजिग का स्वायत्त शासन जर्मन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को सत्ता को सौंप दिया गया और बन्दरगाह का प्रबन्ध पोलैंड को सौंप दिया गया। दूर दक्षिण में पोलैंड के पोसन प्रांत का जर्मनी से छीन लिया गया और इससे भी सुदूर दक्षिण में महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र अथवा साइलेसिया जिसमें भी दोनों

जातियाँ इस भाँति बसी हुई थी कि आत्म निरुण्य से किसी प्रकार का हल निकालना असम्भव था—को जमनी और पोलैण्ड में विभाजित कर दिया गया। कोई यह तो नहीं कह सकता कि जमन-पोलिश सीमान्त समस्या को इससे अधिक अच्छी और सही व्यवस्था की जा सकती थी। परंतु गुरु से ही एक बात स्पष्ट थी कि यदि जमनी की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ, तो यह सीमान्त, यदि उस समय तक जमन और पोल लोगो के मध्य मित्रता का अभ्युदय नहीं हो सका तो यूरोप का एक सचपे के द्र प्रमाणित होगा।

इस प्रादेशिक व्यवस्था से जमनी को बहुत से प्रांतों से हाथ धोना पड़ा। लगभग पचास लाख नागरिकों की जन शक्ति से वंचित होना पड़ा। दो महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्रों अर्थात् साइलेशिया और लोहे की खानों से भरपूर लारेन प्रांत और अस्थायी तौर पर कोपले के समुद्रशाली प्रांत सार की घाटी से वंचित होना पड़ा। फिर भी, संपूर्ण रूप में, सार घाटी की समस्याओं व्यवस्था और डेजिग की विशेष व्यवस्था का छोड़कर, ये परिवर्तन इस प्रांतों में बसने वाले निवासियों के बहुमत की इच्छानुकूल थे।

युद्ध समाप्ति के पूर्व, जमनी के पूर्वी तरफ एक बहुत बड़ा प्रदेश था जिसे जमनी ने ब्रेस्ट लिटोवस्क ( Brest Litovsk ) की संधि के द्वारा बलपूर्वक रूस से छीन कर अपने राज्य में मिला लिया था। पेरिस शांति वास्तविक राज्यों के अनुसार इस विस्तृत प्रांत में जमनी का हटने की स्थापना के लिये विचार किया गया। और तीन नवीन राज्यों एसथोनिया ( Estonia ) लटविया ( Latvia ) और लिथुएनिया ( Lithuania ) का स्थापना की गई। सुदूर उत्तर में फिन लैंड का विवास था जिहोने युद्ध समाप्ति के पूर्व जमनी की सहायता से रूसी प्रांतों को हड़पकर स्वतंत्र फिनलैंड की स्थापना की थी। फिनलैंड की स्वतंत्रता बनी रही। पोलैण्ड ने न केवल लिथुएनिया की राजधानी विल्ना का लूट कर उस प्रभावहीन ही किया बल्कि रूसी सीमा में घुसकर गति परिपद द्वारा निर्धारित सीमान्त रेखा का उत्खनन करके अपनी सीमा का विकास किया। इस प्रकार शांति व्यवस्था के निरूपों की प्रवहेलना का कार्य शुरू हुआ।

आस्ट्रिया-हंगरी का विभाजन और विघटन वास्तव में, राष्ट्रवादी विचारधारा का उत्साह की विजय का प्रतीक था। साथ ही लगभग सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यवस्थाओं के असंतोषजनक चरित्र का दृष्टांत भी था क्योंकि जनसत्ता इस आस्ट्रिया-हंगरी के भाँति अन्तरमिश्रित थी कि प्रत्येक राज्य में दूसरे राज्य के अधिकारी राज्य अल्पसंख्यक सम्मिलित थे। यह बात विनोदकर, चेकोस्लोवाकिया के बारे में अधिक सही थी। चेकोस्लोवाकिया में ६० लाख चेक, और २० लाख स्लोवाक ( जो बिसी भी प्रकार एक दूसरे को देखना पसंद नहीं करते थे ) के अतिरिक्त ३५ लाख सूडेटन जर्मनों, पोल और हंगेरियन आदि अल्प



सह्यको का निवास था। राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की दूसरी बमजारी आर्थिक स्थिति थी। यह ठीक है कि यूरोप में यद्यत्न छोटे २ स्वतंत्र राज्यों का निर्माण किया गया परंतु इससे आर्थिक स्थिति गिरावनी गई। अपनी सम्पूर्ण कमियों के उपरांत भी आस्ट्रिया हंगरी एक समुक्त मध्य राज्य था। और इस दृष्टि से स्वातंत्र व्यापार के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र था। नये राज्या ने आत्म निर्भर बनने के प्रयत्न में अपने सीमान्ता में आयात



### आस्ट्रिया का अगमन

निर्यात होने वाले माल पर कर लगाना शुरू कर दिया और इस प्रकार व्यापार के प्राकृतिक मांग को अवलोकित कर दिया।

बाल्कन राज्यों में बल्गेरिया ही एक ऐसा दुर्भाग्याली राज्य था जिसने पराजित युद्ध का साथ दिया था। इसने परिणाम स्वरूप उसे एजियन सागर के तट के उस गलियारे से जो उसने १६१२ में विजित किया था वंचित होना पड़ा। बल्गेरिया ने

जा लाया वह यूनान को प्राप्त हुआ। तुर्की को 'त्रय आदानी' बल्गेरिया और वान विस्तृत प्रांत ईराक (मसोपेटेमिया) मोरिया और तुर्की पलैस्टाइन से हाथ धोना पड़ा। सत्रों का संधि ने ता उसे

अनातोलिया (Asia Minor) के पश्चिमी प्रदेशों सभी प्रेषित कर दिए थे। और इन प्रांतों पर यूनान का अधिकार स्वीकार कर दिया गया परन्तु यूनान इन प्रांतों को अपने नियंत्रण में लाने में असफल रहा क्योंकि तुर्की ने समान पागा के नवृत्त में यूनानियों को मार भयाया। बमाल के कमाल पर स्वरूप मित्रराष्ट्र ने सत्रों का संधि व स्थान पर, तुर्की के साथ लासेन की संधि की और अनातोलिया के प्रांतों पर पुनः तुर्की का अधिकार मान लिया गया। फिर भी महायुद्ध के परिणाम स्वरूप एशिया के तुर्की साम्राज्य ने यूरोप के प्राचीन तुर्की साम्राज्य के पथ का अनुसरण

किंवा और उसका अस्तित्व लुप्त हो गया। अब जो कुछ बचा वह प्रमुखतः तुर्क राष्ट्रवादो राज्य अनातोलिया था जो तुर्कों का राष्ट्रीय घर था। तुर्की साम्राज्य की भूतपूर्व राजधानी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी कुस्तुनतुनिया का स्थान अकारा ने ले लिया।

## सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण

शान्ति परिषद के दो विषया राष्ट्र सशस्त्र और क्षतिपूर्ति का अध्ययन हम पृथक् अध्यायो में करेंगे। अब हम सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करेंगे। शांति सम्मेलन के सम्पन्न होने के बाद अमेरिका अटलांटिक पार अपने घर चला जायेगा, ग्रन् ब्रिटेन भी, इस जानकारी के साथ कि सधि की शर्तों के अनुसार जर्मन जो सेना ने आत्म समर्पण कर दिया है। और जर्मन ना सेना का विघटन

राइनलैण्ड का ब पतन हो चुका है, चेन्नल के पार घपने घर चला जायेगा अस्त्रनिर्करण और चार करोड़ फ्रेंच जन सात करोड़ जर्मन लोगों का सामना करने को बच जायेंगे। फ्रांस किस ढंग से भावी सुरक्षा उपलब्ध करे? फ्रांस द्वारा प्रस्तावित फ्रेंच नियन्त्रण के अन्तर्गत "सशस्त्र राष्ट्र सश" की योजना पहिले ही अस्वीकृत हो चुकी थी। राइन के किनारे किनारे हार्लैण्ड से अल्सास तक अपनी सीमा को पहुँचाने में भा वह अपकन रहा था। परन्तु फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिए मित्र राष्ट्रों ने दा सुझाव रखे। राइन के पश्चिम के सम्पूर्ण प्रांत और राइन के पूर्व तीस मील चौड़ी पट्टी पर मित्र सेना का १५ वर्षों तक नियन्त्रण रहे और यदि जर्मनी क्षतिपूर्ति की रकम देने में असफल रहे तो इसमें भा अधिक समय तक मित्र सेना इन प्रांतों में डली रहे। राइनलैण्ड से मित्र सेना को हटाने के बाद इस प्रांत का स्थायी रूप से अस्त्रनिर्करण कर दिया जाये और अन्य बातों में जर्मनी का पूर्ण नियन्त्रण रहेगा। केवल जर्मन सेना रखना और किलाबंदी करना निषेध कर दिया गया था। यह व्यवस्था किसी सीमा तक फ्रांस की सुरक्षा प्रदान कर सकता थी। क्योंकि अब तक जर्मनी ने अपने सभी युद्ध अपनी भूमि पर नहीं बल्कि पड़ोसी की भूमि पर लड़े थे। जर्मनी के अपने नगर, गाँव और नागरिक मुराजित ही रह थे। यदि अब फ्रेंको जर्मन युद्ध लड़ा जाता है तो वह इसी अस्त्रनिर्करण प्रदेश में ही लड़ा जायेगा। परन्तु इस व्यवस्था की स्थिरता में संदेह था। क्योंकि युद्ध के घावों के भरन के बाद, फ्रांस के अतिरिक्त सभी देश यह सोचने लग जायेंगे कि जर्मनों को अपने प्रांत में अपनी इच्छानुसार कार्यवाही करने से रोक्ना अन्वयाय युक्त है। अर्थात् जर्मनी को राइनलैण्ड में सेना भेजने का अवसर प्राप्त हो जायेगा और सन् १९३६ ई० में ऐसा ही हुआ।

फ्रांस की भावी सुरक्षा के सम्बन्ध में हमारा मुमान इङ्गलैण्ड और अमेरिका का संयुक्त आश्वासन था कि यदि जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण किया तो दोनों देश शीघ्र ही फ्रांस की सहायता को भा पहुँचेंगे। दुर्भाग्यवश सुरक्षा का यह साधन उस समय

समाप्त हो गया जब कि अमेरिका ने सम्पूर्ण सचि वा अस्वीकार कर दिया और इसके साथ ही ब्रिटिश आक्रामन भी समाप्त हो गया क्योंकि ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ समुत्तरूप से सहायता देने का आक्रामन निया था ।

अब यह देखना बाकी रह जाता है कि निःशस्त्रीकरण के द्वारा फ्रांस का किसी प्रकार की सुरक्षा मिल सकती थी या नहीं । विल्सन का मत था कि बालातर में सभी देश निःशस्त्रीकरण पर तैयार हों । इंग्लैंड के अधिकांश निःशस्त्रीकरण विचारक भी इससे सहमत थे । तिहास इस बात का साक्षी रहा है कि शस्त्राकरण युद्धों का एक प्रमुख कारण रहा है । परंतु फ्रांस की हठ धर्मी के कारण इस समस्या का आवश्यक के लिये छोड़ दिया गया । अर्थात् जब जर्मनी का निःशस्त्र करवा हो पर्याप्त समझा गया । जर्मन सेना की सहायता एक ऐसी तक निश्चित कर दी गई । उसकी जल गति का नगण्य कर दिया गया और नम्र मेना को समाप्त कर दिया गया । युद्ध सामग्री का निर्माण, छायात निर्माण पर प्रतिबंध लगा दिया गया । इस प्रकार सैनिक गति का दृष्टि से जर्मनी को प्रभावहीन कर दिया गया ।

जब तक जननी निःशस्त्र था तब तक फ्रांस सुरक्षित था । इससे अतिरिक्त जर्मनी के पूर्वी तट निर्मित पट्टीनियो पालैंड और चेरास्तावाकिया के साथ सुरक्षात्मक सन्धियाँ करके फ्रांस ने अपना स्थिति को और भी मजबूत बना लिया था । परंतु यह व्यवस्था भाग्यहीन प्रमाणित न हो सका और १९३३ ई० के बाद जर्मनी पुनः शस्त्रीकरण की तरफ बढ़ा । एक लेखक के शब्दों में "Either general disarmament, vaguely promised in the treaty would follow, or else German rearmament" जब फ्रांस का निःशस्त्रीकरण के लिये कहा गया तो उसने अस्वीकार कर दिया । परिणाम यह हुआ कि जर्मनी ने दूसरे भाग की तरफ धमक बढ़ाया और उस रोजना अमंभव हो गया और फ्रांस की हठ धर्मी ने द्वितीय महायुद्ध की पट्ट भूमि का निर्माण किया ।

### अल्पसंख्यकों की सुरक्षा

शांति संधियाँ द्वारा निम्न नूतन सामान्य व्यवस्था ने राष्ट्रीय अल्प संख्या का एक जटिल समस्या को जन्म दिया । राष्ट्रीय विचारों ने युद्ध और शांति सम्मेलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी और इससे राष्ट्रीय प्रतियोगिता की वृद्धि हुई । राष्ट्रपति विल्सन ने इस प्रवृत्ति को परख कर कहा था "Nothing was more likely to disturb the peace of the world than the treaty which might in certain circumstances be meted out to minorities" भावी संकट को दूर करने के लिये अल्प संख्यकों की सुरक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया था । ऐसा अनुभव किया गया कि कम से कम नस्ल, जाति धर्म, सामाजिक, भाषा और आर्थिक दृष्टि से असम्य राष्ट्रीय अल्प संख्यकों की समाप्ति की प्रत्याभूति देना आवश्यक है ।

आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और तुर्की के सम्मेलन में, शांति सम्मेलनों में, अल्प-संख्यकों की सुरक्षा की प्रत्याभूति की सम्मिलित किया गया। फिर, पोलैंड रूमानिया, यूनान, यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया को बहुत विगध के उपरान्त भी इसी प्रकार की प्रत्याभूतियाँ संपरिपूर्ण विगिष्ट संधियों पर हस्ताक्षर करने पड़। यद्यपि सम्मेलन देना ने इसका विरोध किया और इस कदम की अपनी सावधान सत्ता पर प्रहार माना परन्तु महान् शक्तिशाली ने उनके विरोध को कोई महत्त्व नहीं दिया और अपने निश्चय पर डट रही। इस दिना में राष्ट्रसंघ का निरीक्षक माना गया और राष्ट्रसंघ की कौशिल्य के बहुमत से ही इसमें किसी प्रकार का मणोघन या पुनरावृत्ति करना तय किया गया। धीरे धीरे लिथुएनिया, लत्विया एसोनिया, फ़िनलैंड और प्रवानिया न भी इस प्रकार की संधि पर हस्ताक्षर किये।

## विल्सन और शांति सम्मेलने

जनवरी १९१७ से १९१८ तक अमरिका के राष्ट्रपति विल्सन युद्ध से पीड़ित विश्व का युद्ध समाप्ति के उपरान्त सुदूर व सुखी शांति के निर्माण का आन्वामन दत्त रह और युद्ध बन्दो विल्सन का के लिये प्रयत्न भी करते आदर्शवाद रह। एक आदर्शवादी प्रप थे। उन्होंने युद्धकाल में अपने विश्व विख्यात "चौदह बिंदुओं" (Fourteen Points) की घोषणा की और इनके आधार पर शांति के पुनर्निर्माण का प्रयत्न भी किया। यही कारण था कि उन्होंने अपने पूर्वाधिका रियों की परम्परा का छोड़ कर अपने पक्ष की अधि में प्रशासकों को पार कर यूरोप में पदार्पण किया था। उनका कार्यक्रम स्पष्ट था। क्योंकि शांति सम्मेलने का निपटाने में अमरिका के कोई व्यक्तिगत स्वाध नहीं थे और न ही उसे अपनी सुरक्षा का भय था। विल्सन एक ऐसी आदर्श संधि करवाना चाहता था जो सब राष्ट्रों के प्रति न्याय कर सके।



राष्ट्रपति विल्सन

परन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसके बहुत से कारण थे। एक कारण विल्सन की अपनी कमियाँ थी। वह राजनीतिशास्त्र का प्राध्यापक, विश्वविद्यालय का प्राचार्य,

अमेरिकन राज्य का राज्यपाल रह चुका था और अब राष्ट्रपति पद को सुशोभित कर रहा था। वह भाषण दे सकता था, कानून बना सकता था परन्तु अपने समकक्षों से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की कला से अनभिज्ञ था। कीस के शब्दों में वह कोई वीर पुरुष अथवा पैगम्बर नहीं था, वह एक तत्ववत्ता भी नहीं था, परन्तु उदार विचारा का ऐसा व्यक्ति था जिसमें दूसरे मनुष्यों की ओर 'दुःखान्ता' था और जिसमें उस शासकाय बौद्धिक प्रखरता का अभाव था जो ऐसे चालाक और खतरनाक आकर्षण शील व्यक्तियों को मित्र बनाने के लिए आवश्यक थी जिन्हें शक्तियों और व्यक्तियों के एक भयंकर मध्य ने राजनीतिक सौदा करने के काम में निपुण बना दिया था और इस दिशा में सफल माने जाने वाले व्यक्तियों की श्रेणी में एक ऊँचे स्थिति तक पहुँचा दिया था।<sup>१</sup>

दुर्भाग्यवश विल्सन यूरोप की जटिल एवं अतिमिश्रित समस्याओं के रूप में अपरिचित था। इसके अतिरिक्त उसने पहले से कुछ भी सोचा नहीं था। जब समस्याएँ उसके सामने आईं तो यह देखा गया कि उसके विचार अपरिपक्व और अपूर्ण थे। उसके पास केवल आदर्शवाद के अतिरिक्त कोई कार्यक्रम नहीं था, कोई ठोस योजना नहीं थी और न किसी प्रकार के रचनात्मक सुभाव ही थे। इसी ही नहीं बल्कि कभी कभी वह उन रिपोर्टों जो विशेषज्ञों के द्वारा कठिन परिश्रम व समय के उपरांत तैयार की गई थी, पर भी ध्यान नहीं देता था। वह अपने आदर्श पर डटा रहना चाहता था और इसके लिये सब कुछ यहाँ तक कि घनिष्ठ मित्रता को भी छोड़ने को तैयार था। उसकी इस प्रवृत्ति को परख कर ही लंगसम ने लिखा है—“Wilson's tactical mistakes were, in some measures, the result of his character and personality His idealism frequently was above the heads of the people and he found it difficult to make him understand”<sup>२</sup>

नवम्बर १९१८ में अमेरिका के आम निर्वाचन का भी बहुत प्रभाव पड़ा। विल्सन का डेमोक्रटिक दल पराजित हुआ और उसके विरोधी रिपब्लिकन दल ने दाना सदन में बहुमत प्राप्त कर लिया था। वे तथ्य उस समय और भी बुरे हो गए जब कि राष्ट्रपति विल्सन ने विरोधी दल के प्रभावशाली सदस्यों का साथ लिए बिना ही यूरोप को प्रस्थान कर दिया। इसके अतिरिक्त जनता का विश्वास प्राप्त न कर सकने के कारण विल्सन की शक्ति और प्रभुता में कमी आ गई थी, जब कि क्लोमेन्टो और लॉर्ड जार्ज का जनमत की शक्ति प्राप्त हो चुकी थी।

1 G P Gooch—History of Modern Europe

2 Langsam—The World Since 1919

विंसेन अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहा और उसकी असफलता में फास के प्रधानमंत्री क्लोमेंशो का जबरदस्त हाथ रहा। क्लोमेंशो ने विंसेन का इस ढंग से प्रभावित किया कि विंसेन जान भी न सका कि वह ठगा जा रहा है। छोटी-2 बातों पर क्लोमेंशो न उदारता का प्रदर्शन विंसेन की विचार करत हुये विंसेन का समयन किया और उसके सहयोग का भा धारा को प्रभावित किया प्राप्त कर लिया। जब कि विंसेन ने इस बात पर जार दिया कि राष्ट्र सभ का मसबिदा पत्र शांति समझौते का ही एक अंग होना चाहिए तो इटली के आरलेण्डो ने उमने प्रस्ताव का विरोध किया परन्तु क्लोमेंशो ने उसका समयन किया। इसी प्रकार राइन के सीमाने के सम्बन्ध में क्लोमेंशो ने पहिले से ही बड़ी चढ़ी मांग रखी और जब विंसेन ने विरोध किया तो उसने कुछ प्राप्ति को त्यागना स्वीकार कर लिया तो विंसेन ने इच्छा न हाते हुये भी सार घाटी फास को देना स्वीकार कर दिया क्योंकि क्लोमेंशो ने उसकी इच्छा के कारण अपनी मांग का जो कम कर दिया था। इस प्रकार अनिर्णित तथा अथ विपरीत पर भा विंसेन को बाध्य होकर अपने सिद्धांतों का गला घाटना पड़ा। क्योंकि क्लोमेंशो ने जा मागे रखा था वही थी। जब जर्मनी ने शांति समझौते में सहोदन की प्राप्ति की तो विंसेन ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि जा मागे सहो थी वे तो शांति समझौते में रखा गई था। अतः विंसेन सही समझौते में सहोदन करने को तैयार नहीं था।

विंसेन हैरिस<sup>१</sup> ने लिखा है कि वह (विंसेन) आशिक रूप से असफल रहा। परन्तु उसका कारण यह नहीं था कि उ होना प्रयत्न नहीं किया। उनके सामने दो मार्ग खुले थे जिनमें से उन्हें एक का चुनाव था वह या तो एक विंसेन के दो मार्ग दुर समझौते का स्वीकार करने या सम्मेलन का द्वाड़ देते, पर हम दूसरे मार्ग पर चलेन का अर्थ यह हाना कि समझौते का स्वरूप और भी अधिक बिगड़ जाता। उ होने वास्तव में इतना अधिक त्याग किया जिसका उन्हें अनुमान भी नहीं था। परन्तु उनका विश्वास था कि यदि राष्ट्र सभ की स्थापना हो गई तो उसके द्वारा ये सारी बुराईयाँ दूर की जा सकेंगी।

### चौदह बिन्दु और शांति समझौते

८ जनवरी १९१८ को राष्ट्रपति विंसेन ने अपने १४ बिन्दुओं को घोषणा की। इन बिन्दुओं में युद्धोपरांत ससार की व्यवस्था का चित्र विद्यमान था। युद्ध के अन्तिम दिनों में—युद्ध बर्गी के समय में इनका महत्त्वपूर्ण भाग रहा। ये इस प्रकार थे—

(१) खुले ढंग से किये गये खुल करार। (२) सामुद्रिक यातायात की स्वतंत्रता।

(३) आर्थिक व्यवस्था की समाप्ति (४) निःस्त्रीकरण (५) निष्पक्षता के साथ उपनिवेशों का निपटारा (६) रूसी प्रदेशों को खाली करना और रूसी स्वाधीनता को स्वीकार करना (७) बेल्जियम को खाली करना और उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करना (८) फासोमी प्रदेशों को मुक्त करना तथा फ्रान्समूलोयन को देना (९) इटली की सीमाओं में राष्ट्रीयता का आधार पर संगोपन करना (१०) आस्ट्रिया-हंगरी की विभिन्न राष्ट्रीयताओं को स्वतंत्रता प्रदान करना (११) रूमानिया, भर्बिया और मोन्टेनिग्रो को वापसी करना, सर्बिया का समुद्री द्वार प्रदान करना और बाल्कन राज्यों की सीमा निष्पक्षित करना (१२) आटोमन साम्राज्य को उसकी तुर्की की सीमाओं के लिए सम्पूर्ण प्रभु सत्ता का आश्वासन देना, तुर्क साम्राज्य के घतघन निवास करने वाले राष्ट्रीयताओं का अनादर्य सुरक्षा और स्वाधीन विकास का अवसर प्रदान करना तथा डाइने-ज का समा राष्ठा के लिए स्थायी रूप से खालना । (१३) स्वतंत्र पोलैंड राज्य की स्थापना करना तथा उसे समुद्री द्वार प्रदान करना और उसे उसका अखण्डता का आश्वासन देना (१४) राष्ट्र संधि की स्थापना करना ।

विल्सन ने इस चौदह सूत्री याजना के आधार पर नव राष्ट्रो से संधि करने की अपील की थी परन्तु जो माँगियाँ हुई वे इन बिंदुओं से अधिकांश प्रभावित न थी । इनका एक कारण तात्पर्य यह था कि जब तक जर्मनी का अपना पराजय चौदह बिंदुओं का पूर्ण विश्वास नहीं हो गया तब तक उन्होंने इस तरफ ध्यान ही नहीं दिया और जब उन्होंने इस स्वीकार किया तब तक चौदह बिंदुओं का कायाकलन हो चुका था । चौदह बिंदुओं के प्रति जर्मनी का रुख प्रारम्भ से ही नकारात्मक रहा और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण रूस के साथ की गई ब्रेस्ट लिटोवस्क ( Brest Litovsk ) का संधि और रूमानिया के साथ की गई संधि है । इनसे यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी युद्ध बंदी के लिए तैयार नहीं है और जर्मन कोप में चौदह बिंदुओं का अभिप्राय अमान्य प्रदेशों का हड़पना है । अप्रैल १९१८ में विल्सन ने कहा था — I am ready to discuss a fair and just and honest peace at any time But the answer when I proposed such a peace (10 in Jan 1918) came from the German Commanders in Russia and I cannot mistake the meaning of the answer I accept the challenge Germany has once more said that force and force alone shall decide whether justice and peace shall reign in the affairs of men इस प्रकार जर्मनी ने रूस और रूमानिया के साथ क्रूर व्यवहार करके, शांति परिषद के बहुत समय पूर्व ही मित्रराष्ट्रों

के नेताओं की उदारता और सहानुभूति को ठोकर मारकर उन्हें क्राधित कर दिया था। विल्सन और उसके सहयोगियों को यह धारणा निर्भीक हो गई कि बिना विजय के जर्मनी के साथ संधि करने का सवाल ही नहीं उठता। यही कारण है कि युद्धबंदी के पूनर्हा मित्रराष्ट्रों ने यह तय कर लिया कि उनके हितों के साम की दृष्टि से चौदह बिंदुओं में समाधान किये जा सकेंगे। अर्थात् शांति परिपद के अधिवेशन में क्लेमण्टो का पथ उद्भूत हो चुका था और चौदह बिंदुओं का वाक्यरूप भी पूरा हुआ।

१९१८ की सम्पूर्ण अवधि में विल्सन ने मित्रराष्ट्रों की जनता से यही अपील की कि चौदह बिंदुओं के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही युद्ध जारी रखा जा रहा है।

मित्रराष्ट्रों ने उसका समर्थन किया था। क्योंकि इस के पृथक् ही मित्रराष्ट्रों की नीति जाने स उनकी शक्ति घट गई थी और अमेरिका की निरंतर सहायता व सहयोग पाने का एकमात्र उपाय यही था कि वे भी

ऐसा ही गद्दों का प्रयोग करे, ऐसी घोषणाएँ करे जिससे विल्सन को सन्तुष्ट मिले। किसी भी मित्रराष्ट्र ने विभागीय दृष्टि से इन सम्पूर्ण बिंदुओं का कभी भी स्वीकार नहीं किया, हालांकि सघर्ष काल में किसी ने इन बिंदुओं का विरोध भी नहीं किया। परन्तु युद्धबंदी के तुरन्त बाद ही विल्सन और उनका सहयोगियों के मध्य चौदह बिंदुओं को लेकर मतभेद उठ खड़ा हुआ और ऐसा होना भी स्वाभाविक था। प्रथम तो मित्रराष्ट्र एक दूसरे के साथ अनेक गुप्त संधियाँ कर चुके थे। दूसरे इंग्लैंड और फ्रांस के युद्धपराजित निर्वाचना में सत्तासुदल ने जर्मनी के विरुद्ध बड़ी कामवाही करने की घोषणा की थी और अब वह समय आया था जब कि वे अपने वचनों को पूरा करते।

शांति परिपद के अंतिम निष्पत्ति का अध्ययन करके कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि विल्सन के चौदह बिंदु अपने अस्तित्व को बनाए रखने में अफसल रह।

अब हम एक एक बिंदु का लेकर देखने हैं। प्रथम बिंदु 'खुले चौदह बिंदु' यहाँ पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया और शांति समझौते तक सफल रहे। के आलेखन का काम शांति परिपद से दसवीं परिपद को, दसवाँ परिपद से पाँचवीं परिपद को और बाद में केवल तीन की परिपद को दिया गया और वह भी खुले ढंग से नहीं बल्कि बाद कमरों में बैठकर करने के लिए। दूसरा बिंदु 'समुद्रों की स्वतन्त्रता' शांति परिपद के प्रारम्भ होने के पूर्व ही त्याग दिया गया परन्तु क्योंकि ग्रेट ब्रिटैन इस पर विचार करने के लिए भी तैयार नहीं। तीसरा बिंदु भी उपेक्षा का पात्र बना और 'यापारिक प्रतिबंधों को नहीं हटाना' गया। चौथे बिंदु 'गन्तीकरण को सीमित करना' का पालन किया गया परन्तु केवल पराजित देशों के सम्बंध में। पाँचवें बिंदु 'अनिवेशों का उचित निपटारा' का पालन पराजित देशों को उपनिवेशों से वंचित करने के लिए किया गया। छठे बिंदु के



अनुसार जमनी को तो भूतपूव रूपी प्रांति को खाली करने के लिए विवश किया गया परन्तु स्वयं मिश्रराष्ट्रो ने नवस्थापित साम्यवादी सरकार का तत्त्वा उल्टने के प्रयत्न की दृष्टि से सैनिक टुकडिया भेजी । सातवें और आठवें का पालन किया गया । परन्तु नवें बिन्दु के अनुसार इटली को राष्ट्रीय सीमा त प्राप्त न हो सके । इसी प्रकार दसवें बिन्दु के अनुसार आस्ट्रिया हंगरी का राष्ट्रायनाग्रा की समन्याग्रा का ठेक समाधान न हो सका और बहुत से लाभा का विदेशी राज्य की आधीनता में रखा गया । बारहवें बिन्दु का पालन किया गया और रूमानिया, मांटानिया और सर्बिया को खाली कर दिया गया । बारहवें बिन्दु के अन्तगत तुर्क शासन के अन्तगत विविध राष्ट्रीयताओं की स्वायत्त शासना भी नहीं दिया गया । अन्तिम दसवीं बिन्दु का पालन किया गया ।

संक्षिप्त में, पाच बिन्दुओं का सही रूप में कार्यान्वित किया गया, चार बिन्दुओं को, कबल मिश्रराष्ट्रा के लाभार्थ कार्यान्वित किया गया और पाच बिन्दुओं को त्याग दिया गया ।

## क्लोमेन्शो और शांति समझौते



चित्र—क्लोमेन्शो

प्रायः का प्रधानमंत्री था और फ्रेंच समाज उसे बृद्ध वेशरी' तथा "महान विजेता" के नाम से सम्मानित करता था । विजय की घटा में उसे अग्रे "गामिनी" के असीम विद्वान्ता न पुरस्कार किया गया था और आम निर्वाचन में उसे भारी सफलता मिली । यूरोप की "रक्तान्ता समस्या का निरती निस्तृत जानकारी और गहरा ज्ञा उसी प्राप्त था उन्ता 'चार वंश' में किसी को नहीं था । इसने अतिरिक्त यह फ्रेंच, प्रोजी और इरा

परिस के शांति समझौते के स्वरूप को निश्चिन करने में सबसे अधिक प्रभाव का उपयोग करने वाला, शांति परिषद के प्रतिनिधिया का स्वागत करने वाले देश फ्रांस का प्रधानमंत्री और परिषद और इस नाते शांति परिषद का स्थाित निर्वाचन अध्यक्ष जाज क्लोमेन्शो था । वह इस समय अस्सी वर्ष का बृद्ध पुरुष था और उनका अवस्था ने शांति परिषद के समक पर महत्वपूर्ण भूमिका भरा करने में सहयोग दिया । मन् १८७०-७१ वर्षों का जर्मन युद्ध के समय वह परिस के एक जिले वामपर था युद्ध के अन्तिम साल में वह

लियन भापाओ का बिद्वान् था और इन भापाओ की धारा प्रवाह में बोलने की क्षमता से युक्त था ।

क्लीमेन्टा आदर्शवादी नहीं था, वह एक व्यावहारिक वाक्कर्त्ता था । उसे विल्सन के चौदह बिंदुओं या राष्ट्र सच के प्रति कोई रूचि नहीं थी । उसका प्रमुख उद्देश्य था-

उद्देश्य

फ्रांस की सुरक्षा । उसके मस्तिष्क में संधि का उद्देश्य, विजय को फ्रांस की स्थिर सुरक्षा में परिवर्तित करने का था । अन्य तथ्यों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था । फोस ने लिखा है कि फ्रांस के प्रति उसका बड़ी दृष्टिकोण था जो पेरोक्लोज का एथेन्स के सम्बन्ध में था । परन्तु सैद्धांतिक रूप से राजनीति में वह बिस्माक का अनुयायी था । उसके सामने एक आकर्षण था फ्रांस, और एक अनाकर्षण मानवता, जिसमें फ्रांस के निवासी और विशेषकर उसके सहयोगी भी सम्मिलित थे ।<sup>१</sup> लन्सिंग के शब्दों में "वह शांति सम्मेलन पर छा गया था, उसमें महान् नेतृत्व के सभी आवश्यक गुण थे, वह जानता था कि वह अपने प्रतिपक्षी की बात को काटा जा सकता है, और वह उसे सतुष्ट करना आवश्यक होता है ।"<sup>२</sup>

शांति परिषद ने यूरोप का जो नया मानचित्र तयार किया वह क्लीमेन्टा का स्वप्न था फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों द्वारा निर्मित यूरोप का मानचित्र था । क्लीमेन्टा धीरे-धीरे कूटनीति के सहारे विल्सन को उसके चौदह बिंदुओं से दूर हटाता गया और विल्सन को

नवीन मानचित्र  
का निर्माता

मान्य भी नहीं सवा । विल्सन क्लीमेन्टा की नीति का मूल्यांकन करने में असफल रहा क्योंकि क्लीमेन्टा की नीति पूर्वी व्यापारियों की तरह थी, अपनी माँगों को पहिले से ही दस गुना बढ़ा कर रखने की थी ताकि वास्तविक माँगों से कुछ अधिक ही हाथ लगे । राइनलैण्ड, सार घाटी, क्षतिपूर्ति, पोलैण्ड आदि सभी समस्याओं में उमने अपने अनुकूल निराय कराने में सफलता प्राप्त की । परिणामस्वरूप फ्रांस के सभी शत्रुओं की शक्ति को निबल बना दिया गया और उनकी सीमाओं को सन्तुष्ट कर दिया गया । ऐसा

मायूस पड़ता है मानो फ्रांस के महान् सम्राट् लुई चौदहवें के समय के यूरोप की पुनरावृत्ति कर दी गई हो । इसलिए यदि कुछ आलोचकों ने शांति व्यवस्था की "क्लीमेन्टा की संधि" कहकर व्याख्या की है तो वह न्याय रहित नहीं है क्योंकि नपोलियन प्रथम के यूरोपीय मानचित्र को छोड़कर, अवतल के निर्मित यूरोपीय मानचित्र, तत्कालीन मानचित्र को शांति फ्रांस द्वारा निर्मित" मुहर से वंचित थे ।

## लॉयड जार्ज और शांति सम्मेलन

क्लीमेन्टा और विल्सन के मध्य सतुलन की बनाये रखने वाला लॉयड जार्ज था जो

1 G P Gooch History of Modern Europe

2 Lansing—The Big four

युद्ध के अन्तिम दो वर्षों से ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री था। वह विचारों और मिशनों का पुजारी नहीं था। उसकी नीति भी स्पष्ट नहीं होती थी और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थी। सैनिकों के दृष्टि में 'उसने पाम एव' अदम्य, सजग भरितप्य था जो अथवा स्पर्ति में दृढता रहता था। वह बली तेजी के साथ निष्पन्न कर लिया करता था और उसमें न तो वारीकिया का ध्यान रहता था और न मूनभूत प्रश्नों का। जीवन से उत्कृष्ट, व्यवहार में शिष्ट और स्वभाव से सरल, वह मामाजिन दृष्टि से बहुत ही आनन्दक व्यक्ति था। परन्तु इस असाधारण व्यक्ति के पाम दूटनीति की कला बिल्कुल भी नहीं थी। फिर भी पारिस में उस अत्यधिक सफलता मिली।

शान्ति अधिवेशन के प्रारम्भ होने के पूर्व ग्रेट ब्रिटेन के आम चुनाव में लॉर्ड जार्ज के कार्यक्रम का मुख्य आधारभूत 'युद्ध के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों का सजा मिलाना और दायु स युद्ध का सजा प्राप्त करना था। अतः शान्ति अधिवेशन के प्रारम्भ होने से उसे अपने कार्यक्रम का स्मरण हो आया। क्लीमेंटो भी समय समय पर उन उसके बचनों की मदद दिलाता रहता। नतीजा यह हुआ कि लॉर्ड जार्ज का विल्सन का साथ छोड़कर क्लीमेंटो का साथ देना पड़ा। यद्यपि कई विषयों पर उसने क्लीमेंटो का जबरदस्त विरोध भी किया। उसके विरोध के फलस्वरूप ही फ्रांस अपने प्राकृतिक सीमाओं को प्राप्त करने में असफल रहा। उसके विरोध के कारण ही विल्सन के चौदह बिंदुओं में कुछ बिंदुओं को छोड़ना पड़ा। वास्तव में, वह एक उदारवादी पुरुष था, जब जर्मनों ने शांति समझौते में सशोधन करने की दुहाई दी तो लॉर्ड ने उनका पक्ष लिया था परन्तु क्लीमेंटो और विल्सन के विरोध के कारण वह असफल रहा और सशोधन नहीं किये गये।

### जर्मन सैनिक शक्ति और शांति समझौते

शान्ति व्यवस्था के आलोचकों का कथन है कि मित्रराष्ट्रों का प्रमुख उद्देश्य पराजित राष्ट्रों की सैनिकशक्ति को नष्ट करना था और वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी रहे। वसाय संधि की द्वितीय महत्वपूर्ण धारा ने, दूसरे देशों के क्षेत्रों में कायवाही व हस्तक्षेप करने वाली जर्मन प्रवृत्ति, जो उसकी अमेन सैन्यशक्ति के आधार पर किसी देश का पुनः शक्तिशाली होने से रोका जा सकता था तो वसाय की संधि में ऐसी धाराओं का अभाव नहीं था। वसाय की संधि ने भी जर्मनों को पुनः शक्तिशाली सैनिकशक्ति बनने से रोकने का प्रयत्न किया। विश्वशांति को संकट से विमुक्त रखने का प्रयत्न किया गया। शांति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिये तथा अन्य

सेवा कार्यों की आवश्यकता के लिये, भविष्य में जर्मनी कितनी सख्या में सैनिक और अस्त्र शस्त्र रख सकेगा, इस विषय पर वर्साय की संधि में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। सामान्य तौर पर वर्साय की संधि ने जर्मनी की सशस्त्र शक्ति को काफी कम कर दिया और अब उसकी जो स्थिति थी वह छाटे छाटे राज्या की स्थिति से किसी प्रकार अधिक उन्नत नहीं थी।

मार्च १९२० तक जर्मन सेना को एक लाख तक सीमित रखना आवश्यक माना गया। इस सेना में चार हजार से अधिक अधिकारी नहीं होने चाहिये। अनिवार्य सैनिक सेवा को समाप्त कर दिया गया और केवल उन्हीं लोगों को जो अपनी इच्छानुसार सेना में भर्ती होना चाहें, भर्ती करने का आदेश दिया गया। सैनिक सेवा की अवधि निश्चित कर दी गई। सैनिक के लिये १२ वर्ष की और अधिकारी के लिए २५ वर्ष की अवधि कायम की गई। एक शर्त और रखी गई—सेना के सदस्यों को उनके कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व किन्हीं भी कारणों के आधार पर प्रतिवर्ष पांच प्रतिशत से अधिक लागों को सैनिक सेवा से नहीं हटाया जायगा। सेना की अध्यक्षीय समिति तोड़ दी गई और इसके पुनर्निर्माण पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

इन धाराओं से ऐसा मालूम पड़ता है कि संधि निर्माताओं ने इतिहास से शिक्षा ग्रहण की थी। क्योंकि कई बार विजेताओं ने पराजित देश की निश्चित सख्या में सेना रखने की बाध्य किया था। परन्तु इन देशों ने शर्तों को मानते हुए भी अपनी सेना की शक्ति को विकसित करने के उपाय ढूँढ निकाले थे। जहाँ ही निश्चित सख्या के सैनिक प्रशिक्षण समाप्त करने लगे ही उन्हें नया कार्य से मुक्त कर दिया जाता और उनके स्थान पर नये रंग रूटों का भर्ती कर लिया जाता। इस प्रकार की नीति में निश्चित सख्या तो बनी रहती थी परन्तु वास्तव में सैनिक सेना योग्य सैनिकों की सख्या बढ़ती जाती थी। वसाय का संधि ने इस प्रकार के उपायों का नियंत्रित कर दिया। इतना ही नहीं, बल्कि अल्प नागरिक अधिकारियों और कर्मचारियों को सैनिक प्रशिक्षण देने पर रोक लगा दी गई। सैनिक विद्यालयों का बंद कर दिया गया।

वर्साय की संधि ने न केवल सेना का सख्या ही निश्चित की परन्तु सेना के काम आने वाले अस्त्र शस्त्रों और युद्ध सामग्रियों के निर्माण, आयात तथा निर्यात की भी सीमा निर्धारित कर दी। जर्मनी केवल निर्धारित सीमा तक केवल उन्हीं कारखानों में जिन्हें पाँचा

राष्ट्रों ने माँगा दे दी हो, युद्ध सामग्रियों का निर्माण कर सकता था।

**युद्ध सामग्रियों का निर्माण** दूसरे कारखानों को बंद कर दिया गया या नष्ट कर दिये गये। विदेशों से युद्ध सामग्रियों भगवाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

जर्मनी को दम घाटनेवालों विपरीत वेसा, सैनिक मोटर गाड़ियों और टैंकों का निर्माण करने को मना कर दिया गया। इस प्रकार जर्मनी की प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया गया।

राइन के दाहिने किनारे या बायें किनारे के तीस मील तक के प्रांतों में किसी दुर्ग को रखने या बिलाबंदी करने के लिये जर्मनी का मना कर दिया गया। इन प्रांतों में विद्यमान दुर्गों को निःशस्त्र करने या बिलेवदी की दृष्टि से नष्ट करने का आदेश दिया गया। इन प्रांतों में सैनिक व्यवस्था पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया।

वसाय की संधि ने जर्मनी सेना को भी महत्वहीन बना दिया जहाजी बेड़े में ६ लड़ाई के जहाज ६ हल्के, कूजर जहाज, १२ मारु जहाज और १२ टार्पीडो नावें और १५०० नाविक सैनिकों से अधिक सख्या पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जर्मनी को अपने नौशक्ति सवाकू जहाजों को सौंप देने का आदेश दिया गया परन्तु जर्मनी ने आत्म समपर्ण के स्थान पर अपने जहाजी बेड़े को संपुद्र को भेंट कर दिया। पनचुच्चियों के निर्माण पर पाबंदी लगा दी गई। हेलीगलैंड जो कि जर्मनी की सेना का एक प्रमुख बेड़ा था, के किले को तोड़ दिया गया। इसी प्रकार बाल्टिक सागर तट की किले बंदी को भी नाट कर लिया गया। वील नहर को सभा देशों के जहाजों के लिये खोल दिया गया।

संधि की धाराओं के अनुसार जर्मनी को किसी प्रकार के हवाई जहाज बनाने से अथवा ऐसी वस्तु जो हवा में पकी जा सकती हो बनाने को या रखने को मना कर दिया गया।

इस प्रकार महायुद्ध के पूर्व यूरोप की प्रमुख सैनिक शक्ति को प्रभावहीन बना दिया गया और अब उसकी सैनिक शक्ति अपने विगत बलवकाल की शक्ति का आठवा हिस्सा ही रह गई। उसके पास सुरक्षित सैनिकों का एक दल भी नहीं रखा

निष्कर्ष

गया। उसकी नौ सेना जो इंग्लैंड के बाद विश्व की शक्ति शाली नौसेना थी अब बिल्कुल महत्वहीन स्थिति में पहुँच चुकी थी। इसके अतिरिक्त उसकी भूमि पर, उसके खर्ब पर उसकी कार्यवाहियों का निरीक्षण करने और उसके कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिये विदेशी सेनाओं को रखा गया। इससे अधिक अपमान और क्या हो सकता था। शायद इससे अधिक कठार धाराएँ आज तक किसी संधि में सम्मिलित नहीं की गईं। यदि इन धाराओं का मानने के लिये जर्मनी को विवश किया जाता तो शायद जर्मनी कभी सिर नहीं उठा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं हो पाया और जर्मनी अपने कलक का धोने के लिये दूसरी बार उठ खड़ा हुआ। हालांकि परिणाम अनुकूल नहीं निकला।

## क्षतिपूर्ति और शांति समझौते

अब हम शांति व्यवस्था के सबसे अधिक असनोपजनक भाग का अध्ययन करते हैं। इस दिशा में दिसम्बर १९१८ में इंग्लैंड के ग्राम निर्वाचन में रिचर्ड मतदानाग्रा ने अत्यधिक रुचि दिखाई और उनके नेता लॉर्ड जार्ज ने भी उन्हें आश्वासन दिया कि जहाँ तक सम्भव हो सकेगा जर्मनी से युद्ध का हर्जाना वसूल करने का प्रयत्न किया जायेगा।

कुछ तीमा तक यह बात यायदुक्त भी थी। जर्मनी को अपनी पराजय के उपरान्त भी अपने प्रदेश का, नगर का और नागरिकों का विनाश नहीं देखना पड़ा। इसके अतिरिक्त सन् १८७०-७१ में जर्मनी ने भी फ्रांस पर इसी प्रकार का हर्जाना लादा था।

युद्धबंदी के सम्बन्ध में होने वाली प्रारम्भिक वार्तालाप के समय मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को स्पष्ट रूप से बताया था कि जब, बल और नम की लड़ाई के परिणाम स्वरूप नागरिकों को जो हानि उठानी पड़ेगी उसकी पूर्ति **हर्जाने की समस्या** जर्मनी को करनी पड़ेगी। इसमें फ्रांस तथा अन्य देशों के बोरान प्रांतों का फिर से आवाद करने का व्यय, डुबोये गये जहाजों के पुनर्निर्माण का व्यय भी सम्मिलित था। विपक्षों ने अत्यधिक परिश्रम के उपरान्त यह मालूम किया कि इन कार्यों के लिये करीब ३,०००,०००,००० पौंड की आवश्यकता पड़ेगी। इक रकम पर ५ प्रतिशत के हिसाब से १५०,०००,००० पौंड वार्षिक व्याज होगा। जर्मनी की वार्षिक स्थिति का देखते हुये वार्षिक व्याज का चुकाना भी असम्भव प्रतीत होता था। इसी समय एक और नई उलझन पैदा हो गई। मित्रराष्ट्रों ने युद्धबंदी के समय निर्धारित किये गये हर्जाने के दावों के साथ अन्य दावों को भी सम्मिलित कर लिया। परिणाम स्वरूप हर्जाने की रकम बढ़ती गई। यद्यपि संधि में किसी निश्चिन् राशि का उल्लेख नहीं किया गया परन्तु फिर भी ऐसा अनुमान है कि हर्जाने की रकम ८,०००,०००,००० पौंड के लगभग निर्धारित की गई होगी।

अंत में, शांति सम्मेलन ने हर्जाना निश्चित करने और वसूल करने का सम्पूर्ण कार्य क्षतिपूर्ति आयोग को सौंप दिया। अमेरिका ने अपनी क्षति के बन्ने में हर्जाना लेने में असहोकार कर दिया। इस समस्या का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा।

### जर्मनी का आर्थिक ध्वंस

श्री हेम्पडन जेसन ने लिखा है कि शांति सम्झौते का प्रमुख अभिप्राय जर्मनी का आर्थिक ध्वंस करना था। जेक्सन का कथन सत्य के काफी निकट है। वर्षों की संधि के अनुसार जर्मनी का अपने दो छोटी भूपट्टी महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्रों पर साईलोनिया और लोहे वाला सारेन प्रान्त तथा बोमले की सार घाटी से वंचित होना पड़ा। इसके अतिरिक्त उसने उसने उपनिवेश भी छीन लिये गये। बेरुन सभुद्र पार के उपनिवेशों के छीन जाने से जर्मनी को दस लाख वर्ग मील क्षेत्र का हाथ धोना पड़ा। इन प्रांतों के १,२०,००,००० निवासियों की सेवा से वंचित होना पड़ा। इससे जर्मनी का २५% रबर, तेल तथा अन्य वस्तुओं का उपभोग हुआ। उसका व्यापारिक क्षेत्र ५५ लाख वर्ग मील से घटा कर केवल ४ लाख टनेज तक सीमित कर दिया गया। १६०० टन वजन वाले सम्पूर्ण व्यापारिक जहाज, १६०० से ८०० टन वजन के

और मध्यनी पकड़ने वाले चौथाई जहाज, मित्र राष्ट्रों को देने के लिये जर्मनी को विवश किया गया ।

इसके अतिरिक्त जर्मनी पर युद्ध के हजाने की एक विशाल राशि लाद दी गई । इतना ही नहीं बल्कि जर्मन प्रांता में नियुक्त मित्र राष्ट्रों की सेना का व्यय भी जर्मनी पर डाला गया । मित्र राष्ट्रों में जर्मनी की जितनी सम्पत्ति थी उस बेचना आवश्यक माना गया । जर्मनी को कई प्रकार की वस्तुओं का निमाण करने से मना कर दिया गया । विदेशों में उसे जो व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त थी, उनको समाप्त कर दिया गया । जर्मनी के जो व्यापारिक भण्ड ( विदेशों में ) थे उन पर भी मित्र राष्ट्रों ने अपना अधिकार कर लिया इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्साय का संधि ने जर्मनी का आर्थिक ध्वंस कर दिया । क्योंकि एक तरफ तो उसके औद्योगिक व औपनिवेशिक केंद्र छीन लिये गये, दूसरी तरफ उसके बड़े कारखाने नष्ट कर दिये गये और तीसरी तरफ हजाने की रकम लाद दी गई । ऐसी परिस्थिति में आर्थिक पतन मही होता तो और बड़ा होता । जर्मन जनता के लिये रोटी-रोजी की समस्या को हल करना कठिन हो गया और ऐसे क्षुब्ध, पीड़ित, पराजित और अपमानित परिस्थिति में ही नाजोवाद का जन्म हुआ ।

### सामान्य-समीक्षा

प्रत्येक देश में, प्रारम्भ में ही शांति समझौते की, व्यापक तथा विविध कारणों के आधार पर असंतोषजनक माना गया था और आज वे स्वयं दोष सिद्ध होकर खड़े हैं क्योंकि उन्होंने विश्व शांति को स्थिर रखने के बदले में द्वितीय परस्पर विरोधी महायुद्ध को निमित्त करने में पूरा योगदान दिया था । परन्तु दृष्टि फोएँ ये समझौते उस समय की परिस्थिति को देखते हुए बहुत अच्छे थे । विश्व के प्रमुख प्रजातांत्रिक राष्ट्रों के चुने हुए नेताओं ने जहाँ तक सम्भव हो सका अपन उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न किया । उनके कार्यों की आलोचना करने के पहिले हमें उन परिस्थितियों का विस्मृत नहीं करना चाहिए जिनके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना पड़ा था । यही पर हमारे सामने एक अर्थ प्रश्न उठ खड़ा होता है, हालांकि जिसका कोई निश्चय उत्तर नहीं दिया जा सकता । क्या १९१९ में निर्धारित की जाने वाला, किसी भी स्वरूप और चरित्र वाला संधि के द्वारा एक स्थिर शांति व्यवस्था, जिसके निम्न विजयता नाग लातायित थे, की प्राप्ति की जा सकती थी ? यह सही है कि शान्ति संधियाँ की नाटकीय ढंग से, परस्पर विरोधी दृष्टि दोनों से आलोचना की गई है । एक पक्ष का कहना है कि वे बहुत कठोर थी । परन्तु दूसरे पक्ष वाले कहते हैं कि यदि जर्मनी का उदारतापूर्वक नम शर्तों के साथ छोड़ दिया जाता तो वह यथा नीच अपना प्रतिगोष लेता । अतः संधियाँ कठोर नहीं

यो । प्रथम पक्ष का प्रत्युत्तर है कि जर्मनी को हमेशा के लिये दबा कर रखना सम्भव नहीं था । अतः उसे जितनी सस्त सजा दी जायेगी, उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही भगकर होगी, जब जर्मनी को अवसर मिलेगा ।

किसी भी प्रसंग में यह अवश्य याद रखना चाहिए कि १९१६ का सत्तार अन्तर्राष्ट्रीय घृणा से व्याप्त था—ऐसी घृणा जिसमें सत्तार अभी तक अनभिज्ञ था और इससे पूर्व इस प्रकार की घृणा का अभी अनुभव नहीं किया अन्तर्राष्ट्रीय घृणा गया था । क्योंकि इससे पू्व विश्व व्यापी पैमाने पर इतना का प्रभाव भारी विनाशकारी महायुद्ध सदा भी नहीं गया था । युद्ध की ज्वाला ने सभी बगों के स्त्री पुरुषों को उस व्यापक पैमाने पर झूलस दिया था जिसका उदाहरण मानव इतिहास में मिलना दुर्लभ है । इस ज्वाला ने सम्पूर्ण मानव समाज की बौद्धिक प्रतिभा को अपने जाल में उलझा लिया था और व युद्ध को आहूत करने वालों के सर्वनाश के लिये तैयार हो चुके थे । शान्ति सन्धिया इस व्यापक घृणा को समाप्त नहीं कर सकती थी । वे तो केवल इस प्रवृत्ति के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकती थी और उन्होंने ऐसा किया भी । इस नाते हम शान्ति सन्धियों को दोषी नहीं ठहरा सकते । परन्तु ये गम्भीर प्रश्न हैं और इनका निश्चित आधार निर्धारित करना असम्भव है । अतः हमें इन उलझे प्रश्नों को छोड़कर आगे बढ़ना चाहिए ।

शान्ति समझौते अस्थायी आश्वासनों से परिपूर्ण थे । वे यत्र तत्र बिखरे आदर्शवाद और प्रभावशाली भौतिकवाद के मिश्रित रूप के प्रतीक थे । लैसिंग के शब्दों में “शर्तें बहुत अधिक बड़ी और अपमानजनक थी, और उनमें से अधिकांश सन्धियों के शर्तें ऐसी थी जिन्हें वायावित किया जाना मेरी दृष्टि में असम्भव विरोध में था ।” इसी प्रकार कीन्स ने, जिन्होंने शान्ति पूर्ति सम्बन्धी समझौते के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करने के लिए अथ विभाग के प्रतिनिधि पद से त्याग पत्र दे दिया था, इस “युद्धसत्ता पूर्ण प्रतिशोधार्थमव शान्ति” की भत्सना एक पुस्तक में की जिसे सम्पूर्ण सत्तार में रुचि तथा ध्यान पूवक पढ़ा गया । सन्धियों पर हस्ताक्षर करने के बाद जनरल स्मट्स ने कहा था कि, ‘मैंने सन्धि पर इस कारण हस्ताक्षर नहीं किए कि मैं उस समस्याका का एक सतोपजनक समाधान मानता हूँ, पर इस कारण कि युद्ध को किसी न किसी प्रकार समाप्त कर देना आवश्यक हो गया था । हमन अब तक उस वास्तविक शान्ति को प्राप्त नहीं किया है जिसकी ओर हमारे नागरिक टकटकी लगाए देख रहे हैं ।’<sup>१</sup>

शान्ति सन्धियों पर कई दोषों का आरोप लगाया गया है । एक तो यह कि शान्ति व्यवस्था में उन कई आश्वासनों और सिद्धान्तों, जिनको ठीक ढंग से व्यवहार में

1 Hampden Jackson—The Post war world

2 G P Gooch—History of Modern Europe



और मछली पकड़ने वाले चौथाई जहाज, मित्र राष्ट्रों का देने के लिये जर्मनी को विवश किया गया ।

इसके अतिरिक्त जर्मनी पर युद्ध के हर्जाने की एक विशाल राशि लाद दी गई । इतना ही नहीं बल्कि जर्मन प्रांतों में नियुक्त मित्र राष्ट्रों की सेना का व्यय भी जर्मनी पर डाला गया । मित्र राष्ट्रों में जर्मनी की जितनी सम्पत्ति थी उसे वेचना आवश्यक माना गया । जर्मनी को कई प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करने से मना कर दिया गया । विदेशों में उसे जो व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त थी, उनको समाप्त कर दिया गया । जर्मनी के जो व्यापारिक अड्डे ( विदेशों में ) थे उन पर भी मित्र राष्ट्रों ने अपना अधिकार कर लिया इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्साय की संधि ने जर्मनी का आर्थिक ध्वंस कर दिया । क्योंकि एक तरफ तो उसके आर्थिक व औपनिवेशिक कब्जे छीन लिये गये, दूसरी तरफ उसके बड़े २ कारखाने नष्ट कर दिये गये और तीसरी तरफ हर्जाने की रकम लाद दी गई । ऐसी परिस्थिति में आर्थिक पतन नहीं होता तो और क्या होता । जर्मन जनता के लिये रोटी राजी की समस्या की हल करना कठिन हो गया और ऐसे क्षब्ध, पीड़ित, पराजित और अपमानित परिस्थिति में ही नाज़ीवाद का जन्म हुआ ।

### सामान्य-समीक्षा

प्रत्येक देश में, प्रारम्भ से ही शांति समझौते को, व्यापक तथा विविध कारणों के आधार पर असतोषजनक माना गया था और आज वे स्वयं दोष सिद्ध होकर खड़े हैं क्योंकि उन्होंने विश्व शांति को स्थिर रखने के बदले में द्वितीय परस्पर विरोधी महायुद्ध को निमग्न करने में पूरा योगदान दिया था । परन्तु दृष्टि कोण से समझते उस समय की परिस्थिति को देखते हुए बहुत अच्छे थे । विश्व के प्रमुख प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों के चुने हुये नेताओं ने जहाँ तक सम्भव हो सका अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न किया । उनके कार्यों की आलोचना करने के पड़ते हैं उन परिस्थितियों को विस्मृत नहीं करना चाहिए जिनके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना पड़ा था । यही पर हमारे मामले एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है, हालांकि जिसका कोई निश्चय उत्तर नहीं दिया जा सकता । क्या १९१९ में निर्धारित की जाने वाली, किन्हीं भी स्वतंत्र और चरित्रवाली संधि के द्वारा एक स्थिर शांति व्यवस्था, जिसके नियम विजिता लागू लालायित थे, की स्थापना की जा सकती थी ? यह सही है कि शान्ति संधियों की नाटकीय ढंग से, परस्पर विरोधी दृष्टि कोणों से आलोचना की गई है । एक पक्ष का कहना है कि वे बहुत बड़ी थी । परन्तु दूसरे पक्ष वाले कहते हैं कि यदि जर्मनी का उदारतापूर्वक नर्म शर्तों के साथ छोड़ दिया जाता तो वह यथा शीघ्र अपना प्रतिगोष लेता । अतः संधियाँ बँटोर नहीं

थी। प्रथम पक्ष का प्रत्युत्तर है कि जर्मनी को हमेशा के लिये दबा कर रखना सम्भव नहीं था। अतः उसे जितनी सख्त सजा दी जायेगी, उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही भयंकर होगी, जब जर्मनी का अवसर मिलेगा।

किसी भी प्रसंग में यह अवश्य याद रखना चाहिए कि १९१६ का सत्सार अन्तर्राष्ट्रीय घृणा से व्याप्त था—ऐसी घृणा जिसने सत्सार अभी तक अनभिज्ञ था और इससे पूर्व इस प्रकार की घृणा का कभी अनुभव नहीं किया अन्तर्राष्ट्रीय घृणा गया था। क्योंकि इससे पूर्व विश्व व्यापी पैमाने पर इतना भारी विनाशकारी महायुद्ध लड़ा भी नहीं गया था। युद्ध की ज्वाला ने सभी वर्गों के स्त्री पुरुषों को उस व्यापक पैमाने पर झूलस दिया था जिसका उदाहरण मानव इतिहास में मिलना दुर्लभ है। इस ज्वाला ने सम्पूर्ण मानव समाज की बौद्धिक प्रतिभा को अपने जाल में उलझा लिया था और वे युद्ध को आहूत करने वालों के सयनाश के लिये तैयार हो चुके थे। शान्ति संधियाँ इस व्यापक घृणा को समाप्त नहीं कर सकती थीं। वे तो केवल इस प्रवृत्ति के स्वरूप का अभिव्यक्त कर सकती थीं और उन्होंने ऐसा किया भी। इस नाते हम शान्ति संधियों को दोषी नहीं ठहरा सकते। परन्तु ये गम्भीर प्रश्न हैं और इनका निश्चित आधार निर्धारित करना असम्भव है। अतः हमें इन उलझे प्रश्नों को छोड़कर आगे बढ़ना चाहिए।

शान्ति समझौते अस्थायी आश्वासनों से परिपूर्ण थे। वे यत्र तत्र बिखरे आदर्शवाद और प्रभावशाली भौतिकवाद के मिश्रित रूप के प्रतीक थे। लॉसिंग के शब्दों में, 'शान्ति बहुत अधिक बड़ा और अपमानजनक थी, और उनमें से अधिकांश संधियों के शर्तें ऐसी थीं जिन्हें कार्यान्वित किया जाना मेरी दृष्टि में असम्भव विरोध में था।' इसी प्रकार कीन्स ने, 'जिन्होंने शान्ति पूर्ति सम्बन्धी समझौतों के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करने के लिए अथ विभाग के प्रतिनिधि पद से त्याग पत्र दे दिया था, इस "नृशंसता पूर्ण प्रतिशोधार्थक शान्ति" की भत्सना एक पुस्तक में की जिसे सम्पूर्ण सत्सार में रुचि तथा ध्यान प्राप्त पड़ा गया। संधियों पर हस्ताक्षर करने के बाद जनरल स्मट्स ने कहा था कि, 'मैंने संधि पर इस कारण हस्ताक्षर नहीं किए कि मैं उसे समस्याओं का एक सन्तोषजनक समाधान मानता हूँ, पर इस कारण कि युद्ध को किसी न किसी प्रकार समाप्त कर देना आवश्यक हो गया था। हमन अब तब उस वास्तविक शान्ति को प्राप्त नहीं किया है जिसकी आर हमारे नागरिक टुकटुकी लगाए देख रहे हैं।' <sup>2</sup>

शान्ति संधियों पर कई दावा का आरोप लगाया गया है। एक तो यह कि शान्ति व्यवस्था में उन कई आश्वासनों और सिद्धान्तों, जिनको छेक दग से व्यवहार में

1 Hampden Jackson—The Post war world

2 G P Gooch—History of Modern Europe

नहीं लाया जा सकता था, को सम्मिलित करके बुद्धिमानों का काम नहीं किया गया। उन्हाहरणार्थ सैद्धान्तिक दृष्टि से जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार की प्रशंसा की जा सकती है परन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त ने जितनी प्राचीन समस्याओं का समाधान किया उसने अधिक नूतन समस्याओं को जन्म भी दिया और ये समस्याएँ प्रतिशोध लेने वाले राष्ट्रों के नारे बन गईं। इसी प्रकार शांति व्यवस्था में मित्र राष्ट्रों ने अपने ऊपर जो प्रतिवचन जगाये थे और जिनको निभाना कठिन था, सम्मिलित नहीं किये जाने चाहिए थे। जैसे कि निःशस्त्रीकरण संधि की आर्थिक धाराओं की कठोरता की चर्चा हम कर चुके हैं। शांति समझौते के तुरन्त बाद ही एक बात स्पष्ट हो गई कि केवल धर्मकी के द्वारा जनता पर प्रजातान्त्रिक सस्था सफलतापूर्वक नहीं लादी जा सकती। अन्त में हम, एक जर्मन इतिहासकार का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं—

"The Treaty of Versailles could not have been better Calculated to nourish the revival of the nationalist Germany With its tortuous division of territory, its dogmatic pronouncements on war responsibility, and its pious indication of an undefined general reduction of armaments, it provided every grievance the heart of a German nationalist could desire"<sup>1</sup>

शांति समझौते की घ राओं के अध्ययन एवं समीक्षा के उपरान्त हम उनका सही मूल्यांकन कर सकते हैं। इन संधियों के द्वारा पूर्वी यूरोप में शांति और न्याय को बहुत सही ढंगों में स्थान दिया गया। द्वितीय महायुद्ध को निमित्तित सही मूल्यांकन करने में वर्साय की संधि का हाथ नहीं था बल्कि १९१८ और १९३९ में जर्मनों द्वारा संधियों की धमियाँ उठाने की सफलता का हाथ था। वर्साय संधि के सम्बन्ध में जर्मनी का वास्तविक निराशय यह नहीं था कि संधि एक निर्दोष संधि थी या विन्मन ने उनके साथ विश्वासघात किया था। उनकी वास्तविक निराशय इस बात में थी कि उन्हें शिस्तुला और डे डूब की पाठियों पर प्रभुत्व बनाये रखने तथा गोपण करने से रोक दिया गया था, कि उन्हें मध्य एशिया और मूरुकेन में बहुत दूर कर दिया गया था, कि दक्षिण पूर्वी यूरोप में स्थाय को जमना के समान अधिकार दिये गये थे। इसी तरह वर्साय संधि की कमजोरी यूरोप का बान्धन करण करने में नहीं थी परन्तु जर्मनी के दक्षिण और पूर्व में छोटे २ स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना में थी। क्योंकि इन राज्यों के पास अपनी सार्वभौम सत्ता तथा अस्तित्व को स्थिर व सुरक्षित रखने के साधन नहीं थे। दूसरे पक्षों में हम यह सब कह सकते हैं कि वर्साय

ने ऐसे छोटे २ राज्या की स्थापना की जिनका सवालन स्पष्ट रूप से फ्रांस के निर्देशन पर निर्भर था और फ्रांस इतना अधिक शक्तिशाली नहीं था कि उन राज्यों की रक्षा कर सके। अतः वर्साय व्यवस्था की समाप्ति भी स्वाभाविक हो थी।

### नये सप्तार की रूप रेखा

पेरिस शांति व्यवस्था के परिणाम स्वरूप विश्व के नूतन मानचित्र का रूप निखर उठा। नया सप्तार पहिले सप्तार से भिन्न था। नये सप्तार की रूप रेखा इस भांति थी।

युद्ध के पूर्व यूरोप की चार प्रमुख साम्राज्यवादी शक्तियाँ जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की का गौरव समाप्त हो चुका था। इनके साथ ही चार प्रमुख राजवंश होहेनजोलर्न, रोमनोव, हैप्सबर्ग और साटोमन का भी अन्त हो गया। जर्मनी अब एक समाजवादी राष्ट्रपति की अध्यक्षता में एक गणतन्त्रात्मक राज्य बन चुका था। जर्मनी के सम्राट कसर और महाराजकुमार निर्वासित जीवन बिता रहे थे। जर्मनी का जहाजी बेड़ा समुद्र की तलहटी में आराम कर रहा था और उसके अधिकांश प्रान्तों को हड़प लिया गया था। रूस के परम प्रतापी जार और उसके कुटुम्ब की हत्या कर दी गई थी और क्रैमलिन में बैठा एक साम्यवादी नेता रूसी साम्राज्य के भ्रष्टाचार के पुनरुद्धार में लगा हुआ था। रूसी समाज की प्रगति में सलग्न था। आस्ट्रिया हंगरी हैप्सबर्ग के गर्विले साम्राज्य के टुकड़े २ किये जा चुके थे और तुर्क का मिताकर नवीन राज्यों का निर्माण किया जा चुका था। उसका अन्तिम 'गासक' स्विट्जरलैण्ड में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहा था। तुर्की अपने पुराने आकार की टाया मात्र रह गया था।

शांति व्यवस्था ने कई नवीन राज्यों का निर्माण किया। पोलैण्ड, लिथुएनिया और बाहेमिया के बकाला को बच से निकाला गया और उन्हें नव जीवन प्रदान किया गया।

### नवीन राज्यों की उत्पत्ति

फिनलैण्ड स्वतन्त्र था। एस्थोनिया और लैटविया स्वतन्त्र राज्य बन गए थे। सर्बिया ने सर्वो, क्रोटा और स्लावोनो के राज्य 'यूगोस्लाविया' का विंगल स्वरूप ग्रहण कर लिया था।

मोन्टीनिग्रो अदृश्य हो गया था। चेकोस्लावकिया भी स्वतन्त्र राज्य बन चुका था। टिएस इटली के हाथ में, स्मर्ना यूनानी शासन के अन्तर्गत, दक्षिण फ्रांस के पास और जेरुसलम तथा बगदाद ब्रिटेन के संरक्षण में चले गये थे।

वर्साय की संधि को प्रजातन्त्र के विकास का क्षांतक माना जा सकता है। १९१४ ई. में यूरोप में प्रजातान्त्रिक राज्यों की संख्या केवल पाँच तक सीमित थी जबकि १९१८ के बाद इस संख्या की वृद्धि होती गई और १९२२ में प्रजातन्त्र की प्रधानता यह संख्या १६ तक पहुँच गई। परन्तु बहुत से देशों की जनता पर प्रजातान्त्रिक संस्थाएँ बलपूर्वक लादी गई थी। परिणाम यह हुआ कि इन देशों में बहुत सीधे तानाशाही शासन की स्थापना हो गई। इसीलिए कुछ साग तानाशाही की उत्पत्ति का कारण वर्साय की संधि को मानते हैं।



वर्साय की संधि के द्वारा जिस नवीन यूरोप का निर्माण किया गया, उसने परम्परागत "शक्ति सन्तुलन" ( Balance of Power ) के सिद्धान्त को समाप्त कर दिया। महायुद्ध ने प्रारम्भ में यूरोप में जो दो महान् गुट शक्ति सन्तुलन की बने थे उनका अस्तित्व मिट गया। फ्रांस, यूरोपीय महाद्वीप पर समाप्ति छा गया था ब्रिटेन सात समुद्रों की लहरों पर शासन कर रहा था। अमेरिका ने अचानक ही शांति समझौते से हाथ खींच लिया था और उस नवीन सरकार की स्थिरता में व्यस्त था।

युद्ध समाप्त हो चुका था। शांति संधियों पर हस्ताक्षर किये जा चुके थे। पराजित देशों पर युद्ध का हर्जाना लाद दिया गया था परन्तु फिर भी विश्व का साधारण जनसमाज सुखी नहीं था। उसे कुछ फायदा नहीं हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो सका और सरकारें रोजी रोजी की समस्या का समाधान ढूँढने में असफल रही। फलस्वरूप कुछ वर्षों में सम्पूर्ण ससार "आर्थिक सङ्कट" के भवरजाल में फँस गया और बड़ी कठिनाई से मानव समाज को मुक्ति मिल सकी।

राज्या को पारस्परिक झगड़ों से मुक्ति दिलवाने के लिए राष्ट्रमण्डल की स्थापना की गई। परन्तु इसमें बहुत से दोष थे, जिनके कारण यह सफल नहीं हो सकी। एक नए ससार में, जहाँ परिचित माग निर्देश चिह्न, तूफान और भूकम्प से मिट चुके थे, बुद्धिमानों इस बात का पहिचानने में थी कि यूरोपीय सभ्यता का अस्तित्व एक ऐसे राष्ट्रमण्डल की क्रियाशीलता और मान्यता के साथ सम्बद्ध था जो विजयी और पराजित सभी राष्ट्रों को अपने संरक्षण में ले सके।

संक्षिप्त में, वर्साय की संधि द्वारा निर्मित यूरोप का मानचित्र स्थिरता को प्राप्त करने में असफल रहा और दो दशकों के अन्दर ही अन्दर एक नवीन मानचित्र को बनाने का प्रयत्न शुरू हो गया।

## तृतीय-अध्याय राष्ट्रसंघ की कहानी

राष्ट्रसंघ की स्थापना, परिस शांति सम्मेलन का एक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य था। इसे एक अच्छे विद्व सगठन की प्रगति के विकास प्रयत्न का एक भावी कदम कहा जा सकता है। यह पहला सगठन था जिसके पास वैधानिक अस्तित्व था। एक सविधान था और एक कार्यपालिका थी। इसकी स्थापना को विश्व इतिहास का एक इतिहासकारी मोड़ बिंदु कहा जा सकता है। राज्यों के बीच, राजनीतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की प्रणाली को विकसित करने के लिए, अवसरक किये गये प्रयत्नों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयत्न था। पवित्र संध के पतन से लेकर प्रथम महायुद्ध के सूत्र पात तक अनेक विचारकों ने, राष्ट्रवादी सीमाओं के पार आर्थिक, धार्मिक, वैज्ञानिक नैतिक आदि दृष्टि के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उन्नत करने की दृष्टि से, अपने आपको व्यक्तिगत संध और सगठनों में संगठित कर लिया था। राज्यों ने भी संचार परिवहन, व्यापार, स्वास्थ्य, सफाई आदि विषयों से संबंधित समस्याओं को हल करने का दृष्टि से, सरकारों के बीच सहयोग स्थापित करने वाली व्यक्तिगत तथा सावजनिक सरघाओं को प्रोत्साहन दिया। परंतु इस कथा में, दृष्टे बड़े राजनीतिक प्रश्नों को शांतिपूर्वक तथा सहयोग के द्वारा सुलभाने के लिए एक विन्वध्यापी सगठन के निर्माण के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया। गेघोन हार्डो ने लिखा है—“राष्ट्रसंघ न शांति की स्थापना के लिए प्रथमान्वरण के निरोधक के रूप में सम्मेलन और निर्णायक बल के सगठन के परम्परागत विधियों की लागू किया। इस संध का नियंत्रण अवनव मुख्यत यूरोपियन शक्तियाँ और यूरोपियन समस्याओं तक सीमित था, लेकिन अब वह कम से कम मिश्रितता विद्व व्यापी हो गया।”

प्रथम महायुद्ध ने अनेक देशों के असह्य राजनीतियों की विचार शक्ति का विध्वंस कर दिया था और सम्पूर्ण ससार युद्ध की विभिन्नता से उत्पन्न परिणामों की पीड़ा से कराह रहा था। विन्वध्यापी युद्ध के समय में दोनों पक्षों ने समस्त उपसंध साधनों का प्रयोग किया था। युद्धपरान्त मानव (Conception) समाज मोचन तथा नि कथा इन संधना का प्रमाण विद्वानों के लिए नहीं दिया जा सकता ? क्या श्रित्यन सनिकथान के विरुद्ध सांस्कृतिक महत्ता से कार्य करने वाली शक्तियों का विन्वध्यापी की स्थापना के लिए

हिक सहयोग का प्रयोग नहीं किया जा सकता ? प्रत्येक देश में इन विचारों की अभिव्यक्ति हुई और यह व्यर्थ नहीं रही। वर्मिय मभि में समाविष्ट, राष्ट्रसंघ का प्रतिथव (covenant) इस अभिव्यक्ति का द्योतक है।

विश्वयुद्ध के सूत्रपात के तुरन्त बाद ही इंग्लैण्ड और अमेरिका में राष्ट्रसंघ की संभावना के सम्बन्ध में, विश्वशांति की स्थापना के लिए, आशावादी और शांतिवादी आन्दोलन की भलक देखने में आती है। युद्ध काल में इस प्रवृत्ति को और बल मिला। अमेरिका में भूतपूर्व राष्ट्रपति टेफ्ट के नेतृत्व में "शांति की स्थापना के लिये संघ" (League to Enforce Peace) की स्थापना की गई। संघ के लिये चार सूची कार्यक्रम अंतर्राष्ट्रीय विवादों का मध्यस्था के द्वारा निपटारा, अन्य झगड़ों को बीसिल के सामने रखना, संघ के नियमों का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध नैतिक तथा आर्थिक कार्यवाही करना और विश्वशांति की स्थापना के लिये सदस्यों का समय समय पर एक स्थान पर भिड़ते रहना, तयार किया गया। इस योजना को अत्यधिक समर्थन मिला। राष्ट्रपति विल्सन भी अंतर्राष्ट्रीय संगठन का प्रमुख समर्थक था। २२ जनवरी १९१७ को विल्सन ने अमेरिकन सीनेट को मसुदा पेश करते हुए "शांति के लिए विश्व संघ" (World league for Peace) की चर्चा की। ३ जनवरी १९१८ का युद्ध बंदी के संबंध में विल्सन ने अपने 'बोद्ध बि दुप्रो' की घोषणा की। अंतिम बिंदु का उद्देश्य एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करना था। इंग्लैण्ड में 'अबाध्य शांति आंदोलन' की भलक गर सरकारी प्रयत्न में दिखलाई पड़ती है। फरवरी १९१५ को विस्काउण्ट ब्राइस की अध्यक्षता में कुछ बगों के मनुष्यों ने "युद्ध को टालने के लिए प्रस्ताव" नामक रुख प्रकाशित किया और जनमत के विचार जानने के लिए इसे वितरित किया गया। १९१७ में इसी दल ने 'भावी युद्धों का रोकने के लिए प्रस्ताव' नामक लेख प्रकाशित करवाया। लार्ड राबर्ट सेसिल ने शांतिवादियों की कार्यवाहियों में गहरी रुचि ली। फ्रांस में भी लिगाबुजिओस इस दिशा में प्रचार कर रहा था। दक्षिणी अफ्रीका के प्रधानमंत्री जारल स्मट्स ने भी इन कार्यों की सराहना की। इन प्रकार हम देखते हैं कि पेरिस शांति सम्मेलन के पूर्व ही राष्ट्रसंघ से संबंधित विचार प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों और सरकारों के प्रतिनिधियों के मस्तिष्क में स्थापित हो चुके थे।

राष्ट्र संघ की नींव अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के द्वारा रखी गई थी। यह ठीक है कि राष्ट्रसंघ की योजना उपाय निजी आशिकार नहीं थी परन्तु फिर भी उसने हम दिशा में अथ व्यक्तियों से अधिक परिश्रम किया था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति विल्सन, राष्ट्र संघ की स्थापना का दृढ़ विचार लेकर अमेरिका से रवाना हुआ था। वह संघ के प्रतिथव को गान्ति सधियों का राष्ट्रसंघ का जन्म प्रथम भाग बनाने का निश्चय कर चुका था। जबकि इंग्लैण्ड और फ्रांस के नेता पहले गान्ति सधियों की धाराओं को नियंत्रित करना चाहते थे और इसमें निवृत्त होने के बाद राष्ट्र संघ के लिए जो कुछ



सम्भव था, करना चाहते थे। विन्सन अपने विचार पर डटा रहा और उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही राष्ट्रसंघ की योजना को प्राथमिकता प्राप्त हो सकी, शांति मंथिया में स्थान प्राप्त हो सका।

जनवरी १९१९ में पेरिस शांति परिषद का अधिवेशन शुरू हुआ। इस समय तक विभागीय और गैरविभागीय दोनों ही क्षेत्रों से संघ के निर्माण सम्बन्धी अनिवार्य योजनाएँ प्रस्तुत की जा चुकी थीं। मार्च १९१८ में ब्रिटिश विदेश विभाग द्वारा निर्देशित एवं लाड विलीमोर की अध्यक्षता में एक कमेटी ने राष्ट्र संघ का प्रारूप तैयार किया। तीन महीने बाद विल्सन के प्रमुख सलाहकार कर्नल हाउस ने, विल्सन के आशयों के आधार पर एक पृथक प्रारूप तैयार किया। जुलाई १९१८ में विल्सन ने अपने प्रथम प्रारूप को अंतिम रूप दिया। दिसम्बर १९१८ में दक्षिणी अफ्रीका के जनरल स्मट्स ने कौंसिल और आदेश पद्धति (Mandate System) को सम्मिलित करते हुये एक नूतन प्रारूप तैयार किया। इसी समय लाड राबर्ट सेसिल ने विलीमोर रिपोर्ट के आधार पर एक नया प्रारूप तैयार किया। १० जनवरी १९१९ को विल्सन ने अपना दूसरा प्रारूप (Draft) तैयार किया और दस दिन बाद शांति सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए तीसरा प्रारूप तैयार किया। और इसी बीच में, ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल ने सेसिल और स्मट्स के प्रारूपों को मिलाकर एक नया प्रारूप प्रस्तुत किया। विल्सन के अंतिम प्रारूप और ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल द्वारा प्रस्तुत प्रारूप में बहुत अंतर था, इसलिए इन दोनों का ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल के कानूनी सलाहकार सेसिल हूस्ट और अमेरिकन सलाहकार डेविड ह्यूटर मिलर को सन्तोष के लिए सोपा गया। हूस्ट मिलर ने मिलकर राष्ट्र संघ का एक नया प्रारूप तैयार किया जो ३ फरवरी १९१९ को शांति सम्मेलन के सामने प्रस्तुत किया गया।

शांति सम्मेलन ने इन नवीन प्रारूप का अध्ययन करने के लिए १९ सदस्यों का एक आयोग नियुक्त किया। राष्ट्रपति विल्सन इस आयोग के प्रमुख चुने गये। आयोग ने कठिन परिश्रम से अपना काम किया और १४ फरवरी का प्रारूप को सम्पूर्ण धाराओं सहित शांति सम्मेलन के सामने रखा गया। प्रारूप को प्रस्तुत करते हुये विल्सन ने कहा था कि “एक जीवित वस्तु पैदा हुई है।” राष्ट्र संघ के प्रतिश्रव में सम्मेलन ने कुछ परिवर्तनों को स्वीकार कर लिया और २८ अप्रैल १९१९ को सन्तोषित प्रारूप सम्मेलन की सर्व सम्मति से स्वीकृत कर लिया गया। वर्माय की संधि की प्रथम २६ धाराओं का सम्भव राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव से है। अथ शांति समझौते के साथ भी राष्ट्रसंघ का सम्भव जोड़ा गया। १० जनवरी १९२० ई० को राष्ट्रसंघ ने, वैधानिक दृष्टि से अपने अस्तित्व को प्राप्त किया।

श्री हार्डो ने प्रतिश्रव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "यह सलेख उस प्रयत्न का एक प्रशसनीय नमूना था जो राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद में सामंजस्य लाने के लिए किया गया था।" सर ए० जिमन के शब्दों में "राष्ट्रसंघ हर सूरत में दो पृथक विचारधाराओं के समागम से उत्पन्न हुआ था।" इनमें से एक में, जो अमेरिका के श्री टेफ्ट और अन्यो ने राष्ट्रपति विल्सन से भी पहले प्रतिपादित की थी, संघठित बल पर जोर दिया जाता था, इसके अनुसार बलात शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रसंघ की आवश्यकता थी। इस पहलू का समर्थन शान्ति सम्मेलन में फ्रांसीसियों की संगठित सुरक्षा की आकांक्षा के रूप में हुआ। दूसरी ओर, बनादारोपिन शान्ति के विचार पर सोच विचार करने और अनिवार्य पंच निगुण के सिद्धांत को मानने के प्रश्नों पर इस समस्या के विषय में इंग्लैण्ड का रुख अत्यधिक सकोची था। ब्रिटिश सुभाव यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श और सहयोग के क्षेत्र को विस्तृत करके भूतपूर्व योराप की सविधा (Concert of Europe) की रीति को गौर विस्तृत कर दिया जाय। इस प्रकार यह दूसरे समाधान की अपेक्षा अधिक विकासो मुख था।"

राष्ट्रसंघ के क्या उद्देश्य थे। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रसंघ का निर्माण किया गया था, वह तो—जैसा कि राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव के प्रस्थापना Preamble) में वर्णित हैं,—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की प्राप्ति करना था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति तभी हो सकती था, जब सभी राष्ट्र यह मान ले कि वे युद्ध को बिल्कुल तिरस्कृत कर देंगे, जब उनके

संघ के उद्देश्य मध्य स्पष्ट, उचित एवं प्रतिष्ठा पूर्ण सम्बंध स्थापित रहे, सभी सरकारें अपने वास्तविक आचरण में, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का दृढतापूर्वक पालन करें तथा न्याय का पालन किया जाए और सभी संगठित राष्ट्र, एक दूसरे के साथ अपने व्यवहार में संधि की शर्तों का विवेक पूर्ण पालन करें।

इससे निम्न उद्देश्य दृष्टिगाचर होते हैं—(१) युद्ध का तिरस्कार, सुरक्षा की व्यवस्था और राज्यों की यथास्थिति को बनाये रखना। (२) शान्ति की स्थापना। (३) १९१९-२० की शान्ति संधियों द्वारा सीपे गये कसबों का पूरा करना और (४) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास करना।

राष्ट्रसंघ की स्थिति की व्याख्या एक कठिन और जटिल समस्या थी। असत्य लोगो ने संघ के सम्बंध में ऐसा सम्बोधन किया जैसे कि वह एक अतिराष्ट्रीय लोक सभा (Super National Parliament) हो। परंतु वह ऐसी स्थिति नहीं थी। वह कभी भी अतिराष्ट्रीय या अतिराज्य (Super-State) नहीं हो सकती थी, क्योंकि उसके सदस्य राष्ट्र सार्वभौम राज्य बने रहें और वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता के आदेश को मानने के

( १ ) जी० एम० गेथोन हार्डो—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

( २ ) सर ए० जिमन—दि लीग ऑफ नेशंस एण्ड द रूल ऑफ लॉ।

लिए कभी तैयार नहीं थे। अतः साधारण शब्दों में, यह एक चोक्कसभा नहीं हो सकती थी। यह न तो राज्य हो या और न अतिराज्य हो। यह तो सधि के द्वारा निर्मित सगठित राज्यों का एक ऐसा मध्य या ऐसा महासंघ था, जो विश्व विस्तृत था, इसे कानूनी व्यक्तित्व प्राप्त था, इसे कुछ सम्पत्ति भी थी तथा इसे अपना एक राज्यकोष एवं बजट भी था। परन्तु इसको न तो कोई राज्य प्रदेश था और न कोई नागरिक प्रजा और न कोई सेना, नौ सेना या पुलिस ही।

अब हम राष्ट्रमन्त्र की शरीर रचना का अध्ययन करें। इसके प्रमुख अंग थे—असेम्बली, कौंसिल और सचिवालय। असेम्बली या साधारण सभा सच की प्रतिनिध्यात्मक एवं व्यापक अंग थी। इनमें सच के सभी सदस्य राष्ट्र

### असेम्बली

सम्मिलित थे और प्रत्येक राष्ट्र को समान रूप से एक मत देने का अधिकार था, यद्यपि प्रत्येक राष्ट्र तीन-तीन प्रतिनिधि भेज सकता था। समान मताधिकार की व्यवस्था प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्त राज्यों की समानता पर आधारित थी। असेम्बली का अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर में जेनेवा में होता था। वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त अनेक बार असाधारण अधिवेशन भी बुलाये गये थे। बहुत से राष्ट्रों ने जेनेवा में अपने स्थायी प्रतिनिधि (Permanent Delegates) नियुक्त कर रखे थे। असेम्बली राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव के आदर्शों के अनुसार अपने कार्याधिकारियों को अपने आप चुनता था और इस सम्बन्ध में नियम भी बनाती थी। इसका एजेंडा (Agenda) राष्ट्रसंघ का महासमिव पहने से ही बना कर तैयार रखता था। असेम्बली एजेंडा में सन्निधित्व कर सकती थी। इसकी सहायता के लिये स्वयं इसी के द्वारा सगठित ६ स्थायी समितियाँ बनी हुई थी—(१) सवधानिक और कानूनी प्रश्नों के सम्बन्ध में, (२) तकनीक सगठनों से सम्बन्ध में, (३) निशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में, (४) बजट के सम्बन्ध में (५) सामाजिक और मानववादी प्रश्नों के सम्बन्ध में और (६) राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में। इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट समस्याओं के समाधान के लिए भी समितियाँ बनाने को यह स्वतंत्र थी।

प्रथम असेम्बली का विस्तार ने आहूत किया था और १५ नवम्बर १९२० को इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। अंतिम असेम्बली का अंतिम अधिवेशन १६ अप्रैल १९४६ को हुआ था। इस अधिवेशन में उपस्थित ३४ सदस्यों ने सच समिति में राष्ट्रसंघ को विघटित करने का प्रस्ताव पारित किया था।

राष्ट्रसंघ की कौंसिल एक लघु समिति के समान थी। इसमें पांच महाशक्तियों अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान को स्थायी स्थान प्रदान किया गया था और छोटे राज्यों के लिये ४ अस्थायी स्थानों की व्यवस्था की गई। बाद में यह संख्या ६ कर दी गई। असेम्बली प्रतिवर्ष ३ अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन करती थी। कौंसिल की अध्यक्षता, कौंसिल के सदस्यों में प्रति सम्मेलन पर, सदस्यों की फ्रेंच नामावलि के अनुक्रमानुसार बदलती रहती थी। केवल वायपद्धति सम्बन्धी मामलों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर कौंसिल

के निणायो का सर्वसम्मत होना अनिवार्य था। कौंसिल में जब कोई ऐसा वाद विवाद चल रहा हो, जिससे किसी राष्ट्र का स्वार्थ अभिभावित होता है, तो वह अपना प्रतिनिधि इसके अधिवेशन में भेज सकता था। शामिल एक वर्ष में तीन चार बार धरती बैठक करती थी। इससे अतिरिक्त वह किसी भी समय पर विशेष बैठक भी कर सकती थी। कौंसिल की प्रथम बैठक राष्ट्राति विल्सन द्वारा १६ जनवरी १९२० ई को पेरिस में बुलाई गई थी। कौंसिल की १०७ वींमा अंतिम बैठक १४ दिसम्बर १९३६ को हुई थी। हालांकि राष्ट्रसंघ का विघटन १९ अगस्त १९४६ को हुआ था।

सचिवालय ( Secretariat ) राष्ट्र संघ का स्थायी प्रशासकीय अंग था। इसमें लगभग ६०० अधिकारी, कमबारी और विशेषज्ञ काम करने थे और उनकी नियुक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक सेवा के सिद्धांत पर की गई थी। सचिवालय इसका केन्द्र जेनेवा में था। सचिवालय का प्रधान अधिकारी 'महासचिव' (Secretary General) कहलाता था और इसकी नियुक्ति असेम्बली की स्वीकृति के साथ, कौंसिल करती थी। ग्रेट ब्रिटेन के सुयोग्य राजनीतिज्ञ सर इरुड्रमण्ड (Sir Eric Drumond) ने १९२० से लेकर १९३३ तक इस पद को सुशोभित किया था। उन्होंने कठिन परिश्रम के उपरान्त सचिवालय का संगठन किया था। महासचिव की सहायता के लिये दो उपसचिव और दो सहायक सचिव होते थे। सचिवालय विभिन्न विभागों में विभाजित था और प्रत्येक विभाग एक निरीक्षक के अन्तर्गत था।

उपराक्त प्रमुख अंगों के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ की कई समितियाँ (Agencies) थी। उस—(१) गन्त्रीकरण पर सलाह देने वाला स्थायी आयोग, (२) आदेश आयोग (Mandate Commission), (३) आर्थिक अन्य समितियाँ और वित्त समिति (४) संचार व परिवहन संगठन समिति (५) वादविह सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समिति और (६) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन। इन समितियों में अन्तिम सामिति काफी महत्वपूर्ण थी और उसका सख्त परिचय नीचे दिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (I L O) यद्यपि एक स्थायीन संस्था थी, परन्तु फिर भी राष्ट्रसंघ का एक अंग था। इसका केन्द्र जेनेवा में था और इसका संगठन राष्ट्रसंघ के संगठन से मिलता जुलता था। इसको एक साधारण सभा, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक एवं पापकीय परिषद और एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय था। संगठन इसका निर्माण, पेरिस गति परिषद द्वारा, संगठित श्रमिकों को भागों को संतुष्ट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समस्याओं को हल करने के लिए एकत्र प्रदान करने के प्रयत्न का परिणाम था। इस संगठन का

प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण सत्तार में थमिव सम्बन्धी कानूनों के निर्माण में एकपक्षता लागू का प्रयत्न करना था। निःसंदेह सगठन ने समय समय पर सदस्य राज्यों तथा अन्य राज्यों को सुभाष भेजे परन्तु इसके कार्यों को केवल सुभाष मान लिया गया और इन सुभावों का कार्यान्वित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। सगठन के कार्यों में वा समय और परिश्रम लगा, उसको दखन हुए उसकी उपनियमों नगण्य रही जा सकती हैं।

अब हम राष्ट्रसंघ के अन्तिम परन्तु महत्वपूर्ण अंग—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का उल्लेख करते हैं। प्रारम्भ में विश्व न्यायालय की रचना ११ न्यायाधीशों, जिनमें कौन्सिल और असम्बन्धी के द्वारा ६ वर्ष के सेवाकाल के लिए चुने जाते थे, से होती थी। कुछ समय बाद न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा कर १५ कर दी गई। न्यायालय के अध्यक्ष का चुनाव स्वयं न्यायाधीशों के द्वारा किया जाता था और अध्यक्ष की अवधि तीन वर्ष होती थी। हेग नगर को विश्व न्यायालय का केन्द्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका वार्षिक व्यय लगभग ५००,००० डालर था, जो कि राष्ट्रसंघ द्वारा चुकाया जाता था। न्यायालय का क्षेत्राधिकार दो प्रकार का था—ऐच्छिक और अनिवार्य। जब कोई राज्य विनिष्ट समझौता के द्वारा किसी झगड़े को इस न्यायालय को निरणय सुपुर्ण करता था इसका अधिकार क्षेत्र “ऐच्छिक” था, और इसका अधिकार क्षेत्र अनिवार्य तब होता था, जब संधि के द्वारा राज्यों के बीच यह समझौता होता कि संधि सम्बन्धी झगड़ों को इसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए तथा झगड़े के पार्श्व राज्यों ने साफ तौर से इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अपने ऊपर अनिवार्य मान लिया हो।

न्यायालय का अधिकार क्षेत्र तो ऐसे मामलों में था, जो कानूनी प्रकृति के हों, इसके अन्तर्गत संधियों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी किसी भी प्रश्न, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उल्लंघन के लिए क्षतिपूर्ति का रूप एवं मात्रा की ध्यास्या करना शामिल था।

न्यायालय में मुकदमों के वादी प्रतिवादी के रूप में सिर्फ राज्यों ही, जिनमें स्वतंत्र उपनिवेश भी सम्मिलित थे, उपस्थित हो सकते थे। भूलतः न्यायालय का कार्य तो केवल उन्हीं मामलों के विचार तक सीमित कर दिया गया था जो राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बीच में होते थे, परन्तु बाद में गैर सदस्यों के लिये भी इस न्यायालय का द्वार खोल दिया गया। न्यायालय को कौन्सिल तथा असम्बन्धी को सलाहकारी राय देने का भी अधिकार था। यद्यपि ये सुभाव अनिवार्य नहीं होते थे परन्तु प्रायः इन सुभावों का स्वीकार कर लिया जाता था।

राष्ट्रसंघ के प्रतिपक्ष की प्रथम धारा में संघ की सदस्यता और सन्स्थापना छोड़ने के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इससे पता चलता है कि २६ देशों ने विविध

संधियों पर हस्ताक्षर करके अपने आपको राष्ट्र सभ का मूल सदस्य बना लिया था। वैसे अमेरिका, इक्वाडोर और हेन्नाज ने भी संधियों पर हस्ताक्षर किये थे परन्तु उनकी सरकार ने संधियों को अस्वीकार करके राष्ट्र सभ की सन्म्यता भी छोड़ दी। इसके बाद तत्सम देशों को सभ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया गया और १२ देशों ने निमन्त्रण को स्वीकार करके प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली।

**सदस्यता** फिर नियमानुसार १७ देशों को सदस्यता प्रदान की गई। चार राज्यों को सदस्यता देने से इन्कार कर दिया गया। पाँच राज्यों—फ्रांस (१९२७) ब्राजील (१९२८) जर्मनी (१९३५) जापान (१९३५) इटली (१९३६) ने नियमानुसार दो वर्ष की पूर्ण सूचना देकर मन्त्रिमन्त्रि विच्छेद कर लिया। इस सम्बन्ध में दो बातें याद रखनी चाहिए। एक तो यह कि अमेरिका और इंग्लैण्ड शुरू से ही पराजित देशों का सभ का सदस्य बनाना चाहते थे परन्तु फ्रांस की हठ धर्मों के कारण ऐसा नहीं हो सका और कुछ वर्षों के बाद ही उन्हें सन्म्यता दी जा सकी। इसी प्रकार रूस को भी निमन्त्रित नहीं किया गया था परन्तु बाद में उसे सदस्यता दी गई। दूसरी बात यह कि राष्ट्र सभ की रचना में महत्वपूर्ण भाग बढ़ा करने वाला देश अमेरिका, प्रारम्भ से ही सभ से पृथक् रहा और सब की इस कमी का दुख सहन करना पड़ा। यदि अमेरिका सभ का सदस्य बन जाता तो अपने सीमित साधनों, महान् शक्ति की स्थिति उच्च प्रजातान्त्रिक परम्पराओं से सभ की उन कमियों को जिनके कारण उसका पतन हुआ था, दूर कर सकता था और इस प्रकार अपने राष्ट्रपति द्वारा रचित सब को इतनी गीघ्रता से पतनी-मुख होने से बचा सकता था।

यदि बायों की दृष्टि से राष्ट्र सभ की व्याख्या की जाए तो प्रथम स्थान में, शांति संधियों में समाविष्ट नियमों तथा उपनियमों को बाधित करने वाली एक एजेंसी कहा जा सकता है। इस स्थिति में राष्ट्र सभ के लिए शांति व्यवस्था द्वारा निमित्त यथा स्थिति (Status quo) के क को बचाये व बनाये रखना आवश्यक था। इसी ऐसे विशिष्ट प्रशासकीय तथा देख रैल के कार्य सौंपे गये थे, जो युद्ध समाप्ति के बाद प्रायः विजेताओं द्वारा सम्पादित किये जाते थे। इन प्रकार के बायों में निम्न प्रमुख थे—राष्ट्रीय अल्प सैन्यको की सुरक्षा, स्वतंत्र नगर डेविज का निरोधण, सार घाटी का शासन प्रबंध और आदेश प्रथा का संचालन। दूसरे रूप में, स्वास्थ्य, सामाजिक समस्याएँ वित्त, संचार व परिवहन आदि विषयों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उत्पन्न करने का एक साधन थी। इस स्थिति में, इस समय में कार्यरत सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय सभा की कार्यवाहियों की सुरक्षण व प्रोत्साहन देना था, अर्थात् उनकी अखंडता को बनाय रखना था। तीसरे स्थान में राष्ट्र सभ युद्धों की रोकने का शांति पूर्ण निपटारा करने वाला एक अभिकरण थी। शांति को

वाली सम्पूर्ण कार्यवाहियाँ इसके क्षेत्राधिकार के अतर्गत थी और सदस्य राष्ट्रा के मत भी सिद्धान्त इसके अधिकार क्षेत्र में थे ।

अब हम राष्ट्र सभ के दो प्रमुख अंगों असेम्बली और कौंसिल के कार्यों का अध्ययन करेंगे । असेम्बली के कार्यों की व्याख्या करते हुए धारा ३ में कहा गया है कि असेम्बली का सभ व क्षेत्राधिकार के अतर्गत आने वाले मामलों और विषयों की प्रभावित करने वाले विषयों पर विचार करने का अधिकार है । कौंसिल के कार्यों के बारे में भी इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है । इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों अंगों को इन विषयों पर विचार करने का एकाधिकार था । कुछ विषय केवल असेम्बली के लिए थे तो कुछ केवल कौंसिल के लिए । कुछ विषयों में दोनों का सहयोग आवश्यक था और कुछ विषयों पर असेम्बली का अपनी स्वीकृति या विसंतिपत्र सुझाना पड़ता था ।

कार्य केवल असेम्बली के लिए—

(१) राष्ट्र सभ के नये सदस्यों की भर्ती । इसके लिए असेम्बली व २/३ सदस्यों का बहुमत आवश्यक था । (२) कौंसिल व अस्थायी सदस्यों के निर्वाचन और धारा ३ वरण के सम्बन्ध में नियम बनाना, पेशेवर कर ऐसे विनियमों और घोषणाओं का जिनका सम्बन्ध उनकी नागरिकता और पुनर्निर्वाचन की योग्यता से हो । इसके लिए भी २/३ बहुमत आवश्यक था । (३) साधारण बहुमत से प्रविषय कौंसिल के तीन अस्थायी सदस्यों का चुनाव करना । (४) राष्ट्र सभ के सदस्यों को समय समय पर उन अधियों का जो प्रयोग में लाने से रोक दी गई हो, के सम्बन्ध में पुनर्विचार करने की कृपा तथा ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर जिनके द्वारा विश्व शांति को संकट दिखता पड़ता हो, विचार करने के लिए कहना । (५) राष्ट्र सभ के व्यय का सदस्य राष्ट्रे में आनुपातिक ढंग से विभाजित करना ।

कार्य — केवल कौंसिल के लिए—

(१) महासचिव द्वारा की गई विभागीय निष्पत्तियों को स्थायी करना । (२) निःशस्त्रीकरण के लिए योजनाएँ बनाना तथा युद्ध के खतरा को दूर करना तथा उन देशों को सहयोग देना जो युद्ध सामग्री का निर्माण करने में असमर्थ हैं । (३) आन्तरिक कार्यवाही के समय सम्बन्धित देशों को कर्तव्यों का पालन करने का सुझाव देना । (४) प्रतिशस्त्र की सुरक्षा के लिए यदि सेना की आवश्यकता आ पड़े तो कौन देश कितनी सैनिक सहायता देगा— इसका निर्णय करना । (५) प्रतिशस्त्र के नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्य को सदस्यता से हटाना । (६) शासनादेश प्राप्त राज्यों की वार्षिक रिपोर्ट को मगाना और स्थायी आदेश आयोग (Permanent Mandates Commission) की सहायता से उन पर विचार करना तथा उन प्रांतों के शासन प्रबंध का ध्यान रखना । इसके प्रतिरिक्त कौंसिल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अंगों का निपटाना था । कौंसिल को इन अंगों को असेम्बली के पास भी भेजना पड़ता था ।

इससे अलावा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, सार घाटी, डेजिंग और मिश्रित आशेगो की नियुक्त के सम्बन्ध में भी अनेक काम करने पड़ते थे ।

कार्य असेम्बली और कौंसिल दोनों के लिए—

(१) कौंसिल के प्रतिरिक्त स्थायी सदस्यों की मनोनान करना । (२) प्रतिरिक्त अस्थायी सदस्यों की सत्या निर्धारित करना । (३) राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति । (४) शांति संधियों में संगोचन । (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संस्था का निर्वाचन । (६) न्यायालय के अन्य कर्मचारियों की नियुक्तियाँ । इन सभी कार्यों के लिए असेम्बली और कौंसिल का मिला-जुला क्षेत्राधिकार था ।

असेम्बली और कौंसिल के एकीभूत (Concurrent) कार्य—

असेम्बली और कौंसिल दोनों को हा यह अधिकार था कि वे ऐसी किसी भी घटना पर विचार कर सकें जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो या जिसने अन्तर्राष्ट्रीय शांति या राष्ट्रों के बीच मैत्राण सम्बन्धों के बिगड़ने की आशंका हो । इस प्रकार के विषयों पर राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य असेम्बली या कौंसिल का ध्यान आकृष्ट कर सकता था । यदि कौंसिल किसी भी भगड़े को असेम्बली के पास भेजती थी तो उस पर कुछ सन्तोषना के साथ असेम्बली को कौंसिल के अधिकारों का प्रयोग करने का अधिकार था ।

## राष्ट्रसंघ की उपलब्धियाँ (Achievements)

### (१) राजनीतिक,

राष्ट्रसंघ के साथ जुड़ा न सत्य यह था कि जिस प्रमुख उद्देश्य युद्ध की रोकना, की प्राप्ति के लिए उसका निर्माण किया गया था, उस सम्बन्ध में उसे असफल रहना पड़ा । यद्यपि जहाँ तक छोटे छोटे राज्यों के राजनीतिक कार्यवाहों का सम्बन्ध था, राष्ट्रसंघ कुछ सीमा तक सफल भी हुआ । परन्तु जब बड़े राष्ट्रों का सवाल आया तो उनकी कार्य उपलब्धियाँ बाह्यो का रोकने के लिए या नियंत्रित करने के लिए कुछ भी न कर सका । बड़ २ राष्ट्रों द्वारा प्रादेशिक सोलुपता की ओट में छेड़ जाने वाले युद्धों को रोकने में संघ पूर्णतया असफल रहा ।

छोटे राज्यों के अलावा को निपटार में या उनके मत भेदों को दूर करने में संघ की जो सफलता प्राप्त हुई है, उसका प्रमुख कारण महाशक्तियों के आतंक का वह भय था जो छोटे राज्यों में समाया हुआ था । इसका सदस्यों में इसकी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति कुछ श्रद्धा भी थी या नहीं, यह एक सदिग्ध प्रश्न है । क्योंकि यदि ऐसा होता तो महाशक्तियाँ भी अपने आपकी संघ को समझौते कर देती और फिर युद्ध का सवाल ही नहीं उठता ।

राजनीति क्षेत्र में राष्ट्रसंघ की प्रथम कार्यवाही करने का अवसर १९४५



मिला । १९२०-२१ में फिनलैण्ड और स्वीडन के बीच, बाल्टिक सागर में स्थित आलण्ड द्वीप समूहों की समस्या को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ । यद्यपि

(१) आलैण्डद्वीप सशस्त्र भद्रप की कम समावना थी । परन्तु वाक युद्ध चरम सीमा समूह की समस्या पर पहुँच चुका था । उस समय फिनलैण्ड सच का सदस्य नहा

था । ब्रिटिश प्रतिनिधि ने राष्ट्रमण का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया । कौंसिल ने इस समस्या पर विचार किया और इस मामले का अन्तर्राष्ट्रीय सविधान के तहत विशेषज्ञों की एक समिति को सुपुर्द कर दिया । समिति ने निर्णय देते हुए कहा कि इस मामले में सच का हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि यह उस द्वीप के निवासियों का घरेलू मामला था । परन्तु जूरी ( Jury ) की समिति ने इसके विरुद्ध निर्णय दिया । परिणाम स्वरूप कौंसिल ने तीन सदस्यों की एक जाच समिति नियुक्त की । जाच समिति ने फिनलैण्ड के पक्ष में निर्णय दिया । कौंसिल ने आलैण्ड द्वीपों पर फिनलैण्ड को मावभूमि सत्ता को स्वीकार कर लिया । स्वीडन ने भी कौंसिल के निर्णय को स्वीकार कर लिया ।

१९२१ में पोलैण्ड और जर्मनी के बीच ऊपरी साइलेसिया की सीमान्त रखा को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया । इस मामले को सच के सामने रखा गया । कौंसिल ने दोनों देशों में समझौता करवा कर इस मतभेद को दूर किया ।

(२) ऊपरी साइ १९२५ में यूनानी सैनिक दस्तों यूनानी-बल्गेरियन सीमान्त पर लेशिया और (३) एषम हो गये और कुछ सैनिक दस्त वास्तव में बल्गेरियन सीमा यूनान बल्गेरिया का उल्लंघन भी कर बैठे जिनके परिणाम स्वरूप दोनों देशों में सशस्त्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई । बल्गेरियन सरकार ने इस मामले को सच के सामने रखा । कौंसिल ने फ्रेंच ब्रिटिश

और इटालियन सेनाधिकारियों को संघर्ष स्थान पर भेजा और दोनों देशों को अपनी अपनी सेनाओं को अपनी अपनी सीमा में हटा लेने का कहा गया । दोनों देशों ने इसे स्वीकार कर लिया । इसके बाद सच ने एक जाच समिति नियुक्त की । इस समिति ने तीन सप्ताह के उपरान्त अपनी सिफारिशों के साथ रिपोर्ट प्रस्तुत की । इस रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने उत्तरदायित्व के प्रश्न का निर्णय किया, हर्जाना निश्चित किया और भविष्य में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दोनों देशों को अनिवार्य निर्देश भी दिये । यूनान और बल्गेरिया दोनों ही ने इसे स्वीकार कर लिया ।

१९३२ में पेरू और कोलम्बिया सशस्त्र भद्रप पर उत्तर आये । पेरू ने कोलम्बिया के लेटेसिया ( Leticia ) प्रांत के एक नगर पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया ।

राष्ट्रमण ने इसमें हस्तक्षेप किया । और मामले को सुलभाया

( ४ ) पेरू और एक राष्ट्रीय आयाग ने लेटेसिया प्रांत को अपने नियंत्रण कोलम्बिया की भद्रप में ले लिया ( जून १९३३ में ) । १९३४ में संघ के प्रयत्नों के कारण दोनों देशों में समझौता हो गया । पेरू ने अपने हथों के लिए दामा याचना माँगी और उपरोक्त प्रांत कोलम्बियाको वापस लौटा दिया गया ।

१९२६ में मौसुल के घनी तेल क्षेत्र के स्वामित्व को लेकर ईराक समादेश प्राप्त राज्य की स्थिति में ग्रेट ब्रिटेन और तुर्की में भगडा उठ खड़ा हुआ। यह प्रथम अवसर था जबकि राष्ट्रसंघ के सम्मुख आने वाली समस्याओं ( ५ ) मौसुल की में एक महान् शक्ति सम्मिलित थी। सब का निष्पत्ति महान् शक्ति ब्रिटेन के पक्ष में रहा। छोटी और कमजोर शक्ति तुर्की को कुछ छोटी छोटी सुविधाएँ देकर सन्तुष्ट कर दिया गया। इस प्रकार राष्ट्र संघ महान् शक्ति से टकर लेने में बच गया।

उपरोक्त उदाहरण उन भगडों के थे जिन्हें सुलझाने में राष्ट्र संघ सफल रहा। परंतु उन भगडों के जिन्हें सुलझाने में वह असफल रहा, बहुत महत्वपूर्ण थे और उनकी संख्या भी अधिक थी। १९२० में विन्ना नगर को लेकर पोलैण्ड और लिथुनिया में भगडा हो गया। पोलैण्ड को फ्रांस का समर्थन प्राप्त था। ( ६ ) विन्ना का संघ ने समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया परंतु उसे सफलता मामला नहीं मिल सकी क्योंकि महाशक्तियाँ पोलैण्ड के पक्ष में थी और तथ्य उसके विरुद्ध थे। पोलैण्ड ने विन्ना नगर पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था और महान् शक्तियों ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने संघ द्वारा प्रस्तुत मध्यस्थता के प्रस्ताव को ताक पर रख कर, पोलैण्ड का कार्यवाही को सहारा दिया।

इसी साल सीमांत आयोग के इटालियन प्रतिनिधियों का यूनान की भूमि पर कुछ यूनानी डाकुओं ने वत्स कर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप यूनान और इटली में भगडा उठ खड़ा हुआ। इटली ने इस मामले को राष्ट्रसंघ के सामने नहीं रखा बल्कि अपनी स्वयं की नीति का अनुकरण करते हुये यूनान को क्षमा ( ७ ) कोफ्यू द्वीप याचना मागने तथा भारी हजाना भ्रदा करने को कहा। इसके बाद, यूनान के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही इटालियन जहाजी बेटे ने यूनान के कोफ्यू द्वीप पर अधिकार कर लिया। यूनान ने इस मामले को संघ के सामने रखा और कहा कि वह अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को मानने को तैयार है और हर्जाने की रकम पहले से ही न्यायालय में जमा करवाने को भी तैयार है। इटली ने इन सुझावों को अस्वीकार कर दिया और हर्जाने की रकम प्रत्यक्ष रूप से स्वयं को देने की माँग की। यूनान को हर्जाना देने के लिए बाध्यित किया गया और उसके बाद इंग्लैण्ड और फ्रांस की मध्यस्था के कारण न कि राष्ट्रसंघ की मध्यस्था के कारण, इटालियन सैनिकों ने कोफ्यू द्वीप का खाली किया। इस घटना से राष्ट्रसंघ के प्रति महान् शक्तियों का रवया स्पष्ट हो जाता है।

सुदूर पूर्व की समस्याओं की सुलझाने में तो राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से असफल रहा। जापान ने संधि व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए, एकदम अचानक से

ग़र और मचूरिया घात के घाय्य स्थानों पर अधिभार कर दिया । चीन ने राष्ट्रसंघ का द्वार पटका दिया । सच इस प्रांत का चीन को मिलवाने में समर्थ

( ८ ) मचूरिया रहा । ग़र न घटना स्थल पर एक जांच आयोग भेजा और इस में जापान आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जापान का आग्रामर धातिल किया

और उसके पापों को धर्मधार्मिक ठहराया । सच १ प्रस्ताव मा पाम लिये । परंतु गेघन प्रस्ताव का पारित करने के अनिर्णित ग़र इस दिना में सक्रिय पदम उठाने में समर्थ रहा और तब तक जापान ने लगभग सम्पूर्ण मचूरिया पर अधिभार कर लिया और अपने संरक्षण में एक स्वतंत्र 'मूका' राज्य की स्थापना भी करली । सच एक समानांतर की तरह समाना दग्ना रहा ।

१९३५ ई० में जापान ने राष्ट्रसंघ की मन्स्यता में स्थापना दे दिया और १९३७ में उसमें बड़े पैमाने पर चीन में अपनी आग्रामर कार्यवाही प्रारम्भ कर दी । जुलाई १९३७ में चीन ने जापानी कार्यवाहिया का विद्रो भेजने हुए राष्ट्रसंघ से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की । परंतु राष्ट्रसंघ ने तो चीन का उगरी भूमि ही दिना सका और न उसकी प्रादेशिक अखण्डता की वायम रण सका, न युद्ध बन्द करवा सका, और न जापान को दण्डित कर सका । २८ सितम्बर को राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पास करके जापान द्वारा चीन में की जाने वाली कार्यवाहिया की निंदा बरदय की । इसी प्रकार अक्टूबर में दूसरा प्रस्ताव पास किया गया और चीन का नतिर सहायता प्रदान की गई । इसके अनिर्णित सच के सदस्य से अपील की गई कि वे कोई ऐसा बंदम न उठाये जिससे चीन की सघय करने की क्षति पर प्रभाव पड़ या उसको बठिनाइयों की बुद्धि हो और इस बात पर भा विचार कर कि वे अपने व्यक्तिगत रूप में चीन की सहायता के लिए क्या कदम उठा सकते हैं । इसके अनिर्णित चीन की सहायता के लिए कोई सक्रिय बंदम नहीं उठाया गया ।

१९२८ में दक्षिणी अमेरिका के दो राज्यों बोलीविया और पराग्वे ( Paraguay ), जा कि सच के सदस्य भी थे, के बीच में स्थिति चाफे प्रांत को लेकर युद्ध छिड़ गया । पराग्वे ने चाफे क्षेत्र के अधिकांश भाग पर अधिकार

( ९ ) दक्षिणी अमेरिका का अगडा कर लिया । यह मामला राष्ट्रसंघ के सामने लाया गया । सच ने विचार विमल के उपरांत घटनास्थल पर एक आयोग भेजा परंतु इससे कोई लाभ नहीं हुआ । लगभग तीन साल तक युद्ध जारी रहा । नवम्बर १९३४ में सच ने फिर बर् सुभाव भेज ।

बोलीविया ने तो इन सुभावों को स्वीकार कर लिया परंतु पराग्वे ने सुभावों को ठुकरा दिया । जब सच ने उस पर अधिक दबाव डाला तो उसने सच की सदस्यता से स्थापना दे दिया । दोनों राज्यों के बीच तनावपूर्ण स्थिति का अंत तभी हो सका जबकि अमेरिका के ६ राज्यों ने सामूहिक हस्तक्षेप किया । इससे भी सच की निबन्ता स्पष्ट हो गई ।

अवीसिनिया (इथोपिया, में इटली की आक्रमक कार्यवाही को नियंत्रित करने में राष्ट्र सभ की असफलता ने राष्ट्रसभ के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया । क्योंकि

जापानी कार्यवाही के विरुद्ध अपनी असफलता पर पर्दा डालने

(१०, इथोपिया हुए यह कहा गया कि अमेरिकन सहयोग के अभाव में प्रगल्भ

का अन्त में जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना सम्भव नहीं है ।

परन्तु अब इटली के मामले में इस प्रकार की व्याख्या के लिए

कोई स्थान नहीं था । इटली और इथोपिया दाना हो राष्ट्र सभ के सदस्य थे । इटली ने इथोपिया को हड़ाने की तैयारी आक्रमण की तिथि से बहुत समय पहले ही कर रखी थी । स्वेजनहर के मार्ग से इटालियन सैनिक और अस्त्र शस्त्र इटालियन सीमा लीलड में पहुँचने रहे और राष्ट्रसभ में कोई भी ऐसा नहीं था जो इस तरफ ध्यान दे सके । ३ अक्टूबर १९३५ को इटली ने इथोपिया की सीमा में प्रवेश किया और इथोपिया ने उसी वक्त सभ का इसकी सूचना भेज दी । ५ अक्टूबर को इथोपियाई प्रतिनिधि ने सभ से हस्तक्षेप करने तथा इटली को रोकने की प्रार्थना की । ७ अक्टूबर को राष्ट्रसभ ने एक प्रस्ताव पास किया और इटली की निन्दा की परन्तु किसी प्रकार की अनुशास्तिवा नहीं लगाई गई और जब लगाई गई तो बहुत सनकना के साथ । इटली के विरुद्ध आधिक अनुशास्तिवा लगाई गई और आर्थिक घेरा बन्दी भी बँ गई परन्तु युद्ध में काम आने वाली आवश्यक वस्तु तल पर छूट दे दी गई । फ्रांस और इंग्लैंड में एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण ये अनुशास्तिवा भी प्रभावकारी सिद्ध न हो सकी । जब इटली ने सम्पूर्ण इथोपिया का निगल लिया तो ये अनुशास्तिवा भी टूटती गई और इटली का इथोपिया पर अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया । राष्ट्र सभ के लिए इससे बढ़कर अनतिक्रम एवं अनमानजनक बात और क्या हो सकती थी ।

सधिया की धारणा को जिनका राष्ट्रसभ प्रहरी था, तोड़ मरोड़ कर जमनी ने खुद को से अपना पुन सत्प्रीकरण प्रारम्भ कर दिया और सभ में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उसे रोक सके । सभ नि गस्त्राकरण के सम्बन्ध में प्रयत्न

(११) जर्मनी रह चुका था, अब जर्मनी को किस मुँह से प्राप्ति दता ।

का उत्थान सन्नोकरण के साथ हो साथ जर्मनी का उदयान हाथा मारा और

जर्मन भय ने राष्ट्रों की गुटों और सधियों का निर्माण करने का

वाधित कर दिया । एक बार पन यूरोप दो सन्नन्न गुटों में विभाजित हो गया । जर्मनी

ने आस्ट्रिया को हडा लिया, चेकोस्लावाकिया का अग मग कर दत्ता दम्भ राष्ट्रसभ

मुग्ध न कर मारा । परिणामस्वरूप तानाशाहों की हिम्मत बढ़ गई और ममार

वानावरण तनावपूर्ण होता गया । यूरोप में निर्यन्त्रि नई दृष्टि का मूकान ह

अन्त में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ ।

इस स्थान पर राष्ट्रसभ की प्रगल्भता के बारे में कुछ कहना पड़ेगा

वही होगा। वर्साय की सधि के द्वारा सार घाटी का प्रशासन, १५ वर्षों के लिए राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने पाँच सदस्यों का एक (१२) मार और वमोशन नियुक्त किया और उसे सार का प्रशासन सौंप दिया। टेन्जिंग का प्रारम्भ में वमोशन पर फास का प्रभाव रहा और इसके कारण सार के निवासियों की सड़टो का सामना करना पड़ा। इस स्थिति का चिन्ना राष्ट्रसंघ के सामने भी रखा गया परन्तु राष्ट्रसंघ ने अपनी आखिरी वचन कर ली। बहुत बाद विवाद के बाद वमोशन में कुछ परिवर्तन किया गया। १९३५ में अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में वहाँ जनमत संग्रह किया गया और जनता ने जमनी के पक्ष में मत दिया। १ मार्च १९३५ को सार घाटी जमना को लौटा दी गई। सार की घाटी के समान डेजिंग के स्वतंत्र नगर का प्रशासन भी राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने डेजिंग के शासन प्रबन्धन के लिए एक कमिशनर नियुक्त किया। बाद में एक संविधान बनाया गया और प्रतिनिध्यात्मक विधान सभा का गठन किया गया। डेजिंग के बन्दरगाह का नियंत्रण पोचण्ड के हाथ में था। इन डेजिंग नगर और बन्दरगाह के बीच कई प्रकार के झगड़े उठे परन्तु कमिशनर के प्रयत्नों से शांतिपूर्वक हल कर दिये गये। इस स्वतंत्र नगर के प्रशासन में राष्ट्रसंघ की महत्वपूर्ण सफलता मिली परन्तु १९३६ में इनकी दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा।

## (२) आदेश पद्धति (Mandatory System)

आदेश पद्धति जिस आदिष्ट और समावेश भी कहा जाता है, राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व था। प्रतिश्रव की २२ वीं धारा के अन्तर्गत समुद्र पार जमन उपनिवेशों (किम्बोबाशी का छोड़ कर) तथा ओटोमन साम्राज्य के भूत पूर्व एशियाई प्रांतीयों में निवास करने वाले लोगों की उन्नति और विकास का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ के द्वारा कुछ अधिक उन्नत राष्ट्रों का तथाकथित विच्छिन्न क्षेत्रों पर संधि के तहत शासन करने के लिए, समादेश शक्तियाँ प्रदान की गईं। समादेश प्राप्त राज्यों के लिए अपने प्रशासन सम्बन्धी कार्यों का कार्यात्मक रिपोर्ट कौमिल को प्रस्तुत करना आवश्यक था और इन रिपोर्टों की जाँच के लिए तथा कौमिल को इसी दिशा में सहायता देने के लिए एक स्थायी समादेश आयोग की स्थापना की गई।

समादिष्ट क्षेत्रों को उनकी राजनीतिक भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया गया। अ' वर्ग के समादिष्ट क्षेत्रों जिनमें तुर्की साम्राज्य की भूतपूर्व जातियाँ सम्मिलित थीं के बारे में यह धारणा निश्चित की गई कि ये उन्नति की उस स्थिति तक पहुँच चुके हैं जिसमें अस्थायी तौर पर इनकी स्वतंत्र प्रजा के अस्तित्व को माना जा सकता है परन्तु ऐसा अभी सम्भव हो सकता है जब कि समादेश राज्य उन्हें

प्रशासकीय सुझाव और सहयोग देकर उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने की निम्ना दे। ब' वर्ग के समादिष्ट क्षेत्रों में मध्य अफ्रीका में स्थित जमनी के भूतपूर्व प्रदेश थे। इनके लिए निश्चित सरकारी निरीक्षण की आवश्यकता अनुभव की गई और इन प्रांतों को स्वयंसेवक शासन प्रदान करने की बात भविष्य के लिए टाल दी गई। 'स' वर्ग में दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका और प्रशांत में स्थित द्वीप जिन पर एक समय जमनी का अधिकार था, सम्मिलित थे। कम आबादी के कारण, कम क्षय के कारण सभ्यता के केन्द्रों से दूर होने के कारण, तथा समावेश प्राप्त राज्यों के प्रदेशों के पास होने के कारण तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों के कारण, यह साचा गया कि इनका शासन प्रबंध समावेश प्राप्त राज्यों के प्रदेशों के एक भाग की भांति किया जाय परंतु इस बात के साथ कि इन क्षेत्रों के निवासियों की उन्नति का ध्यान रखा जाये और उनके हितों की रक्षा की जायेगी।

'स' वर्ग में जमनी दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका को दक्षिण अफ्रीका के कुछ राज्य का जमनी सेमोआ, टूंगेलैण्ड को, नारू द्वीप ब्रिटिश साम्राज्य का, विषयद रेखा के दक्षिण में अन्य जमनी द्वीप आस्ट्रेलिया को और विषयद रेखा के उत्तर में विभाजन स्थित जमनी द्वीप जापान को दे दिये गये। ब' वर्ग के क्षेत्रों का इस ढंग से विभाजित किया गया कि ब्रिटेन का कैमरून का १/६ भाग तोगेलैण्ड का १/३ भाग और जमनी पूर्वी अफ्रीका का अधिकांश भाग तथा फ्रांस को कैमरून का ५/६ भाग, तोगेलैण्ड का २/३ भाग और बेलजियम को जमनी पूर्वी अफ्रीका का उत्तर-पश्चिमी किनारा प्राप्त हुआ। 'अ' वर्ग के क्षेत्रों का विभाजन इस प्रकार किया गया—ईराक, पलेस्टाइन और ट्रान्सजोर्डन ब्रिटेन को और सीरिया तथा लेबनान फ्रांस को मिला।

१९२० के पक्ष में, स्थायी समादेश आयोग (Permanent Mandates Commission) की स्थापना की गई। इसका कार्य समादेश प्राप्त राज्यों से भेजी जाने वाली वार्षिक रिपोर्टों की जांच करना तथा कौंसिल का स्थायी समादेश अपनी सिफारिशें भेजना था। इस आयोग में ११ सदस्य थे जिन्हें आयोग उनकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर अनिश्चित अवधि के लिए चुना गया था। आयोग के अधिकार पूर्ण रूप से सचाहकारी मान थे। परंतु यह कौंसिल को सूचित करता रहता था कि समादिष्ट क्षेत्रों का शासन प्रबंध वहाँ के निवासियों के कल्याण तथा उन्नति की दृष्टि से तथा प्रतिशब्द की धाराओं के अनुसार हो रहा है या नहीं। दुर्भाग्यवश आयोग को समादिष्ट क्षेत्रों की अफीलो का सुनने का या उनका निरीक्षण करने का अधिकार नहीं था।

आदेश पद्धति बहुत ही मूल्यवान प्रमाणित हुई। इसके द्वारा औपनिवेशिक प्रशासन

की ओट में साम्राज्य वादी जोपरण का अंत किया गया और पिछड़े हुए क्षेत्रों के निवासियों को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया। इंग्लैण्ड ने पानाब्दियों से पीड़ित यहूदियों को उनका राष्ट्रीय घर-जैतूसलम देने का आश्वासन दिया। १९३२ में ईराक को स्वतंत्र कर दिया गया। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने यथा समय में सीरिया और पलेस्टाइन से भी हटने का आश्वासन दिया। अफ्रीका में इस प्रणाली के बहुत अच्छे परिणाम निकले। इसमें समुक्त राष्ट्र सच की ट्रस्टोफिष की बुनियाद रखी।

### (३) अल्पसंख्यकों की सुरक्षा

पिछले अध्याय में अल्पसंख्यकों की समस्या का, उसके स्वरूप का और उसका सुलभान के निमित्त की गई विशिष्ट सधियों का उल्लेख किया जा चुका है। उसी स्थान पर यह भी बतलाया जा चुका है कि अल्प संख्यकों के साथ की गई सधियों के निरीक्षण का उत्तरदायित्व राष्ट्र सच को सापा गया था। इस प्रकार राष्ट्र अल्पसंख्यकों की सच के संरक्षण में मध्य और पूर्वी योरोप के राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लगभग तीन करोड़ व्यक्ति रख दिये गये। उपरोक्त सधियों में यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई राज्य अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में स्वीकृत वक्तव्यों का उल्लंघन करता है तो कौंसिल का कोई भी सदस्य कानिस्स का ध्यान आकृष्ट कर सकता था। अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में राष्ट्र सच का उत्तरदायित्व बहुत भारी था। क्योंकि यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय नहीं थी और जिन देशों ने इस प्रकार की सधियों पर हस्ताक्षर नहीं किये थे उन्हें अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करने से रोकना सरल काम नहीं था। पोलैण्ड और रूमनिया ऐसे ही देश थे। पोलैण्ड ने तो स्पष्ट रूप से राष्ट्रसच के सुझावों का ठुकरा दिया। कालान्तर में जर्मनी ने भी यहूदियों पर अमानुषिक अत्याचार किये और राष्ट्रसच अल्पसंख्यकों की सुरक्षा करने में असफल रहा। कौंसिल को बहुत ही सतकता के साथ बंदम उठाना पड़ता था, एक तरफ तो अल्प संख्यकों के साथ होने वाले दुन्यवहार का रोना और दूसरी तरफ बहुसंख्यकों के राष्ट्रीय अभिमान को ठेस न पहुँचाना। सच की इस नीति की बहुत आलोचना की गई। क्योंकि इसमें सक्षत कार्यवाही को कोई स्थान नहीं था। बाद में कौंसिल ने यह नीति बनाली कि इस प्रकार के भगदड़ों में निराश न देखर दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करना चाहिये।

### (४) अन्य उपलब्धियों

अब हम सच की अन्य उपलब्धियों की चर्चा करते हैं। युद्ध के परिणाम स्वरूप बहुत से देशों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो चुकी थी। विशेषकर आस्ट्रिया और हंगरी की। राष्ट्रसच ने इन दोनों देशों का आर्थिक सहायता प्रदान की और उनके आर्थिक पुनर्निर्माण में योगदान दिया। गरणार्थियों का बसान अन्य उपलब्धियों में राष्ट्रसच ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग लिया। इस सम्बन्ध में सच ने एक पृथक् आयाग की नियुक्ति भी की। प्रान्त के १५ लाख गरणार्थियों को बसाने के लिए लगभग ५ करोड़ डालर की सहायता दी गई। इसी

प्रकार बलेरिया को भी अपने घरगृहाधिकारी को बसाने के लिए विदेशी ऋण दिया गया। केवल चार वर्षों में सघके आयोग के तत्वाधान में दो लाख घरगृहाधिकारी को बसाया गया। युद्ध बंदियों को वापस अपने देश भेजने के सम्बन्ध में भी सघ ने महत्वपूर्ण कार्य किया। दास व्यापार को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया गया। इसी प्रकार स्त्रियों और वस्त्रों के टर्की और एशिया माइनर में विपत्ति को भीषणता दूर करने के लिए भी कदम उठाये गये हैं। अफ्रीम और कोकीन जैसी नशीली वस्तुओं के व्यापार को रोकने का प्रयत्न किया गया। कई सम्मेलन भी बुलाये गये। इनके प्रतिरिक्त पूर्वी यूरोप में टाइफम बुखार को फैलने से रोकने का भी सघा प्रयत्न किया गया। सम्मेलन में, राष्ट्रसंघ ने उपकार परायण सत्या की भाँति कार्य किया।

### राष्ट्रसंघ-सामान्य समीक्षा

दो महायुद्धों के बीच की बीस वर्षों की अवधि में राष्ट्रसंघ ने बहुत से महत्वपूर्ण कार्य किये। इसने विविध प्रकार के भगड़ों जिनसे स्थानीय युद्ध छिड़ने की सम्भावना थी का निपटारा किया। इसने एक ऐसा साधन प्रदान किया जिसकी सहायता से विविध देशों के प्रमुख राजनीतिज्ञ एकसूत्र में आवद्ध हो सके और स मुख पारस्परिक वार्तालाप के द्वारा आपसी मतभेदों को दूर कर सकें और विश्व सघ का महत्व वांछित रूप से स्थापित कर सकें। वास्तव में राष्ट्र संघ ने राष्ट्रीय सुरक्षा की खोज में महत्वपूर्ण भूमिका भरी और यद्यपि निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में सघ असफल रहा परन्तु इस दिशा में उसके द्वारा किये गये प्रयत्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शायद राष्ट्रसंघ को देने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण देन थी—अपने प्रभाव के द्वारा अन्तराष्ट्रीय सहयोग के विचार को विवक्षित करना। अथवा सत्याग्रहों की अपेक्षा राष्ट्रसंघ ने, जनता की सत्ता की स्थिति और समस्याओं के अस्तित्व से परिचित कराने का अत्यधिक प्रयत्न व परिश्रम किया। राष्ट्रों के एक समूह की अवधारणा प्राचीन थी परन्तु राष्ट्रों के संघ का वास्तविक रूप नूतन था। इतना ही नहीं बल्कि संयुक्त राष्ट्र संघ—अपने उद्देश्यों और निष्ठाओं, अपनी रचना और पद्धति, यहाँ तक कि प्रत्येक बिंदु पर राष्ट्रसंघ के अनुभव से कृतज्ञ है।

परन्तु फिर भी, जैसा कि हमें मालूम है, राष्ट्र संघ पूर्ण रूप से असफल रहा। क्या इसका पतन अवश्यभावी था? क्या इस प्रकार की कोई अन्य संस्था सन् १९१८-२९ तक विश्व-शांति को बनाये रख सकती थी? ये प्रश्न कुछ फमजोरिखों उसी प्रकार के प्रश्नों की भाँति हैं जिनका हम उचित उत्तर नहीं दे सकते। इस समय हम केवल यह ही कह सकते हैं कि राष्ट्रसंघ ने दो बातों के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही बुरा कदम उठाया और सत्य तो यह कि राष्ट्र संघ का ढाँचा, अमेरिका और इंग्लैंड के शान्तिवादियों की भाँति के अनुकूल बन ही नहीं पाया था।



फ्रांस की हठधर्मों के कारण जर्मनी को राष्ट्र सघ से पूर्ण रूप से दूर रखा, प्रथम दुर्भाग्य था। राष्ट्र सघ, गति के प्रथम क्षण में-विजेताओं और पराजितों के मध्य व्याप्त दमन और घातके को दूर करने में असमर्थ रहा बल्कि अपने हमरा और अधिक बढ़ान में सहयोग ही दिया। पराजित देशों को देने लगे थे कि राष्ट्र सघ निश्चय राष्ट्रों को सस्था है—पराजितों की नहीं।

अमेरिका के द्वारा शांति संधियों को अस्वीकार करना, दूसरा दुर्भाग्य था। इसके परिणाम स्वरूप अमेरिका ने राष्ट्र सघ का भी ठुकरा दिया क्योंकि यह संधियों का एक अंग ही तो था। अमेरिका ने अपने 'यू-याट' जहाज पर जर्मनी द्वारा बिये गये आक्रमण तथा अत्याचार का प्रतिपाद लेने के लिए युद्ध में प्रवेश किया था। उस समय भी अधिकांश अमेरिकी लोग अपने देश की सटस्थता तथा एकात्मिकता का त्याग करने के विरोधी थे। वे चाहते थे कि जगहो युद्ध समाप्त हो वे पुन अमेरिका लौट आये और योरोप को अपने भाग्य पर छाड़ दे। उह विरसन के आदर्शवाद को तनिक भी चिन्ता नहीं था।

तब कारण राष्ट्र सघ ने अपना कार्य, जर्मनी के बिना, जिसे बहिष्कृत कर दिया गया था, अमेरिका के बिना जिसने सम्मिलित होने से अस्वीकार कर दिया था और रूस के बिना, जिसकी साम्यवादी नीति के कारण निमंत्रित नहीं किया गया था, प्रारम्भ किया। अर्थात् ससार की तीन प्रमुख शक्तियाँ के सहयोग के बिना राष्ट्र सघ जर्मनी मजिद का तरफ बढ़ा। राष्ट्र सघ में सम्मिलित अधिकांश राष्ट्र छाँटे छाँटे थे और उन्हें अपनी उत्थिति के लिए राष्ट्र सघ के सहयोग की, सहायता की आशा थी, न कि वे इस योग्य थे कि राष्ट्र सघ की गति और अधिकार में वृद्धि करने में योगदान दे सकें।

श्री० जी० एम० गेघोर्न हार्डी के शब्दों में—“राष्ट्र सघ एक दृष्टि कोण से अत्यधिक राष्ट्रवादी आधार पर किये गये क्षेत्रीय समझौते का और दूसरे दृष्टि कोण से नये अन्तर्राष्ट्रीयवाद का उपकरण था। इस प्रकार से अमंगल सिद्धांत, जिनमें सामंजस्य पैदा करने की पद्धति ही समझौते का दु माध्य समस्या बताया जा चुका है, स्वयं राष्ट्र सघ के ढाँचे में ही समाविष्ट थे। प्रश्न यह पता होता था कि क्या यह सामंजस्य सम्भव है और यदि नहीं है तो सतत अंत में अपने दोनों जनकों में से किसके सटन होगी। इस योजना की सफलता इस धारणा की भावना पर निर्भर थी कि अब सारा ससार मुख्य प्रयोजनों के लिए एक सहकारी इकाई था, या बन सकता था। अमेरिका के हट जाने के परिणाम स्वरूप समार का यह सगठन भूमण्डलाय के बजाय सुरत मोलार्धीय होने लगा। इसके अलावा यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहा कि क्या राष्ट्रीय आधार पर सगठित दुनियाँ सुरक्षा सम्बन्धी उपबन्धों को लागू करने के लिए मिलकर काम करने की पर्याप्त निस्वार्थ भावना प्रर्णित करेगी या क्या एक दूसरे से बहुत अधिक भिन्न

सामर्थ्यों वाली दूर दूर बिखरी हुई इकाइयों में अपूर्व वित्त सहायोग वास्तव में प्र-  
भी हो सकेगा ।”

उपरोक्त कमियों के अतिरिक्त राष्ट्र सच के सचिवालय में भी बड़ी दोष थे जिनके परिणाम स्वरूप सच का पतन होकर ही रहा । सचिवालय इस तथ्य पर विचार करने में असफल रहा कि राष्ट्र सदैव उस सशस्त्री उल्हास और सच असफल सदभावना सनिदेशित नहीं होने जा कि सच को सफल बनाने क्यों रहा ? की एक मात्र सम्भावना थी । निःसंदेह राष्ट्र सच की एक अतिराज्य के रूप में कल्पना नहीं की गई थी परंतु फिर भी अतिराज्य की धाराओं के बिना भी यदि फ्रेंच और इटालियन स्मरण पत्रों की धाराओं को समिलित कर लिया जाता तो राष्ट्र सच को अपने निर्यात और सिफारिशों को लागू करने का अधिकार अवश्य ही प्राप्त हो जाता । यद्यपि धारा १० बाध्य कृत्यों के निर्माण के लिए थी परंतु धारा १६ में विविध अनुशास्तियों की सिफारिश के साथ साथवाही करने की स्वतंत्रता सदस्यों के पास छोड़ दी गई थी । अतः इन सिफारिशों का केवल सलाहकारी महत्त्व रह गया था ।

राष्ट्र सच के प्रतिष्ठान की रचना के समय बहुत से राजनीतिज्ञों ने इस बात पर जोर दिया था कि सच को अपने निर्यात और आदमा का कार्यान्वित करवाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना रखने का अधिकार होना चाहिए, नहीं तो सैन्य शक्ति सच अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकेगा और वह का अभाव एक निर्जीव संस्था मात्र रह जायेगा । परंतु इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई । बस धारा १६ के अंतर्गत अनुशास्तियों का उल्लेख किया गया है । ये दो प्रकार की हैं— (१) वित्त और वारिजिज्म सम्बन्धी तथा (२) मैनिफ, नार्विक और वायु सना सम्बन्धी । सच के पास अपनी सेना तो थी नहीं । एक प्रविष्ट राष्ट्र का सही रास्ते पर जाने के लिए सच को अपने सदस्यों की सेना पर निर्भर करना पड़ता था । आर्थिक अनुशास्तियों को लागू करने के लिए भी सेना की आवश्यकता थी और इस दिशा में राष्ट्र सच को महान् शक्तियाँ पर निर्भर करना पड़ता था । क्या महान् शक्तियाँ राष्ट्र सच को उसकी आवश्यकतानुसार सेना देने तथा प्रविष्ट राष्ट्र से युद्ध छेड़ने का सहमत हो सकती थी ? निःसंदेह, यदि ऐसा हुआ होता तो संसार की द्वितीय महायुद्ध का दुःख अनुभव नहीं करना पड़ता । परंतु हुआ इसके प्रतिकूल । राष्ट्र सच की विविध कार्यावाहियों के समय महान् शक्तियों का विज्ञासघात दिन प्रतिदिन स्पष्ट होता गया । इसमें एक बात स्पष्ट हो गई कि अन्धे विचार और पवित्र इच्छाएँ हमें अधिक दूर तक नहीं ले जा सकती और एक ऐसे संसार का जो कि युद्ध के भय से मुक्त हो निर्माण नहीं किया जा सकता ।

राष्ट्र सघ के पतन का एक कारण उसके सदस्यों द्वारा अपने कर्तव्यों से विमुख होना था, उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ना था । यह देखा गया कि राष्ट्रो ने अपने कर्तव्यों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया । अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाया । उन्होंने न केवल अपने उत्तरदायित्वों से ही मुंह मोड़ने का प्रयत्न किया परन्तु इस बात का भी प्रयत्न किया कि सही तथ्य सघ के सामने न लाये जा सकें ताकि उन्हें अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए अड्डयल राष्ट्रा के विरुद्ध अपनी सशस्त्र सेना न भेजना पड़े । जब आक्रमक देशों को विश्वास हो गया कि महान् शक्तियाँ सघ के आदेशों को कार्यन्वित करवाने के लिए अपना सशस्त्र सेनाप्रा का भेजने की जोखिम लेने का तयार नहीं हैं, तब ही यह वे छोटे २ राज्यों का हड़ताल का सहम कर सके । जापान द्वारा मन्चूरिया पर आक्रमण किया गया । सब ने जापान को आक्रामक घोषित करते हुए उसकी निंदा की और अपने सदस्यों से उसके विरुद्ध कार्यवाही करने का अनुरोध भी किया परन्तु सदस्यों ने इस अनुरोध को ठुकरा दिया । ब्रिटिश सरकार के विदेश मन्त्री सर जॉर्ज सोमन ने तो स्पष्ट कहा था कि "मेरी नीति का उद्देश्य मेरे देश को संकट में डूब रखना है ।" इसी प्रकार इथापिया के मामले में उसने कहा था कि "इथापिया के लिए मैं एक भी ब्रिटिश जहाज को खोलने का खर्चा उठाना नहीं चाहता ।" १९३५ में आस्ट्रिया को भूमि पर, आस्ट्रिया के राष्ट्रपति डॉल्फ की हत्या कर दी गई । इस मामले को सघ के सामने रखना था । परन्तु मुनीनिनी द्वारा इस तान पर कि यदि यह मामला सघ के सामने उपस्थित नहीं किया गया तो म आस्ट्रिया को खाने का प्रयत्न करेगा, आश्वासन देने पर मामला दबा दिया गया । ब्रिटेन ने बर्मा को संधि का उल्लंघन करते हुए फ्रांस की सहायता लिये बिना जर्मनी के साथ नौ संधि की । इस प्रकार फ्रांस ने इंग्लैंड को सूचित किये बिना इटली के साथ अतिगत समझौता कर लिया । राइनलैंड का पुनः गश्वाकरण किया गया, आस्ट्रिया का हड़ताल किया गया, नाजिया द्वारा यहूदियों का हत्याकाण्ड किया गया, स्पेनिश प्रजातन्त्र का गला घोट दिया गया, चेकास्लोवाकिया का अंग भंग किया गया, परन्तु राष्ट्र सघ कुछ भी न कर सका । कोई भी सन्तुष्ट इन घटनाओं को सघ के सामने रखने तथा सघ के आदेशों को कार्यन्वित करवाने का उत्सुक नहीं था । छोटे छोटे राज्यों की र्भूमि भी दुर्भाग्यवश न हुर्र हो या हो रही हो, जब तब पश्चिमी देशों को प्रत्यक्ष संकट का सामना नहीं करना पड़ा, जब तब उनको सुरक्षा को किसी प्रकार का भय नहीं उत्पन्न हुआ, तब तक उन्होंने आक्रामक देशों के विरुद्ध किसी प्रकार का कार्यवाही करना ठीक नहीं समझा, चाहे राष्ट्र सघ का पतन हो क्या न हो जायें । प्रसिद्ध लेखक ग्लेन के "तरी में" "Its leading actors were determined first to evade their own obligations and second to use the League as a Vehicle for appeasing the aggressors The League perished because its members failed

to use it to compel the orderly settlement of disputes and to prevent lawless aggression”

राष्ट्र सभ के पतन का एक कारण यह भी था कि उनके सविधान में कोई ऐसी प्रभावकारी धारा नहीं थी जिसके द्वारा सदस्यों का अपने आप राष्ट्र सभ की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए बाधित किया जा सके। सिर्फ एक प्रभावकारी धारा धारा थी—सदस्य को सभ से प्रथक करने की। परन्तु सभ राष्ट्रों का अभाव का एक ऐसा संगठन था जिसकी सदस्यता 'ऐच्छिक' था और कोई भी राष्ट्र अपनी इच्छानुसार सदस्यता को त्यागने में स्वतंत्र था और एक बार राष्ट्र सभ से निकलने के बाद उस देश को राष्ट्र सभ के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था।

राष्ट्र सभ के सदस्यों के तथा अन्य राज्यों के आगामी भ्रमण का निपटारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी किया करता था। परन्तु न्यायालय के नियुक्तों को कार्यान्वित करवाने की कोई ठोस व्यवस्था नहीं थी। इसी प्रकार शान्ति संधियों में सशोधन की तथा सविधान में संगोपन करने की प्रक्रिया भी अत्यधिक जटिल जटिल प्रक्रिया थी। सविधान में सर्व सम्मत नियम पर जोर दिया गया है। इनकी विनाश सदस्य सख्या वाले सभ में सर्व सम्मत नियम पर पहुँचना बहुत ही दुष्कर कार्य था। यह अधिक अच्छा होता यदि संधियों में संगोपन या पुनरचना का काम अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या किसी आयोग के सुपुर्व कर दिया जाता, क्योंकि असेम्बली और कौंसिल दोनों ही राजनीतिक परिषदें थी और उनकी सिफारिशों निष्पक्ष नहीं हो सकती थी।

राष्ट्रसभ के प्रति सब साधारण जनता का और छोटे राज्यों का सब उत्साह जनक नहीं था। राष्ट्र सभ राष्ट्र का सभ था। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपनी इच्छानुसार अपने बिना भी योग्य व्यक्ति का अपना प्रतिनिधि बनाने में सक्षम था। अर्थात् सभ के सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे, जनता के नहीं। अतः सभ का असमानता सदस्य राष्ट्रों की जनता में किसी प्रकार का कोई सम्पर्क नहीं था। इसके अतिरिक्त सभ के सभी सदस्यों को सभ में न तो स्थान स्थिति ही थी और न समानधिकार ही। सब पूछा जाये तो सभ महान शक्तियों का राजनीतिक अखाड़ा था। कौंसिल, जो कि सभ की प्रमुख शक्तिशाली परिषद थी, आत्मा थी, में महान शक्ति का स्थायी स्थान प्राप्त थे। जब कि सभ के अवशिष्ट सदस्यों को केवल ६ स्थान प्रदान किये गये और वे भी अस्थायी इतना ही नहीं बल्कि महान शक्तियों को निषेधाधिकार प्राप्त था जबकि छोटे राज्यों के पास अपने विचारों के अनुसार कार्य करने की कोई धारा नहीं थी। अतः यह स्वामाबिक ही था कि इन छोटे

राज्यों के मन में बड़े राज्यों के प्रति वैमनस्य बड़े । जबकि राष्ट्रसंघ बड़े राज्यों को उनकी आक्रामक कायवाहियों के विरुद्ध सजा देने में असफल रहा तो यह वैमनस्य उत्पत्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया और इसने संघ के पतन में अपना योगदान दिया ।

राष्ट्रसंघ के पतन का एक कारण था—तानाशाहों का उत्थान । शांति संधियों के परिणामस्वरूप राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ था और इसे शांति संधियों द्वारा कई वक्तव्य भी सौंपे गये थे । एक वक्तव्य था शांति व्यवस्था द्वारा स्थापित व्यवस्थित को बनाये रखना । अथ पराजित देशों की तरफ देखिये ।

**विविध कारण** शांति संधियों ने उनके गौरव को समाप्त कर दिया था, उनकी शक्ति का नष्ट कर दिया था । और उनको आर्थिक स्थिति को दयनीय बना दिया था । अतः उन्हीं शांति संधियों तथा इस पर आधारित और इसके बर्तनों को निभाने वाली राष्ट्रसंघ से घृणा थी । ऐसी परिस्थितियों में पराजित देशों तथा इटली और जापान में तानाशाहों का उत्थान हुआ । इन्होंने अपने देशवासियों को प्राचीन गौरव को लौटाने का आश्वासन दिया और जनता ने उनका समर्थन किया । इन तानाशाहों की विदेश नीति भी सफल रही । इस समय रूस का साम्यवाद पश्चिम के पूँजीपतियों के सिरे सिर दब बन चुका था । तानाशाहों ने अपने आपको साम्यवादी विरोधी घोषित किया और अपनी आक्रामक कायवाहियों तथा साम्राज्यवादी लिप्सा पर साम्यवादी विरोधी चादर डाल दी । पश्चिमी देशों ने उनका स्वागत किया । क्योंकि वे तो यह चाहते ही थे कि साम्यवाद और तानाशाह एक दूसरे से लड़कर कमजोर हो जायें । परन्तु हुआ इसके प्रतिकूल । साम्यवाद की शक्ति बढ़ती गई और छोटे २ राज्यों का हड्ड कर तानाशाहों ने अपनी शक्ति भी बढ़ा ली । शक्ति सम्पन्न होने ही तानाशाहों ने अपना असला रूप भी प्रकट कर दिया । अब पश्चिमी देश उन्हीं सन्तुष्ट करने लग गये । इससे उनका हिम्मत और बढ़नी गई और अन्त में द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ । यदि पश्चिमी देश इन समस्याओं को संघ के सामने रखते और मिल जुलकर कार्य करते तो न तो द्वितीय महायुद्ध ही दिङ्गता और न राष्ट्रसंघ का पतन ही होता ।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जिनका उल्लेख यत्र तत्र किया जा चुका है, जैसे—निःस्त्रीकरण की समस्या को हल करने में संघ का असफलता, आपसबन्धों की सुरक्षा की समस्या, अमेरिका का असहयोग, आपसी मतभेद और वैमनस्य, अन्धका अभाव आदि ।

अतः मैं, मेथीन हार्डी के इन शब्दों— 'परन्तु राष्ट्रसंघ शांति सम्मेलन का एक महान् रचनात्मक कार्य था । इसकी आत्मा पूर्णतः अन्तराष्ट्रीय थी, और उन्हीं सदस्यों के हाथों में जो निःस्वार्थ भाव से इसका उपयोग सकल्प करन, यह शांति का एक गानदार उपकरण बन सकता था ।' के साथ राष्ट्रसंघ की कहानी को समाप्त करते हैं ।

## चौथा अध्याय क्षतिपूर्ति की समस्या

मानव समाज के लिए युद्ध कोई नई बात नहीं है। शताब्दियों में युद्ध होने आये हैं और विजेता बनने पराजित प्रतिस्वियों में युद्ध का सम्पूर्ण व्यय वसूल करने के प्रयत्न में पीछे नहीं रहे हैं। इस सम्बन्ध में "युद्ध का दायित्व भूमिका" किसका है ?' को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। वसूली की संधि की धाराएँ भी इसी परम्परा की प्रतीक थी। परन्तु प्रथम महायुद्ध के व्यय का देखने हुए जर्मनी से इस विंगल राशि का वसूल करना असम्भव प्रतीत हो रहा था। इसीलिए ५ नवम्बर १९१८ को अमेरिका के राष्ट्राति विद्वान ने अपने नोट में कहा था कि जर्मनी से युद्धपराय का जुमाना नहीं लिया जायेगा और इसी आधार पर मित्रराष्ट्रों का अपना मांग सीमित करने पड़े और युद्ध बंदी के सम्बन्ध में जर्मनी से की जाने वाली वार्ता में उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि "जर्मनी को वैयक्तिक के युद्ध ऋण और मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता और उसकी सम्पत्ति की हुई सारी क्षति की पूर्ति करना होगा।" जर्मनी ने इसे स्वीकार कर लिया और इसी कथन के आधार पर हथियार डाले थे।

परन्तु दुर्भाग्यवश मित्रराष्ट्र अपने कथन पर स्थिर न रह सके और रह भी कैसे सकते थे। प्रथम तो जर्मनी अब पूरा रूप से उनके चुगल में फँस चुका था। दूसरे युद्धबंदी के उपरांत सम्पन्न होने वाले आग निर्वाचनों में शांति सम्मेलन इंग्लैंड और फ्रांस के राजनीतिज्ञों ने मत प्राप्त के चक्कर में और क्षतिपूर्ति पट कर जर्मनी से युद्ध की क्षति को वसूल करने के आश्वासन दे रखे थे। अतः शांति सम्मेलन में क्षतिपूर्ति की समस्या का एक नया रूप दृष्टिगोचर हुआ। नागरिकों को हुई क्षति की ओट में ५ नवम्बर १९१८ के दाव की 'याच्यता को आक्रान्त कर दिया गया' और सेनिका की पेंशन और अलग-अलग भत्तों (Seperation allowances) की लागत को भी सम्मिलित कर लिया गया। इतना ही नहीं बल्कि जर्मन क्षेत्रों में निष्पक्ष मित्रराष्ट्रों की अधिकार सेनाओं का व्यय भी जर्मनी के मध्ये मँड दिया गया। फिर भी फ्रांस को सन्तुष्ट नहीं हुआ और पश्चिमी देशों में इस समस्या को लेकर मनभेद बढ़ना गया। परिणाम यह

हुआ कि वे किसी एक निर्णय पर पहुँचने में सफल नहीं हो सके और क्षतिपूर्ति समझ या अंतिम समाधान एक क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) को दी सौंप दिया गया। इस आयोग को १ मई १९२१ तक अपना प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत करना था। तब तक के लिए जर्मनी को ५,०००,०००,००० डाटर का भुगतान करना था। इस राशि से सब प्रथम अधिकार सेनाया (Armies of occupation) का व्यय चुगाना था और अवशिष्ट राशि को क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा निर्धारित क्षतिपूर्ति की कुल राशि के हिसाब में जमा कर देना था।

क्षतिपूर्ति आयोग में सदस्य राज्य, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बेल्जियम। प्रतिनिधित्व दिया गया तथा इस बात की भी व्यवस्था की गई कि छोटे २ राज्या।

भी उनसे सम्बंधित समस्याओं पर, जब जब आवश्यकता पक्ष क्षतिपूर्ति आयोग निमंत्रित किया जाये। लेकिन चूँकि अमेरिका की सैन्य और अमेरिका वसति संधि का अनुसमर्थन (Ratification) नहीं किया था इसलिए अमेरिकन प्रतिनिधि को क्षतिपूर्ति आयोग में नियुक्त नहीं किया जा सका और यह काम बाकी चार सदस्यों पर आ पड़ा। अमेरिकन प्रतिनिधि के हट जाने से क्षतिपूर्ति आयोग में साम्यता की अनेकी आवाज भी हट गई क्योंकि अमेरिका ने पहले से ही अपने क्षतिपूर्ति दावे का परिहारा कर लिया था, इसलिए य विश्वास किया जाता था कि वह इस बात पर जोर दे सकता था कि जर्मनी पर क्षतिपूर्ति प्रतिशोध लेने के विचार से नहीं बल्कि उसकी भुगतान क्षक्ति (Payment power) की प्रचार में रखते हुए नियत की जाये। क्षतिपूर्ति आयोग को साथी देशों के दावों और अधिकारों को सुनना था। तथा क्षतिपूर्ति की अंतिम राशि भी तय करनी थी।

एक तरफ क्षतिपूर्ति आयोग अपना काम कर रहा था और दूसरी तरफ क्षतिपूर्ति से सम्बंधित मित्रराष्ट्रों के राजनीतिक अधिकारों में जर्मनी से प्राप्त होने वाली प्राप्तियों (Receipts) को आपस में बांटने की एक निश्चित प्रणाली की विभाजन अनुपात ठोस रूप देने में लगे हुए थे। इस सम्बन्ध में उनका बीच कई असफल सम्मेलन हुए। असफल इसलिए कि मित्रराष्ट्र जो भी राशि निर्धारित करते जर्मन कुटिलता के साथ उसमें कमी करते जाते और इस प्रकार एक निश्चित निर्णय पर पहुँचना असम्भव हो गया था। जुलाई १९२० में होने वाले स्पा (Spa) सम्मेलन को कुछ सीमा तक सफल माना जा सकता है। इस सम्मेलन में पहली बार जर्मन प्रतिनिधियों का निमंत्रित किया गया था। इसमें दो महत्वपूर्ण विषयों का निपटारा भी किया गया। एक तो यह कि आगामा छ मास तक जर्मनी, फ्रांस व अन्य साथी देशों को कायले का कितना भुगतान करेगा। दूसरा बात यह कि जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति का सम्बंधित देशों में किस अनुपात से विभाजन किया जायेगा। अनुपात इस प्रकार से तय किया गया—

फ्रांस	५२%
ग्रेट ब्रिटेन	२२%
इटली	१०%
बेल्जियम	८%
यूनान, रूमानिया और यूगोस्लाविया	६ ५%
जापान	० ७ ५%
पुर्तगाल	० ७ ५%
	<u>१००%</u>

यह स्मरण होगा कि बेल्जियम के सम्पूर्ण युद्धभरण का दायित्व जर्मनी पर डाला गया था। इस सम्मेलन में यह भी निश्चिन किया गया कि जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति पर बेल्जियम को १,०००,०००,००० डालर तक ग्रहण करने का प्राथम्य ( priority ) प्रदान किया जाये।

अब हम पुनः जर्मनी की तरफ आते हैं। क्षति सम्मेलन में यह तय किया गया था कि क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा १ मई १९२१ तक प्रतिवेदन प्रस्तुत करने की अन्तरिम अवधि में जर्मनी कोयले तथा अन्य वस्तुओं के रूप में या स्वर्ण के अन्तरिम भुगतान रूप में ५,००० ०००,००० डालर का भुगतान करे। उपरोक्त और जर्मनी व्यवस्थानुसार जर्मनी ने अगस्त १९१९ से भुगतान ( payment ) करना शुरू किया। जनवरी १९२१ में जर्मनी ने

घोषणा की कि उसने कोयले तथा अन्य सामान के रूप में निर्धारित अन्तरिम भुगतान भरा कर दिया है और जब तक क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा क्षतिपूर्ति की एक निश्चित राशि तय नहीं की जाती तब तक वह भुगतान का बंद रखेगा। परन्तु जर्मनी के दुर्भाग्यवश मित्रराष्ट्रों ने जर्मन भुगतान का हिसाब किताब रख छोड़ा था और उन्होंने जाब के उपरान्त घोषणा की कि जर्मनी ने अब तक केवल २,०००,००,००० डालर का ही भुगतान किया है। उन्होंने जर्मन दावे को झूठा बतताते हुए कहा कि जर्मनी ने अपने सामान की कीमतें बढ़ा चढ़ा कर लगाई है और अभी तक लगभग ६०% भुगतान बाकी है तथा अब तक जो भुगतान मिला है उससे अधिकार सेनाओं का सम्पूर्ण व्यय भी वसूल नहीं हो सका है। कुछ समय तक अन्तरिम भुगतान की अदायगी के सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रों और जर्मनी में पत्र व्यवहार होता रहा परन्तु इसका कोई परिणाम न निकला। २४ मार्च १९२१ को क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को जानबूझकर अपने दायित्व से मुंह मोड़ने के लिए दापी घोषित कर दिया और मित्रराष्ट्रों ने राइन के पूव में स्थित रहरोट, दुइसबर्ग और डसलडार्फ नामक औद्योगिक केन्द्रों पर अधिकार कर लिया। अतिरिक्त आय की भांति से, मित्रराष्ट्रों ने राइनलैंड के चारों तरफ चुंगी की दीवार ( customs wall ) खड़ी कर दी और जर्मनी से मित्रराष्ट्रों को भेजे जाने वाले सामान पर विविध कर भी लगा लिये गये।



श्री गेयोर्नहाडी<sup>१</sup> ने मित्रराष्ट्रो की इन कार्यवाही के पीछे एक अग्र का बतलाया है। क्षतिपूर्ति की कुल राशि को निर्धारित करने के लिए जनवरी १९२१ मित्रराष्ट्रों का पेरिस में एक सम्मेलन हुआ जिसमें मित्रराष्ट्रो ने अपनी प्रस्तापन (proposals) प्रस्तुत की परंतु जर्मनी ने अपने प्रति प्रस्तापना (Counter proposal) में न केवल सम्पूर्ण राशि को ही कम किया परंतु राइनलैंड सम्प्रदाय में आने हटाने तथा ऊपरी साईलेशिया के अधिकार की भी मांग की। इस पर मित्रराष्ट्रो ३ मार्च १९२१ को जर्मनी को चुनौती पत्र भेजा और ८ मार्च को उपरोक्त क्षेत्रों अधिकार कर लिया। २४ मार्च का क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को दोषी करार देते मित्रराष्ट्रो के इस असहमतीय एवं आक्षेपयोग्य कार्यवाही पर बराबरी का प डाल दिया।

उपरोक्त घटना के लगभग सात सप्ताह बाद, २७ अप्रैल १९२१ को क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी द्वारा भुगतान की जान वाली क्षतिपूर्ति की कुल राशि की घोषणा की। जर्मनी को कुल मिलाकर, वेनजियम क मुद्रा नूए के अतिरिक्त क्षतिपूर्ति की कुल (लगभग १,०००,०००,००० डालर) १३२,०००,०००,००० राशि और चुकान-स्वर्ण मार्क अर्थात् लगभग ३२,००० ०००,००० डालर कायक्रम ६६० करोड़ पौंड का भुगतान करना था। यह सख्या पेरिस सम्मेलन में अग्रशास्त्रियों द्वारा सुझाई गई राशि से लगभग तीन गुणा अधिक थी<sup>२</sup>। एक कार्यक्रम (Schedule) के अनुसार उपरोक्त राशि में १२,५००,०००,००० डालर पर जर्मनी को ५% ब्याज देना था और इस राशि का भुगतान ५०० ०००,००० डालर की निश्चित वार्षिक किश्तों के रूप में करना था इसके अतिरिक्त जर्मनी को प्रतिवर्ष अपने निर्यात कर (Exports tax) के २६% भाग के बराबर राशि का भुगतान करना था। क्षतिपूर्ति आयोग के प्रतिवेदन (Report) में यह भी कहा गया कि चूंकि अब तक जर्मनी द्वारा किये गये भुगतान से अधिकार सेनाप्रा का सम्पूर्ण व्यय भा वसूल नहीं हो सका है, अतः जर्मनी का कुल दायित्व अभी बाकी है। अतः जर्मनी को २ करोड़ पौंड (लगभग १ अरब स्वर्ण मार्क) की राशि का, मई मास के अंत तक भुगतान करने को कहा गया। इस प्रतिवेदन की, बिना किसी संशोधन के, इस घमकी के साथ कि यदि जर्मनी ने इसे स्वीकार नहीं किया तो मित्रराष्ट्र रुहर (Ruhr) पर अधिकार कर लेगे, जर्मन सरकार के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेजा गया। जर्मनी को १२ मई तक का अवकाश दिया गया। क्षतिपूर्ति के कुल दायित्व ने जर्मनी में मन्त्रिमण्डलाय सकट उत्पन्न कर दिया और वास्तविकता के बाद ११ मई १९२१ को जर्मनी के प्रधान मंत्री जोसेफ बिथ की सरकार ने उपरोक्त चुकान कार्यक्रम (Schedule of Payment) स्वीकार कर लिया।

१ जी एम गेयोर्नहाडी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

२ Langsam—The World Since 1919

क्षतिपूर्ति आयोग ने जमनी के कुल दायित्व ( Total obligations ) की घोषणा करदी और जमनी ने रूहर के छीन जाने के भय से उपरोक्त दायित्व को स्वीकार भी कर लिया परंतु मित्र राष्ट्रों को इस भुगतान को वसूल करने में और जमनी को अपने दायित्व को अदा करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ।

**भुगतान चुकान** मुख्य मवाल यह उठता है कि इतनी बड़ी राशि का भुगतान किस **को कठिनाइयों** रूप में या कौन से साधनों के द्वारा किया जाय । मेथोन हार्डी ने लिखा है—' मोटे तौर से भुगतान सिर्फ तीन तरह से किया जा सकता है—अर्थात् सोने के पदार्थों के अथवा सेवाओं के हस्तांतरण द्वारा ।' जमनी के पास पर्याप्त मात्रा में सोना नहीं था । फिर क्षतिपूर्ति के आकड़े सम्पूर्ण ससार के बाजार में उपलब्ध सोने के मूल्य से करीब तीन गुणा अधिक थे । चार वर्ष के निरंतर युद्ध ने जमनी के स्वर्ण को ख़ुस लिया था और अब जमनी के पास इस बहुमूल्य धातु का स्थायी वाप बहुत कम था । पदार्थों के द्वारा भी भुगतान सम्भव नहीं था । क्योंकि इस परिस्थिति में उत्तमर्ण देना ( Creditor Nations ) की अथ व्यवस्था के विस्तृतहित हाने का भय था और इससे इन देशों में राशि गतन ( Dumping ) की सम्भावना थी । सेवाओं द्वारा भी भुगतान असम्भव था ।

थी एफ० ली० बन्नस<sup>१</sup> ( F Lee Benns ) ने लिखा है कि कई परिस्थितियों ने जर्मन सरकार को अपने दायित्वों का पालन करने में असफल बना दिया था । प्रथम तो जमनी के पास किसी प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय उधार ( International Credit ) नहीं था, और यदि होता भी, अमेरिका को छोड़कर ससार का कोई देश ऐसी स्थिति में नहीं था कि वह तुरत जमनी को भारी रकम दे सके । अतः विदेशी ऋणों की सहायता से वह तुरत ही क्षतिपूर्ति का निपटारा नहीं कर सकता था । दूसरे ध्यान में, मित्र राष्ट्रों की घेराबंदी ने, जिसने बहुत लम्बे समय से जमनी का कच्चे माल के साधनों से वंचित कर रखा था और युद्ध पूर्व जर्मन व्यापारिक पद्धति जिसे कि नष्ट किया जा चुका था, जमनी को विदेशों से, विनाश मात्रा में बच्चा सामान खरीदने का विवश होना पड़ा और चूँकि इन आयातों का पूरा भुगतान तुरत निमित्त निर्यात वस्तुओं से नहीं किया जा सकता था, उसे स्वर्ण का निर्यात करना पड़ा । इसी स्वर्ण से वह अपनी क्षतिपूर्ति अदा कर सकता था । विदेशों से, व्यापार के माध्यम से स्वर्ण कमाना तो दूर रहा, उसके पास जो स्वर्ण संचिति ( Reserve ) थी वह भी धीरे २ कम होती गई । तीसरे, जर्मनी को स्वदेशी पूँजी के विदेशों में चले जाने से भी अत्यधिक सकट का सामना करना पड़ा । जर्मन पूँजीपतियों का भय था कि नहीं हमारी सरकार हमारी पूँजी को न हथप ले, इसलिए उन्होंने अपनी पूँजी का विदेशों में निवेश ( Invested ) कर दिया था ।

इसके अतिरिक्त कुछ अग्र कठिनाइयों भी थी। युद्ध बन्दा के बाद जर्मनी नैतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक दृष्टि से पतन हो चुका था। असन्तोष और अव्यवस्था, खाद्य सामग्री के अभाव, निधनता तथा बेरोजगारी के कारण जर्मनी में वह उत्साह बाकी नहीं रह गया था कि वे ऐसे दायित्व का पालन कर सकें। फिर, जर्मनी लोगों में इस भुगतान को अदा करने की इच्छा भी नहीं थी। उन्होंने, एक तरह से इसकी अवहेलना करना निश्चित कर रखा था। क्योंकि प्रारम्भ में ही उन्होंने सधि की युद्ध अपराध ( War guilt ) धारा की सत्यता को स्वीकार नहीं किया था। उन्हें अपनी निर्दोषिता और अपने देश द्वारा छेड़े गये स्वयं की वैधता में दृढ़ विश्वास था। जर्मनी और रूसी पत्रों के प्रकाशन ने उनके विश्वास को और भी दृढ़ कर दिया और वे इन पत्रों को अपने देश के व्यवहार की पवित्रता का लिखित प्रमाण समझने लगे। अतः उनकी दृष्टि में यह बात तर्कहीन थी कि पोते परपोते अपने बाप दादों के उस अपराध के लिए जो उन्होंने कभी नहीं किया था, सोने के रूप में, जुर्माना अदा करें।

इस सम्बन्ध में कुछ अप्रत्यक्ष कठिनाइयाँ भी थी। युद्धोपरान्त विजेताओं ने अपने व्यापारिक बंधनों को मजबूत कर दिया और अपने चारों तरफ चुंगी की ऊँची दीवारें खड़ी कर दी। प्रत्येक राष्ट्र यह तक कि अमेरिका ने भी, इसी मान का अवलम्बन किया। इससे जर्मनी के लिए उचित मुनाफे पर अपनी वस्तुओं को विश्व बाजार में बेचना और कठिन हो गया। यदि ऐसा नहीं होता तो इस मुनाफे से क्षतिपूर्ति के भुगतान में सुविधा हो सकती थी।

उपरोक्त सब कठिनाइयाँ के परिणाम स्वरूप जर्मनी नगद भुगतान करने में असफल रहा। यहाँ तक कि पूर्ण रूप से वस्तुओं का भुगतान भी नहीं कर सका। यद्यपि निर्धारित चुकान कार्यक्रम के अनुसार जर्मनी ने अगस्त १९२१ में २५०,०००,००० डालर की प्रथम किस्त अदा कर दी थी परन्तु ऐसा करने से उसके मार्क ( जर्मन सिक्का ) की कीमत में गिरावट आ गई। साल के अन्त तक जर्मनी को विश्वास हो गया कि विदेशी ऋणों की सहायता के बिना या मार्क की कीमत में

भुगतान चुकाने अत्यधिक गिरावट को सहन करने के बिना वह क्षतिपूर्ति का

मे जर्मनी की भुगतान करने में असमर्थ है। विदेशी ऋण मिल नहीं रहे हैं

असफलता और मार्क की कीमत में गिरावट को सहन करने की क्षमता

भी जर्मनी में नहीं थी। खरब से पहिले २० मार्क का सामान्य

मूल्य एक स्टलिंग पाँड था किन्तु १९२० के मध्य तक लगभग २५० मार्कों का मूल्य एक पाँड तक हो चुका था और १९२१ के प्रारम्भ से इसकी कीमत में गिरावट हाती गई और नवम्बर में तो १००० मार्क का एक पाँड तक मूल्य हो गया।<sup>१</sup>

( १ ) Alberj & Alberj—Europe from 1914 to the Present

( २ ) ई एच कार-दो विद्वान युद्धों के बीच अंतराष्ट्रीय सम्बन्ध ।

इसलिए, जर्मनी को भुगतान के सम्बन्ध में विलम्बनकाल (Moratorium) की प्राप्ति करना पड़ी। जर्मनी को १९२२ में एक अस्थायी विलम्बनकाल दिया गया।

परन्तु ज्यों ही जर्मनी ने पुनः भुगतान करने का प्रयत्न किया, विलम्बनकाल की मांग मात्र की कीमत तैयारी स गिरने लगी। फलस्वरूप जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों की नीति १९२५ के अंत तक क्षतिपूर्ति के भुगतान को बढ़ा रखने का प्राथम्य दिया। जर्मनी की इस प्राथम्य का सकारण को केवल यही नहीं ज्ञात हुआ कि जर्मनी दिनानिया हो गया है, बल्कि इसका भी ज्ञान हो गया कि उसके दोनो प्रमुख उत्तमरणों में अब एक राय नहीं रह गई है। इंग्लैंड जर्मनी की प्राथम्य स्वीकार करना चाहता था, परन्तु फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं था। इसका यह कारण नहीं था कि इंग्लैंड अधिक उदार था और फ्रांस जर्मन भाव का अंतिम पाठ लेने को उत्सुक था बल्कि दानो दशो की स्थिति भिन्न थी। ग्रेट ब्रिटेन बेकारी के प्लेग और युद्ध श्रमों के भुगतान के कारण जर्मनी के बाजारों की चालूरी से जलश पुनर्स्थापना करना चाहता था ताकि जर्मनी ब्रिटिश बाजार में खरीद कर सके और इससे बेकार ब्रिटिश श्रमिकों को शान्ति तथा पारखाना में काम मिल सके। अखिर ब्रिटेन यह बात भूना नहीं था कि युद्ध के पहिले जर्मनी उसका एक अच्छा ग्राहक था। दूसरी तरफ फ्रांस युद्ध काल में उजड़ हुआ अपने इलाकों को पुनः आबाद करना चाहता था। फ्रांस का भाव था कि १९२१ से ही जर्मनी की क्षतिपूर्ति की भारी रकम फ्रांस अपने लगे ले। परन्तु जब भुगतान का समय आया तो जर्मनी बाल भ्रम करने लगा। इस पर फ्रांस बांधे झुल्ला उठे। फ्रांसीसी लोकमत यह स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि एक बजार दान करने न्याय्य दायित्वों (Just obligations) से मुह मोड़ने का प्रयत्न करे और मित्रराष्ट्रों को अपने उजड़े देशों की पुनर्स्थापना के लिए (जिसका वास्तविक दायित्व जर्मनी पर था) भारी बोझ दे देना पड़े। फिर फ्रांस वाला का निश्चय था कि जर्मनी जान बूझ कर प्रत्यागामी (Payment) नहीं कर रहा है। कुछ प्रश्नों में यह अनुमान ठीक भी था। बर्लिन में देरी (Delay) की नीति का पालन किया था ताकि इंग्लैंड और फ्रांस में व्याप्त मतभेद की खाई विस्तृत हो सके और उसके परिणाम स्वरूप जर्मनी विल की रकम में कुछ कमी हा सके। जो भी हो, फ्रांस का विराध भी न्याय का था। इसलिए कि एक भी सात एमा नहीं था जिसने कि जर्मनी ने अपने पूरे क्षतिपूर्ति का निरासा हो। १९२२ में उन्होंने परिकल्पित (Speculated) ५,६२,४००,००० म. में केवल ३५०,०००,००० डालर का ही भुगतान किया था। फ्रांस को यह विचार था कि जहाँ व अपने पुनर्स्थापना तथा अन्य गार्डों का निरासा १००० करोड़ व्यय कर रहे हैं वहीं जर्मनी केवल ३५१ डालर प्रतिनिष्ठ के निरासा में दे रहा है वह भी एक स्व कर। श्री ई. एच. कार ने लिखा है कि जर्मनी इस निरासा के

और सुरक्षा की मांग थी। वह थी—यदि रूर पर मित्रराष्ट्रा का अधिकार हो तो न केवल फ्रांस की सुरक्षा बल बढ़ सकती थी, अपितु जर्मन उद्योग का लाभ भी मित्रराष्ट्रा के राज कोषों (Exchequers) में बलात् जमा कर लिया जा सकता था। यह योजना जो कि 'उत्पादन प्रत्याभूतिया' (Productive Guarantee) की नाति के रूप में घोषित की गई थी, कुछ फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों को अत्यन्त आकर्षित हुई।

इस अवसर पर जर्मनी के दुर्भाग्यवश फ्रांस का प्रधान मंत्री पोलिन्कारे (Poincaré) था जिसे कि "उत्पादक प्रत्याभूतियों" में गहरी रुचि थी। उसने जर्मनी

रुहर पर  
आधिपत्य

विलम्बबाल केवल एक क्षण पर देना स्वीकार किया—यदि वह राइनलैंड की खनिज सम्पदा का फ्रेंच नियंत्रण में सौंप दिया जाये। परन्तु सौंप दे जाऊँ किन्ती भी प्रकार जर्मनी के अर्थ-जीवन को और अधिक नष्ट करने के पक्ष में नहीं था। १९२०

के अंतिम मास सदन, पेरिस और बर्लिन के बीच पत्र-व्यवहार में ही व्यतीत हो गया। अंत में पाइनकोर ने महादंड (Big stick) का प्रयोग करने का निश्चय कर लिया। दिसम्बर १९२२ में जर्मनी निश्चित वस्तु-चुपान की मांग को पूरा करने में असमर्थ रहा। फ्रांस ने इस तथ्य की क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रखा और आयोग ने इस सम्बन्ध में जर्मनी से जवाब तलब किया। जर्मन प्रजातन्त्र ने प्रत्युत्तर में कहा कि कमी का कारण ऐच्छिक नहीं है बल्कि मुद्रा के हास के कारण लकड़ी की प्रतिष्ठानों (Concessions) साध किये गये नये अनुबंधों (Contracts) के परिणामस्वरूप हो गया है। ब्रिटिश प्रतिनिधि के विरोध के उपरान्त क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को दोषी करार दे दिया। अक्टूबर १९२३ में फ्रेंच, बेल्जियम और इटालियन सैनिक दस्ता ने सुदूरपूर्व में स्थित डोर्टमुंड (Dortmund) तक रुहर जिले पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने इस आधिपत्य को अवैधानिक ठहराते हुए इसमें भाग लेने से अस्वीकार कर दिया। मित्रराष्ट्रों को इस प्रकार की कायवाही करने का अधिकार वर्मांड की संधि की उन धाराओं में जिनमें इस बात का उल्लेख किया गया था कि यदि जर्मनी जान बूझ कर युगतान से युद्ध मोड़ने का प्रयत्न करे तो मित्रराष्ट्रों को दंड देने का अधिकार होगा प्राप्त हुआ था।

श्री रोथोर्ट हार्ड ने रुहर आधिपत्य के कानूनी पहलू की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह विवादास्पद है कि रुहर पर फ्रांस और बेल्जियम के आधिपत्य का वसाय

के आधीन कानूनी रूप से उचित ठहराया जा सकता है या नहीं। इस रुहर आधिपत्य के तीन मुख्य सवाल उठते हैं (१) क्या इस मामले में चूक का जवाब

कानूनी पहलू पैदा हुआ वह ऐसा प्रश्न था जिसे क्षतिपूर्ति आयोग को वह तलब से कराने का अधिकार था?—(२) क्या फ्रांस और बेल्जियम को अन्तः कायवाही करने का अधिकार था अथवा उन सरकारों का मिलकर कोई कायवाही कर चाहिए थी जिनके प्रतिनिधि क्षतिपूर्ति आयोग में थे? (३) क्या इस मामले में तात्पर्य

ई अनुशास्ति आर्थिक और वित्तीय प्रतिपेधा और प्रतिशोधा ( Prohibitions and reprisals ) तब भीमित था, अथवा जो कायवाही की गई वह वर्माम सधि आधीन को जा सकती थी ? इस प्रश्न का, विद्यार्थी को दोनों पक्षों का अध्ययन करने उपरान्त ही उत्तर देना चाहिए । फिर भी जो भाग अपनाया गया, उसके परिणामों को सते हुए कानूनी पहलू का महत्व बहुत कम रह जाना है ।

रुहर (Ruhr) जर्मन उद्योगों का क्लेउर था । यह सम्पूर्ण जर्मनी के काम माने वाले कुल कायला सोहा और फौलाद का ८० प्रतिशत उत्पन्न करता था और जर्मन रेलों का व्यापारिक यातायात भी इसी पर निर्भर था । क्योंकि जर्मनी

रुहर का के तीन प्रमुख औद्योगिक केन्द्र—सार, ऊपरी साईलेसिया और भूहृत्वे रुहर, में से दो पर तो पहिले से ही मित्र राष्ट्र कब्जा जमाये बैठे थे । रुहर बचा था । सोह के कारखानों का जितना बड़ा केन्द्र रुहर

था, उतना ससार में दूसरा नहीं है । जगत विख्यात ऋष, स्ट्राइन्स और थाइसेन के कारखाने रुहर में ही हैं । ऐम प्रात को अपने अधिकार में करने के दो उद्देश्य थे । प्रथम तो कारखानों की आमदनी में क्षतिपूर्ति करना और दूसरे जर्मनी का हमेशा के लिए तबाह कर देना । इन उद्देश्य से पाइन्कारे ने १० जनवरी १९२१ को रुहर पर अधिकार करने की आज्ञा दी थी ।

रुहर का अधिकार महासमर के बाद यूरोप का सबसे बड़ी रोमाचकारी घटना है । दो जातियों में ऐसा विचित्र, भोपल तथा दयनीय संघर्ष सड़ाई के समय भी नहीं हुआ था ।

प्रोथित जर्मनी में लड़न की क्षति नहीं थी । अतः उनके सामने निष्क्रिय प्रतिरोध एक ही रास्ता था—सत्याग्रह । अर्थात् निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)

जिसमें सभी वर्गों ने सक्रिय भाग लिया । ज्यों ही फ्रेंच सना रुहर में प्रविष्ट हुई, जर्मन श्रमिकों ने काम करना छोड़ दिया । रेल के कर्मचारियों ने रेल चलानी छाड़ दी । टेलीफोन विभाग की लड़कियों ने भी काम करने से इन्कार कर दिया । बर्लिन सरकार ने रुहर निवासियों को उत्साहित किया और उनके द्वारा उठाये गये कदम का अनुसमर्थन किया । इनके साथ ही वह इनका आर्थिक सहायता भी करती रहा और क्षतिपूर्ति का भुगतान भी रोक दिया । फ्रेंच लोगों के लिए जर्मनी का खानों का मन्गानरी को समझना ही कठिन हो गया । नताजा यह हुआ कि रुहर आधिपत्य से पूर्व उसे जर्मनी से उपलब्ध होने वाले कोयले के कुल भाग का चतुर्थान भी प्राप्त नहीं हो सका ।

फ्रांसिसिया ने जर्मनी के निष्क्रिय प्रतिरोध का जवाब 'प्रत्युत्तर बहिष्कार' (Counter boycott) और अमानुषिक अत्याचार के द्वारा दिया । उन्होंने अधिकृत और अनधिकृत जर्मन क्षेत्रों में भेद किया तथा अनधिकृत जर्मन

फ्रेंच नीति क्षेत्र में निर्मित किसी भी वस्तु का निर्यात नहीं होने दिया । अधिकृत क्षेत्र के सहयोग विमुख अधिकारियों तथा प्रतिष्ठित

नगरिकों को या तो निर्वासित कर दिया गया या जेल में ठूस दिया

घोर तुम्हारा भी भाग्य था । यह था—मिन्नर पर मिन्नराट्टा का अधिपत्य हाँ था । तब तक फ्रांस का मुम्हारा था, मन्त्री था, अधिपति जर्मनी उदात्त का साम्राज्य मिन्नराट्टा के राज काया (Luxchequers) में बनाया जमा कर लिया जा सकता था यह मानता था कि 'उत्पादक प्रत्याभूति' (Productive Guarantee) की गति के रूप में घोषित की गई थी, कुछ प्रांतीय राजनीति का अन्तर्गत प्रयोग हुई ।

इस अन्तर्गत पर जर्मनी के दुष्प्रभाव का प्रभाव मन्त्री पोइनकारे (Poincaré) था जिन्होंने 'उत्पादक प्रत्याभूति' में गहराई ली थी । उसने जर्मनी

रुहर पर  
आधिपत्य

विनियमन कायम इस बात पर दत्त स्वीकार किया कि वह रादावेल्ड की सैनिक सम्पत्ति का फ्रेंच नियंत्रण में सौंप दिया जाये । पर तु सॉवर्ड जार्ज विंगो भी प्रचार जर्मनी के आर्थिक जीवन का घोर अधिपत्य करन के पक्ष में नहीं था । १९११

के अन्तिम भाग लक्ष्म, परिस और बलिन के बीच पत्र व्यवहार से ही ध्येयत हो रहा था । पोइनकारे ने महादंड (Big stick) का प्रयोग करने का निश्चय कर लिया । दिसम्बर १९२२ में जर्मनी निर्दिष्ट वस्तु चुपान की मात्रा को पूरा करने में असमर्थ रहा । फ्रांस ने इस तथ्य को क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रखा और आयोग ने इस सम्बन्ध में जर्मनी से जवाब तलब किया । जर्मन प्रजातन्त्र ने प्रत्युत्तर में कहा कि कमी का कारण ऐच्छिक नहीं है बल्कि मुद्रा के हास के कारण लक्ष्मी की प्रतिष्ठानों (Concerns) कायम किये गये नये अनुबंधों (Contracts) के परिणामस्वरूप हो गया है । ब्रिटिश प्रतिनिधि के विरोध के उपरान्त क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को दापी करार दे दिया । १ वरी १९२३ में फ्रेंच, बेल्जियम और इटालियन सैनिक दस्ता ने मुद्रपूर्व में स्थित डार्टमुन्ड (Dortmund) तब रुहर जिले पर अधिकार कर लिया । ब्रिटिश ने इस अधिपत्य को अवैधानिक ठहराते हुए इसमें भाग लेने से अस्वीकार कर दिया । मिन्नराट्टा को इस प्रकार की कायवाही करने का अधिकार वर्साज की संधि की उन धाराओं में जिनमें इस बात का उल्लेख किया गया था कि यदि जर्मनी जान बूझ कर भुगतान से मुनाफा का प्रयत्न करे तो मिन्नराट्टा १२० दंड देने का अधिकार होगा प्राप्त हुआ था ।

भी पैथोन हार्ड ने रुहर आधिपत्य के कानूनी पहलू की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह विवादालक्ष्य है कि रुहर पर फ्रांस और बेल्जियम के आधिपत्य का वसति करने के आधीन कानूनी रूप में उचित ठहराया जा सकता है या नहीं । इस

रुहर आधिपत्य के तीन मुख्य सवाल उठते हैं (१) क्या इस मामले में चूक का जो प्रमाण पदा हुआ वह ऐसा प्रश्न था जिसे क्षतिपूर्ति आयोग को बहाना से ठहराने का अधिकार था ?—(२) क्या फ्रांस और बेल्जियम को अन

कायवाही करने का अधिकार था अथवा उन सरकारों का मिलकर कोई कायवाही करने चाहिए थी जिनके प्रतिनिधि क्षतिपूर्ति आयोग में थे ? (३) क्या इस मामले में तात्पर्य

ई अनुपास्ति आर्थिक और वित्तीय प्रतिबंधों और प्रतिपादों (Prohibitions and reprisals) तक सीमित था, अथवा जो कायवाही की गई वह वसाय मधि-  
 आधीन की जा सकती थी? इस प्रश्न का, विद्यार्थी को दोनों पक्षों का अध्ययन करने  
 उपरान्त ही उत्तर देना चाहिए। फिर भी जो भाग अपनाया गया, उसके परिणामों को  
 मते हुए कानूनी पहलू का महत्व बहुत कम रह जाना है।

रुहर (Ruhr) जर्मन उद्योगों का कलेवर था। यह सम्पूर्ण जर्मनी के काम म-  
 णने वाले कुल कोयला सोहा और पौलाद का ८० प्रतिशत उत्पन्न करता था और जर्मन रेलों  
 का व्यापारिक यातायात भी इसी पर निर्भर था। क्योंकि जर्मनी

रुहर का के तीन प्रमुख औद्योगिक क्षेत्रों—सार, ऊपरी सार्डसलिया और  
 महत्व रुहर, में से दो पर तो पहिले से ही मित्र राष्ट्र कब्जा जमाये बठे

थे। रुहर बचा था। सोहे के कारखानों का जितना बड़ा वेद रुहर  
 था, उतना ससार में दूसरा नहीं है। जगत विख्यात ग्रुप, स्टाइनस और थाइमेन के  
 कारखाने रुहर में ही हैं। ऐसे प्रांत को अपने अधिकार में करने के दो उद्देश्य थे। प्रथम  
 तो कारखानों की क्षतिपूर्ति करना और दूसरे जर्मनी का हमला के लिए  
 त्वाह कर देना। इस उद्देश्य से पोइनकारे ने १० जनवरी १९२१ को रुहर पर अधिकार  
 करने की आज्ञा दी थी।

रुहर का अधिकार महासमर के बाद यूरोप की सबसे बड़ी रामाचकारी घटना है।  
 दो जातियों में ऐसा विचित्र, भोपण तथा दयनीय संघर्ष लड़ाई के समय भी नहीं हुआ था।

अधित जर्मनी में लड़ने की शक्ति नहीं थी। अतः उनके सामने  
 निष्क्रिय प्रतिरोध एक ही रास्ता था—सत्याग्रह। अर्थात् निष्क्रिय प्रतिरोध (Pa-

190 Resistance)—गति पूर्ण ढंग से प्रमत्त्याग आंदोलन  
 जिममें सभी वर्गों ने सक्रिय भाग लिया। ज्यों ही फ्रेंच सना रुहर में पविष्ट हुई, जर्मन  
 अधिकारी ने काम करना छोड़ दिया। रेल के कर्मचारियों ने रेल चलानी छोड़ दी। टेलीफोन  
 विभाग की लड़कियों ने भी काम करने से इन्कार कर दिया। बर्लिन सरकार ने रुहर  
 निवासियों को उत्साहित किया और उनके द्वारा उठाये गये कदम का अनुसमर्थन किया।  
 इसके साथ ही वह इनको आर्थिक सहायता भी करती रही और क्षतिपूर्ति का भुगतान  
 भी रोक दिया। फ्रेंच तागा के लिए जर्मनी की खानों की मजदूरी को समझना हा कठिन  
 हो गया। नतीजा यह हुआ कि रुहर आधिपत्य से पूर्व उसे जर्मनी से उपलब्ध होने वाले  
 कोयले के कुल भाग का चतुर्थांश भी प्राप्त नहीं हो सका।

फ्रांसीसियों ने जर्मनी के निष्क्रिय प्रतिरोध का जबाब 'प्रत्युत्तर रहितकार' (Counter-  
 boycott) और अमानुषिक अत्याचार के द्वारा दिया। उन्होंने अधिकृत और

अनधिकृत जर्मन क्षेत्रों में भेद किया तथा अनधिकृत जर्मन  
 क्षेत्र में निर्मित किसी भी वस्तु का निर्यात नहीं होने दिया।

अधिकृत क्षेत्रों के सहयोग विमुख अधिकारियों तथा  
 नारिका को या तो निर्वासित कर दिया गया या जेल में





इस समिति के सदस्यों की नियुक्ति का कार्य क्षतिपूर्ति आयोग को सौंपा गया। आयोग ने अमेरिका, इंग्लैण्ड फ्रांस, इटली तथा बेल्जियम के दो दो प्रतिनिधियों को नियुक्त किया। अमेरिका के वित्तशास्त्रीय जनरल चार्ल्स जी० डावस योजना डावस की अध्यक्षता में जनवरी १९२४ में समिति ने अपना काम शुरू किया और अग्रत में आयोग के समुख अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। अग्न अध्यक्ष के नाम के पीछे यह समिति "डावस समिति" के नाम से प्रसिद्ध है और इसके प्रतिवेदन को "डावस योजना" (Dawes Plan) कहा जाता है। डावस समिति का प्रमुख कार्य जर्मन बजट के समुलन तथा मार्क की स्थिति को सुधारने के लिए अर्थोपाय (Ways and Means) का सुझाव देना था। इसके अतिरिक्त उस क्षतिपूर्ति की उस राशि को भी तय करना था कि जर्मनी सरकार के वार्षिक बजट में से चुवाई जाने वाली था।

डावस योजना की रूप रेखा इस प्रकार थी—(१) रूहर को खाली किया जाय। (२) जर्मन तथा विदेशी सदस्यों के मिश्रित बोर्ड के निरीक्षण में एक प्रचलन केन्द्रिय बैंक (Central Bank of Issue) की, जिसे पत्र मुद्रा Paper Currency/ प्रचलन का एकाधिकार हो, की स्थापना। (-) प्रथम रूप में क्षतिपूर्ति की राशि २४०, ००० ००० डालर हो और धीरे धीरे चार वर्षों के बाद ६ ०,०००,००० डालर प्रति वर्ष के हिसाब से भुगतान किया जाय। (४) उदा उदा जर्मनी की समृद्धि बढ़ती घटती रहे वही अनुपात में वार्षिक किराने की राशि को बढ़ाया घटाया जाय। समृद्धि की जाच उसके आयात निर्यात के अन्वेष की जाय और इस सम्बन्ध में १९२७ २८ की आर्थिक स्थिति का आधार माना जाय। (५) जर्मनी की वार्षिकी २०००,०००,००० डालर का विदेशी ऋण दिया जाय (६) प्रदायगी की जमानत में, कर, रेलवे तथा औद्योगिक डिबेंचर Debentures) रखे जायें। (७) योजना के निरीक्षण के लिए एक महा अभिकर्ता (Agent General) नियुक्त किया जाय।

क्षतिपूर्ति आयोग ने डावस योजना को स्वीकार कर लिया। इंग्लैण्ड, इटली और बेल्जियम ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। परन्तु फ्रांस उस समय तक डटा रहा जब तक कि मई १९२४ के आम निर्वाचन ने पोइनकारे की शक्ति को कम नहीं कर दिया और उसके स्थान पर उदारवादी हरियट (Herriot) प्रधानमंत्री नहीं बन गया। १ सितम्बर १९२४ को योजना लागू की गई और रूहर का खाली किया गया।

योजना के सुझावानुसार एक अमेरिकन व्यवसायी सिमार् पारकर गिलवट को महामभिकर्ता नियुक्त किया गया। गिलवट के निरीक्षण में योजना ने मृच्छा रूप से कार्य शुरू किया और सीधे ही प्रगति के लक्षण दिखाई देने लगे। जर्मन उद्योग फिर से उन्नत होने लगा और आयात निर्यात के आंकड़ा में आगतात वृद्धि हुई। क्षतिपूर्ति का भुगतान भी नियमानुसार होने लगा। जर्मनी की इस प्रगति को देखते हुए यह अनुमान लगाया जाने लगा कि उसने लिए अविध्य में भारी वार्षिक किराने को चुकाना बठिन प्रतीत नहीं होगा।

फिर भी, डावस योजना में कुछ दोष थे। कुछ कमजोरियाँ थी। डावस समिति जर्मनी के कुल दायित्व को स्पष्ट नहीं कर सकी और उसे ऐसा करने का अधिष्ठा

भी नहीं दिया गया था। परन्तु फिर भी, यह समस्या तो बना

डावस योजना ही रही कि आखिर इस योजनानुसार जर्मनी कितने वर्षों तक के दोष भुगतान करता रहेगा। क्योंकि यह कल्पना करना निरवध था कि

यह एक दोष अवधि तक क्षतिपूर्वक भुगतान करता रहेगा। और

जर्मनी का भविष्य अब भी अंधकारमय था और यदि उसकी समृद्धि भी होती है तो उसे क्या लाभ प्राप्त हो सकता था। क्योंकि समृद्धि के साथ-साथ भुगतान की राशि में भी वृद्धि की व्यवस्था की गई थी। घट जर्मन लोगों को इस योजना के प्रति विषम रुचि नहीं थी। यदि थी तो केवल इस बात के लिए कि उन्हें विदेशी ऋण प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया जिसकी सहायता से वे अपने राष्ट्र धन को क्षति पहुँचाये बिना क्षतिपूर्ति का भुगतान कर सकते थे। श्री कार के शब्दों में—“डेविस योजना ने क्षतिपूर्ति चुकान के लिए जर्मनी को आवश्यक धनराशि ऋणस्वरूप देने का घातक पूर्वोदाहरण प्रस्तुत कर दिया। अगले पांच वर्षों में जर्मनी की हर प्रमुख नगरपालिका और लगभग हर प्रमुख व्यापारिक प्रतिष्ठान ने या तो बाकी ऋण लिए या अमेरिका में और कभी कभी ब्रिटेन में भी उधारी खाता खोला। उस समय बहुत ही धाड़े लोग यह अनुभव कर सकते थे कि जर्मनी अमेरिका से पसा लेकर आना कर्ज चुका रहा है और उसकी हैसियत (Solvency) इस बात पर निर्भर करती है कि ऋणों का बॉलस्ट्रीट में सदैव ही स्वागत होना रहे।”

१८२८ में क्षतिपूर्ति समस्या और राइनलैंड की व्यवस्था का और अधिक सतोषजनक ढंग पर हल करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। फनस्वरूप

एक अमेरिकन ओवन डी० यंग की अध्यक्षता में एक समिति

यंग समिति नियुक्त की गई जा ‘यंग समिति’ के नाम से प्रसिद्ध है। परवरी

की योजना १८२१ को पेरिस में समिति की प्रथम बैठक हुई और लगभग

सत्रह सप्ताह के कठिन परिश्रम के उपरांत समिति ने

संवर्धन सरकार तथा क्षतिपूर्ति आयोग को आना प्रतिबन्ध भेज दिया। डावस समिति

और यंग समिति में एक अंतर था। यंग समिति में जर्मन प्रतिनिधियों को भी निमन्त्रित

किया गया था और महासमर के बाद यह प्रथम अवसर था जबकि उन्हें यूरोपीय

समस्या के समाधानों में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ।

यंग योजना ने क्षतिपूर्ति का एक नया ढंग तयार किया। इसके अनुसार जर्मनी

को १८२१ वर्षों में ८,०३२,५००,००० डालर का भुगतान करना था। (वास्तविक

भुगतान, जो कि जर्मनी को मित्रराष्ट्रों को १९२६ से १९८८ तक करना था, वह ५३%)

व्याज सहित २६,३५०,०००,००० डालर था) महत्वपूर्ण बात यह थी कि वार्षिक किराये की राशि उतनी ही तय की गई जितनी कि राष्ट्रों को युद्ध-ऋणों को चुकाने के लिए चाहिए थी। प्रथम ३७ वर्षों तक, सभी उत्तम देशों को, दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की औसत वार्षिक किस्त ५१६ ०००,००० डालर निश्चित की गई। अवशिष्ट २१ वर्षों के लिए औसत वार्षिक किस्त ३६० ०००,००० डालर तय की गई। इसके अतिरिक्त वार्षिक किराये को बिना किसी दायित्व रखने की व्यवस्था भी की गई। इससे अन्तर्गत १६२,०००,००० डालर तक प्रति वर्ष की किस्त में से स्वयंभूत रखा जा सकता था। जर्मनी की आर्थिक स्थिति को अचानक घबके स बचाने की दृष्टि से यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी लगभग दस वर्षों तक कुछ सीमा तक, वस्तु चुकान के द्वारा अपना भुगतान जारी रखे। क्षतिपूर्ति आयोग को समाप्त किया जाये। क्षतिपूर्ति की वार्षिक किराये के भुगतान का पूरा दायित्व जर्मन सरकार पर रहे। एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बैंक (Bank of International Settlement) की स्थापना की जाय जिसका काम यह हो कि जर्मनी से जा रकम मार्ग में मिले उसको दूसरे दश के सिक्रे में बदल कर उन देशों में भेजना। इसकी कुल जमा पूंजी १००,०००,००० डालर हो और इस राशि का चतुर्थांश यथाशीघ्र एकत्र किया जाय। जर्मनी अपना भुगतान ठीक ढंग से कर रहा है या नहीं, इस बात का नियुक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का सौंप दिया गया।

कूटनीतिक क्षेत्र में यग योजना का अच्छा स्वागत हुआ परन्तु फिर भी सरकारी की मायता काफी वाद विवाद के बाद ही प्राप्त हो सकी। जर्मनी में रीग बैंक के अध्यक्ष डा० शाक्ट (Schacht) ने योजना के विराय में अपने पक्ष से स्वीकार द दिया और बाद में जर्मन की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद ही जर्मनी इसे स्वीकार कर सका। अधर मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के प्रति सहभावना प्रदर्शित करते हुए जनवरी १९३० में राइनलैंड खाली कर दिया था। बसे वर्साय की संधि के अनुसार इसे १९३५ में खाली किया जाना चाहिए था। यग योजना की लागू करते समय मित्रराष्ट्रों ने भावी सुख की कल्पना की थी परन्तु केवल दो वर्षों के अंदर यग वार्षिकियों (Annuities) का स्थगित करने पर विवश होना पड़ा।

सितम्बर १९३० से सम्पूर्ण ससार की आर्थिक स्थिति कुछ विविध करवट लेने लगी और कुछ ही महीना बाद सम्पूर्ण ससार आर्थिक संकट के जाल में उलझ गया।

इसका विस्तृत विवरण हम आगे करेंगे। यहाँ केवल इतना उल्लेख सीमा शुल्क ऐवय करना काफी होगा कि इस मंदी का जर्मनी की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। कुछ ही सप्ताहों में विदेशिया न

जर्मन रीग बैंक से लगभग २००,०००,००० डालर निकाल लिया और जर्मन मुद्रा की कीमत पुन गिरने लगी। अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने की दृष्टि से वॉलिन सरकार ने जर्मनी और आस्ट्रिया के मध्य व्यापारिक वाघाओं को दूर करने के लिए वियना प्रशासन से पद ध्येद्वार किया और सीमा शुल्क ऐवय (Customs

Union) का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव के विरुद्ध फ्रेंच विरोध इतना उग्र रहा कि बाध्य होकर जर्मनी को अपनी प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। समृद्धि और क्षतिपूर्ति का भुगतान की साम्यवादी यह मार्ग बन्द हो गया।

जर्मन सरकार जो कि अपने ही प्रतिक्रियावादियों और साम्यवादियों की आलोचनाओं तथा फ्रांस की कूटनीति के कारण क्षतिग्रस्त हो चुकी थी, ने सतवता एक योग्यता के साथ आर्थिक विनाश को टालने का अथवा प्रयत्न किया परन्तु फिर भी स्थिति में सुधार नहीं हो सका। समृद्धि जर्मन नागरिकों ने अपनी सरकार के विनाशियों को जाने की आज्ञा का विरोध में पूजा लगाना शुरू कर दी और चालाक अमेरिकियों ने जर्मनी में अपनी विनियोजित पूँजी को समेटना शुरू कर दिया। जून १९३१ के प्रथम तीन सप्ताहों में ही रीश बर को अपनी स्वयं सक्ति के ४१% भाग से हटा दिया गया।

इस स्थिति के मध्य अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने ससार की आर्थिक स्थिति में पुनरुद्धार के लिए एक वर्ष के विलम्ब काय की भाँ रखी इस माग को करेखा इन प्रकार थी—(१) सम्पूर्ण अन्तरसरकारी भुगतान और भर्त शक्तिपूर्ति भुगतानों को ३० जून १९३३ से एक वर्ष के लिए स्थगित रखा जाय। (२) शक्तिपूर्ण हूवर विलम्बकाल क्षतिपूर्ति भुगतानों को जर्मनी अदा करते रहे परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बैंक सम्पूर्ण निधि को जर्मन रेलवे बंध पत्रों में लगा दे और रेलवे यथा शीघ्र इस निधि को सरकार को लौटा दे। (३) स्थगित भुगतानों का १९३३ से दस बराबर किश्तों में भुगतान किया जाय। (४) क्षतिपूर्ति से प्रभावित छोटे २ राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बैंक (B I S) से ऋण दिया जाय। (५) जर्मनी इस धान का आदेशासन दे कि स्थगित भुगतानों का प्रयोग आर्थिक विकास कार्यों में किया जायेगा न कि सैनिक तयारी में।

हूवर मुहलत के लागू हो जाने में कुछ लागा का आगा की भनक निलसाई दी। परन्तु जर्मनी की आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ। जुलाई में जर्मनी को प्रसिद्ध बर् 'डामस्टेडर घण्ट नैगल बैंक' असफल हो गई। इस पर जर्मन सरकार को विचार लासेन सम्मेलन होकर अन्य बका का भी बंद करना पड़ा। इस नये सफ्ट पर विचार करने के लिए पेरिस और लंदन में सम्मेलन हुए परन्तु कोई लाभदायक परिणाम नहीं निकला। इसी समय जर्मन चान्सेलर ब्रूनिंग ने घोषणा की कि जर्मनी क्षतिपूर्ति का भुगतान करने में असमर्थ है—इस सम्बन्ध में इच्छा का प्रदत्त नहीं उठना। जर्मनी अदायगी करने योग्य सामर्थ्य शक्ति से होन है।

जून १९३२ में इस समस्या पर विचार करने के लिये ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, और जापान के प्रतिनिधि लासेन पर एकत्र हुए और तीन सप्ताहों के उपरान्त एक समझौते पर पहुँचने में सफल हुए। इसके अनुसार जर्मनी पर लागू की क्षतिपूर्ति का रद्द कर दिया और उसके दायित्व को केवल ७१४,६००,००० डालर तक

मेमित कर दिया गया । इस ऋण को चुकाने के लिए बलिन सरकार की सम्पूर्ण रकम लिए ५ प्रतिशत बच पत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बक को देना था, जो इन्हें तीन पय तक ट्रस्टी की हेमियत से अपने पास रखे और बाद में बलिन सरकार से इनके सम्बन्ध में समझौता करने या इन्हें खुले बाजार में रख दें । जर्मनी किसी भी समय नहीं बेचे गये बच पत्रों को विमोचित करवा सकता था और यदि बक १५ पय की अवधि में इन्हें नहीं बेच सकी तो बचे हुए बच पत्र रद्द कर दिये जाय ।

परन्तु लासेन समझौता अमेरिका की हठधर्मों के कारण कार्यान्वित न हो सका । परिणाम स्वरूप यग योजना सद्भातिक रूप में कायम रही यद्यपि व्यवहारिक रूप में इसका अस्तित्व समाप्त हो चुका था ।

लासेन सम्मेलन तक मित्र राष्ट्रों के अनुसार जर्मनी ने क्षतिपूर्ति के हिसाब में ५,५००,०००,००० डालर का भुगतान किया था । यद्यपि ये भुगतान जर्मनी विदेशी ऋण की सहायता से ही कर सका । केवल अमेरिका ने इस अवधि में उसे लगभग १,३१५,५६२,००० डालर का ऋण दिया था । १९३२ के अन्तिम दौर बाद जर्मनी ने क्षतिपूर्ति का किसी रूप में भुगतान नहीं किया और न ही उसने विदेशी ऋण के बदले में एक भी डालर चुकाया । नात्सा नेता हिटलर ने तो स्पष्ट शब्दों में क्षतिपूर्ति का भुगतान से अस्वीकार कर दिया । मित्रराष्ट्र पारम्परिक स्नेह और एकता खो बैठे थे और वे अपनी ही आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में लगे हुए थे । अब उन्हें विप का कटुप्रा घूँट पाना पड़ा और इस प्रकार इस समस्या का अन्त हुआ ।

### मित्रराष्ट्रों के आपसी युद्ध-ऋण ( Allied Inter War debts )

युद्धापरान्त दूसरी समस्या जिसको समझने में अधिक से अधिक शक्ति और समय बर्बाद करना पड़ा, वह थी मित्रराष्ट्रों के युद्ध कालीन ऋण पश्चिमी दश इस समस्या को क्षतिपूर्ति के साथ जोड़ने में अत्यधिक उत्सुक थे परन्तु अमेरिका जो कि उनका साहूकार था, इस प्रस्ताव को मानने को तैयार नहीं था । परिणाम स्वरूप इस समस्या पर एटलांटिक के दोनों तटों के बीच मतभेद पैदा हो गया ।

**भूमिका** परन्तु यदि ध्यान पूर्वक दस्ता जाये तो इन दोनों समस्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं था । क्षतिपूर्ति का अधिकार नागरिकों की सम्पत्ति की क्षति का मुआयजा था जबकि युद्ध कालीन ऋण मित्रराष्ट्रों द्वारा अमेरिकन सामग्रियों की खरीदने के लिए दी गई उधार रकम थी । परन्तु जब जर्मनी से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति को सीमित रखने का प्रश्न आया तो दोनों समस्याओं का सम्बन्ध धीरे-२ मजबूत होता चला गया ।

अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने के पूर्व, फ्रांस, इटली, रूस और छोटे-छोटे राज्यों ने ग्रेट ब्रिटेन से अरबा डॉलर का ऋण लिया था। कुछ देशों को फ्रांस ने ऋण दिया था। परन्तु अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने के कारणों का इतिहास मित्रराष्ट्रों का ऋण देने का भार अमेरिका पर आ पड़ा।

अमेरिका कांग्रेस ने केवल १८ दिनों के बाद (युद्ध में सम्मिलित होने के बाद) ३,०००,०००,००० डॉलर का ऋण मित्रराष्ट्रों को देना किया। इस राशि पर ३ स ५ प्रतिशत व्याज लगाया गया। युद्ध के प्रतिम समय और युद्धबन्दी के बाद भी अमेरिका ने ऋण दिया। कुल मिलाकर दोस देशों लगभग १०, ३२,००,००० डॉलर ऋण दिया गया। इसमें से ७,०७३,०००,०० डॉलर युद्धबन्दी के पूरा तथा बाकी युद्ध बन्दी के बाद दिये गये। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि अमेरिका ने यह ऋण स्वर्ण के रूप में या मुद्रा के रूप में नहीं दिया। इस राशि का बहुत कम भाग अमेरिकन तट से बाहर जा सका था। इस अधिकांश भाग 'यूनायटड स्टेट्स संधीय रिजर्व बैंक' (Federal Reserve Bank) में जमा था, जहाँ पर यह मित्रराष्ट्रों के लिए अमेरिकन बाजारों में सामान खरीदने लिए प्रत्यय का काम करता था।

शांति सम्मेलन के अवसर पर इंग्लैण्ड ने यह इच्छा व्यक्त की थी कि वह स्वयं से उन युद्ध कालीन ऋणों को जो उसने दूसरे देशों को दिये हैं, रद्द करने को तयार यदि अमेरिका भी इस सम्बन्ध में ऐसी ही नीति को अपनाने को तैयार हो। पर अमेरिका के राष्ट्रपति ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया। इस प्रश्न पर अमेरिकन सरकार की नीति स्पष्ट थी। कांग्रेस तथा विस्सन से लेकर रूजवेल्ट तक, मित्रराष्ट्रों ने युद्ध कालीन ऋण को बाध्य दायित्व माना जिस पूरा करना अधम (debator) देशों के लिये आवश्यक था।

१९२२ में अमेरिकन कांग्रेस ने ऋण की सहायगी के सम्बन्ध में विदेशी सरकारों से किसी प्रकार की व्यवस्था करने के लिए एक विश्वयुद्ध विदेशी ऋण आयोग की स्थापना की। क्योंकि अभी तक किसी ने व्याज भी नहीं चुकाया था। १९३० तक सभी देशों से समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार कुल ऋण को ६२ वर्षों में अदा करने की व्यवस्था की गई।

बहुत वर्षों तक यूरोपियन राज्यों को अमेरिका के प्रति अपने दायित्वों के निभाने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ा क्योंकि डावस योजना के अनुसार उह क्षतिपूर्ति के रूप में, उस रकम जो कि उह अमेरिका का अदा करती थी, अधिक रकम मिलती रही। परन्तु १९२६ में जब अमेरिकन लोगों ने जर्मनी को ऋण देना बन्द कर दिया तो क्षतिपूर्ति की सहायगी भी रुक गई और इसके साथ ही साथ मित्रराष्ट्रों ने भी अमेरिका की मुग्तान करना बन्द कर दिया। जर्मनी इस बात पर अड गया कि विदेशी ऋण की सहायता के बिना वह क्षतिपूर्ति को अदा कर

असमय है और मित्रराष्ट्रा ने भी स्पष्ट कह दिया कि बिना क्षतिपूर्ति की प्राप्ति के वे युद्ध ऋणों को चुकाने में असमर्थ हैं। इस समय तब अमेरिका भी क्षतिपूर्ति और युद्ध ऋणों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करने को तैयार हो गया था। यही कारण था कि हूवर के विलम्बवाले प्रस्ताव में क्षतिपूर्ति के साथ साथ युद्ध-ऋणों को भी स्पष्ट रखने का उल्लेख किया गया।

इस समय तक युद्ध ऋणों की अदायगी और उन्हें रद्द करने के सम्बन्ध में अमेरिकन जनमत भी विभाजित हो गया था। जो लोग ऋणों को वसूल करना चाहते थे उनके निम्न तर्क थे—(१) नतिक व्यापार के मूल सिद्धांत ऋणों को रद्द के अनुसार अनुबन्धा के औचित्य को बनाये रखना आवश्यक करने का पक्ष विपक्ष था। (२) योरोप को अपनी साख बनाये रखने के लिए भुगतान करना आवश्यक था। दूसरी तरफ वे लोग थे जो कि ऋणों को रद्द करने के पक्ष में थे और वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते थे—(१) क्योंकि अमेरिका ने अन्तिम समय में युद्ध में प्रवेश किया इसलिए कम व्यक्ति खोये और कम मुद्रा खर्च की। अतः वह युद्ध ऋण को इस कार्य में अपना योगदान मान ले। (२) युद्ध से ही अमेरिका समृद्ध हुआ। क्योंकि उसने नगद रकम तो दी नहीं थी। अतः वह अब नये बाजारों से ही सतोष कर सकता है। (३) विदेशी ऋणों की अदायगी केवल वस्तु-वृत्तान द्वारा ही समभव हो सकती थी। परन्तु इस तरीके से अमेरिकन निर्माणकर्त्ताओं को भारी क्षति उठानी पड़ेगी। (४) ऋण की अदायगी के सम्बन्ध में अडियल नीति अपनाने से यूरोप की शुभ कामना से वंचित होने का भय भी था जबकि ऋणों को रद्द करने से अन्तर्राष्ट्रीय शुभकामनाएँ अर्जित की जा सकती हैं।

परन्तु अमेरिकन सरकार ने ऋणों को रद्द करने से अस्वीकार कर दिया और चेतावनी दी कि यदि मित्रराष्ट्रा ने ऋणों की अदायगी नहीं की तो उन्हें भविष्य में किसी प्रकार का ऋण नहीं दिया जायेगा। फिर भी, ऋणों की अदायगी का अन्त अग्रणी नहीं हो सकी। १४ दिसम्बर १९३२ को फ्रांस ने ऋण अदायगी के स्थगन का फैसला कर लिया। १९३४ के बाद ब्रिटेन ने भी अपनी असमर्थता घोषित कर दी। १ जून १९३४ को फिनलैण्ड का छोड़कर जो कि अन्त समय तक ऋणों की अदायगी करता रहा, यूरोपियन देशों ने ऋणों का भुगतान बन्द कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षतिपूर्ति और युद्धकालीन ऋणों एक दूसरे से विपक्ष गये और दोनों की अन्त में समान दशा हुई। वय दृष्टिपूर्ति और युद्धकालीन ऋणों का कानूनी अस्तित्व अब भी बना है किन्तु व्यवहार में वे अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब के बट्टे-खाते में डाल दिये गये हैं। द्वितीय महायुद्ध ने इन ऋणों का इतिहास एक अतीत अध्याय बनाकर इन्हें समाप्त कर दिया।



## विश्व की आर्थिक व्यवस्था का भग होना

१९३१ में सम्पूर्ण ससार तेजी से तेज मन्दी (Slump Boom) के जलम गया और ससार की आर्थिक व्यवस्था भग हो गई। ऐसा क्यों हुआ ? इस पर अर्थशास्त्रियों में आज भी मतभेद नहीं है। इस पहलू के कारण का अध्ययन करने पहिला हमें तत्कालीन घटनाओं का उल्लेख करना चाहिए। तभी हम इसके कारणों समझ सकते हैं।

तेजी मन्दी (Slump boom) विपरीत अर्थ वाला शब्द है। तेजी (boom) का अर्थ उस समय से है जिसमें समाज, जहाँ तक आर्थिक स्थिति का सम्बन्ध है, और विश्वास से परिपूर्ण होता है। उत्पादक लोग बड़ पैमाने (कच्चा माल खरीदते हैं, बड़ पैमाने पर उत्पादन होता है, श्रमिकों का काम मिलता है। नये नये कारखाने खोले जाते हैं। इसके ठीक विपरीत मन्दी (Slump) या मूल्यपात अर्थ है। जब उत्पादित सामान का बेचना असम्भव हो जाता है। नये कारखाने बंद जाते हैं। श्रमिक बेकार हो जाते हैं और वस्तुओं की कीमतें बढ जाती हैं परन्तु मुद्रा कीमत गिर जाती है।

प्रथम महासमर ने यूरोप के अधिकांश देशों की आर्थिक कमर तोड़ दी थी। किसी न किसी प्रकार विशेष कर अमेरिकन ऋणों की सहायता से अपनी इज्जत बच बठे थे। परन्तु १९२९ के नारद में उन्हें अमेरिका से ऋण मिलना बन्द हो गया और इसके साथ ही साथ आर्थिक सकट का सूत्रपात हुआ जो धीरे धीरे सकार का सूत्रपात अपनी चरमावस्था में पहुँच गया और सारा ससार आर्थिक रोग का शिकार बन गया। उस समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि शायद अब ससार इस रोग से मुक्त नहीं हो सकेगा। सकट के सूत्रपात के साथ ही साथ अर्थशास्त्र का हास होता गया और मुद्रा की कीमत में विनाशकारी गिरावट आ गई। इससे वज्रदार देशों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। एक तो यह अमेरिका के ऋण चुकाने के (पराजित देशों को क्षतिपूर्ति का भुगतान करना था) और दूसरे मूल्यपात के कारण जिन वस्तुओं के विप्रेषण से वे अपने देश की चुकाने का विश्वास रखते थे, वह विश्वास भी टूट गया। अब भुगताना की अदा करने का केवल एक माग बचा था स्वर्ण हस्तांतरण (Transfer of Gold)। इस माग पर चलन का भी प्रयत्न किया गया और परिणाम स्वरूप ससार का स्वर्ण अमेरिका में संचित हो गया और ससार में स्वर्ण का कृत्रिम अभाव हो गया जिसके फलस्वरूप कीमतें और भी गिर गईं। बाध्य होकर वज्रदार देशों को स्वर्ण का निर्यात बन्द करना पड़ा तथा आयातनियन्त्रण पर बर्फ प्रहार के बंधन लगाने पड़े। परन्तु इसका और भी बुरा प्रभाव पड़ा और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ठप्प हो गया।

जमनी पर इस सफट का ध्वंसकारी प्रभाव पडा। अथ यूरोपियन राज्यों की स्थिति भी कुछ अधिक अच्छी नहीं थी। इस स्थिति को सुधारने के लिए विविध दशों में कई असफल सम्मेलन किये गये पय व्यवहार भी हुआ, राष्ट्रसंघ में भी विचार किया गया पर तु कुछ लाभकारा परिणाम नहीं निकाला। इसी समय हूवर चरम सीमा प्रस्ताव आया। परन्तु इससे भी कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा।

इसी समय एक रोमाचकारी घटना हुई जिसका बहुत व्यापक प्रभाव पडा। आस्ट्रिया की क्रेडिट एन्स्टाल्ट बैंक (Kredit Anstalt Bank) जिसकी विदेशों में बहुत सी शाखाएँ थी और जो आस्ट्रियन बैंकों के तीन चौथाई भाग को नियंत्रित करती तथा आस्ट्रियन ट्रेडिंगों का क्लेवर थी, फेल हो गई। जर्मनी पर इसका बुरा प्रभाव पडा। क्योंकि अधिकांश जर्मन बैंकों की राशि इसमें लगी हुई थी। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी का प्रसिद्ध बैंक "डामस्टेडर अण्ड नेशनल बैंक" भी असफल हो गया। इस स्थिति को सुधारने के लिए आस्ट्रिया जर्मन सीमा शुल्क ऐन्थ की योजना बनाई गई परन्तु वह कार्यान्वित न हो सकी। नतीजा यह निकला कि जर्मनी का निर्यात कम हो गया। १९२० में उसका निर्यात ६३०,०००,००० पौड था जबकि १९३२ में गिरकर २८०,०००,००० पौड रह गया। पंजीकृत (Registered) बैंकारी की संख्या २,०००,००० (१९२६ में) से बढ़कर ६०००,००० पर पहुँच गई।

इस आर्थिक सफट के कारण क बार में मनव्य नहीं है। कुछ अधिकारियों ने आर्थिक कठिनाइयों का कारण विश्व स्वर्ण की सप्लाई की अनुमानित अपर्याप्त बतलाया है। उनका विश्वास है कि वस्तुओं की कीमतों की गिरावट का आर्थिक सफट अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर विनाशकारी प्रभाव पडा। कुछ लोगों के कारण की माँवता है कि चांदी के मूल्य के गिर जाने से, चांदी के भुगतान से सामान सरीदन वाले देशों विशेष कर भारत और चीन की, क्रय शक्ति के नष्ट हो जाने से यह सफट उपस्थित हुआ गया। आस्ट्रियन तथा जर्मन बैंकों का दिवाल्ला भी एक कारण था। आस्ट्रेलिया और अर्जेंटीना जो कि कृषि प्रधान देश हैं, जो कृषि वस्तुओं के मूल्य की गिरावट की वजह से काफी क्षति उठानी पड़ी। और उन्हें स्वर्ण में भुगतान करना बंद करना पडा। काफी बाजार में गिरावट के कारण आजीव को भी यही भाग भपनाना पडा। इंग्लैंड को, जिसके इन तीनों देशों में अत्यधिक आर्थिक हित थे, काफी क्षति उठानी पड़ी। परन्तु कुछ भी हो, इस सफट का मूल कारण अमेरिकन ऋण का बंद होना था। अमेरिका ने अरबों डालर ऋण दे रखा था और इसमें अमेरिकन नागरिकों ने भी योगदान दिया था। परन्तु जब ऋणों की अदायगी ठीक ढंग की नहीं हो सकी तो उसे ऋण देना बंद करना पडा। इसके पछ एक कारण यह भी था कि अमेरिकन उत्पाकों ने बहुत बड़े पैमाने पर सामान का उत्पादन कर रखा था परन्तु वे इसको खपाने में असफल रहे और उनकी पूँजा इसमें रँस गई। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश ने अपने घरेलू उद्योग को सुरक्षित रखने की दृष्टि

से मायाग निर्माण नियमा का बहा कर दिया जिससे परिणाम स्वरूप घनराश्या घात ठग हो गया । इस संकट का एक अग्रगण्य कारण वैज्ञानिक एवं मानव उन्नति था । इनके परिणाम स्वरूप का श्रमिकों की सहायता में अधिक उत्पन्न होने और श्रमिक बेकार होते गये । युद्ध समाप्ति के बाद यही हुआ सीनिक १९१९ के । अब बेकारी की समस्या और भी भीषण हो गई । अमेरिका और जर्मनी में इनकी सरया गिरावट (Peak figures) तक पहुँच गई । इन सब कारणों से सामूहिक परिणाम स्वरूप आर्थिक संकट का जन्म हुआ था ।

इस संकट को दूर करने के लिए जून १९३२ में जाले में एक सम्मेलन हुआ गया परन्तु अमेरिका की हठधर्मिता के कारण यह असफल रहा । इसी सम्मेलन ने राष्ट्रों के एक विरल श्रव सम्मेलन बुलाने की सिफारिश की थी । १९३३

संकट को दूर करने में सदा में विचार देना के प्रतिनिधि एकत्र हुए । अमेरिका और फ्रान्स के उपाय मार्ग पर सम्मिलित हुआ कि सम्मेलन में युद्ध श्रमों की बचत की जाय । सोवियट रूस भी सम्मिलित हुआ । परन्तु 'स्वयं' युद्ध को समाप्त करने के सम्बन्ध में फ्रांस और अमेरिका में मत भेद हो गया और सम्मेलन भी असफल रहा । माध्य होकर जर्मनी जापान और इटली तथा कुछ अल्प देशों ने एक नवीन नीति अपनाई जिसे 'मण्डल के स्थान पर बन्दूक' भी कहा जाता है । शक्ति का सहारा लेने के प्रतिनिधि इस नवीन नीति के अन्तर्गत वैज्ञानिक साधनों की सहायता से कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण शुरू किया गया जिससे कि देश अपनी घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करने में आत्म निर्भर हो सके । दूसरा उपाय शक्ति का सहारा था ।

आर्थिक संकट के परिणाम बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नष्ट हो जाने से आर्थिक राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ । इसके

कारण प्रत्येक देश में आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना जाग्रत होने लगी और प्रत्येक देश अपने उद्योगों को उन्नत करने के परिणाम में लग गया और विदेशी आयात पर बंदों की मात्रा बढ़ा दी गई । (२) बेकारी को काम देना आवश्यक था और चूँकि प्रत्येक

देश अपने उद्योगों की उन्नति में लगा हुआ था, अतः व्यापारिक उत्पादन को अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता था । इसलिए अस्त्र-सशस्त्री का निर्माण शुरू किया गया ताकि लोगों को काम मिल सके । परन्तु अन्ततोगत्वा इसका परिणाम बहुत ही बुरा हुआ । (३) आर्थिक संकट के परिणाम स्वरूप ही इटली और जर्मनी में क्रम से फासिस्टवाद और नात्सीवाद की उन्नति करने का अवसर मिल सका । जर्मनी में ब्रूनिंग ने संकट पर काबू पाने के विचार से राइखस्टेग की सलाह बिना काम करना शुरू कर दिया और इस प्रकार अनजाने में ही उसने अधिनायक तंत्र का मार्ग तैयार कर दिया । (४) फ्रांस में प्रजातन्त्र की नींव खोखली हो गई और आधे दिन मन्त्रिमंडलीय संकटों की पुनरावृत्ति की

अभिनय शुरू हो गया। (५) दक्षिणी अमेरिका पर भी इसका प्रभाव पड़ा। पेरू और बोलीविया में अतियाँ हुई और सरकारों का परिवर्तन भी हुआ और नई सरकारें अपने पड़ोसियों से साथ भगड़े में उलझ गईं जिसके कारण राष्ट्र सघ का भी बन्नामी उठानी पड़ी। (६) इससे साम्यवाद को प्रगति करने का अवसर मिला। (७) अप्रत्यक्ष रूप में इसने राष्ट्र सघ के पतन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। (८) सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था—जापानियों द्वारा सैनिकवाद को अपनाना। जापान की बढ़ती हुई जनसंख्या को भोजन देने के लिए जापान को साम्राज्यवादी नीति अपनाने को विवश होना पड़ा। क्योंकि जापान की राजनीति पर पूँजीपतियों का नियंत्रण था और पूँजीपतियों को पूँजी बढ़ाने का, तत्कालीन परिस्थिति में केवल यहो रास्ता दिखाई पड़ा। 'प्रोफेसर टायनबी' के शब्दों में—'विश्व मन्दो के लम्बे माय में आर्थिक प्रतियोगिता की विफलता से परेशान होकर अन्त में जापानी लोगों ने जापानी सेना का नेतृत्व अनुसरण किया और वाणिज्यिक प्रसार की नीति छोड़कर सैनिक विजय की नीति अपना ली वे तलवार से जीविका कमाने का यत्न करने के आदिकालीन भई उपाय पर लौट आये, जिसका एक मात्र कारण यह था कि तलवार चाहे कितनी भी मही और अपरिष्कृत उपकरण हो पर वह कम से कम एक ऐसा उपकरण तो थी जिसे मानवीय तत्त्वों की शक्ति प्राप्त के लिए सम्भालने और चलाने में मानवीय हाथ समर्थ प्रतीत होता था।' (६) अन्तिम अप्रत्यक्ष परिणाम द्वितीय महायुद्ध का सूत्र पात था। सकट से उत्पन्न समस्याओं को हल करने में सत्कार के सभी देशों के राजनीतिज्ञ इस तरह से खो गये कि उन्हें अथ राजनीतिक कठिनाइयों की तरफ ध्यान देने का समय ही नहीं मिला या उनका ठीक तरह से अध्ययन न किया जा सका और वे आँख मूँद कर सुविधाएँ देते गये। परन्तु जब उन्हें सही स्वरूप का पता चला तब तक काफी समय बीत चुका था और अब सामूहिक प्रयास के द्वारा भी उसे ठीक करना असम्भव हो गया।



## पंचम अध्याय सामूहिक-सुरक्षा प्रयत्न काल

युद्ध और गति सम्भूत, बीसवीं शताब्दी की कमीयत नहीं है, बल्कि गति से चले आ रहे हैं। परन्तु इस बार कुछ बातें नई थी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व इन व्यापक पमाने पर कभी युद्ध नहीं लड़ा गया था। अतः युद्ध समाप्ति के बाद सामान्य हमेशा कुछ गति गति राज्य बच रहने थे, जिन्हें गति व्यवस्था का बनाये रखने में होती थी। परन्तु चार वर्ष ( १९१४-१८ ) के इस विनाशकारी

**भूमिका** युद्ध ने ऐसे राज्यों का अस्तित्व नष्ट कर दिया। आस्ट्रिया हाब्सबर्ग की केवल स्मृति मात्र बच गयी थी, रूस विश्वक्रांति का पक्षी

(Champion) बन चुका था, इटली अपनी उपलब्धियों में मस्त होकर उदारवाद का धारण छोड़कर फासिज्म की आकषक चादर ओढ़नेकी तैयारी कर रहा था, स्पेन महा शक्ति की प्रतिष्ठा से अचित हो चुका था। और नई दुनियाँ ( अमेरिका ) पुराने सत्ता से सम्बन्ध विच्छेद करने की चिन्ता में थी। पराजित जर्मनी बोलबाला हुआ था अपनी कालिमा को धोने के लिए तत्त्वार और तकदीर की ताकत था। केवल फ्रांस और ब्रिटिश जिनके हुए थे और उन दोनों पर यूरोप की शांति टिकी हुई थी। परन्तु दुर्भाग्यवश महायुद्ध के बाद, दोनों देशों में भावी नीति के मतभेद के कारण पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे थे। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी यूरोप गति को प्राप्त नहीं कर सका। विश्वशांति का बनाये रखने के लिए युद्ध को रोकने के उद्देश्य से निमित्त राष्ट्रसंघ के अस्तित्व के उपरान्त भी यूरोपीय राज्यों की अपनी सुरक्षा का भय बना रहा और इस भय से मुक्ति पाने के लिए सामूहिक सुरक्षा ( Collective Security ) की खोज का प्रयत्न भी होते रहे।

विश्वशांति के प्रत्याभूतक (Guarantor) राष्ट्रसंघ के पतन का प्रमुख कारण था—सुरक्षा, जिसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक देश आशा लगाये बठा था। परन्तु इसको प्राप्त करने के सम्बन्ध में विविध रक्षा में मूल मतभेद था। यह सही है कि इन

**सुरक्षा के प्रति सन्देश** समय कोई भी राष्ट्र युद्ध का इच्छुक नहीं था, परन्तु प्रत्येक राष्ट्र को अपनी सुरक्षा के प्रति सन्देश था। इसलिए एक राष्ट्र के द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए अपनाया गया तरीका, दूसरे राष्ट्र की दृष्टि में अपनी असुरक्षा का तरीका समझ लिया जाता।

उदाहरणार्थ—सुरक्षा के सम्बन्ध में फ्रांस और जर्मनी के तरीके एक दूसरे से भिन्न थे। फ्रांस द्वारा अपनी सुरक्षा के लिये उठाने जाने वाले हर कदम का जर्मन लोग अपनी सुरक्षा के लिए खतरा मानते थे। यही बात मध्य यूरोप के दूसरे देशों तथा इटली के

सुरक्षा सम्बन्धों के साथ थी। सत्सार को इस भय से मुक्ति दिलवाने के लिए राष्ट्र सघ का निर्माण किया गया था और सघ प्रतिश्रव (Covenant) का १० वा अनुच्छेद पूर्णरूप से सामूहिक सुरक्षा के निदान्त पर आधारित था। परन्तु इसमें एक कमी थी। इसने सदस्य राष्ट्रों की सुरक्षा सम्बन्धी संधियाँ और समझौते में सम्मिलित होने से नहीं रोकता। प्रतिश्रव के २१ वें अनुच्छेद में सदस्य राष्ट्रों के इस अधिकार की स्पष्ट व्याख्या की गई थी। इसलिए १९२० से १९३६ तक राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में धीरे-धीरे बाहर भी सामूहिक सुरक्षा या पारस्परिक सुरक्षा के प्रयत्न होते रहे।

श्री वार के शब्दों में "सन् १९१६ के बाद योरोपीय घटनाचक्र का सबसे महत्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य फ्रांस की सुरक्षा माग (Demand for Security) था।" इस कथन में काफी यजन है। यह ठीक है कि फ्रांस मध्य युग में एक शक्तिशाली राष्ट्र था और नेपोलियन प्रथम के समय में उसे अपनी शक्ति का अत्यधिक आत्म-भिमान भी था। परन्तु नेपोलियन तृतीय के शासनकाल के फ्रांस और सुरक्षा प्रतिम साल (१८७०) में उसका भ्रम समाप्त हो गया।

यही समस्या उन समय तक मध्य यूरोप में, कूटनीतिज्ञों के गुरु बिस्मार्क के नेतृत्व में, जर्मनी का उत्थान हो चुका था। जिसके तात्पर्यात्तों में अपने राष्ट्र के प्रति वर्तमाननिष्ठा की भावना कूट कूट करके भरी हुई थी और जिनका सैन्य संगठन भी सर्वोच्च था। इसके अतिरिक्त उनके पास प्राकृतिक खनिज सम्पदा का विशाल भण्डार भरा पड़ा था। इस नव निर्मित राष्ट्र ने फ्रांस की एक बार नहीं बल्कि दो दो बार पराजित किया। यह ठीक है कि दूसरी बार, अपने साथियों की सहायता से उसने जर्मनी से अपनी पराजय का प्रतिशोध ले लिया था परन्तु फिर भी फ्रेंच लोग विजया जमन सनिकों की पदचाप ध्वनि का भूल नहीं थे। फ्रांस के दुर्भाग्यवश, उसकी जनसंख्या चार करोड़ के आकड़े पर स्थिर हो चुकी थी जबकि उमरे प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी की जनसंख्या लगभग सात करोड़ थी और प्रतिवध बढ़ती ही जा रही थी। अतः फ्रांस को अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई दे रही थी। फ्रेंच भय का एक बारण था। वह यह कि राइन नदी के दोनों किनारे पर जर्मनी का अधिपार था और जर्मनी ने हमेशा इसी मार्ग से फ्रांस पर आक्रमण किया था। अतः पेरिस के शांति सम्मेलन के अवसर पर लॉध प्रतिनिधियों ने निष्ठापूर्वक यह बकालत की थी कि फ्रांस की सुरक्षा और यूरोप की शांति तभी स्थिर रह सकती है जबकि राइन का सम्पूर्ण पूर्वी तट जर्मनी से पृथक् कर दिया जाय। क्योंकि प्रारम्भ से ही फ्रांस को राष्ट्रसंघ की सामर्थ्य शक्ति में विश्वास नहीं था। परन्तु आदमवादी वित्सन को राष्ट्रसंघ की सफलता में झूट निष्ठा थी और ब्रिटेन राइन के ५० साल जर्मनी को जर्मनी से पृथक् करने की तयार नहीं था। अतः फ्रांसीसी बकालत सफल नहीं हो सकी। फ्रांस ने दूसरा माग

और जब राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की रचना की जा रही थी तब उसने राष्ट्रसंघ के शांति व्यवस्था बनाये रखने तथा प्रतिरोधक शक्तियों को सजाने के लिए शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सेना के रूप में 'दात प्रदान करने का सुझाव दिया। परन्तु उसके सुझाव की भी मायता प्राप्त न हो सकी।

फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिए मित्रराष्ट्रो ने निम्न व्यवस्था की सहारा दिया।  
 (१) राइन के बायें तट पर १५ वर्षों तक मित्रराष्ट्रो की सेना का अधिभार रहे।  
 (२) इस क्षेत्र का स्थायी रूप से अर्सेनीकरण ( Demilitarisation ) कर दिया जाय और (३) इंग्लण्ड, अमेरिका और फ्रांस का त्रिमुखी समझौता। इसके अनुसार अमेरिका और इंग्लण्ड ने सयुक्त रूप से फ्रांस को फ्रांस पर जर्मनी द्वारा किये गये गये हुए किसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता देन तथा उसकी प्रादेशिक अखण्डता की स्थिति रखने की प्रत्याभूति दी। परन्तु अमेरिका द्वारा इस संधि का अनुसमर्थन न करने के कारण इसका महत्व जाता रहा। क्योंकि इंग्लंड भी जिसने सयुक्त रूप से भागवत दिया था, इससे मुक्त हो गया। अतः फ्रांस उस प्रत्याभूति से वंचित हो गया जिससे वह पर उसने राइन के पूर्वी तट की मांग का त्याग और राष्ट्रसंघ की स्वीकृति किया था।

ऐसी स्थिति में फ्रांस ने अपने आगामी सदिग्ध स्थिति में होने का अनुभव किया और अपनी इस भयावह व नाजुक स्थिति के परिणाम को सोचकर वह महाद्वीप के छोटे छोटे राज्यों की तरफ झुका और उनके साथ सुरक्षात्मक समझौते किये। १९२० में उसने बेल्जियम के साथ एक समझौते सैनिक समझौता किया। इसी प्रकार का समझौता १९२१ में फ्रांस और १९२४ में चेकोस्लावाकिया के साथ किया गया। इन राज्यों के हित भी फ्रांस से मिलने लगे थे। इसी बीच यूरोप के तीन छोटे राज्यों चेकोस्लावाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया जिन्हें आस्ट्रिया-हंगरी के अंग था, स काफी लाभ हुआ था, ने हंगरी के विरुद्ध एक समझौता कर लिया था जो कि 'लिटिल एण्टान्टे' (The Little Entente) के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रांस ने चेकोस्लावाकिया के साथ समझौता करके 'लिटिल एण्टान्टे' से भी नाता जोड़ लिया और इससे अपने रूमानिया और यूगोस्लावाकिया से भी संधि करली। इस प्रकार फ्रांस ने अपनी स्थिति दृढ़ करली और अपने परम्परागत शत्रु जर्मनी का चारों तरफ से घेर लिया। उपरोक्त समझौते फ्रांस के एकाकी प्रयत्न के परिणाम थे। ये समझौते गुप्त और दोप दोना से युक्त थे। गुप्त तो यह था कि फ्रांस की सुरक्षा सीमा में वृद्धि हो चुकी थी और दोप यह था कि इस गुप्त में अकेला फ्रांस ही एक महान शक्ति था और उस अपने कमजोर साधियों को अधिक सहायता देनी पड़ती थी तथा बाल्कन क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली सभी विवादों में हस्तक्षेप करना पड़ना था।

इस स्थान पर एंग्लो फ्रेंच सम्बन्धों का उल्लेख तर्क संगत ही होगा। १९२१-२२ में फ्रांस ने इंग्लैण्ड के साथ सैनिक समझौता करने का प्रयत्न भी किया था और इंग्लैण्ड फ्रांस को इस बात पर 'कि यदि फ्रेंच भूमि पर जर्मनी द्वारा अकारण ही आक्रमण किया गया तो इंग्लैण्ड उसकी सहायता करने को तयार रहेगा, का आश्वासन देने को राजी भी हो गया था। परन्तु उसी समय फ्रेंच मन्त्रिमंडल का नव निर्माण हुआ और पोइनकारे प्रधानमंत्री बना। उसने इंग्लैण्ड के साथ होने वाले सैनिक समझौते के सम्बन्ध में सम्पूर्ण या शून्य की नीति पर जार दिया। वह यह बात स्पष्ट करना चाहता था कि फ्रांस पर आक्रमण होने की स्थिति में इंग्लैण्ड किस प्रकार की और कितने पैमाने पर सैनिक सहायता देगा। इंग्लैण्ड इस सीमा तक स्पष्टीकरण करने के पक्ष में नहीं था। अतः संधि की बार्ना समाप्त हो गई। पोइनकारे की इस नीति के पीछे फ्रांस का सुरक्षा संधियों के क्षेत्र में मिलने वाला सफलता थी।

बाल्कन राज्यों के साथ फ्रांस का मंत्री भाव, इटली द्वारा सविध दृष्टि से देखा जाने लगा और उसने इसके विरुद्ध अपनी सुरक्षा के लिए समझौते के तय जाल का साज बाना बुनना शुरू कर लिया। यह कार्य मुसोलिनी के सत्ता प्राप्ति के बाद ही शुरू हो सका था। उसने हंगरी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया के साथ मंत्री सम्बन्धों का विकास किया। उधर रूस भी चुपचाप नहीं बैठा था। उसने जर्मनी के साथ रागाली की संधि की, तुर्की के साथ भी अपने सम्बन्ध स्थापित किये और अपने पड़ोसी देशों के साथ भी मंत्रीभाव का दृढ़ किया। इस प्रकार पेरिस सम्मेलन के कुछ ही वर्षों के बाद सत्तारूपन तीन प्रमुख घुटा में विभाजित हो चुका था।

राष्ट्रसंघ विश्वशांति का प्रत्याभूतक और शांति व्यवस्था का प्रदूरी था। परन्तु वह अपने इस महान् दायित्व को सफलतापूर्वक निभा सकेगा या नहीं, इसका विविध राष्ट्रों को शक ही थी। वैस प्रतिपक्ष के १० में अनु-प्रतिभवं और अखंड के कारण सदस्य राष्ट्र तत्कालीन राष्ट्रसंघ के प्रा-सुरक्षा का प्रश्न शिक धखण्डता (Territorial integrity) का बनाये रखने के लिए वचनबद्ध थे और १० में अनु-प्रतिभवं के विरुद्ध विमुख राष्ट्र के विरुद्ध अनुशास्तिर्वा और दंड की व्यवस्था की गई थी। कार्यवाही के लिए परिषद की निविरोध सिफारिश की जाती थी। क्योंकि निविरोध सिफारिश की प्राप्ति के बिना कार्यवाही की जा सकती नहीं थी। कि फ्रांस संघ के सविधान को बचाने के लिए (१) तत्काल कार्यवाही की स्पष्ट व्यवस्था नहीं की, (२) कार्यवाही के वाली कार्यवाही का भी स्पष्ट निरूपण नहीं किया।



संध के इस अभाव को दूर करने तथा अनुच्छेद १६ की शक्ति का बढान का विविध देशों के द्वारा विविध प्रयत्न किये गये । १९२३ में लाइ राबर्ट सेंटिल और कनल रेविनन ने अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) — जिसे निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव संधि का प्रारूप विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था — के सामने

सम्बन्ध में पृथक् पृथक् रूप से दो मसविदा प्रस्तुत किये । इन दोनों का समन्वय किया गया और परस्पर सहायता संधि का प्रारूप (The Draft Treaty of Mutual Assistance) तैयार किया गया । इस समय तक एलाईड सम्बन्धों में भी सुधार हो चुका था । ब्रिटेन में (जनवरी १९२४ में) रेम्जे प्रधान मंत्री बन चुके थे । वे अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में पूर्णरूप से सुधार करने के पक्षपात थे और इस बात से भी परिचित थे कि यह समस्या फ्रान्स की सुरक्षा संधि का सबधित है । उधर फ्रांस में भी पाइनकारे के स्थान पर हेरियो (Herriot) प्रधान मंत्री बन चुके थे । अतः आग की किरणें दिखलाई दे रही थी ।

श्री गेयोन् हार्टी के शब्दों में — “संधि का यह मसविदा एक आम गारंटी स्थानीय सन्धियों की प्रणाली के अपने अपने लाभों को समन्वित करने और उनकी को दूर करने का एक अत्यधिक बुद्धिमत्ता पूर्ण यत्न था । इसमें युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध बताया गया था, और प्रत्येक हस्ताक्षरकर्ता पर सम्मिलित रूप से और पृथक् पृथक् रूप से यह दायित्व था कि वह आक्रमणात्मक युद्ध में दूसरे की सहायता करे पर सैनिक, सैनिक या वायु सैनिक वायवाही करने का दायित्व सिर्फ उन राज्यों पर डाला गया था जो उस महाद्वीप में स्थित हों, जिसमें वह आक्रमण हुआ है ।”<sup>१</sup> प्रारूप संधि में यह व्यवस्था की गई थी कि किसी भी युद्ध के सूत्रपात के चार दिनों के भीतर ही भीतर राष्ट्रसंघ की कौंसिल उस पर विचार करेगी और यह तय करेगी कि युद्ध का दायित्व किस पक्ष पर है । उसके नियम के साथ ही साथ सदस्य राष्ट्रों का यह कर्तव्य हो जायगा कि वे आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक सहायता दें । प्रारूप संधि की चर्चा करने हुये श्री कार ने लिखा है कि “इसलिए इस व्यवस्था का उद्देश्य न केवल अनुबंधपत्र (Covenant) के अनुच्छेद १६ की मिट्टी खराब होना से बचना था, अपितु सैनिक अनुशासितों का आप ही आप साग्रहण होने योग्य और अनिवार्य बनाना उस अनुच्छेद को हटाना था ।”<sup>२</sup> “परन्तु ग्रेट ब्रिटेन, हान्ड तथा स्क्वेडेनियन आदि राज्यों के द्वारा संधि का अनुममन न होने के कारण योजना विफल हो गई । ग्रेट ब्रिटेन द्वारा संधि अस्वीकार करने का प्रमुख कारण यह था कि उसका साम्राज्य हर महाद्वीप में फैला हुआ था और युद्ध का विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार उसे ही उठाना पड़ता और उसके अधिपत्य (Dominion states) इसके लिए तैयार नहीं थे ।

(१) श्री गेयोन् हार्टी — अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक का सन्निहित इतिहास ।

(२) श्री एच. एच. कार — दो विश्वयुद्धों का बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ।

जो भी हो, प्रारूप संधि ने अपनी असफलता के उपरांत भी यारोनीय दशों को वही सही मार्ग बतला दिया था और अपने उत्तराधिकारी जेनेवा प्रोटोकल (Geneva Protocol) या समझौता की रचना की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। १९०४ में राष्ट्र

संघ की समा ने तथाकथित जेनेवा उपसंधि का मसविदा तैयार जेनेवा प्रोटोकल किया और सर्वसम्मति से सन्त्य राष्ट्रों से, इसे स्वीकार कर लेने समझौता या उपसंधि) की अपील की गई। इस उपसंधि के द्वारा प्रतिश्रव Covenant) के अनुच्छेदों की सीमा का अतिशयन (Exceeded) करने की व्यवस्था की गई थी। इसके अनुसार प्रतिश्रव की सीमा के बाहर प्रत्येक अत राष्ट्रीय विवाद का पचनिएय (Arbitration) या शांतिसमझौता (Conciliation) के द्वारा अनिवार्य रूप से व्यवस्था करने वाले 'यंत्र' (Instrument) की व्यवस्था की गई। इसमें कहा गया था कि एक राज्य जो कि पचनिएय को स्वीकार करने से इनकार करता है या विवाद के शांतिपूर्ण हल के विरुद्ध कार्यवाही करता है तो वह 'स्वयं से ही' (Ipso facto) आक्रांता है और इस प्रकार के आक्रांता के विरुद्ध समझौता पर हस्ताक्षर करने वाला प्रत्येक देश अपनी भौगोलिक तथा नैतिक शक्ति की साम्ययानुसार, सहायता में योग दे।

॥ जिन साधनों से संधि के उद्देश्य को प्राप्त करने का योजना थी, उनका शक्तिरूप इस प्रकार था—(१) प्रोटोकल का अनुसरण करने वाले राष्ट्रों—चाहे वे संधि के सदस्य हो या न हो, के विरुद्ध युद्ध का सहारा नहीं लेना। (२) कुछ विनिष्ट मामलों में अन्तराष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना। (३) राजनीतिक विवादों का राष्ट्र संघ या पंच समितियों के सन्मुख रखना। (४) पंच संधि के स प्रथम किमी विवाद के विचाराधीन अवधि में सैनिक प्रयाण आदि न देना। (५) समझौते के विरुद्ध युद्ध का सहारा लेने वाले राष्ट्र को आक्रामक स्वीकार करना। (६) आक्रामक देशों, अपनी साम्यय शक्ति के अनुसार युद्ध का प्रयत्न करने की राय दी गई, परंतु युद्ध का क्षतिपूर्ति में प्रदेगा का आधिपत्य सम्मिलित नहीं होना चाहिए। (७) उपसंधि (Protocol) को लागू करने के पूर्व प्राथमिक अवस्था में, एक तरा प्तीय निशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लिया जाय। अन्त में यह तय किया गया कि भगंडे में लिख राष्ट्र का आक्रामक माना जाय यदि राष्ट्र संघ की कौंसिल सब सम्मति से इस सम्बन्ध में कोई दूसरा निर्णय न दे।

२ अक्टूबर १९२४ को संधि ने उपसंधि के मसविदे को सरकारी के पास भेजा। इसी समय बहुत दूर एक बेरियन कारावास में, सामूहिक सुरक्षा का प्रयत्न करने वाला जर्मनी का भावी तानाशाह एडोल्फ हिटलर अपने "मेरा संघर्ष" (Mein Kampf) का अन्तिम रूप दे रहा था।

यूटनीति' शोभो मे उपसधि का अच्छा स्वागत किया गया और पांडे ।  
 में लगभग १७ राष्ट्रों ने इसको मायता प्रदान करने की घोषणा भी कर दी ।  
 फिर भी अगले वर्ष मही यह योजना मतप्राय हो गई ।  
 उपसधि के पतन समय तक ग्रेट ब्रिटेन में मजदूर-दलीय सरकार का पतन हो  
 के कारण था और सत्तारूढ़ अनुदार दल ने सधि का अनुमर्दन  
 दिया । ग्रेट ब्रिटेन का इस नीति ने उपसधि का

वारमय बना दिया । इसलिए बहुत से आलावका का कथन है कि उत्तम  
 असफलता का प्रमुख कारण मजदूर नेता रेम्जे मेकडानल्ड जि हाने उपसधि का  
 में महत्वपूर्ण भाग लिया था की सरकार का पतन था । परन्तु ब्रिटेन  
 विराध का यही एक मात्र कारण नहीं था । ब्रिटेन की विदेश नीति की निम्न  
 एक प्रथा रही है और अनुदार दल इस प्रथा को किसी भी दल की अपना  
 हृदय से निभाने वाला था । वास्तविक बात यह थी कि ब्रिटेन को यह आशंका थी  
 उपसधि की स्वीकार करने से किसी भी समय अमेरिका से युद्ध छिड़ सकता था ।  
 अमेरिका राय का सदस्य नहीं था और किसी सदस्य राष्ट्र से उसका भगडा हो  
 पर उसे पच निर्णय के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था । फिर इंग्लैण्ड के  
 लोगों में भी इस सधि के प्रति असंतोष था । उनका निश्वास था कि इस सधि  
 स्वीकार करने का अर्थ था—ब्रिटिश नौ सेना को जेनेवा के नियंत्रण में रख दे  
 क्योंकि सत्तार में जहा वही भगडा उठ खड़ा होता ब्रिटेन को वही सैनिक  
 पहुँचाने के लिए बंध जाना पड़ता । और ब्रिटिश जनता इतने बड़े दायित्व के बोझ  
 उठाने के विरुद्ध थी । यहाँ पर हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रारम्भ  
 ब्रिटिश सरकार ने सधि के अनुसमर्थन के लिए समय माँगा था क्योंकि उसे  
 दो महत्वपूर्ण समस्याएँ—(१) रूस में जीनो वीच (Zinoviev letter) से उत्पन्न  
 समस्या और (२) नवम्बर १९२४ में मिश्र में सर लीस्टेक (Sir Lee Stob  
 की हत्या से उत्पन्न समस्या प्रा खड़ी हुई थी । इसी बीच ब्रिटिश अधिराज्य (Dom  
 mionis) ने भी उपसधि के प्रति अपना राय प्रकट किया । क्योंकि वे यूए  
 समस्याओं में उलझने की रस्म नही थे । मूलकारण तो यही था । इससे साथ ही  
 ब्रिटिश अधिराज्य सधि में उपसधि के धरेल्ले क्षेत्राधिकार में राष्ट्रपति के हस्तक्षेप  
 स्वीकार करने को भी तैयार नहीं थे । कार के शब्दों में 'ब्रिटिश अधिराज्य यह  
 मानने के लिए सर्वाधिक अनिच्छुक थे कि आप्रवासन (Immigration) के  
 से सम्बन्धित उनके कानूनों पर किसी भी स्थिति में राष्ट्र सध में चर्चा हो या उन्हें उल  
 दा जाए ।"

उपसधि की असफलता के लिए कुछ अन्य तथ्य भी जिम्मेवार थे ।  
 अनिवाय पच निराय की व्यवस्था ठीक नहीं थी । क्योंकि इससे सध को राज्यों  
 सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता था, जिसे सहन नहीं कि

सक्ता था। दूसरे, आन्तान्ता देग पर युद्ध का खर्चा लादना भी समझदारी का काम था। अभी तक जयन क्षतिपूर्ति की समस्या से ही मुक्ति नहीं मिल पाई थी। अतः आन्तान्ता के विरुद्ध लाभ को जान वालों अनुशास्तिया का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया था।

फिर भी उपसधि की योजना का अपना महत्व है। इसने प्रतिश्व की कमियों को करने का प्रयत्न किया तथा इसमें सुरक्षा और निःस्त्रीकरण के सन्तुलन को बनाए रखने की व्यवस्था भी की गई। फ्रांस के लिए भी, कुछ उपसधि की सीमा तक, लाभ-दायक थी क्योंकि इसमें क्षति समझौते और उपयोगिता उसकी प्रादेशिक व्यवस्था की अखण्डता को बनाए रखने की व्यवस्था थी। ब्रिटेन द्वारा संधि का अनुसमर्थन रोकने पर ब्रिटिश नीति की आलोचना करते हुए 'लाइसेंस' ने लिखा है कि वस्तुतः जैसा न देखा जायेगा, ब्रिटिश सरकार ने प्राटोकल को अस्वीकार कर दिया था और एक बार पुनः क्षति के भाग में बाधक के रूप में सामने आया, जबकि फ्रांस ने इस क्षति भाग को स्वीकार करना तय कर लिया था।

माघ १९१५ में ब्रिटिश सरकार ने अन्तिम रूप से जनरल आसंधि को अस्वीकार कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप उसको लागू करना भी असम्भव हो गया। उपसधि अवसान के साथ ही साथ फ्रांस के सामने सुरक्षा का प्रश्न पुनः आ खड़ा हुआ। अतः एक बार पुनः प्रादेशिक व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक

तोकानों-समझौता हो गया। फ्रांस की मुख्य चिन्ता राइन सीमाना से ही सम्बन्धित

—पृष्ठभूमि थी। इस सम्बन्ध में जर्मनी भी कम चिन्तित नहीं था। उसने

१९२२ में फ्रांस के सामने एक हल प्रस्तुत किया था। इसके अनुसार राइन सीमाना से सम्बन्धित शक्तियों को एक पीढ़ी तक युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करने का मार्ग सुझाया गया था। परन्तु तत्कालीन फ्रेंच प्रधानमंत्री पोलिनकारे ने जर्मनी के प्रस्ताव को एक 'भीड़ी चाल' कहकर अस्वीकार कर दिया था। १९२३ में जर्मनी ने पुनः प्रस्ताव रखा था परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ।

१९२५ के प्रारम्भ से ही जर्मनी से समझौते के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा हो रहा था। डेविस कमिटी ने एक ऐस युग का उद्घाटन किया जिसमें यूरोपीय राजनीतिज्ञों ने "शांति युग" का नाम दिया है। क्षतिपूर्ति का झगड़ा समाप्त हो चुका था। रूर भी खाली कर दिया गया था। फ्रांस की विदेशनीति के सामने भी कुछ नया समस्याएं आ गई थी। मोरको में अम्बुल बरीम ने नेतृत्व में रिफ् जाति ने स्वतंत्रता का झंडा उठाया था। सोरिया में द्रूस जाति ने स्वाधीन होने की चेष्टा की। इन लड़ाइयों के कारण फ्रांस को आर्थिक स्थिति खराब हो गई थी और फ्रांस के

यह नितात आवश्यक हो गया कि वह जर्मनी की तरफ से निर्दिष्ट हो जाय। वह अपनी शक्ति एकाग्र होकर इन उपद्रवों को दवाने में लगा सके। इसके पाइनकारे के स्थान पर उदारवादी हरियो (Herriot) फ्रांस के प्रधानमंत्री चुके थे फ्रांस के विद्वानों ब्रियान (Briand) और जर्मनी के विदेशमंत्री २० दानो हो, दाना देशों के बीच एक समझौता करने को उत्सुक थे। ब्रिटेन के चेम्बरलेन भी इस प्रकार के समझौते के पक्ष में थे। अब इस उपयुक्त वातावरण के देखते हुए जर्मनी ने ५ फरवरी १९२४ को पुन फ्रांस के सामने अपना प्रस्ताव रखा। फिर भी फ्रेंच लोकमत इस प्रकार के समझौते के लिए शीघ्र ही तैयार न हो सका काफी वाद विवाद के बाद ही उसे राजी किया जा सका।

५ अक्टूबर १९२४ को, स्विटजरलैंड के लोकार्नो स्थान के सम्मेलन में समझौता सम्मेलन, बड़ समारोह से प्रारम्भ हुआ। इसमें चेम्बरलेन, लुसोलनी, स्ट्रेसमान, बीनम, एंजलिन्सकी तथा ने भाग लिया। दस बारह दिन के अथक परिश्रम के 'मज्ज-संधि समूह' का प्रारूप तैयार किया गया और अक्टूबर को उस पर हस्ताक्षर किये गये। इसे

या विधिबद्ध हस्ताक्षर १ दिसम्बर १९२४ को लन्दन में ही किये जा सके। ये इतिहास में लोकार्नो समझौता (Locarno Pact) के नाम से प्रसिद्ध है।

इन सात संधियों का विभाजन इस प्रकार था—(१) सीमांत प्रत्याभूति संधि (२) दो विशिष्ट प्रत्याभूतक संधियाँ और (३) चार पब्लिक की (Convention) संधियाँ। अब हम इन संधियों में विहित व्यवस्था का अर्थ करें। (१) इसे वास्तव में लोकार्नो की संधि कहा जाता है। यह फ्रेंको जर्मन और जर्मन नीमातो की प्रत्याभूतक संधि थी। आपसी प्रत्याभूति की यह संधि ब्रिटेन, बेलजियम, फ्रांस, जर्मनी और इटली के बीच हुई थी।

लोकार्नो संधियों इस संधि के द्वारा सभी पक्षों ने, सामूहिक तथा पृथक् रूप में, जर्मनी और बेलजियम तथा जर्मनी और फ्रांस सीमांत की यदास्थिति (Status quo) को बनार रखने की प्रत्याभूति दी। और बेलजियम तथा जर्मनी और फ्रांस ने एक दूसरे की सीमा का अनिश्चय न तथा युद्ध का आग्रहण न करने का वचन दिया। (२) दूसरी से पांचवी तक संधियाँ पब्लिक या समझौता की संधियाँ हैं। ये संधियाँ जर्मनी और फ्रांस, जर्मनी और बेलजियम, जर्मनी और चेकास्लोवाकिया, और जर्मनी और पोर्लैंड हैं। इन संधियों के द्वारा जर्मनी ने संधियों के सम्बन्धित पक्षों के साथ उत्तम संबंधों के साथ किसी भी विवाद का पंचमिति या समझौता समिति का साक्षात् स्वीकार किया। जर्मनी ने अपने पश्चिमी सीमांत अर्थात् फ्रेंको जर्मन और बेल्लो जर्मन सीमांत स्थायी स्वीकार कर लिया। परन्तु उमने अपने पूर्वी सीमांत को निर्णायक सामान्य

में स्वीकार नहीं किया। हालांकि उसने यह अवश्य स्वीकार किया कि वह पूर्वी मात के किसी विवाद को हल करने के लिए सशस्त्र कार्यवाही का सहारा नहीं। यही एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जर्मनी के पश्चिम सीमात की श्रृंखला के लिए ब्रिटेन और इटली ने प्रत्याभूति प्रदान की थी जबकि पूर्वी सीमात सम्बन्ध में उन्होंने चुप्पी साध रखी थी। (३) अतिम दो संधियों विनिष्ट प्रत्याभूतक संधियाँ कहा जा सकता है। ये फ्रांस और ग्रेनाडाकिया तथा फ्रांस और पोलैंड के बीच हुई थी। इन दोनों संधियों के अनुसार सम्बंधित पक्षों ने एक दूसरे को "भारस्परिक प्रत्याभूति संधि" और चार पक्षनिर्णय संधियों की सुविधाएँ देने का आश्वासन दिया। इन अतिम दो संधियों का एक उद्देश्य जर्मन चेकोस्लोवाकिया और जर्मन पोलिश सीमात की श्रृंखला का आश्वासन देना था।

लोकानों पेंकट के द्वारा युद्ध की समाप्ति को दूर करने का प्रयत्न किया गया। एन्तु वास्तव में युद्ध को अवधि नहीं ठहराया गया था। सदस्य राष्ट्र निम्न परिस्थिति में युद्ध का सहारा ले सकते थे—(१) आत्म रक्षा के लिए। (२) भूतपूर्व संधियों का सौपने दायित्व को लागू करने के लिए या (३) सब प्रतिश्रुत या लोकानों संधि की शर्तों के पूरा करने के लिए। डा० लैंगसम ने लिखा है—मूल रूप से, केवल आक्रमक युद्धों को अवधि ठहराया गया था, और इस प्रकार के मामलों में भी, अनुशासितियों का लागू करने की उचित व्यवस्था नहीं की गई थी। इस बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि यदि राष्ट्रसंघ की सर्वसम्मति से स्वीकृत निष्पत्ति का उल्लंघन कोई करेगा तो उसके विरुद्ध इंगलैंड और इटली लड़ेंगे। इंगलैंड और इटली को लोकानों समझौता प्रत्याभूतक (Guarantor) बनाया गया क्योंकि इनका इस समझौते से कोई संबंध नहीं था। इसके साथ ही साथ एक और महत्वपूर्ण निश्चय किया गया। यह पहलू कि जर्मनी राष्ट्रसंघ में शामिल होगा और उसको कौंसिल में स्थायी स्थान दिया जायगा।

यह ठीक है कि विश्वशांति की स्थापना में लोकानों एक महत्वपूर्ण कदम था। परन्तु इसमें कई दोष थे। ब्रिटिश और इटालियन सरकारों ने जर्मनी के पश्चिमी सीमान्त की श्रृंखला की प्रत्याभूति और पूर्वी सीमान्त के सम्बन्ध में चुप्पी लोकानों समझौते रखकर ठीक नहीं किया। इसमें एक नूतन ध्वनिताप (implied) की आलोचना उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ यह हुआ कि जननी के पूर्वी सीमात के सम्बन्ध में किसी अनुशासितिया नहीं लगाई जा सकती जैसी कि पश्चिमी सीमात के। अर्थात् ब्रिटेन और इटली ने जर्मनी की इस इच्छा को कि उसने पूर्वी सीमान्त अतिम नहीं है स्वीकार कर लिया था। जर्मनी के द्वारा अपनी

पूर्वो सीमा का प्रतिश्रमण करने के मार्ग में निम्नो भी प्रचार की स्थावट खड़ी गई। इस परिस्थिति में रूस का यह सोचा स्वाभाविक ही था कि बिना अपनी सुरक्षा को दृढ़ करना चाहते हैं परन्तु रूस को जर्मनी से टकराना चाहत है। परिणाम यह हुआ कि २४ अप्रैल १९२६ में रूस को जर्मनी से संधि करी पड़ी। अनुसार १९२० की 'गपालो की संधि' का समर्थन करते हुए यह निश्चय हुआ कि रूस अथवा जर्मनी पर तीसरी शक्ति आक्रमण करे तो ये उसमें तटस्थ रहें। मित्रराष्ट्र रूस अथवा जर्मनी के आर्थिक सहित्कार के लिए गुट बनाएंगे तो वे शामिल नहीं होंगे। अतः यह स्पष्ट हो गया कि वर्साय की संधि नहीं चल सकता दूसरे शब्दों में लोकानों संधि ने अप्रत्यक्ष रूप से वर्साय की संधि और संधि प्रविश विनाश कर दिया। इसीलिए कार' ने लिखा है 'अन्तर्गतता, लोकानों की वर्साय की संधि और अनुबंध पत्र दोनों ही को हानि पहुँचा।'

इससे जर्मनी में एक भय उत्पन्न हो गया कि रूस के साथ संधि के सदस्यों के छिड़ने वाले संधि में, रूस के विरुद्ध उससे सैनिक सहयोग न माँगा लिया जाय। जर्मनी और रूस मित्रता के सम्बंध में बचे हुए थे। परन्तु इस भय का गीघ्र कर दिया गया। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को सूचित किया कि प्रतिश्रव की धाराओं से सहयोग के लिए राज्यों की भौगोलिक स्थिति तथा सैनिक शक्ति का ध्यान रखा है और इसी आधार पर किसी राज्य से सहयोग का माग जा सकेगी और जर्मनी निराश्रय है, अतः उस सैनिक सहयोग देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

इस प्रकार की संधियों से सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। इनके विधायकों में सत्यनिष्ठता की कमी थी। जिस भावना के साथ इन संधियों हस्ताक्षर किए गए थे उसका निर्वाह नहीं किया जा सकता था। उदाहरणार्थ, फ्रांस राज्यों की गुटबन्दी के माग पर बराबर चलता रहा। जब जेनेवा में जर्मनी को स्थान देने का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसने अड़गल लगाना शुरू कर दिया और सन्तु राज्यों के कोस्मावाकिया और पोलैण्ड के लिए भी स्थायी स्थान की प्रवृत्ति के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि लोकानों की सब आग्रहें मिट्टी जायगी। परन्तु चेम्बरलेन ने स्थिति को सुधार लिया। यही पर एक समस्या खड़ी हुई कि क्या बिदेन हृदय अक्सर आने पर अपने दायित्व को निभा सकेगा? दिशा में बहुत से राष्ट्रों की शका थी।

उपरोक्त कमियों के उपरांत भी लोकानों का अपना एक विशिष्ट स्थान लोकानों का मुख्य उद्देश्य जर्मनी को उस समाज में मिलाना था जो अपने का की शक्ति का संरक्षक कहता था। उस समाज का लोको लोकानों संधि राष्ट्रसंधि। जर्मनी के राष्ट्रसंधि से बाहर रहन हुए संधि का महत्व यूरोप में भाव्य होना असम्भव था। अतः जर्मनी को सम्मिलित करने की इच्छा से ही लोकानों का महत्व बढ़

(१) ई. एच. कार—दो विश्व युद्धों के बीच अंतर्राष्ट्रीय सम्बंध।

महायुद्ध के उपरान्त की जाने वाली संधियों में यह प्रथम संधि थी, जिसमें ली की स्वतंत्रता पूर्वक विचार व्यक्त करने का अवसर दिया गया था। प्रथम बार ने समानता का सम्मान मिला था और जिसमें वह अपनी इच्छानुसार सम्मिलित था। इसके पूर्व की गई संधियों को जर्मन लोग "भागेपित संधि" ( Dictated peace ) कहते थे। लोकानों की संधि ने जर्मन लोग की इस आकांक्षित को दूर र दिया।

लोकानों की संधियों को यूरोप के पुनर्निर्माण के इतिहास में एक महत्वपूर्ण टप्पा माना जाता है। इससे जर्मनी और फ्रांस को सुरक्षा की बिना से मुक्ति मिली। इसकी सहायता को दूर करने का प्रयत्न किया गया। सभी भगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से विलक्षण के द्वारा निपटाने की व्यवस्था की गई और यह बात स्पष्ट हो गई कि इसकी सहायता के बाद आन्तरिक के विरुद्ध कार्यवाही करने या उसे रोकने से अधिक अच्छा तो युद्ध के पूर्व ही ऐसे देशों का साम, दाम, दण्ड भेद की नीति से डरा घमका कर युद्ध से दूर रखना अधिक अच्छा है।

लोकानों संधियों के महत्व के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख लेखकों के विचार इस प्रकार हैं—'चर्चिल' ने लोकानों की संधियों को 'यूरोप के पुनर्निर्माण की चरम सीमा' का नाम दिया है। हाडी ने लिखा है—'इसके निर्माणकर्ता श्री चेम्बरलेन के मन का होचल बहुत कुछ सिद्ध हो जाता था और वह मत था कि संधि युद्ध के वर्षों और शक्ति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजक रेखा को प्रकट करती है'। कार के शब्दों में 'जो काम डेविस याजना ने प्रारम्भ किया था वही काम इस संधि ने पूरा किया'।

१९२६ से १९२९ के मध्य तक युद्ध के विरुद्ध सुरक्षा को मजबूत बनाने तथा विश्व को सर्वथा ठहराने के लिए विविध देशों के द्वारा विविध प्रकार के प्रयत्न किए गये।

१९२९ में 'आन्तरिक' बनाई गई। राष्ट्रसंघ में भी इस सम्बन्ध पर काफी चर्चा के बाद विचार होता रहा। हर अधिवेशन में कोई न कोई प्रस्ताव आता और सुरक्षा प्रयत्न ही रहता था। २६ सितम्बर १९२८ को संघ की असेम्बली ने

"अन्तराष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण समाधान के लिए सामान्य अधिनियम" ( General Act of Arbitration ) स्वीकार कर लिया। यह सामान्य नियम आदेश संधियों और अधिनियमों का समन्वय था। इसमें चार अध्याय और इस सामान्य अधिनियम की एक विचित्र विशेषता यह थी सदस्य राष्ट्र इसको

Sir Winston Churchill—Second World War  
Part I

गेयोन हाडी—अन्तराष्ट्रीय राजनीति का सुक्ष्म इतिहास।

कार—दो विश्व युद्धों के बीच अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध।



पूर्ण रूप में या किसी भाग मात्र को स्वीकार कर सकते थे। प्रथम अध्याय समझौते सम्बंधित था। इसमें यह व्यवस्था की गई थी कि सभी विवादों को यहाँ तक। राजनीतिक विवादों का भी, जिनका कूटनीति के द्वारा समाधान नहीं हो सके एक द्विपक्षी समझौता आयोग (Bilateral Conciliation Commission) को सौंप दिया जाय। इस सम्बन्ध में यह सुझाया गया कि प्रत्येक दो राज्यों ने एक स्थायी समझौता आयोग की स्थापना करे। दूसरा अध्याय 'प्राथमिक' सम्बंधित था। इसमें यह व्यवस्था की गई कि सभी कानूनी झगड़े अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के सामुख रखे जाय और न्यायालय का निर्णय बंधनकारी (Binding) हो। तीसरा अध्याय पंच निर्णय से सम्बंधित था। इसमें यह व्यवस्था की गई कि विवाद एक पंच समिति के सामने रख जाय, चौथे अध्याय में सामान्य बातें उल्लेख हैं।

सामान्य अधिनियम, निस्संदेह एक महत्वपूर्ण कदम था। इसमें राजनीतिक विवादों व अन्य विवादों का व्यवहारिक रूप से निपटाने की अधिक की व्यवस्था की गई थी। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने कुछ भिन्न-भिन्न के उपरांत स्वीकार कर लिया और उनकी स्वीकृति के बाद अधिकांश राज्यों ने इस स्वीकार कर लिया। बेल्जियम, नार्वे, डेनमार्क और फिनलैण्ड ने चारों अध्याय स्वीकार किए। हावैलैण्ड और स्वीडन ने प्रथम व अध्याय ही स्वीकार किये। इंग्लैण्ड ने कुछ नतीजों साथ इसे स्वीकार किया था। परन्तु फिर भी मोटे तौर पर, अधिनियम का प्रोत्त सफलता नहीं मिली।

सामूहिक सुरक्षा के उपरोक्त प्रयत्नों के उपरांत भी, युद्ध घोषणा का बाह्य प्रोत्त बनना हुआ था और युद्ध का अवरोधक नहीं हुआ था। अतः युद्ध को विरुद्ध टहराने के लिए प्रयत्न शुरू हुए। फ्रांस और अमेरिका इन प्रयत्नों में लगे।

इस कार्य में फ्रांस अग्रसर हुआ। १९२८ में फ्रांस के प्र

चैलान त्रियाण्ड मंत्री त्रियाण्ड ने अमेरिका के विदेश सचिव क्लार्क के मा

समझौते की एफ प्रस्ताव रखा कि दोनों देशों के बीच, इस प्राण्य का

पृष्ठभूमि युद्ध राष्ट्रीय शांति का साधन नहीं रहना एक समझौता

जाय। क्लार्क ने काफी समय के बाद इसे स्वीकार तो लिया परन्तु फ्रांस की शर्तों के अनुसार नहीं बल्कि अपना शर्तों के साथ। उसका मत यह था कि इस प्रकार का समझौता बहुपक्षीय (Multilateral) हो चाहिए। फ्रांस तत्काल ही निर्णय नहीं कर सका। जहाँ तक अमेरिका के साथ प्रकार का समझौता करने का प्रश्न था, वह बहुत संतुष्ट था क्योंकि अमेरिका और के हित आपस में टकराते नहीं थे और युद्ध की आशंका भी नहीं थी। परन्तु युद्ध समझौते के माग में कठिनाई थी। उसने सिर पर सत्य के सदस्य, विविध संधियों निमाता तथा प्रत्याश्रय का हस्तियत से बहुत स दायित्व का भार था। फिर भी,

सोच विचार के उपरांत, त्रियाण्ड ने फ्रैंको अमेरिकन पत्र व्यवहार को ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और जापान की सरकारों के पास भेजना स्वीकार कर लिया। कलाग ने भी, १३ अप्रैल १९२८ को, उपरांत सरकारों के पास प्रस्तावित संधि का प्रारूप भेजा।



चित्र 'त्रियाण्ड'

संधि के प्रारूप ने बहुत सी सरकारों के सामने भ्रम पूर्ण धारणाओं को पैदा कर दिया। २६ अप्रैल की कलाग ने इस प्रकार की भ्रम पूर्ण धारणाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने इस बात पर जोर दिया कि युद्ध हर स्थिति में अनिवार्य नहीं माना गया है। आत्म रक्षा के लिए युद्धका सहारा लिया जा सकता है, अमेरिका फ्रांस और ब्रिटेन ने अपनी २ स्थिति का स्पष्टीकरण किया। आत्म रक्षा की दृष्टि से अमेरिका ने दुनरा सिद्धांत का उल्लंघन करने वाली रूस भी कायबाहा के विरुद्ध बंदम उठाने का अधिकार जतनाया तो फ्रांस ने अपने पुराने संधि करने की शर्त रखी। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने सम्बंध में स्पष्ट किया कि 'विश्व के कुछ ऐसे भागों की, जिनका कल्याण और

असंख्यता, उसकी शांति और सुरक्षा के लिए विशेष तथा गहत्वपूर्ण है, की रक्षा करने का अधिकार भी शामिल है। इस प्रकार सभी देशों ने आत्म रक्षा की सीमा निर्धारित कर ली। इससे यह अनुमान लगाया गया कि यह संधि एक अनुबन्धीय दायित्व (Contractual obligation) की अपेक्षा केवल एक सद्भातिव घोषणा (Declaration of principle) मान है।

२७ अगस्त १९२८ का संधि के प्रारूप का निर्माण करने वाल १५ देशों ने पेरिस में इस पर हस्ताक्षर कर दिये। चूंकि पेरिस में हस्ताक्षर हुए इस लिए इस संधि को पेरिस समझौता भी कहा जाता है। वैसे अपने निर्माण पेरिस समझौता वर्तमान नाम के पीछे यह कलाग त्रियाण्ड पकट' का नाम भी विद्यमान है। बाद में, इसे अन्य राज्यों के शामिल होने के लिए भी खोल दिया गया और अपेक्षाकृत थोड़ा ही समय में लगभग ६५ राज्यों ने इसे स्वीकार कर लिया। अरब के नजदेहजाज और यमन राज्यों को निर्मित नहीं किया गया और अर्जेंटीना, ब्राजील और बोलीविया ने इस स्वीकार नहीं किया। यह एक आश्चर्य की बात थी कि सोवियत

सरकार ने प्रारम्भ में तो कुछ भिन्न के साथ इसे स्वीकार किया था परन्तु बाद में इसका प्रबल पक्षधर (Champion) प्रमाणित हुई।

इस समझौते के महत्वपूर्ण अनुच्छेद इस प्रकार थे—(१) उच्च हस्ताक्षरकर्ता प्रमाणानुसार अपने लोगों के नाम पर यह घोषणा करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के

### समझौते की धाराएँ

सुलभाने के लिए युद्ध के आश्रय की भत्सना करते हैं और एक दूसरे युद्ध की राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में परित्याग करते हैं। (२) उच्च हस्ताक्षरकर्ता स्वीकार करते हैं कि आपस में उत्पन्न होने वाले सभी विवादों या झगड़ों की चाहें व निम्न भी स्वरूप या उद्गम के हो, का हल सिर्फ शांति पूर्वक तरीकों के अतिरिक्त अन्य किसी तरीके से नहीं किया जायेगा।

राष्ट्रा के इतिहास में, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहिष्कार एवं महत्वपूर्ण घटना थी। इतिहास में, व्यक्तिगत रूप से, शासकों द्वारा (जैसे प्रशोक) इस प्रकार के प्रयत्न का उल्लेख तो अक्सर

पेरिस पेक्ट मिलता है परन्तु राज्यों के द्वारा, सो भी इतनी बड़ी सख्या में नहीं समझौता इन प्रकार का प्रयत्न पहले कभी नहीं किया गया था। इन

समझौते ने सौदातिक दृष्टि से परस्पर विराधी राज्यों अमेरिकी और साम्यवादी रूस को एक सयुक्त क्षेत्र में लाने का महान् सफल प्रयत्न किया था यह प्रयत्न राष्ट्र सभ को सीमा के बाहर किया गया था, इससे इसका महत्त्व और बढ़ जाता है। क्योंकि अब तक जितने भी समझौते हुये थे, वे राष्ट्र सभ के निर्देशन में हुए थे। तथा कथित समझौता विश्व के विविध देशों की युद्ध के मध्य में क्रांतिकारी नीति का द्योतक था। कार के शब्दों में—‘यद्यपि पेरिस समझौता अधूर्ण था तथापि वह एक पर्यन्त सीमा चिह्न था। राष्ट्रों ने मिलकर, कम से कम सौदातिक तौर पर ही सही यह तो स्वीकार किया ही कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध एक सामान्य और बंध माग नहीं है।’ मेथोन हार्डीने लिखा है ‘एक ऐतिहासिक घटना के रूप में, युद्ध की नीति के साधन के तौर से यह प्रायः सावजनिक प्रत्याख्यान अभूत पूर्व महत्व रखता प्रतीत होता है। युद्ध के प्रति एक नतिक रूख व शक्ति के रूप में यह निःसंदेह प्रभावोत्पादक था।’

उपरोक्त विशेषताओं के उन्नात भी पेरिस पेक्ट में कई कमियाँ थी जिसके कारण पेक्ट सिद्धांत की घोषणा मात्र हो रहा। इसमें ऐसी व्यवस्था नहीं थी जिसके द्वारा हस्ताक्षरकर्ता द्वारा पेक्ट का अतिगमन करने पर उनके विश्व कार्यवाही को जा सके। यदि पेक्ट की इस सम्भव में कुछ अधिकार सम्पन्न बनाया गया होता तो शायद इसे अत्यधिक सफलता उपलब्ध हो सकती थी। परन्तु ऐसा नहीं होना था। इससे एक बात और स्पष्ट हो गई कि किसी भी समझौता का अस्तित्व केवल अन्तर्राष्ट्रीय नजिवात पर ही नहीं टिक सकता।

सुरक्षा की समस्या, जिसके बारे में यह अनुमान लगाया गया था कि लोकाना पेक्ट और पेरिस पेक्ट हल करने में सफल होंगे, उस प्रकार के विश्वास को जसा कि अपेक्षित था, उत्पन्न करने में अफसल रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि अधिकांश राज्यों ने केवल आलाचना के भय से इसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया था। यहाँ कारण था कि पेक्ट का उल्लंघन हस्ताक्षर की तिथि के कुछ ही समय बाद शुरू हो गया। एक लेखक ने लिखा है कि एस संधि ने लोन्यु राज्यों के लिए बिना युद्ध की घोषणा के अतिव्रमण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जापान और इटली ने इस दिशा में पहल की। जापान ने अपनी कार्यवाही को पुनः कार्यवाही बतलाया और इटली ने आत्मरक्षात्मक युद्ध कहा।

लोकानो की भांति इसमें भी एक दोष था। रूस की सुरक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई कदम नहीं उठाया गया। चिचेरिन ने इसी व्याख्या करते हुए इसे एक "पश्चिमी यूरोपीय संगठित" और "सोवियट रूस के विरुद्ध युद्ध की तयारियों का एक भाग" बताया। यदि लोकानो ने बर्साय की संधि और प्रतिश्रव के विनाश की पृष्ठभूमि का निर्माण किया था तो पेरिस पेक्ट ने उसके अग्रे कार्य को तो पूरा किया ही परन्तु स्वयं लोकानो का भी सवनाश कर दिया।

सच्ची बात तो यह है कि इस प्रकार की संधियों से सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। वे जिस बान का प्रस्ताव करते थे, उसको सत्य पालन करने का विचार नहीं रखते। एक ओर युद्ध के उपकरणों का बढ़ाने की धार प्रतिस्पर्धा चल रही थी और दूसरी ओर इस बात का भूँठा प्रयत्न हो रहा था कि युद्ध की विधान विरुद्ध करार दिया जाय। यह कैसे सम्भव हो सकता था ?

आर्थिक मंदी के प्रारम्भिक वर्षों और विशेषकर जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के बाद, यूरोपीय सम्बन्धों में सदह और प्रतिযোগिता का जो प्राबुर्भाव हुआ था, उसके परिणाम स्वरूप दो अतिरिक्त शांति समझौते का निर्माण हुआ। रोम और लन्दन एक रोम का समझौता ( Pact of Rome ) और दूसरा के समझौते लन्दन समझौता ( London Agreement )। युद्ध के भावी बादलों की दूर करने के लिए मुसोलिनी ने सुझाव रखा कि पश्चिम की प्रमुख शक्तियाँ एक निश्चित अग्रिम तक शांति का प्रयास करने के सम्बन्ध में कदम उठाये। उसके प्रयत्न के परिणामस्वरूप १-३३ में रोम में, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और इटली ने एक दस वर्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किये। हस्ताक्षरकर्ताओं ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों, निःशस्त्रीकरण की पद्धति आदि का सफल बनाने में योग देने और एक बार पुनः संधि सन्धोधन को ( जैसा कि प्रतिश्रव के १६ वें अनुच्छेद में है ) मायता देने के सम्बन्ध में एक दूसरे से विचारविमर्श करके कार्य करना स्वीकार कर लिया।

सोवियट संघ को इस समझौते से चिंता हो गई क्योंकि वह इसे शांति का प्रत्याभूत मानने की तयार नहीं था। वह इसे साम्यवाद के विरुद्ध एक दूसरा समझौता मानता था। अतः उसने अपने पड़ोसी देशों के सामने एक सामान्य अनाश्रमण संधि का

प्रस्ताव रखा । इस प्रस्ताव का स्वागत किया गया और सदन में मानियत द्वावाम पर, अफगानिस्तान, मोवियत सघ, तुर्की यूगोस्लाविया, चेकोस्लावाकिया, एसथानिया, लटानिया, लिथुएनिया, पर्सिया आदि देशों ने तान समझौते पर हस्ताक्षर किये (१९२३में)। हस्ताक्षरकर्ताओं ने एक दूसरे की सीमा का प्रतिजमण न करने का वचन दिया और यह विचार व्यक्त किया कि 'कैलाश पक्कट' ( जिसमें वे सभी सम्मिलन थे ) ने आक्रमणों का निषेध कर रखा है और आक्रमणकर्ता की परिभाषा भी स्पष्ट हो गई है— अमन किया जाय । अर्थात् इस संधि ने कुछ मामा तक कैलाश पक्कट में विहित निष्ठा का सहारा लिया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९२२ से १९३३ तक के युग में सामूहिक सुरक्षा के लिए विविध प्रयत्न किये गये परन्तु अततोक्त्वा सभी प्रयत्न असफल प्रमाणित हुए और सत्तार को शीघ्र ही द्वितीय महायुद्ध की ज्वाला में भस्म होना पड़ा ।

## षष्ठ अध्याय निःशस्त्रीकरण की समस्या

शस्त्रास्त्रा (Armaments) की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता महायुद्ध के प्रमुख कारणों में से एक थी। युद्ध समाप्ति के बाद यह सामान्य विश्वास विकसित हो चुका था कि यदि इस प्रतियोगिता का अंत कर दिया जा सके, इसमें कमी की जा सके तो राष्ट्रो द्वारा युद्धाश्रय के अवसरा में भी कमी आ सकेगी और युद्ध को रोक जा सकेगा। युद्ध के परिणाम स्वरूप होने वाली क्षति—धन, जन, समय और परिश्रम की क्षति को बचाया जा सकेगा और इसे मानव कल्याण के मार्ग की तरफ निर्देशित

किया जा सकेगा जिससे एक सुंदर और सुखी ससार का स्वप्न साकार हो उठेगा। वर्साय की संधि के निर्माताओं ने कठोरता के साथ जर्मनी को निश्चस्त्र कर दिया था। परन्तु ऐसा करने का तात्पर्य केवल जर्मन आक्रमण का नियंत्रित करने का ही नहीं था। पेरिस शांति सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने अपने इस कदम की व्याख्या करते हुए घोषणा की थी कि जर्मन निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य "सभी राष्ट्रों के शस्त्रीकरण का व्यापक सीमा (Limitation) प्रारम्भ करना सम्भव बनाना था"। प्रतिश्रव के आठवें अनुच्छेद में भी यह स्वीकार किया गया था कि 'राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान रखते हुए किसी भी राष्ट्र के शस्त्रास्त्रों की निम्नतम सीमा निर्धारित करना गति बाधक रखने के लिये आवश्यक है।'

उपरोक्त होना घोषणाओं ने निःशस्त्रीकरण का पक्ष लेने हुए भी इस समस्या का जटिल बनाने में अनायास ही अमूल्य योगदान दे दिया। एक तरफ जर्मन निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य 'सार्वभौमिक' (Universal) निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक अग्रगामी कदम माना गया (वर्साय के अनुसार) तो दूसरी तरफ राष्ट्रीय सुरक्षा का हित में रखते हुए इसे स्वीकार करने की घोषणा की गई थी। राष्ट्रीय सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण की समस्या का आपस में सम्बंधित करना एक भयंकर भूल था।

जो भी हो, इन घोषणाओं के उपरान्त भी, निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में बहुत कम प्रगति की जा सकी थी। राष्ट्रीय सुरक्षा (National Security) और निःशस्त्रीकरण में संघर्ष गुरु हो गया। प्रत्येक राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की प्रतिनाइयों उपयोगिता को तो स्वीकार करता था परन्तु उसे अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा का भी भय बना रहता था और इस कारण चाहते हुए था यह इस दिशा में कदम उठाने में हिचकिचाता था। क्रम और पारंगत ऐसे देशों का

मंगली ये और हानाकि अमेरिका और ब्रिटेन ने उनकी भर्त्सना भी की, परन्तु प्रत्युत्तर था कि यदि उह समाहित जमन आक्रमण व विरुद्ध सुरक्षा की ( Guarantee ) दे दी जाय तो वे इस दिशा में कर्म उठाने को तयार है। विश्वास था कि इस प्रकार की प्रत्याभूति के अभाव में, नि शस्त्रीकरण पर जमन से, जमनी विश्वास सहित आक्रमणात्मक वायवाहियों की तरफ अग्रसर होने का शुद्ध कर देगा। कुछ सीमा तक फ्रांस का तब सही भी कहा जा सकता है परन्तु का प्रचार का बहाना मित गया। उसने फ्रांस और पार्लैड की इस नीति को करण की मांग घोषित किया जो वर्साय की संधि और राष्ट्रसंघ की मर्यादा थी। परन्तु फ्रांस लाचार था। यूरोप की तत्कालीन स्थिति अत्यधिक नाटुक अमेरिका यूरोपीय राजनीति में अलग हो चुका था। ग्रेट ब्रिटेन का अपनी स्थिति के कारण सुरक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अग्र नहुआ था। जमनी, और अपमान की ज्वाला में जल रहा था और युक्त रूप से अपनी सैनिक शक्ति को बनाने के प्रयत्न में लगा हुआ था। पालण्ड को भी अपने पूर्वी सीमाना का भय हुआ था। कम समाजवादी का पक्षधर (Champion) बन चुका था और परम्प्रा प्रजातांत्रिक राज्यों की नींव खोखली करने में लगा हुआ था। इटली और यूगोस्लाविया आपसी सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। आतंक अब भी खतरनाक क्षेत्र बना हुआ था। यूनान तथा बल्गेरिया की ग्रीष्म ही आपसी संधि में उलझना पड़ा। यूरोप की साम स्थिति इस प्रकार की थी कि किसी भी समय युद्ध का मूत्रपात हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में नि शस्त्रीकरण की दिशा में कर्म उठाना, बहुत से दृष्टि में मूर्खता थी। इसके लिए विश्वास की भावना की आवश्यकता थी। नि शस्त्रीकरण की मूलभूत बात है, यह सद्दह और अविश्वाम की नींव पर कभी नहीं किया जा सकता। फिर भी, इस दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये हैं। सुरक्षा आश्रयमान देने के उद्देश्य से 'आपमा सहायता प्राप्त संधि' 'जेनेवा उपसंधि' 'लाकानो समझौता' की रचना की गई। परन्तु वे अपक्षिण परिणाम उपलब्ध कर अमफल रहे। १९२० के प्रारम्भ में राष्ट्रसंघ ने एक अस्थायी मित्रित आयोग नियुक्ति की, परन्तु आयोग के अथक प्रयत्नों से भी किसी प्रकार का कोई परिणाम नहीं निकला।

१९२२ ई. तक यूरोप नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में नगण्य प्रगति ही कर परन्तु नौ सना नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में इस वर्ष में, वाशिंगटन सम्मेलन में महत्वपूर्ण कदम उठाया। इस सम्मेलन का आयोजन वाशिंगटन सम्मेलन के निमन्त्रण पर हुआ था। यद्यपि माट नौर पर यह सम्मेलन प्रजात महामागर की समस्याओं का हल करने की दृष्टि अवाजित किया गया था, परन्तु इसमें नौ सनिक नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भी चिय गये। विश्व की पांच महान् शक्तियों—अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जापान

इटली तथा प्रशांत सागर से सम्बन्धित तीन राष्ट्रों—चीन, नीदरलैंड और पुर्तगाल के किसी अन्य कारणवश बेल्जियम ने सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन की प्रथम बैठक नवम्बर १६२१ में हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने प्रस्ताव रखा कि पनडुब्बियों (Sub-marines) का अंत कर दिया जाए। परन्तु सम्मेलन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इसके स्थान पर यह व्यवस्था की गई कि व्यापारिक जहाजों के विरुद्ध पनडुब्बियों का प्रयोग न किया जाए। फ्रांस ने दस हजार टन वजन से हल्के सहायक जहाजों में कमी करने से इन्कार कर दिया, परन्तु सभी नौ राष्ट्रों (Naval Powers) ने युद्धपोतों (Capital Ships) और भारी गस्ती जहाजों (heavy cruisers) की संख्या में कमी करने तथा उनका कुल टनेज (Total tonnage) निर्धारित करना स्वीकार कर लिया। इस समझौते को 'पांच राष्ट्रों की संधि' (Five power Treaty) कहा जाता है। इस संधि पर हस्ताक्षर करनेवाले पांच देश थे—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और इटली।

पांच राष्ट्रों की संधि के अनुसार युद्धपोतों और भारी गस्ती जहाजों का कुल टनेज (वजन) इस प्रकार निर्धारित किया गया—अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन ५२,५००० टनेज (पृथक्-पृथक्), जापान ३१,५००० टनेज फ्रांस और इटली १७,५००० टनेज (पृथक्-पृथक्)। इस कुल वजन का अनुपात क्रमशः इस प्रकार था—५ ५ ३ १ ६७ १ ६७।

बहुत से विद्वानों की राय में सम्मेलन सफल रहा और इनमें यह स्पष्ट कर दिया कि नि शस्त्रीकरण, जो यूरोप में अब तक असफल रहा था केवल एक आदर्श और सिद्धांत की वस्तु ही नहीं था बल्कि व्यवहारिक राजनीति का एक तत्त्व था। सम्मेलन की समाप्ति इस सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन का नीति सहायनीय नहीं जा सकती है क्योंकि उसने शांति के नाम पर अपने परम्परागत सामुद्रिक प्राधिपत्य और श्रेष्ठता की छोड़ना भी स्वीकार कर दिया था।

इस त्याग को एक ठोस योगदान माना जा सकता है। परन्तु सम्मेलन की गस्ती जहाजों (Cruisers) और विध्वंसकों (Destroyers), पनडुब्बियों और अन्य सहायक यानों (Auxiliary crafts) की संख्या सीमा (Limitation) के सम्बन्ध में असफलता के परिणामस्वरूप नौ सेना की वृद्धि के लिए प्रतियोगिता का द्वार अब भी उन्मुक्त था। ग्रेट ब्रिटेन के पास अब भी अत्यधिक संख्या में गस्ती जहाज थे जिन्हें अमेरिका बंद करने को उत्सुक था। परन्तु उसकी उत्सुकता के पीछे भी वाणिज्यिक संधि द्वारा प्रदत्त समानता को बनाये रखने की आकांक्षा थी। जापान को ग्रेट ब्रिटेन की नाविक शक्ति का ७० प्रतिशत भाग रखने का अधिकार दिया गया। इससे फ्रांस और इटली असंतुष्ट हो गये और नौ शक्ति के असंतुलन के कारण राष्ट्रों के बीच सुरक्षा कायम न हो सकी। यदि ध्यान से देखा जाये तो सम्मेलन का निष्पत्ति नि शस्त्रीकरण को दिशा में प्रगतिमूर्धक कदम नहीं था अपितु अमेरिका और जापान के सम्बन्ध में शस्त्रीकरण की वैधता पर अपनी मुहर लगाने वाला था। फिर भी, परिस्थितियों को देखते हुए सम्मेलन के महत्व को स्वीकार करना ही पड़ता है।



वार्शिंगटन-सांघ पर शोध ही अमल किया गया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस दिग्गज  
सबप्रथम कदम उठाया और १९२७ तक उसने १,७६७,००० टन वजन तक बहुत

युद्धपातों और भारी गश्ती जहाजों को अपनी नाविक सेवा

जेनेवा सम्मेलन पृथक कर दिया। परंतु इसी वर्ष में हल्के लडाकू जहाजों

निर्माण में प्रतिभागिता प्रारम्भ हो गई जिसके परिणामस्वरूप

हल्के गश्ती जहाजों, विध्वंसक जहाजों और पनडुब्बियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि

गई। इस नूतन समस्या का हल करने तथा इसका नियंत्रित करने की दृष्टि से अमरीका

के राष्ट्रपति कूलिज (Coolidge) ने एक सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। फ्रांस और

इटली ने निमंत्रण स्वीकार कर दिया और पांच प्रमुख नाविक राष्ट्रों में से चार

तीन—अमेरिका, ब्रिटेन और जापान ने सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार किया। १९२३

जेनेवा में इन तीनों के बीच दूसरा भी सम्मेलन (Naval Conference) हुआ।

अमेरिका ने प्रस्ताव रखा कि वार्शिंगटन अनुपात ५ : ५ : ३ का अर्थ प्रत्येक

प्रकार के जहाजों पर भी लागू किया जाए। ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव का विरोध किया

उसने अनुमान लगाया कि साध सामग्री के यातायात को सुरक्षित रखने, साम्राज्य

दूरस्थ हिंसा के साथ सम्बंध बनाये रखने तथा लाल सागर एवं पर्सियन खाड़ी में

विकास के द्वाारा गश्ती जहाजों के लिए उसे कम से कम ७० हल्के गश्ती जहाजों

आवश्यकता थी। ब्रिटेन ने सुझाव रखा कि गश्ती जहाजों को दो श्रेणियों में विभाजित

किया जाए—टनेज और भारी तोपखाने की दृष्टि से। भारी गश्ती जहाजों पर की

गश्ती अनुपात लागू किया जाय और छोटे या हल्के गश्ती जहाजों के निर्माण की

सीमा दी जाय। अमेरिका इस सुझाव को मानने के लिये तैयार नहीं था क्योंकि उस से यह

कि इंग्लैंड वार्शिंगटन सांघ द्वारा अमेरिका का दो गई नाविक समानता से मुंह मारा

चाहता है। परंतु सही बात यह थी कि ब्रिटेन भारी युद्धपातों से उल्टा भुला था क्योंकि

इनके निर्माण में व्यय भी अधिक होता था और पनडुब्बियों तथा जलचक्र यानों

इसको सुरक्षा भी खतरे में थी। दूसरी तरफ हल्के गश्ती जहाजों में महान् युगान्ति

(Manoeuvre) की आवश्यकता थी और खर्च भी कम करना पड़ता था। इनके

वह एक महान् दक्षतापूर्ण नूतन युद्ध प्रणाली का सूत्रपात करना चाहता था। इस

उपन हल्के गश्ती जहाजों के निर्माण के संबंध में किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध स्थापित

नहीं किया। उपरोक्त मतभेद के कारण सम्मेलन समाप्त हो गया और यह सम्मेलन

पूर्ण रूप से असफल कहा जा सकता है। इसके कुछ ही दिनों बाद अमेरिकन कांग्रेस

१५ नव जहाजों के निर्माण की स्वीकृति दे दी। कार ने सम्मेलन के परिणाम

सम्बंध में लिखा है “निःशस्त्रीकरण प्रयास को यह प्रथम प्रकट पराजय थी।”

१९२७ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के बीच निःशस्त्रीकरण की समस्या के सं

हिनु एक सम्मेलन हुआ। प्रारम्भ में दोनों देशों के बीच मतभेद उठ गया हुआ। फ्रांस ने माग की कि सन्धि निश्चिन्तकरण के सम्बन्ध में सेवारत गन्ती फ्रेंच सम्मेलन में सन्धिको का ही सम्मिलित किया जाय और प्रत्येक राष्ट्र का निर्धारित टनेज ( tonnage ) के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के जहाजों का बनाने की छूट दी जाय। ग्रेट ब्रिटेन ने दोनों प्रस्तावों का विरोध किया। परन्तु अन्त में दोनों के बीच एक समझौता हो गया। इसका अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रांस का प्रथम माग का स्वीकार कर लिया और फ्रांस ने ग्रेट ब्रिटेन को यह माग स्वीकार कर लो कि नौ सेना का सीमन ( Limitation ) टनेज के आधार पर न किया जाकर, जहाजों के आकार और तापमान के स्वरूप की दृष्टि से किया जाय। बहुत से लोगों ने इस समझौते का मूल्य पूर्वोक्त करने हुए इस एक नूतन मंत्री ( A new Entente ) कहा है और यह भय भी व्यक्त किया कि इनमें संधि की स्थिति दुबल हो जायेगी और संधियाँ की प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार हो जायगा। अमेरिका और जर्मनी में इस संधि का सदेह व असंतोष की दृष्टि से देखा गया।

माघ १९२६ में हुवर अमेरिका का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ और मई में रेन्ज मकडॉनल्ड की द्वितीय मजदूर दलीय सरकार बनी। अक्टूबर में मैकडॉनल्ड ने अमेरिका की यात्रा की। यात्रा के दौरान में अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन ने लंदन नौ-सम्मेलन जावरी १९३० में एक नए सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। इसका नामावलि-अमेरिका ब्रिटेन, जापान फ्रांस और इटली सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन के अवसर पर ग्रेट ब्रिटेन समझौते की भावना से पूर्ण था और उमन अपनी ७० गन्ती जहाजों की माग का घटा दिया था। अब उसने केवल ५० गन्ती जहाजों की माग रखी। परन्तु इस बार फ्रांस की माग बढ़ गई। उमन वही मार्ग ग्रहण किया जो ब्रिटेन ने जनवा सम्मेलन में पकड़ा था। वह अपने उपनिवेशों की सुरक्षा की दृष्टि से एक गतिशील नौ सेना का निर्माण करना चाहता था और वाणिज्य संधि के अनुपात में भी परितन्त्र चाहता था। इटली भी अपनी नाविक शक्ति की वृद्धि करना चाहता था परन्तु फ्रांस इस सम्मेलन में उस छूट नहीं देना चाहता था। जापान, जो कि अब तक वाणिज्य अनुपात का निभा रहा था, अब सभी प्रकार के जहाजों के सम्बन्ध में ब्रिटेन और अमेरिका के साथ समानता का अधिकार चाहता था। फ्रांस और इटली ने किसी प्रकार के अनुपात का मानने से इन्कार कर दिया। जापान ने भारी युद्धपातो के सम्बन्ध में वाणिज्य अनुपात का स्वीकार कर लिया। इसके अन्तर्गत जहाजों के सम्बन्ध में उम ७० प्रतिशत और पनडुब्बियों में अमेरिका तथा ब्रिटेन के साथ बराबरी का अधिकार दिया गया। इस प्रकार तीनों राष्ट्रा—अमेरिका, ब्रिटेन और जापान में एक समझौता हो गया। इस संधि के अनुसार भारी युद्धपातो में इस प्रकार की सीमाएँ थी—ब्रिटेन ५, अमेरिका ३, जापान १। परन्तु प्रत्येक राष्ट्र ने अपने टनेज में वृद्धि करने के अधिकार का सुरक्षित रखा यदि उनमें से

विश्वो एक का आभास हो कि उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा, बिना भय राष्ट्र द्वारा नाविक शक्ति के विकास के कारण उत्तर में पड़ने वाली है। फ्रांस और इंग्लैंड इस तो पृथक् रह परन्तु एक पांच राष्ट्रों की संधि पर हस्ताक्षर किये जिन्होंने वार्निंगटन संधि की शर्तों को पांच वर्षों के लिए बढ़ा दिया गया।

१९०४ में जापान ने इस आशय का नोटिफिकेशन किया कि यदि उस अमेरिका के प्रिन्सिपल के उद्देश्य स्थापित न किया गया तो वार्निंगटन और लन्दन संधियों के

( renewal ) पर उसकी स्वीकृति प्राप्त न हो सकेगी।

नौ सैनिक संधियों सूचना में दोनों संधियों का भारी धक्का लगा। अमेरिका और इंग्लैंड इस प्रस्ताव का स्वीकार करने तैयार नहीं थे। अगस्त १९०७ में जापान ने अपने का

के हाथों से मुक्त करके, इच्छानुसार कदम उठाना शुरू कर दिया। जिसके फलस्वरूप नाविक शक्ति के क्षेत्र में एक तेज में प्रतियोगिता का प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक राष्ट्र ने नाविक शक्ति को मजबूत बनाने के लिए अत्यधिक व्यय करना शुरू कर दिया। वार्निंगटन और लन्दन नाविक सीमा संधियाँ प्रभावहीन हो चुकी थीं।

नौ सेना का सीमा बनाने के लिए जो उपरोक्त सम्मेलन हुए थे, वे निष्फल हो गये थे न कि राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में। राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त आयोग ने स्वतंत्र थे। अब हम, निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में किये प्रयत्नों का उल्लेख करते हैं।

राष्ट्रसंघ विनियोजित का प्रयासभूतक था। विश्वशांति का स्थिर रखने के निःशस्त्रीकरण करना आवश्यक था क्योंकि इसके बिना राष्ट्रीय सुरक्षा का भय दूर भगाया जा सकता था और राष्ट्रीय सुरक्षा के भय से मुक्त हुए बिना निःशस्त्रीकरण असम्भव था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रसंघ के सामने एक दुविधाजनक समस्या थी। इस दिशा में उसने १९२० में एक 'प्रारम्भिक मिश्रित (Temporary Mixed Commission) की नियुक्ति कर प्रयत्न उठाया। परन्तु आयोग अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

लाकार्ने सम्मेलन ने, निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ को गतिविधि में जीवन का संचार किया। सम्मेलन के अंतिम भाग में, हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में संघ द्वारा शुरू किये गये प्रयत्नों का

राष्ट्र संघ  
के प्रयत्न

बनाने में कृतव्यनिष्ट सहयोग देना स्वीकार किया था। दिसम्बर १९२५ में राष्ट्रसंघ ने एक आम निःशस्त्रीकरण समिति तयार की सम्बन्ध में एक प्रारम्भिक आयोग (Preparatory Commission for Disarmament Conference) की नियुक्ति

इस समिति की प्रथम बैठक फरवरी १९२६ में जेनेवा में करना तय किया परन्तु रुम की अनिच्छा के कारण बैठक की तिथि को स्थगित करना पड़ा। १९२३

म लासेन सम्मेलन में भाग लेने वाले रूसी प्रतिनिधि की हत्या के कारण रूस और स्वीट्जरलैंड के मध्य बिगड़ चुके थे। और इसलिए रूस स्वीट्जरलैंड में होने वाली बैठक में भाग लेने का तैयार नहीं था। स्थगित बैठक की तिथि भी मास में रखी गई और यह अनुमान लगाया गया कि तब तक दोनों देशों के सम्मेलन में सुधार हो जायेगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और रूस की अनुपस्थिति में ही बैठक हुई। इसका परिणाम ठाक नहीं रहा। क्योंकि रूस के बिना, उसकी सीमा पर स्थित म्यानिआ पार्लैमेंट आदि राज्यों के साथ किसी सम्मेलन पर पहुँचना सम्भव नहीं था। लगभग एक वर्ष तक प्रारम्भिक आयोग किसी प्रकार की प्रगति नहीं कर सका।

नि शस्त्रीकरण प्रश्न का तीन विषयों में विभाजित किया जा सकता है—(१) भूमि सेना (२) युद्ध सामग्री और (३) नौ सेना। वायुसेना इस समय तक गद्यबद्धता में ही थी, इसलिए उस छोड़ा जा सकता था। नौ सेना के मध्य में नाविक शक्तियाँ प्रयत्न कर रही थी। मुख्य समस्या पदाति सेना और युद्ध सामग्री की थी। प्रत्येक विषय पर महान् शक्तियों में गहरा मतभेद था। अतः आयोग किसी निर्णय पर पहुँचने में असफल रहा और इस अपनी बैठक स्थगित करना पड़ी। ३० नवम्बर १९२७ का आयोग की पुनः बैठक हुई और यद्यपि परिस सम्मेलन तथा रूसी और तुर्की प्रतिनिधियों की उपस्थिति से वातावरण में काफी सुधार हुआ था परन्तु फिर भी आयोग किसी निर्णय या सम्मेलन पर पहुँचने में असफल रहा। अप्रैल १९२८ में पुनः बैठक हुई। नाविक प्रतिनिधि लिटविनाव ने राष्ट्रमध्य का भत्सना करने हुए प्रस्ताव रखा कि सम्पूर्ण सेनाएँ और नौ सेनाएँ एवं अनिवार्य सैनिक भर्ना 'की प्रथा का अन्त कर लिया जाना चाहिए। जर्मन प्रतिनिधि मडल ने भी संधि की भत्सना में रुम का साथ दिया। परन्तु दूसरे सम्मेलनों ने राष्ट्रमध्य के कार्य में महभाग न देने के कारण रूस की भत्सना की। मतभेद की उप्रता के कारण बैठक पुनः स्थगित की गई। १९२० में ना सम्मेलन की सफलता से उत्साहित होकर आयोग का पुनः बैठक हुई परन्तु इस बार भी आयोग किसी निर्णय पर पहुँचने में असफल रहा। हाँ आयोग एक सम्मेलन पर पहुँचने में सफल हुआ कि १९३२ में एक आम नि शस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन किया जाए।

२ फरवरी १९३२ का नि शस्त्रीकरण सम्मेलन का अधिवेशन शुरू हुआ। कुल मिलाकर ६१ राज्यों ने इसमें भाग लिया। इनमें स पांच राज्य संधि के सदस्य नहीं थे।

आर्थर हडरसन सम्मेलन के अध्यक्ष थे। उन्हें १९३१ में निर्वाचित किया गया था और उस समय के ब्रिटेन के विदेश मंत्री थे।

नि शस्त्रीकरण सम्मेलन परन्तु अब स्थिति बल्ल चुकी थी। हडरसन नाव सभा के अध्यक्ष भी नहीं थे। अतः उनका अध्यक्ष बनना ठीक नहीं रहा क्योंकि उनके पीछे सरकारी शक्ति नहीं थी। बार के सभा में— 'यह एक अप्रत्याशित दुर्भाग्य था। यदि इस सम्मेलन का अध्यक्ष ब्रिटिश सरकार का उच्च पदाधिकारी रहा होता, तो वह सम्मेलन की मामला पर विचार करने और निर्णय लेने में सहायता करने में अधिक

ममथ हा मजना था । सम्मेलन का अन्तिम परिणाम तो सभ्यत वही हुना जा कि था, किन्तु फिर भी सम्मेलन को गिगने वाले टान मद्धन और द्विकिक्राहट से ही हो जा सकता था । सम्मेलन के दुर्भाग्य का यही अन्त न था । ग्रन्थि और ने मन्त्रिमन्त्रीय स्तर के प्रतिनिधि जिनका कार्य ही नीति संचालन था, को न भा बुरा किया । उनके अतिरिक्त १९३० के आर्थिक मकट के कारण अशुभग नगर स्थिति शोचनीय हो चुकी था । जून १९३२ में जर्मनी में ममभन्तार और सुयोग्य की सरकार का पतन हो चुका था और उनके स्थान पर, अडियन और कूर पान सरकार आ चुकी थी । मुद्गर पूर्व में, जापान ने मछूरिया पर आक्रमण कर दिया था इन परिस्थितियों के कारण ससार का वातावरण अत्यन्त सन्नेह में परिपूर्ण हो गया और सम्मेलन की सफलता के बारे में बहुत कम आशा था ।

सम्मेलन के प्रारम्भ में फ्रेंच प्रतिनिधि मंडल ने सदस्या के बीच एक स्मरण (Memorandum) वितरित किया जिसमें राष्ट्रमन्त्र के पुलिम दस्ते का बमवपक वायुयानों का राष्ट्रमन्त्र के एकाधिकार में रहने तथा राष्ट्रमन्त्र को जो पड़े सदस्य राष्ट्रों की सेनाओं की सेवा प्राप्त करने का अधिकार आदि सुझाव थे । द्वादश राज्यों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया परन्तु अमेरिका और ब्रिटेन ने विरोध किया । फ्रान्स भी अग्रिम जात्र नहीं दिया परन्तु निःस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जब कभी कोई ठोस सुझाव आता था वह अपनी सुरक्षा की प्रत्याभूति की मांग पर जाता और वह ठोस सुझाव, कब-कब सुझाव मान्य रह जाता ।

२२ जून का अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर ने सूक्त दिया कि सभी राष्ट्र राष्ट्रमन्त्रों में बंसी कर और केवल उतनी ही मात्रा में राष्ट्रमन्त्र रख जितने कि पुलिस के दायित्वों का निवाह करने के लिए आवश्यक हो । परन्तु इस सुझाव का स्वागत नहीं हुआ । इसी समय जर्मनी ने प्रस्ताव रखा कि प्रत्येक राष्ट्र वर्साय संधि में निर्दिष्ट माप मण्ड के अनुपात जसा कि जर्मनी पर लागू किया गया था आधार पर राष्ट्रमन्त्रों में बंसी करे या फिर जर्मनी का भी समानाधिकार दिया जा ताकि यह पुन राष्ट्रमन्त्रों की तरफ अग्रसर हो सके । फ्रान्स ने इस प्रस्ताव का विरोध किया । सम्मेलन का नवीन दिना मुझने की दृष्टि से सर जॉन माइमन ने रखा कि "परिणामात्मक सीमन" (Qualitative limitation) पर विचार जाय । इस प्रस्ताव का अभिप्राय यह था कि राष्ट्रमन्त्रों का दो वर्गों और प्रति रक्षात्मक में विभाजित किया जाय और आक्रमणात्मक दस्त्रों को सीमित दिया जाय । परन्तु राष्ट्रमन्त्रों में इस प्रकार का वर्गीकरण करना बठिन हो गया कि इस सम्बन्ध में राष्ट्रों में उग्र मतभेद हो गया । एक राष्ट्र एक राष्ट्र के अनिरक्षतात्मक हो सकता था ता दूसरे के लिए बन्नी आक्रमणात्मक प्रमाणित हो स

११। उदाहरणार्थ ब्रिटिश नौ सेना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए प्रतिरक्षात्मक वस्तु थी जबकि जर्मनी के लिए आक्रमणात्मक। अतः यह सुझाव भी सम्मेलिते का मांग प्रशस्त करने में असफल रहा।

आखिरकार २० जुलाई को एक सम्मेलिते का प्रावृष तैयार किया गया। इसमें तीन बातों पर जोर दिया गया था—(१) हवाई बमवर्षा पर रोक, वायुयानों का सीमन और सैनिक वायुयानों के नियमों को तय किया जाय। (२) भारी तोप खाना और टैंकों का सामन और (३) रासायनिक धोर कीटाणु युद्ध पर रोक लगाना। ४१ राज्या ने इस सम्मेलिते का स्वागत किया, आठ राज्या ने मतदान में भाग नहीं लिया, दो राज्या-जर्मनी और रूस ने विरोध किया और इटली सहित आठ राज्य अनुपस्थित रहे। १६ दिसम्बर १९३२ सम्मेलन के लिए दुर्भाग्य पूरा साबित हुआ। इस रोज जर्मनी सम्मेलन पृथक हो गया और घोषणा कि जब तक राष्ट्रों के समानाधिकार का मान्यता नहीं दी जाती तब तक जर्मनी सम्मेलन में भाग नहीं लेगा। ब्रिटिश और फ्रेंच सरकार जर्मनी को सुविधाएँ देने की तैयार नहीं थी और जर्मन सहयोग के बिना किसी सम्मेलिते पर चर्चा असम्भव हो रहा था। दिसम्बर में पाँच राष्ट्रों—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जर्मनी का जेनवा में एक पृथक सम्मेलन हुआ और ११ दिसम्बर को एक सम्मेलन हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार “जर्मनी का यह दावा स्वीकार कर लिया गया कि उसे किसी भी सम्मेलिते में शामिल होने के समान अधिकार प्राप्त है जिसके अनुसार सभी देशों की सुरक्षा सध सके।” यह सम्मेलिते जर्मनी की प्रथम विजय था और वह पुनः सम्मेलन में आ गया परन्तु फिर भी फ्रांस के पास अब भी ‘सुरक्षा’ रूपी क का पत्ता (Trump Card) था।

फरवरी १९३३ में सम्मेलन का अधिवेशन फिर शुरू हुआ। इस समय तक परिस्थितियाँ बदल चुकी थी। ३० जनवरी १९३३ को नात्सी नेता हिटलर जर्मनी का चान्सेलर बन चुका था। २४ फरवरी को जापान ने राष्ट्र सघ सम्मेलन का की सदस्यता छोड़ने की नोटिस दे दी थी। इससे सम्मेलन का अन्तिम दौर भविष्य अंधकारमय हो गया। बर्साय संधि के अनुसार सावधानिक निश्चयीकरण या जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण के अधिकार की मांग में जबरदस्त टक्कर हो रही थी। ऐसी विषम परिस्थिति में इंग्लिश प्रधानमंत्री एव याजना के साथ जेनेवा आये। इस योजना को “मेकडानल्ड योजना” कहते हैं। इस योजना में प्रत्येक राष्ट्र की सेना और सैनिक सामग्री का विस्तृत उल्लेख था। परन्तु उच्च मतभेद के कारण यह योजना भी असफल रही। अतः सम्मेलन का अन्त अतु तब इस विदवास के साथ स्थगित कर दिया गया कि अन्तिम काल में निजी चर्चा के द्वारा स्थिति में सुधार हो जायेगा। परन्तु जब सम्मेलन पुनः प्रारम्भ हुआ तो फ्रेंच रूप अपरिवर्तनीय ही रहा। जर्मनी में हिटलर के उत्थप ने फ्रेंच सुरक्षा को और भी नाजुक बना दिया था और वह उस समय तक निश्चयीकरण के पक्ष में नहीं था जब

14 कि उसे जर्मनी शासक के विरुद्ध ठोस प्रत्याभूति न दी जाय। 15 अक्टूबर 1918 को जर्मनी ने सम्मेलन तथा राष्ट्र संधि में पृथक् होने की घोषणा कर दी। इसके सम्मेलन की गतिविधि 16 नया मार गया और कार्य ठप्प हो गया। क्योंकि सहाय के बिना उस समय तक सम्मेलन पर नहीं पहुँचा जा सकता था। अन्य राष्ट्र संगठित होकर सामूहिक रूप से जर्मनी पर सम्मेलन के नियमों को लागू करने पर तैयार नहीं थे। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में कोई भी राष्ट्र ऐसा कार्य को उत्तुंग नहीं था। क्योंकि इसका अर्थ था—एक दूसरा महायुद्ध, और कोई समय दूसरा महायुद्ध लड़ने की तैयारी नहीं था।

जर्मनी सम्मेलन में पृथक् हो गया परन्तु उसके साथ बात जारी रखी गई। (Eiden) ने बर्लिन, राम और पेरिस की यात्रा की। इटली ने 17 दिसम्बर 1918 को स्पष्ट कर दिया। इसके अनुसार 'राष्ट्र संधि के साथ इटली 18 राष्ट्र संधि के सम्मेलन, संगठन और उद्देश्यों में अस्पष्टता के कारणों से शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ रहने, पर ही निर्भर है।' हिटलर ने भी कुछ शर्तों के साथ रहना स्वीकार कर लिया परन्तु फ्रांस का ये शर्तें मान्य नहीं थी। उधर जर्मनी 19 रूप से और फिर पुनः रूप से शासनात्मक की बुद्धि करनी शुरू कर दी। फ्रांस ने पुनर्शास्त्रीकरण के बंधकरण (Legalisation) के प्रति दृढ़रदस्त विरोध प्रकट। इन नवीन परिस्थितियों में सम्मेलन किसी निश्चित याज्ञा को धक्का देने में असमर्थ, 1918 के अंत में सम्मेलन समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार, प्रारम्भिक नियुक्ति में लेकर सम्मेलन की समाप्ति तक लगभग 20 वर्षों के अथक उपरांत भी, निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में किसी प्रकार की प्रगति नहीं की जा सकी। पुनर्शास्त्रीकरण में प्रगति अवश्य हुई।

जून 1919 में राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने 21 नये महायुद्ध जहाजों की स्वीकृति दी। जापान ने तत्काल ही इससे अधिक जहाजों के निर्माण की घोषणा

जुलाई में अमेरिकन नौसेना ने हवाई द्वीप के पास युद्ध

पुनर्शास्त्रीकरण (Manoeuvre) का प्रदर्शन किया। अगस्त में

प्रतियोगिता इसका प्रत्युत्तर उत्तर-पश्चिमी प्रशांत में व्यापक नौ

युद्धाभिनय से दिया। फ्रांस और इटली भी पीछे नहीं

ग्रेट ब्रिटेन ने भी तेजी के साथ तैयारी कर दी। हिटलर के नेतृत्व में

द्रुतगति से शस्त्रास्त्रों के निर्माण में अग्रसर हो चुका था। शुमेन ने लिखा है

1919 मार्च 1919 को जर्मनी ने वर्साय संधि के पांचवें भाग का प्रति जर्मन करते

अनिवार्य सैनिक शर्तों को लागू किया। 7 मार्च 1919 को जर्मनी ने वर्साय संधि

1919 के और 1919 के अनुच्छेद तथा लामार्नी की धमियाँ उठाते हुये राइनलैंड

निष्पक्ष क्षेत्र में सैनिक दस्तों को भेज दिया। १९ वर्षों के बाद अन्ततोगत्वा की समाप्ति। जर्मनी के निःशस्त्रीकरण के साथ ही साथ राष्ट्र संध के निःशस्त्रीकरण प्रयत्ना। सन्धिपत्र द्वारा और जर्मनी पुनःशस्त्रीकरण के साथ ही साथ राष्ट्र संध के निःशस्त्रीकरण प्रयत्नों का अन्त हो गया। यूरोप की सामूहिक समझदारी ने सुरक्षा उपलब्धि की दिशा में असफल हो कर आत्महत्या की तरफ मुंह किया।

१९१८ से १९३५ के मध्य, निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए, राष्ट्र संध के अन्तर्गत और इसके बाहर, कई प्रकार के प्रयत्न किए गए, परन्तु वे असफल रहे और अन्ततोगत्वा सन्धि का दूसरा महायुद्ध निःशस्त्रीकरण— सड़ना पड़ा। आखिर क्या बात थी कि महान् शक्तियों को भी असफलता के कारण इस दिशा में असफल रहना पड़ा। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा कारण दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का सम्बन्ध था। सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना प्रत्येक राष्ट्र में अन्तर्गत हो कर चुकी थी। यूरोप की असुरक्षित स्थिति को देखते हुए राष्ट्रों का निःशस्त्र होना भय लगता था। कि उनका विश्वास था कि शांति संधियों या राष्ट्र संध से उनकी सुरक्षा नहीं हो सकती बल्कि सुसंगठित सैनिकों के द्वारा ही सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है। फिर भी, वे निःशस्त्र होने को तैयार थे यदि उन्हें सुरक्षा की ठोस प्रत्याभूति दी जाय। परन्तु इस प्रति में प्रत्याभूतक देश भी यदि निःशस्त्र हो जाय तो फिर आक्रमण के समय उनकी सुरक्षा किस प्रकार की जा सकेगी। अर्थात् प्रत्याभूतक देशों की सैनिक शक्ति स्थिर रहनी चाहिए। फिर निःशस्त्रीकरण की समस्या कम हो गई। यही एक समस्या थी।

इसके साथ ही साथ राष्ट्रों में निःशस्त्रीकरण की समस्या को सुलझाने के साधना। उपायों के बारे में भी मतभेद था। क्योंकि कुछ राष्ट्र युद्ध का सहारा लेने को उत्पुनः तो कुछ शांति के उपासक। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सत्ता हड़पने के लिए अपने देश के नागरिकों का ध्यान विदेश नीति में ही उलझाना चाहते थे ताकि उन्हें अपने देश की आंतरिक स्थिति का भान न हो। ऐसे नेताओं का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शांतिमय तरीकों से करने की बात सोचना भी भूलता है।

जर्मनी की मांग ने भी एक कठिनाई खड़ी कर दी। जर्मनी सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण या जर्मनी पुनःशस्त्रीकरण का अधिकार चाहता था। फ्रांस और उसके साथी दोनो तरफ से एक ओर मांग का पूरा करने को तैयार नहीं थे।

इसके साथ ही साथ एक और कठिनाई थी। वह यह कि आखिर कौन कौन से शस्त्रों का निःशस्त्रीकरण किया जाय। प्रतिसारत्मक और आक्रमणात्मक शस्त्रों में भेद



परना पाँटा था। इनके अतिरिक्त प्रत्येक देश का धन्य अल्प प्रकर के तले  
विशेष हित था और वह अपने हित का बलिदान करने का तैयार नहा था।  
बात तो यह है कि पूँजीपतियों के प्रभाव में आकर—जिनके पास सम्पत्ति  
तैयार करने वाले बड २ कारखाने थे, सरकार इस दिशा में किसी प्रकार का  
उठाने में रुचि नहीं रखती थी। क्योंकि इसमें पूँजीपतियों का गति पहुँचता था।

अतः में परिस्थितियों का प्रभाव भी महत्वपूर्ण था। साधारण अधिक सफ  
गुजर रहा था और साधारण बेगारों को काम देने का प्रयत्न भी था। यदि निरक्षर  
पर ध्यान दिया जाता तो इस सन्दर्भ का दूर करना तो दूर रहा उल्टा और भी  
हाल हो जाने की आशा थी। फिर मन्त्रि मण्डल का परिवर्तन भी एक  
जिम्मेवार था। इस प्रकार विविध कारणों और परिस्थितियों के कारण निरक्षर  
प्रभाव अनपेक्षित रह।

## सातवाँ अध्याय फासिस्टवाद, नाजीवाद व साम्यवाद

शांति संधियों की असफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे भूलभूत कारण जिन्होंने प्रथम विश्व युद्ध को उत्पन्न किया था, न तो युद्ध के द्वारा ही और न शांति व्यवस्था के द्वारा ही दूर किये जा सके थे। महायुद्ध समाप्ति के प्रथम दशक भूमिना के उपरांत, एक बार पुनः सम्पूर्ण संसार का अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं और आर्थिक अव्यवस्था से उलझना पड़ा और इन्हें सुलझाने में वह असफल रहा जिसके परिणामस्वरूप एकागताग्रो (Totalitarianism) का अभ्युदय हुआ और राष्ट्रीय हितों के मर्घर्ष का सूत्रगत हुआ। विद्वत् के प्रमुख राष्ट्रात्मक राजनीतिज्ञों ने एकागताग्र आक्रमणकारी राज्यों की तत्कालीन सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) प्रणाली के द्वारा नियंत्रित करने व रोकने के स्थान पर अपने दायित्वों से मुक्त भाडना शुरू कर ली और 'प्रसादन' (Appeasement) की नीति का आश्रय लिया। परन्तु प्रमाण्य नीति एकागताग्रों की शृंगार को वृद्ध करने में असफल रही और अन्त में एक दूसरे महायुद्ध में निपटना पड़ा।

उपरांत एकागताग्र राज्यों में इटली जर्मनी और रूस प्रमुख थे। इन राज्यों में प्रमाण फासिस्टवाद, नाजीवाद और साम्यवाद की जड़ मजबूत हो चुकी थी। वन जापान का मैनिक्वाद भी एक प्रकार से एकागताग्र शक्ति का दूसरा रूप ही था।

### (१) इटली फासिस्टवाद के चगुल में

१९१७ का रूसी आन्ति का भांति फासिज्म (Fascism) की उत्पत्ति अनेक वर्षों पूर्व एकत्र सामग्री के कारण हुई है। इसके लिए सुसानिनी के रणमंच पर आने के पूर्व के राजनैतिक और आर्थिक इतिहास की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

इटली प्रथम विश्व युद्ध के बीच विजेता राष्ट्रीय में से एक था।

**घुट्टभूमि**

उसने १९१५ में लंदन की गुप्त संधि द्वारा अस्वाभाविक प्रादेशिक विस्तार के प्रलाभन में आकर अपने मित्रों—जर्मनी और

आस्ट्रिया का साथ छोड़कर मित्रराष्ट्रा का पक्ष लिया था। परन्तु युद्ध समाप्ति के बाद लंदन की गुप्त संधि द्वारा प्रस्तावित विस्तार के वचन को मित्रराष्ट्रा न पूरा नहीं किया। यह ठीक है कि इटली का बहुत कुछ प्रादेशिक लाभ प्राप्त हुआ परन्तु उस समय भा अधिप प्रदत्ता की आशा थी। जब उसने, पेरिस शांति सम्मेलन में अपने दाव का रस्ता तो उस अपमानित किया गया और उसके साथ भूतपूर्व शत्रुता की भांति व्यवहार किया गया। इससे इटलीवासियों में यह धारणा फैलना गई कि यद्यपि उनमें युद्ध में विजय

प्राप्त की थी, उसने ज्ञानि को सा दिया है। इसका एक कारण यह भी था कि इतनी जल्दी अपनी विगोरावस्था में थी। उसमें अभी प्राचीन राष्ट्रो की सम्माननीय और शक्तिप्रिय प्रवृत्ति परम्पराएँ नहीं आ पाई थी। युद्ध में उमे अपार घन जन को क्षति उठानी पड़ी और जब लूट का बटवारा किया गया तो उसे टरका दिया गया। यह बात इटली को खटक गई। इतना ही नहीं १९१६ में इटली के नवयुवकों ने कवि अजियो (D'Annunzio) के नेतृत्व में फियूम (Fiume) पर अधिकार कर लिया तो महाशक्तियों का धिक्कार हो उठी और इटालियन सरकार ने फियूम, यूगोस्लाविया का लौटाना पड़ा। इसके बाद इटालियन लोकमत आर भी बिगड़ गया। इस प्रकार अलबानिया के मामले में भी इटली का निराशा होना पड़ा। युद्ध काल से इस प्रांत पर इटली का अधिकार था, परन्तु १९१८ में सम्मेलन ने इसे स्वतंत्र राष्ट्र मान लिया। मध्यपूर्व में भी इटली के हितों की हत्या का गई।

इटालियन सरकार को इस नवीन नीति से जनता घमसुष्ट हो गई। उसने अनुभव किया कि इटली में शक्तिशाली सरकार की स्थापना की आवश्यकता है। क्योंकि तत्कालीन सरकार जहाँ एक तरफ विदेश नीति में असफल हो रही थी, वहीं दूसरी तरफ वह घन भ्रष्टाचार आदि के कारण भी बदनाम हो रही थी। राजनीतिक नेताओं का नाश पतन हो चुका था। इसके अतिरिक्त इटली की आर्थिक स्थिति तुरी तरह से बिगड़ चुकी थी। राजकाय रिक्त हो चुका था। बेकार सैनिकों का जोविकाजर्जन के लिए कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। करा की मात्रा भी बहुत भारी पमाने पर बढ़ चुकी थी। चीजों की कीमतें बढ़ गई और मध्यमश्रेणी के लिए अपनी इज्जत का बचाना कठिन हो गया। उधर औद्योगिक पतन भी अपना रूप खिल रहा था। सम्पूर्ण इटली में हड़तालें, विद्रोह और तूटमार का बाजार गरम था। पूँजीपतियों का साम्यवाद का भयकर अस्ति की सम्भावना थी। इन परिस्थितियों में फासिज्म का उदय हुआ। हरबटर ने लिखा है—<sup>१</sup> “इटली और जर्मनी दोनों ही देशों में फासिज्म का आरम्भ युद्ध और उनके परिणामों में उत्पन्न होने वाला कठिनाईयाँ और विनाश के विरुद्ध मध्यम श्रेणी के तहसीलों के विद्रोह के रूप में हुआ। उनके सामने कोई भविष्य नहीं था, उनके कुटुम्ब अपनी सारी जमा पूँजी खो चुके थे व्यवसायों में पड़े रहने की जगह नहीं थी आर्थिक प्रगति के अवसर इतने कम थे कि वे सोच ही नहीं सकते थे कि विवाह कर सकें और सम्य जीवन का निर्वाह कर सकें। जब उन्हें केवल मौखरी ही नहीं दी गई परन्तु एक आदम भी सामने रखा गया जो उनके देश के नैतिक और आर्थिक पुनर्निर्माण का आदेश था ता सवश्रेष्ठ नवयुवकों में से बहुतों ने अनुभव किया कि उन्हें एक ऐसी वस्तु मिल गई थी जिसने उनके जीवन का साधक बना दिया था जो केवल स्वयं को बचाने की तुलना में वही अधिक प्रेरणादायक थी। यह अमर्यादित राष्ट्र मेवा का एक बड़ा घमसीन प्रयत्न था।”

फासिज्म की उत्पत्ति राजनीतिक अराजकता विश्वयुद्ध के उपरान्त की घटनाओं से उत्पन्न राजनीतिक विक्षोभ के कारण हुई। जा लोग महायुद्ध के उपरान्त इटली का स्वर्ण प्रभात देखने का उत्सुक थे, उन्हें अचानक देखना पड़ा और उस अचानक के मध्य दिखलाई पड़ी—फासिस्ट रूपी क्षीण प्रकाश की रेखा जो उन्हें स्वर्ण

**फासिज्म की उत्पत्ति** प्रभात की याद दिला रहा था। अतः यह वर्ग क्षीण ही फासिज्म के प्रभाव में आ गया। पूँजीपति वर्ग का साम्यवाद के प्रसार से घृणा थी और फासिज्म साम्यवादियों से सघर्ष करने और सामाजिक व्यवस्था की पुनः व्यवस्था की घोषणा कर रहा था। अतः पूँजीपति वर्ग भी इसका समर्थक हो गया। फिर मजदूरक वर्ग था, जिसे साम्यवादियों ने रूखी थी, प्राचीन गौरव के प्रति श्रद्धा थी और आदर्शवाद के प्रति नम्र थी शीघ्र ही फासिज्म का बहुत समयक बन गया। इसका अतिरिक्त अमूल्य साधन राजनीतिक ज्ञान में वृद्धि, सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियाँ सन्तुष्ट थे, शीघ्र ही फासिस्टवादी जान बूझकर मिलाएँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि फासिज्म की उत्पत्ति इटली का तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थी। एक मुनिचिन्तन याज्ञना का फल नहीं बल्कि प्रवृत्तियों की उपयोगिता का फल था।

इस विचारधारा का प्रेरक दलितो मुसोलिनी था। मुसोलिनी का जन्म १८८३ में रामेगना प्रांत के राजनीतिज्ञ छुहार के घर हुआ। उसका पिता बकुनिन (Baku) का अनुयायी था। यह जातिकारी समाजवादी था। उसने मुसोलिनी को स्थानीय पाठशाला में अच्छी शिक्षा दिलवाई। शिक्षण समाप्ति पर मुसोलिनी प्रारम्भिक जीवन के बाद मुसोलिनी ने पहिले अध्यापक का, फिर सम्पादक का काम किया और बाद में समाजवादी दल में सम्मिलित हो गया। इस बाद वह स्विट्जरलैण्ड चला गया जहाँ उसे दुख और गरीबी में जीवन बिताना पड़ा। १९११ में पुनः इटली लौट आया और समाजवादी दल का काम करने लगा। युद्ध काल में उसने इटली की तत्स्थिति के विरुद्ध आन्दोलन किया और घोषणा की कि इटली की युद्ध में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में सम्मिलित हो जाना चाहिए। उसकी इस कार्यवाही के कारण उस समाजवादी दल में निवास किया गया क्योंकि दल युद्ध में भाग लेने का विरोधी था।

२३ मार्च १९१९ को मुसोलिनी ने प्रथम फासिस्ट वर्ग (Fascio di Combattimento या Fighting Groups) का निर्माण (भीतान नगर में) किया। इस सदस्यों की संख्या वृद्धि १०-१५ थी। इस दल का लक्ष्य निश्चित कार्यक्रम नहीं था। १९२१ तक फासिस्ट दल की नीति किसी प्रकार की नहीं थी, मुसोलिनी ने बार-बार सम्पत्ति मालिकों के स्वतन्त्र अधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन दिया। आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों एवं सुधारों की घोषणा की। उसने किसानों का भूस्वामित्व का, श्रमिकों के लिए आठ घंटे कार्य व्यवस्था का

नियंत्रण में हिप्पो का युद्ध सामग्री के उच्चांग के राष्ट्रीयकरण का, और मुनाफे सात गानी से उठा देने का वचन दिया। परन्तु इस प्रकार के वचनों से उस "न मिल सकी और १९१६ के आम चुनाव में फासिस्ट दल का एक भी स्थान न हो सका।



चित्र "मुसालिनी"

की सहायता करना तय कर लिया। १९२०-२२ में सम्पूर्ण इटली में फासिस्टो वाला कुर्त्ता वाला और समाजवादिया में खुल्ले आम झड़पें हुई और समाजवादिया के 'केन्द्र' जला दिए गये। इटली का समाजवादी प्रधानमंत्री जियोलिटो (Giulitti) मुसालिनी का समर्थक बन गया। मार्च १९२१ में उसने लाइसन्स की भंग कर दी और नवीन चुनाव किये गये। इस बार फासिस्ट दल को २२ स्थान प्राप्त हुए मुसालिनी ने लोकसभा में घोषणा की—“वह प्रतिनिधिसभा है, क्योंकि वह। नभात्मक विरोधी, प्रजातांत्रिक विरोधी और समाजवादी विरोधी है।”

१९२१ के निर्वाचन में फासिज्म की विजय महत्वपूर्ण थी। इस विजय के परिणामस्वरूप फासिज्म के संगठन में भी महत्वपूर्ण सुधार किये गये। १९२१ के फासिज्म एक आन्तेलनमात्र था, एक दल नहीं। ७ नवम्बर १९२१ का रोम के फासिस्ट सम्मेलन में एक निश्चित फासिस्ट-दल की स्थापना का निश्चय किया गया। दल का नवम्बर ७, सैनिक पद्धति के आधार पर, प्राचीन रोमन सैनिक दस्ता की प्रणाली पर स्थापित किया गया। अगुआमन और दल के नेता ड्यूस (Duce) का प्रति स्वामिसिद्धि का जार दिया गया।

परन्तु मुसालिनी अपनी से राजनीतिक क्षेत्र से पाठ। भागने वाला नहीं था। वह टटार समाजवादियों की सफलता ने नविष्य की उज्ज्वल बना दिया वादिया की सफलता ने घनवाना मध्यम श्रेणी के लोगों में भय की जाग्रत कर दिया। इसी समाजवादी दल ने अत्यधिक का आश्रय भी लिया। अगस्त १९२१ में उत्तरो इटली में अनेक कारखानों मिनी आदि पर श्रमिकों ने अधिकार कर लिया। इन घटनाओं पूरा जीर्ण वग में भय उत्पन्न हो उठाने समाजवाद के विरोधी मुन

१९२२ में इटली के प्रजातान्त्रिक शासन का पतन हो गया। सितम्बर १९२२ में मुसोलिनी ने अपने दल के सैनिक सदस्यों की सहायता में राजधानी रोम पर अधिकार करके सत्ता हथियाने का फैसला कर लिया। २८ अक्टूबर को ५०,००० काली कुर्तियाँवाले फासिस्ट स्वयंसेवक नेपल्स में एकत्र हुए और २८ अक्टूबर को रोम की ओर अभियान किया गया। अभियान घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया गया कि यह अभियान सम्राट, सिना या देश के उत्पादक तत्वों के विरुद्ध नहीं है बल्कि उन लोगों के विरुद्ध है जो सत्ता का दुरुपयोग कर रहे हैं। सम्राट न विद्रोह का कुचलने के सबब में तत्कालीन प्रधान मंत्री लुजीफ्रेटो के प्रस्ताव को रद्द कर लिया और २९ अक्टूबर १९२२ को मुसोलिनी को मन्त्रिमंडल बनाने को नियुक्त किया। १९२१ से १९२८ तक मुसोलिनी ने धीरे धीरे अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया और अंत में इटली का वास्तविक एकशास्त्रा बन गया।

## ( २ ) जर्मनी-नाजीवाद के प्रभुत्व में

प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी के होहन शोलन राजवंश के साथ ही साथ राजतन्त्र का भी प्रवसान हो गया और प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली की स्थापना की गई। १९ जनवरी १९१९ का जर्मन रीप्ट ( लोकसभा ) के चुनाव हुए और ६ फरवरी को वीमर ( Weimar ) नगर में तत्कालीन जर्मन नेता एबर्ट ने असेम्बली को আহूत किया। एबर्ट को जर्मन प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति चुना गया और उसने शीडमैन ( Scheidmann ) को चांसलर नियुक्त किया। वर्साय की आरोपित ( diktat ) संधि के साथ वीमर प्रजातन्त्र का सहयोग, एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण उपनिवेनों की क्षति राइनलैंड पर एला फ्रेंच आधिपत्य, सार पर फ्रेंच नियंत्रण और १९२३ में रूर पर अधिकार और अत्यधिक क्षतिपूर्ति की रकम - इन सबने मिलकर वीमर प्रजातन्त्र के भविष्य को अकारण बन कर दिया था। रूर आधिपत्य ने तो मध्यमवर्ग पर इतना जबरदस्त प्रहार किया कि उनकी बमर ही टूट गई और एक ही राति में उनकी जमा पूंजी समाप्त हो गई। १९१९ से १९३२ तक जर्मन प्रजातन्त्र की गई महत्वपूर्ण एक कठिन परिस्थितियाँ से गुजरना पड़ा। आर्थिक संकट ने प्रजातन्त्र की नींव खींचली कर दी और जर्मनी में नासीवाद की प्रगति का द्वार उ मुक्त हो गया।

विदेशनीति के क्षेत्र में भी जर्मन प्रजातन्त्र को कोई महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई। १९१९ से १९३२ तक जर्मन राजनीति का प्रमुख उद्देश्य था—पिटुभूमि के लिये राष्ट्रो के परिवार में सम्मानपूर्वक प्रवेशाधिकार की पुनः प्रजातन्त्र की विदेश प्राप्ति। इस दिशा में जर्मन राजनीतिज्ञा में मतभेद नहीं था। नीति कुछ हद से मित्रता करने के पक्ष में थे ता दूसरे अपने शत्रु राष्ट्रा के साथ सम्बंध स्थापित करने के पक्ष में थे। प्रथम दग का वहना था कि इस के साथ मित्रता स्थापित करके संधि के अपमानजनक अनुच्छेदों का अस्वी

नरए नर देता चाहिए । जबकि दूसरे गुट का कहना था कि गुराने यमुना न  
मिलकर काम करना चाहिए और संधि न दामित्व का पालन करना चाहिए ।

गुट में ऐसा दिक्कत आई पड़ती थी कि प्रथम गुट विजयी रहता क्योंकि १९२२  
जर्मनी ने रूस के साथ रपालो, (Rappallo) की संधि का । चार वर्ष के बाद  
संधि का आधार पर रूस के साथ एक दूसरी संधि भी की गई । परन्तु रूसक बाद,  
गुट की वन आई और रूसी मुवाय्य कम पड़ गया । दूसरे गुट का नेता था—डा०  
( Dr Stresemann )

अगस्त १९२३ में स्ट्रेसमान जर्मनी का चांसलर बना परन्तु कुछ ही म  
म उसे अपने पद में त्याग पत्र देना पड़ा । इसके बाद वह विदेश मंत्री बना और  
मृत्यु तक ( ( अक्टूबर १९२९ ) इस पद पर बना रहा । स्ट्रेसमान की विदेश नीति  
मूल ध्येय मित्र राष्ट्रों से विशेषकर फ्रांस से मित्रता बढ़ाना और राष्ट्रों के परिवारों  
जर्मनी की अपना छाया हुआ स्थान दिलवाना था । उसने रूस में चलन बाल  
आ दोहन को बन्द किया । डावेस याजना का स्वागत किया और विविध राष्ट्रों के  
व्यापारिक संधियों की तथा विदेशी विश्वास का प्राप्त करने में सफल हुआ ।  
सर्वोच्च महत्वपूर्ण माय लोहार्न ममभौता धार राष्ट्रसंघ में जर्मनी का प्रवेश  
दस्ता परिणाम भी अच्छा रहा । १९२७ में जर्मनी से आधिपत्य मतान् हटता ।  
१९२८ में जर्मनी ने पण सम्मान के साथ अन्य राष्ट्रों के साथ पणिस  
पर हस्ताक्षर किया । १९२९ में क्षतिपूर्ति का नवान हल  
गया और मग योजना लागू की गई । १९३० में राइनलण्ड को मित्रराष्ट्रों न  
कर दिया ।

स्ट्रेसमान की मृत्यु के उपरांत उनके उत्तराधिकारी डा० फ्रिट्जस न  
समय तक उसकी नीति को जारी रखा परन्तु आस्ट्रिया जर्मन सीमा शुल्क ऐक्य वि  
के कारण उसे स्वीकार करना पड़ा । उसके साथ ही स्ट्रेसमान की नीति का भी अन्त  
गया । हिटलर के उत्पन्न नव जर्मन राज्य की विदेशनीति इधर उधर ओरों में भ्रम  
रही । नात्सी दल ने उसे एक निश्चित ध्येय प्रदान किया ।

नात्सी दल का संस्थापक एडोल्फ हिटलर था । हिटलर का जन्म १८८९ ई  
में जर्मनी में ही बल्कि आस्ट्रिया में एक मध्यम परिवार में हुआ था । प्रारंभ  
से ही हिटलर को चित्रकला में रुचि थी और वह चित्रकला का शिक्ष  
वनना चाहता था । परन्तु प्रथम महायुद्ध ने उसके भाग्य को  
नात्सी नेता मोड़ दिया । वह जर्मन सेना में भर्ती हो गया । उसकी वारं  
हिटलर के उपलब्ध में उसे “आइरा फ्रांस” से सम्मानित किया गया ।  
परन्तु युद्ध में जर्मनी को पराजित होना पड़ा और उन पर  
आग्राहित अग्रमानित संधि ने हिटलर के मानस पर गहरा प्रभाव डाला । उसने इस





( Sturm Abteilungen ) कहा जाता था । इनका काय नाज़ी गति की प्रदर्शित करना तथा नाज़ी समाज की रक्षा करना और अन्य दलों को समाप्त करना था ।

१९३२ ई० के चुनावों में हिटलर राष्ट्रीय दल की तरफ से राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग के विरुद्ध राष्ट्रपति पद के लिए खड़ा हुआ । यद्यपि इस में हिंडेनबर्ग पुनः विजयी हुआ परन्तु फिर भी हिटलर को ३७% मत मिले । रीष्टाग के चुनाव में इस दल को सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए । लोकसभा में ५८४ स्थानों में से ११६ स्थान मिले । परन्तु हिटलर को चांसलर न ( Schleicher ) को चांसलर नियुक्त किया गया । आठ सप्ताह बाद उसे पद से त्यागपत्र देना पड़ा और ३० जनवरी १९३३ को हिटलर का जर्मनी का नियुक्त किया गया ।

हिटलर चांसलर तो बन गया परन्तु उसका अपने स्वरूप सदस्य वाला आठ राष्ट्रवादियों को नियुक्त करना पड़ा । केवल तीन नात्सी भी थे । रीष्टाग भी नात्सीदल का बहुमत नहीं था । अतः हिटलर ने रीष्टाग नात्सी सत्ता बन करके २७ फरवरी १९३३ का नवीन निर्वाचन की घोषणा की । चुनाव के कुछ दिन पहिले नात्सी सरकार ने विरोधियों की घर पकड़ गुरू कर दी । रीष्टाग का रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में जल गया और इसका मारा दोष साम्यवादियों के मार दिया गया । उत्तेजना में परिपूर्ण वातावरण में ६,०००,००० नागरिकों ने मत भाग लिया । १७,०००,००० में अधिक लोगों ने नात्सीदल का मत दिया । का २८८ स्थान और उसके साथियों को ५२ स्थान प्राप्त हुए । इस समय रीष्टाग कुल सदस्य सदस्य ६४७ थी । इस प्रकार नात्सीदल और उसके सहयोगी दल का मत में बहुमत प्राप्त हो गया ।

२४ मार्च १९३३ का रीष्टाग ने ६४ मतों के विरुद्ध ८४१ मतों से एक नियम पार करके मंत्रिपरिषद् के स्थापित करके हिटलर का तानाशाही अधिकार प्रदान कर दिया । हिटलर का नियमों के निर्माण का एकाधिकार प्राप्त हो गया । अगस्त १९३४ में जर्मनी राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग की मृत्यु हो गई और हिटलर राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री दोनों बन गया । उसने 'इम्पोरियल सोडर' की पदवी धारण की । जनता ने ९०% मतों से हिटलर का काय का स्वीकार कर लिया । इस प्रकार हिटलर जर्मनी का एकमात्र शासक बन गया और इसके साथ ही जर्मनी प्रजातन्त्र का अन्त तथा नाज़ी साम्राज्यवाद का मूलपात हुआ ।

यहाँ पर उन कारणों का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा जिनके आधार पर  
 तर की शक्ति का विकास संभव हो सका था। सर्वप्रथम कारण हिटलर का भसा-  
 धारण व्यक्तित्व था। हिटलर एक मजा हुआ राजनीतिक  
 उन्नति के सिताडो थी। वह एक प्रतिभावान एवं महान् वक्ता था। उसने  
 कारण एक विचित्र मोहनी शक्ति थी, जो जर्मन समाज को धार्मिक  
 करने की अपूर्व क्षमता से परिपूर्ण थी। उसकी स्वरनट्टीय  
 ने के लिए दूर दूर से श्रोतागण एकत्र हो जाते थे। उसमें राजनीति का दाव पैदा हो  
 ना आवश्यकतानुसार कार्यान्वित करने की अद्भुत माय्यता था। इसी में  
 शक्ति का रहस्य था।

युद्ध और शांति व्यवस्था ने, नैतिक तथा भौतिक दृष्टि में जर्मनी को दुर्बल बना  
 था। जर्मन लोग, पराजय, अपमान और वसाय की आरोपित करने का प्रयत्न  
 ही भूल सकते थे। शास का सत्त्व विरोधी रुख रूर धाधिपत, राज्य के विरुद्ध, सत्त्व  
 धिपत्य, उपनिवेगों की क्षति, क्षातशक्ति की रक्ष, जर्मनी का निरन्तर  
 साम ने जर्मन जनता के श्रेष्ठ का उत्साहित करने में योगदान दिया। १९२४ के १९२९  
 अस्थायी आर्थिक पुनरुत्थान के काल में ये विचार और शब्द इन्होंने ही जर्मन  
 का अस्तित्व बना रहा और आर्थिक संकट के तब में जर्मन के दिल में  
 ए रंगमंच पर आ डटे।

तीसरा कारण था प्रजातान्त्रिक लोकसभात्मक व्यवस्था के अभाव में।  
 त से जर्मन लोग, लोकसभात्मक शासन प्रणाली, जिसका वे शत्रु थे, को नहीं  
 उसे असंतुष्ट थे क्योंकि उन्हें व दिन बाद ये जर्मन ने लोकसभात्मक व्यवस्था की  
 ए व्यवस्था थी, १ कि बाद विचार और प्रवृत्तियों के कारण। स्वतंत्र राजना-  
 श केवल वचनों और धारों प्रतिष्ठा करते हुए थे। वह एक प्रकार एक शक्ति  
 की व्यक्ति को जर्मनी के भाग्य विधान के रूप में देखते थे। जर्मनी के नामक  
 न लोग का तत्कालीन शासकीय स्थिति के प्रति निराशा थी।

शांतिपत्र तथा साम्यवादियों का दमन, थर्मिका का शापितो में मुक्ति का वचन  
की उत्पादकों से, छाट छोटे व्यापारियों को बड़े २ मुनाफाखोरा से बचाने का  
नियम लिया गया। हिटलर के इस कूटनीतिक कार्यक्रम ने सबको सतुष्ट कर दिया।  
अतिरिक्त इस कार्यक्रम का प्रचार भी जोर जोर के साथ किया गया। तूफानी  
के प्रदर्शन से श्रम दल भयभीत हो गये और सर्वनाधारण का यह विश्वास हो गया।  
नासी दल जर्मनी के जनक की धारणा को शक्ति रखता है और नासी शासन जर्मनी  
स्थायी शांति तथा व्यवस्था प्रदान करने में सफल रहगा।

### ( ३ ) रूस साम्यवादी हो गया

साम्यवाद की उत्पत्ति की विस्तृत व्याख्या ता दूर रही संक्षिप्त व्याख्या भी,  
स्थान पर करना बहिन है। केवल कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। काल मार्क्स  
आधुनिक समाजवाद के सिद्धान्तों को जन्म दिया और इन सिद्धान्तों की नींव पर  
साम्यवाद की उत्पत्ति और उत्पत्ति हुई है। मार्क्स के मतानुसार राज्य की सत्ता वि  
व मजदूर के हाथ में हानी चाहिए। जब राज्यसत्ता जनता के हाथ में रहेगी और  
व पूँजी पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रहेगा और सब लोग श्रमी की हैसियत में  
करने लगेंगे, तो स्वयं एक श्रेणी व वर्ग बिहिन समाज का निर्माण हो जायेगा  
कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा।

काल मार्क्स के सिद्धान्तों का सर्वप्रथम रूस में सफलतापूर्वक कार्यान्वित  
गया। प्रथम महायुद्ध के उत्तरार्द्ध में ८ मार्च १९१७ ई० को रूस में तत्कालीन

वर्ष के जार के अनरुण शासन के विरुद्ध क्रांत का सूत्रपात

रूसी क्रांति और १८ मार्च १९१७ का समसामयिक सरकार की स्थापना

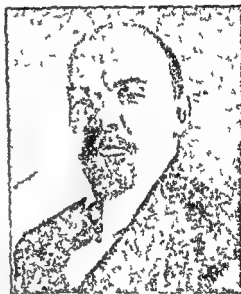
साथ हो जागजाही का अन्त हो गया और रूप प्रजातंत्र

गया। समसामयिक सरकार का अध्यक्ष प्रिम स्टाव था। केरेत्सकी का साथ  
बनाया गया। परन्तु क्रांति के संचालक व कर्मचारी उग थर्मिको को काइ स्थान नहीं  
गया। केरेत्सकी युद्ध जारी रखना चाहता था परन्तु जनता राटो चाहती थी। ए  
बोल्शेविक दल के नेतृत्व में पुन विद्रोह हुआ। यह सघष काफी समय तक चला  
परन्तु अन्त में ७ नवम्बर १९१७ का लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल की विजय।  
और मेनशेविक दल का नेता केरेत्सकी का पतन हुआ। इस प्रकार रूस में लेनिन का प्र  
स्थापित हुआ।

लेनिन के सामन बहुत सी कठिनाइयाँ थी। उसने इन कठिनाइयों का दूर कर  
के लिए जर्मनी के साथ १९१८ में ब्रेस्ट लिटोवस्क नामक स्थान पर संधि करती  
युद्ध में पृथक् हो गया। इसके बाद उसने अधिक मुद्दारा की तरफ ध्यान दिया। १९  
में लेनिन की मृत्यु हो गई और स्टालिन रूस का एकमात्र शासन बन गया। तब तब  
परन्तु स साम्यवादी बन चुका था।

परन्तु यह सब कुछ आसानी से या मनायास ही नहीं हो गया। इसने लिए  
 १. गियो का अधिकार बलिदान करना पड़ा। क्योंकि रूसी क्रांति पश्चिम के लिए एक  
 २. जबरदस्ती चुनौती थी। सत्कार का पूजावादी षण साम्यवादी  
 ३. साम्यवादी रूस सफलता से काप उठा। साम्यवादी रूस न जा रहा ही क  
 ४. की विदेश नीति विदेशी शक्तों का चुनने से अस्वीकार कर लिया और सम्पूर्ण  
 ५. सत्कार में साम्यवाद के प्रसार की घोषणा की। रूस न न  
 ६. युद्ध युक्त मधिया की अस्मिता ही की परन्तु जा रहा ही द्वारा की गई युद्ध मधिया की

१. क्रांति करके पश्चिमी राष्ट्रों के काले  
 २. फारनामा का भी स्पष्ट कर दिया, इससे  
 ३. पश्चिमी राष्ट्र बोलता उठे और उहान  
 ४. लिन प्रशासन का उत्थान के लिए सक्रिय  
 ५. प्रतिक्रिया पेश की। जनरल कारनिन ने  
 ६. राजतन्त्र की स्थापना के लिए प्रयत्न किया,  
 ७. जनरल डेनिकन और जनरल त्रैनजन न  
 ८. 'सोवियत' रूसी समाजों की सहायता से यूरोप  
 ९. में प्रभाव फैला दिया, कावेगम और बाल्टिक  
 १०. जर्मन ब्रिटिश और फ्रेंच सक्रिय थे, ब्रांडी-  
 ११. स्टव में अमेरिकन और जापानी सैन्य  
 १२. शक्ति, माइकलिया में मानव और छात्र  
 १३. जर्मन सैन्य थे। भूतपूर्व दाक्षिण मलिन  
 १४. राष्ट्र और उनकी २२ मीनक टुरनियां



विक्टर लिनन

१. सत्कार का तत्काल उत्थान में लगी हुई थी। एक समय ता एमा नी आया उन्नी लज्जित  
 २. प्रतिद्वन्द्विता के पास उसमें साम्य गुनी भूमि था। परन्तु लिनन ने धीरे धीरे इन बाधाओं  
 ३. को दूर किया। परन्तु मित्रराष्ट्रों के इस हस्तक्षेप में रूस का उत्थान रुक कर गया।  
 ४. रूस के सामने एक समस्या थी पश्चिमी देशों से किस सम्पर्क स्थापित किया जाय।  
 ५. की शक्ति के माध्यम से सम्पर्क स्थापित नहीं हो सका था केवल उन देशों के साथ  
 ६. सम्पर्क पश्चिम के प्रभाव से दूर थे, सम्पर्क बढ़ाया जा सकता था।

१. इस समय जर्मनी पराजित व शरणार्थी स्थित में था। वह राष्ट्रों में भी प्रथम  
 २. स्थिति में था। रूस ने १९२२ में जर्मनी के साथ सम्पर्क की शक्ति की। द्वितीय  
 ३. उत्थान तक दोनों देशों में आर्थिक आर्थिक सहयोग बना रहा। इसमें पूर्व द्वन्द्व के  
 ४. १९२० में व्यापारिक सम्पर्क की जा चुका था। नीचे के साथ भी रूस ने सम्पर्क  
 ५. स्थापित किया। १९२४ में रूस ने चीन के साथ सम्पर्क की। १९२७ के बाद मारिस्ट शक्ति  
 ६. प्रथम प्रमाण तथा आशावाद की व्याख्या से सबधित अनेक सम्पर्कता पर दृष्टान्त किया।  
 ७. रूस परन्तु का उन्नी जबरदस्ती सुवर्धन किया। १९३० में रूस ने प्रथम व माध्यम गुप्तता  
 ८. स्थापित की।

सम्बन्धी समझौता सम्पन्न किया। इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया के साथ भी सन्धि की गयी। इस प्रकार साम्यवादी रूस ने धीरे धीरे पश्चिमी देशों का बुद्धिमान विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में उसे जो सफलता मिली थी, वह स्टालिन की नीति की है। क्योंकि उसके पूर्व लेनिन का उद्देश्य सम्पूर्ण साम्यवाद का प्रसार करना था। परन्तु स्टालिन इस नीति के पक्ष में नहीं था। उसने पहले रूस की आर्थिक दृष्टि से उन्नत करना था और फिर साम्यवाद का प्रसार प्रयत्न करना था। द्वितीय के उत्कर्ष से रूस की विदेश नीति में महान् अन्तर आया। १९३४ में वह राष्ट्रमण्डल का सदस्य बन गया और पश्चिमी देशों के अधिक निकट गया परन्तु पश्चिम ने समय समय पर उसके साथ विश्वासघात करके उसकी पीठ पीछे से हमला किया। इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में दिया गया है।

---

## आठवाँ अध्याय सामूहिक सुरक्षा का अवसान

सामूहिक सुरक्षा से हमारा अभिप्राय उस प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत किसी आक्रान्ता देश द्वारा सर्वमान्य प्रादेशिक अखण्डता का अतिव्रमाण करने पर या अकारण ही आक्रमण करने पर, दूसरे अन्य देश मिल कर उसका प्रतिरोध सामूहिक सुरक्षा करते हैं अर्थात् सामूहिक कायवाही करते हैं। इस प्रकार की प्रणाली का एक विशिष्ट महत्व है और इसके सहारे युद्धों के भय को दूर किया जा सकता है तथा विश्वशांति को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। इतिहास में अत्यल्प युगों में, किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व रहा है। यूरोप के इतिहास में पोलियन के विरुद्ध लड़े गये युद्धों में इस प्रणाली का प्रत्यक्ष दशन उपलब्ध होता है। यूरोप की मविदा (Concert of Europe) भी कुछ सीमा तक, इसी सिद्धांत पर आधारित थी। विस्माक की कूटनीति ने सामूहिक सुरक्षा की नींव को खोलनी कर दिया और जर्मन एकीकरण पूर्ण किया गया। संयुक्त जर्मनी विश्व शांति के लिए एक सफ्ट बन गया और इस सफ्ट का दूर करने के लिए प्रथम महायुद्ध लड़ा गया जिसमें एक बार न सामूहिक सुरक्षा का सहारा लिया गया। युद्ध समाप्ति के बाद युद्धकालीन सामूहिक हथियारों को बनाये रखने की दृष्टि से राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। परन्तु राष्ट्रीय हितों महान् शक्तियों में आपसी मतभेद उत्पन्न कर दिया और सामूहिक सुरक्षा पुनः खतरे में पड़ गई। इसमें एकशास्त्रियों का उत्साह बढ़ा और उन्होंने प्रादेशिक विस्तार योजनाएँ बनायीं व कार्यान्वित करनी शुरू कर दी। प्रारम्भ में महान् शक्तियों ने प्रसादन (Appeasement) की नीति का सहारा लिया। परन्तु प्रसादन की नीति एकशास्त्रियों की बुद्धि को पूर्ण रूप से तृप्त करने में असफल रही और जब एकशास्त्रियों की उन्नति से महान् देशों की स्वयं की सुरक्षा भी खतरे में दिखलाई पड़ी तो एक बार पुनः महायुद्ध लड़ा गया और सामूहिक बंदम उठाया गया।

अब हम उन घटनाओं का उल्लेख करते हैं जिनके कारण युद्धोपरान्त सामूहिक सुरक्षा का ढांचा धरमरा कर टूट गया।

सामूहिक सुरक्षा प्रणाली पर प्रथम भयंकर प्रहार करने वाली घटना थी—जापान द्वारा चीनी प्रांत मंचूरिया पर अधिकार। यहाँ हम इस घटना का संक्षेप में वर्णन करते हैं। विस्तृत उल्लेख यथा स्थान पर किया जायेगा। १८ मंचूरिया पर सितम्बर १९३१ की रात्रि को मुकदन के पास दक्षिणी मंचूरिया पर जापानी अधिकार रेल्वे को बम विस्फोट से नष्ट कर दिया गया। जापानियों ने इस घटना का दाप समीप में स्थित चीनी सैनिक छावनी पर डाला और उसी दूसरे दिन मुकदन पर अधिकार कर लिया। चीन ने इस घटना का

मामुस रगा । परन्तु राष्ट्रसंघ बागजी कार्यवाही के प्रतिरिक्त या प्रायोगिक निष्कृत वस प्रतिरिक्त कोई सक्रिय बंदम नहीं उठा सका । उपर जापान ने फरवरी १९३२ सम्पूर्ण मचूरिया पर अधिपार कर लिया और इसे स्वतंत्र राज्य घोषित करने हुए अपनी गठगुतली सरकार स्थापित करदी । इस पर राष्ट्रसंघ ने जापान का दायो दिया । प्रत्युत्तर में जापान ने २७ मार्च १९३३ का राष्ट्रसंघ में सम्बन्ध विच्छेद करने घोषणा कर दी ।

मचूरिया के मामले में सामूहिक सुरक्षा को लागू न करना एक भयंकर ग्राह की घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि १९३१-३२ में चीन की क्षति पर जापान सतुष्ट करने की नीति से भावी जापानी प्रसार की योजना में किसी प्रकार की कमी आई । उल्टे सत्तार का सामूहिक सुरक्षा से विश्वास उठ गया । इसके प्रतिरिक्त महान् शक्तियों का मतभेद स्पष्ट हो गया और एकास्ता राज्यों को अपनी तुलना करने में अत्यधिक उत्साह प्राप्त हो गया ।

इससे पूर्व कि हम हिटलर के कार्यों का उल्लेख करें, हमें उसकी विदेश नीति मूल रूप को समझ लेना चाहिए । हिटलर द्वारा सत्ता हड़पने के उपरान्त जापानी नीति अपनाई गई थी वह राष्ट्रीय समाजवादी दल द्वारा १९१९ हिटलर की स्वीकृत कार्यक्रम की नीति से भिन्न थी । इसलिए विदेश नीति प्रश्न उत्पन्न होता है कि नाजी शासन में जर्मन वैदेशिक नीति के सच्चे रूप को चीन प्रकट करता था ? यदि 'मेरा सचप' ( Mein Kampf ) का सही मान जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इससे शांति व्यवस्था की भांशा दुरागामात्र 'मेरा सचप' में लिखा है— 'यूरोप में कभी भी दो महाद्वीपीय शक्तियों का होने दो । जर्मन सीमान्त पर एक दूसरी सैनिक शक्ति को संगठित करने के प्रत्येक को, चाहे वह एक सैनिक शक्ति के योग्य राज्य बनाने के रूप में ही हो, जर्मनी आक्रमण समझ और ऐस किसी राज्य के उत्थान को रोकने के लिये और यदि यह से मौजूद हो तो इसे विध्वंस करने के लिए हथियार उठाने का न केवल अपना बल्कि कर्तव्य समझो ।' परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि 'मेरा सचप उस (१९२०) के अविवेक का फल परिणाम था, जो कि अब त्याग दिया गया था । जिसका लेखक एक गैर जिम्मेदार आंदोलनकारी था और इस कार्यक्रम का चुनाव सफलता प्राप्त करने की दृष्टि से बनाया गया था । 'हिटलर की विदेशनीति का मूल सच्य जर्मनी के लिये महाद्वीपीय आधार प्राप्त करना था । विस्तृत प्रांतों को मानुष्यमय भास पास ही प्राप्त करना था न कि उपनिवेशों को प्राप्त करना था ।'

४ अप्रैल १९३३ ई० की हिटलर के निर्देशन में जर्मन सुरक्षा परिषद की स्थापना गई और इस परिषद को गुप्त रूप से युद्ध के लिये सामर्यदी की योजनाओं को बनाने का अधिकार भी दे दिया गया। परन्तु यह नीति राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल थी, क्योंकि राष्ट्रसंघ शस्त्रों को कम करना चाहता और जर्मनी को निःशस्त्रीकरण में कोई रुचि नहीं थी। इसलिए १४ अक्टूबर १९३३ को जर्मनी निःशस्त्रीकरण मेलन से अलग हो गया और राष्ट्रसंघ से भी सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। हिटलर ने उसे इस कार्य को संघ की सदस्यता से वृत्त होने को, १२ नवम्बर १९३३ में जर्मन नवाताओं के समने रखा और ६५% मतदानाओं ने उसका समर्थन किया। यह नाज़ी सन का प्रथम प्रहार था। हिटलर की यह नीति इस बात की स्पष्ट चेतावनी थी कि समान की सहयोगी नीति का अन्त हो चुका है और हिटलर आक्रमणात्मक नीति को बनाने का दृढ़ संकल्प कर चुका है।

परन्तु फिर भी, कुछ समय के लिए हिटलर को दूसरा मार्ग अपनाना पड़ा। ताय की संधि के द्वारा पोलैण्ड को बहुत से जर्मन प्रांत मिले थे। हिटलर इन प्रांतों का पुनः हड़ाना चाहता था। परन्तु संसार का अपनी शांति प्रियता का प्रमाण देने हेतु उसने पोलैण्ड के साथ दस वर्ष के लिए एक अनाक्रमण समझौता कर लिया। परन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य फ्रांस की उस सुरक्षा प्रणाली को निर्बल करना था जिसका पोलैण्ड भी एक सदस्य था। इस समझौते के बाद पोलैण्ड सामू सूरक्षा नीति से दूर खिसकने लगा और फ्रांस की यह विचारधारा कि पोलैण्ड, जर्मनी और जर्मनी के बीच सतुलन बनाये रखने में सफल होगा—धूमिल पड़ गई।

हिटलर का भगला कदम आस्ट्रियन राज्य को जर्मन राज्य में मिलाना था। हिटलर उत्कृष्ट के पहले आस्ट्रियन जनता भी जर्मनी के साथ ऐक्य स्थापित करने को उत्सुक थी परन्तु अब स्थिति बदल चुकी थी। २५ जुलाई १९३४ को आस्ट्रिया को आस्ट्रियन प्रधानमंत्री डॉल्फस को बर्ल करवा दिया गया और आस्ट्रियन नाज़िया ने विद्रोह कर दिया। परन्तु आस्ट्रियन सेना ने इस विद्रोह को कुचल दिया। उधर मुसोलिनी भी आस्ट्रिया की सहायता की रक्षा के लिए तैयार था। अतः हिटलर की सफलता नहीं मिल सकी। परन्तु इस घटना से हिटलर को मुसोलिनी की मित्रता का महत्व मालूम हो गया।

हिटलर की नीति का यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर तत्काल प्रभाव पड़ा। १९३४ के जून में हिटलर की प्रगति को रोकने की दृष्टि से रूस, पोलैण्ड और रूमानियां आपसी सीमान्तों की अक्षण्डता की प्रत्याभूति दी। तीन मास बाद रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बन गया। फ्रांस भी सतर्क हो गया। उसने युद्धोपरान्त फ्रांस और इटली में वर्तमान मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया और जनवरी १९३५ में इटली के साथ



एक संधि करली। इसके अनुसार फ्रांस ने इटली को फ्रेंच प्रफोका के कुछ प्रदेश व स्वामित्व वाली जिवटी प्रदेश अजाबा रेलवे (Djibouti Addis Ababa R) में कुछ हिस्सा भी प्रदान किया। इस संधि से मुसालिनी कुछ समय के लिए फ्रेंच में घा गया।

इधर हिटलर संधि की शर्तों के विरुद्ध गुप्त रूप से जर्मनी का पुनर्शास्त्रीकरण का ने जुटा हुआ था। उसने यह कार्य इसलिए नहीं किया कि पहिले वह अत्यधिक मात्र

युद्ध सामग्री एकत्र करना चाहता था। इसके प्रतिरिक्त उन भी भय था कि वही मित्रराष्ट्र वर्साय संधि के द्वारा खाली जाने जाने सार क्षेत्र को खाली करने से इन्कार न करे।।

जर्मनी का  
पुनर्शास्त्रीकरण

जनवरी १९३५ को सार क्षेत्र में राष्ट्रसंधि के प्रायोगिक मतसंग्रह किया गया और जिसका परिणाम जर्मनी के पक्ष में रहा। राष्ट्रसंधि की ने मतदान के आधार पर १७ जनवरी का सम्पूर्ण सार क्षेत्र जर्मनी को सौंप १ मार्च को १९३५ को औपचारिक त्रिधि भी अंग करदो गई।

अब हिटलर को किसी प्रकार का भय नहीं था। एक पक्ष के बाद, १६ मार्च हिटलर ने जर्मनी के पुनर्शास्त्रीकरण की घोषणा का जिसमें कहा गया कि वू कि मित्र वर्साय संधि के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण का पालन करने में असमर्थ रहे हैं, अतः संधि के एक पक्षीय पहलू या गमित्व का पालन करने को बाध्य नहीं है। जर्मन राष्ट्र नत्वाल ही अनिवार्य भर्ती के द्वारा अपनी शक्ति कालीन सेना में ५ लाख सैनिकों वृद्धि करेगी। हिटलर के इस कदम के विरुद्ध ब्रिटिश फ्रेंच और इटालियन सरकारों ने पत्र भेजे। राष्ट्रसंधि ने भी हिटलर की भर्त्सना की। परन्तु जर्मनी को अपने दायित्व वा करने को बाधित करने का सम्भव में किसी भी देश द्वारा व्यक्तिगत या सामूहिक किसी प्रकार का कदम नहीं उठाया गया। क्योंकि वे स्वयं अपने दायित्वों से मुक्त थे। ब्रिटिश सरकार की भावी नीति से ता यह स्पष्ट हो गया कि वह हिटलर नीति को स्वीकार कर चुकी है। १८ जून १९३५ को एक एग्लो जर्मन समझौता किया जिसके अनुसार जर्मनी को ब्रिटिश ग्री सेना का ३५ प्रतिशत भाग के बराबर नौ रखना का अधिकार दे दिया गया। इसके साथ ही जर्मनी को पनडुब्बिया की रचना का छूट दे दी गई। ये दोनों ही बातें वर्साय संधि के विरुद्ध थी। फ्रांस और दूसरे देशों ऐसा अनुमान था कि ब्रिटेन समुद्र पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के जर्मनी का पुनः एक सैनिक शक्ति बनने में तथा महाद्वीप के लिए एक मजबूत उत्पन्न में सहयोग दे रहा है।

इस बीच में २ मई १९३५ को नात्सो आक्रमण का सामना करने का इति फ्रांस और रूस में एक समझौता किया गया। यह पांच वर्ष की अवधि के लिए गया और इसमें आपसी सहायता का वचन लिया गया। इस समझौते के अनुसमर्थन के पूर्व जर्मनी न दमन देशों का ध्यान इस तरफ आकर्षित करने हुये कहा था कि

समझौता साकारों सधि के विरुद्ध है और फ्रांस लोकार्नों द्वारा उपबधित दायित्व का पालन नहीं कर रहा है। फिर भी, इस समय हिटलर ने लोकार्नों सधि के अस्वीकरण की घोषणा नहीं की। इसका कारण यह था कि जर्मनी राइनलैण्ड के सन्निवरण की शर्त में था। इस प्रकार का अवसर उमड़ता इथोपिया संधि के समय प्राप्त हो गया। जबकि लोकार्नों गुट टूट चुका था और इटली के विरुद्ध आर्थिक अनुशासितियों का लागू करने के कारण समारण राजनीतिक स्थिति विपन्न बन चुकी थी। हिटलर ने समय का उपयोग करते हुए ७ मार्च १९३६ का वर्गाय संधि और लोकार्नों संधि के अस्वीकरण की घोषणा करते हुए २०,००० जर्मन सैनिकों को राइनलैण्ड में भेज दिया।

इसके पांच दिन बाद लोकार्नों संधि के हस्ताक्षरकर्ता (जर्मनी को छोड़कर) एक स्थान पर मिले और सर्वसम्मति से स्वीकार किया कि जर्मन कार्यवाही स्पष्ट रूप से वर्साय और लोकार्नों का अतिक्रमण है। एक मप्ताह बाद राष्ट्रसंघ ने भी जर्मनी को शोषी करार दे दिया। राष्ट्रसंघ में जर्मनी के विरुद्ध आर्थिक अनुशासितियों को लागू करने का प्रस्ताव रखा गया परन्तु ब्रिटिश विरोध के कारण प्रस्ताव रद्द हो गया। ब्रिटिश के अनुसार इस प्रकार का कदम केवल उसी राज्य के विरुद्ध उठाया जा सकता है जिसे कि गैर कानूनी ढंग से युद्ध का आश्रय लिया हो। ऐसा जर्मनी नहीं किया। इनके प्रतिरिक्त बहुत से राष्ट्रों ने यह तर्क दिया कि जर्मनी यदि अन्य राष्ट्रों के साथ स्थान प्राप्त करता है तो यह नतिक हानि स ठीक ही है। इस प्रकार के कारण जर्मनी के विरुद्ध किसी प्रकार का काम नहीं उठाया गया। इस एक ही दिन स्पष्ट हो गया कि विविध राष्ट्र, एक राष्ट्र का करने वाले के राष्ट्रों का पालन करने के लिये बध्य करने के सम्बन्ध में अत्यन्त कम उत्थान में असमर्थ है। मित्रराष्ट्रों की इस असफलता का परिणाम है कि अन्तराष्ट्रीय सैनिक जर्मनी।

इस अन्तरिम अवधि में राष्ट्रसंघ के मुख्य करने वाले राष्ट्रों के द्वारा मुसालिनी को इथोपिया (अबोसिनिया) पर हमला करने के उद्देश्य में भेजे गये थे। २ दिसम्बर १९३४ का इटालियन और इथोपिया के बीच एक संधि स्थान पर छुट पड़ मिदन्त हो गई जिसे इथोपिया के राष्ट्रपति ने तुरत ही इटली का विरोध पत्र भेजा कि इथोपिया के राष्ट्रपति का निर्णय

इटली द्वारा  
इथोपिया पर  
अधिशार

का विप्राकर, दूसरे के लिये एक नया संधि का  
द्वारा में लग रहा है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना युक्ति सतत होगा कि इथ्योपिया को भ्रमना गिनार क्या चुना ? श्री गेयोर्नहार्डी ने निम्नलिखित बातलाये हैं—(१) इटली की प्रसार की आवश्यकता पासिस्ट नीति का एक मूल सत्व थी। पूर्वे की तरफ गानि पूर्ण प्रसार या अफीका में अधिक प्रोत्साहित किया क्षेत्र प्राप्त करना (२) इथ्योपिया एवं ऐसा भूमि खण्ड था जिसे प्रतिस्पर्धी यूरोपियन शक्ति के साथ सीधी टक्कर नहीं होती थी। जहाँ प्रसार (Forward Policy) के लिए प्रलोभन विशेष रूप से प्रबल था। (३) जिसका न यह विख्यात था कि उसका अन्त प्रदेश में, जिसका अभी तक विकास नहीं किया था, अत्यधिक खनिज सम्पदा (Mineral wealth) विद्यमान है। (४) रियति और यूरोप के बाहर से युद्ध के प्रति राष्ट्रसंघ द्वारा अपनाये गये दबाव को देखते हुए एबिसीनिया के विरुद्ध आक्रमण की परियोजना अपेक्षतया निरापेक्ष प्रतीत होता था। इसके अतिरिक्त इटली को युद्ध पूर्व की इथ्योपिया के हाथों की पराजय का अपमान खटक रहा था और वह प्रतिशोध लेने की ताक में था।

मुसोलिनी द्वारा इथ्योपियन प्रस्ताव के ठुकराये जाने के उपरान्त भी, इसका शांतिपूर्ण ढंग से निपटाने के लिए प्रयत्न किये गये। ३ जनवरी १९३५ इथ्योपिया ने राष्ट्रसंघ के सामने इस मायले को रखा परन्तु मुसोलिनी के कहने पर पंच निर्णय को स्वीकार कर लगा, राष्ट्रसंघ ने इस सम्बन्ध में विचार रखा। ३ सितम्बर का पंच समिति ने सबसे सम्मति स भ्रमना निर्णय प्रकाशित कर दिया इसका अनुसार दोनों देशों को दोषमुक्त घोषित किया गया।

इसी बीच, राष्ट्रसंघ की कौंसिल के मुभाव पर इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली ने मिलकर इस समस्या का हल करने के लिए मुलह वार्ता शुरू की। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में इटली का इथ्योपिया के विरुद्ध प्रमाणनिक सगठन का आदिष्टकर्ता बना लिया जाये। परन्तु मुसोलिनी ने इस प्रस्ताव का ठुकरा दिया और ब्रिटेन वार्तालाप से हट गया। फ्रांस इटली की सहायता करने चाहता था परन्तु जब ब्रिटिश सरकार ने इटली के विरुद्ध निश्चित रूप से सामूहिक कदम उठाने का निर्णय कर लिया तो फ्रांस का ब्रिटेन का साथ देने की विनम्रता नहीं पड़। सितम्बर में राष्ट्रसंघ की कौंसिल की बैठक हुई और इटली के विरुद्ध अनुशास्तिया के लागू किये जाने की सम्भावना शन प्रतिशोध दिखाई दे रही थी, कि मुसोलिनी इथ्योपियन योजना से पीछे नहीं हट जाता। मुसोलिनी ऐसा करने का तयार नहीं था। इस बात का पता उन्ही समय चल गया जब कि उसने राष्ट्रसंघ के अध्यक्ष की सिफारिशों को ठुकरा दिया। ३ अक्टूबर १९३५ को इटालियन सैनिकों ने इथ्योपिया पर हमला कर दिया।

चार दिन बाद राष्ट्रसंघ ने, पहिली बार एक महान् शक्ति को आग्रान्ता घोषित किया। इटली के विरुद्ध अनुशास्तियों को लागू करके के सम्बन्ध में पांच प्रस्ताव रखे गये और अंत में यह तय किया गया कि (१) इटली का किसी प्रकार का श्रृण या शासन न दी जाए (२) इटली की सभी वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया जाए। (३) इटली को युद्ध सामग्री का निर्यात न किया जाये। ये अनुशास्तियाँ १८ नवम्बर १९३५ में लागू की गई।

यद्यपि राष्ट्रसंघ ने अनुशास्तियाँ लागू करके एक ठोस कदम उठाया परन्तु सदस्य-राष्ट्रों ने इन पर पूर्ण रूप से अमल नहीं किया और इस प्रकार संघ की सफलता का प्रथम कदम निरर्थक हो गया। इसके अतिरिक्त कुछ आवश्यक वस्तुओं पर जिसकी वृद्धि का जारी रखने के लिए इटली को सख्त आवश्यकता थी, किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया गया जैसे कि तेल पर। इसका कारण यह था कि इंग्लैंड और फ्रांस दोनों देश जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष से चिंतित थे और अभी हाल ही में उसने राइनलैंड में सैनिकरण कर स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया था। इसलिए पश्चिमी देश यह नहीं चाहते थे कि बंदूक अनुशास्तियों के कारण मसोलिनी बौखला उठे और हिटलर की तरफ झुक जाये। उसे अपनी कमजोरी को छिपाने के लिये यह दलील दी गई कि इस प्रकार की वस्तुओं पर तब तक प्रभावकारी अनुशास्तियाँ नहीं लगाई जा सकती जब तक कि अमेरिका और जर्मनी राष्ट्रसंघ का सहयोग न दें। क्योंकि ऐसी स्थिति में अमेरिकन तेल कम्पनियाँ इटली के बाजार पर अधिकार कर लेंगी और उसमें राय की तल कम्पनियाँ का भारी क्षति सहा करनी पड़ेगी। उधर मसोलिनी ने यह घोषणा भी कर दी थी कि तेल पर अनुशास्तियाँ लगाने का अर्थ यह माना जायेगा कि पश्चिमी राष्ट्र इटली के प्रति शत्रुतापूर्ण नीति अपना रहे हैं और वे एक प्रकार से युद्ध स्थिति में सम्मिलित हैं। इंग्लैंड और फ्रांस के राजनीतिज्ञों को अब भी शक्तिपूर्ण समाधान चाहिए था। अतः उन्होंने युद्ध की आवश्यक वस्तुओं पर अनुशास्तियाँ नहीं लगाईं।

मसोलिनी का संतुष्ट करने के लिए दिसम्बर १९३५ में 'होर-लावेल' प्रस्ताव रखा गया जिसके अनुसार इरीट्रिया और इटालियन सामालीलैंड के आसपास के इथियोपिया प्रांतों में इटली को देने तथा दक्षिणी इथियोपिया में इटली के आर्थिक एकाधिकार में एक वस्तुतः क्षेत्र की स्थापना करने का सुझाव रखा गया। इस प्रस्ताव के विरुद्ध जनमत की मालोचना अति तीव्र रही और होर तथा लावेल दोनों का ही विदेश मंत्री पद से त्याग पत्र देना पड़ा। फिर भी, मसोलिनी ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

इस अन्तरिम काल में इटालियन सेना तेजी से इथियोपिया का हृदय में लगी हुई थी। २ मई १९३६ को इथियोपिया सम्राट हलसेलसी प्रिन्स सामालीलैंड को भाग गया। ५ मई का इटालियन सेना न राजधानी अदीस अबाबा (Addis Ababa) पर अधिकार कर लिया। इसी दिन, राय में मसोलिनी ने घोषणा की 'इथियोपिया इटली का हिस्सा है।' चार दिन बाद इटली के सम्राट ने इथियोपिया सम्राट की उपाधि भी धारण

मुर लो । ४ जुलाई १९३६ का राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने अगुशास्तियों का जवाब दिया । इटली जीत गया और आक्रमणकारी के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा प्रणाली का अग्र जवरदस्त प्रहार सहन करना पड़ा ।

मवाल यह उठता है कि इटली के विरुद्ध टोम कदम क्या नहीं उठाया गया । कारण यह था कि निःशस्त्रीकरण के कारण ब्रिटिश भीमना की क्षति नहीं थी । दूसरा कारण यह था कि एम्मा फ्रेंच नीति में समन्वय नहीं था । कारण यह था कि जर्मनी की नीति का भरोसा नहीं किया जा सकता था और २१ कारण यह था कि राष्ट्रसंघ युद्ध को रोकने वाला संस्था थी युद्ध का संचालन वाला नहीं ।

जा भी हा, इस घटना के परिणाम बहुत महत्वपूर्ण निकले । (१) इसका राम बर्लिन धुरी के निर्माण का माग उभर आया । (२) इसका राष्ट्रसंघ की १७ का मिट्टी में मिला दिया और (३) इस घटना से एम्मा फ्रेंच सम्झौता और माई विंगड गये जिसके परिणाम स्वरूप सामूहिक सुरक्षा का भविष्य अचकारमय हो और एकनास्ताओं को अपनी भूल मिटाने की प्रेरणा प्राप्त हुई ।

यह शायद स्वाभाविक ही था कि तीन असंतुष्ट महान् शक्तियाँ—जर्मनी, और इटली, जा कि १९३१-३६ के समय में अपनी आक्रमणात्मक कायबार्हि द्वारा सम्पूर्ण समार का लुब्ध किये हुए थी, आपसी रोम बर्लिन टोकियो के लिए एक दूसरे के समीप आ जाय । इसलिए कि १९३१ धुरी का निर्माण प्रारम्भ से प्रत्येक देश पृथक् खड़ा था और ससार की समस्या को लो चुका था । सर्व प्रथम जर्मनी ने अपने

लोहने का प्रयत्न किया । ११ जुलाई १९३६ का हिटलर ने आस्ट्रिया की स्वोकार करते हुए यह मान लिया कि आस्ट्रिया का राजनीतिक ढांचा उसका मामला है और वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा । १० की इस नीति के पीछे मुसोलिनी की मित्रता को प्राप्त करने की भावना थी कि आस्ट्रिया में जर्मन हस्तक्षेप के कारण ही यह हिटलर से बिछा हुआ था । इसी क्षण में गृह-युद्ध दिग और हिटलर ने इटली के विश्वास का प्राप्त करने के लिये कदम उठाया । मुसोलिनी जनरल फ्रांको की मदद करने का निश्चय कर चुका । जर्मनी ने इस निगा में इटली का हाथ बँटाया । इसमें हिटलर और मुसोलिनी को दूसरों के निरुपेक्ष आन का अवसर मिला । २५ अक्टूबर १९३६ को इटली और जर्मन एक समझौता हुआ गया । इसमें यह व्यवस्था की गई—(१) 'समस्त हिता से सम्पूर्ण मामला में दोनों के बीच सहयोग । (२) साम्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की सुरक्षा । (३) अन्य क्षेत्र में आधिकार सहयोग और (४) स्पेन की ओर औपनिवेशिक अग्रगण्यता । इटली के इथोपियन साम्राज्य का जर्मनी ने स्वीकार कर

इटली ने अपने इस साम्राज्य में जर्मनी को आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करना शर्तकार लिया। इस प्रकार रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हुआ।

परन्तु हिटलर को इससे मतोष नहीं हुआ। उसे सोवियत रूस के विरुद्ध एक क्रांती साथी की आवश्यकता थी। २५ नवम्बर १९३६ को जर्मनी ने जापान के साथ एक संधि की। इसके अनुसार दोनों देशों ने कमिन्टर्न (Comintern) कार्यवाहियों को सूचित करने तथा इसके विरुद्ध कदम उठाने के सम्बन्ध में आपसी सहय सहयोग देने का वचन लिया। ६ नवम्बर १९३७ को इटली भी इस समझौते में शामिल हो गया। इस प्रकार तीन प्रमुख अस्तित्व महान् शक्तियों 'कमिन्टर्न-विरोधी' की धादर ओढ़ कर एकता के बन्धन में बंध चुकी थी और राम-बर्लिन-टोकियो धुरा रचना पण हो चुकी थी।

एवशास्ता दत्तिया का सहयोग, कई अवसरों पर उनको मयुक्त नीति से शोध स्पष्ट हो गया। १९३७ में इटली ने घाघणा की वि. वह जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया का में मिलाने के प्रयत्न के विरुद्ध आस्ट्रिया की सुरक्षा के लिए मंत्रि-सहायता रही दगा। की प्रकार दोनों पक्षियों देगा न जापान द्वारा स्थापित 'मन्चू' राज्य की स्वतन्त्रता का प्रकार करने आपसी सहयोग का परिचय दिया। रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी के आपसी सहयोग का प्रगला मन्त्र उस समय मिला जब कि १९३८ में हिटलर ने चीन की राष्ट्रवाद-कार का मुभाव दन वाले जर्मन सैनिक अधिराष्ट्रिया का चीन छोड़ देने का कहा। १९३८ में महान् दक्षिणिया १९१४ की भांति दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो चुकी थी।

राम यन्त्रि पुरी के निमाण में योगदान दा बाते प्रमुख तत्व स्पष्टि गृह युद्ध का  
 नि में वर्णन करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इस गृह-युद्ध का सामूहिक गुरदा  
 प्रणाली पर भयानक प्रभाव पड़ा था । प्रथम महायुद्ध के उपरान्त  
 स्पेन का गृह युद्ध स्पेन की राजनीतिक स्थिति क्षात्रीय हो गई थी । संनि  
 नाभा की सभा के पुन गृहयुद्ध प्राण था और वे राजनीति  
 के निष्प्रण स बाहर निष्पन्न जा रह थे । प्रजापति की स्थिति  
 निम मध्यम वर्ग की प्राथमिकता होता है, उस मध्यम वर्ग का नी स्पेन में प्रभाव था ।

१३१ में स्पेन के सम्राट अलफोंसो ने (Alfonso XIII) ने विवाह का प्रस्ताव कर दिया तथा स्पेन में प्रजापत्र की स्थापना की गई। 'सन् १८३१ व १८३३' इम प्रजापत्र में वसिगु एमी राजावादियों और अन्य प्रतिस्पर्धियों का समावेश था। प्रजापत्रवादियों एवं साम्यवादियों में कुछ मतभेदों का अभाव (Precarious balance) था। राजा की कार्यक्षमता अत्यन्त पूर्ण हो गई तथा गादरवाद का प्रभाव अत्यन्त कम हो गया।

स्पेन में प्रवेश किया। इस प्रकार स्पेन में गृहयुद्ध का स्वरूपान हुआ। विन्स और ने 'अहस्तक्षेप की नीति' तथा अमेरिका ने 'तटस्थता के सिद्धान्त' की छाप में किसी दल को अस्त्र सस्त्र या नैतिक समर्थन देने में अस्वीकार कर दिया। परन्तु राष्ट्रों जर्मनी और इटली ने खुल्लमखुल्ला जनरल फ्रांको की सहायता की। इस गृह-युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व धारण कर लिया। रूस स्पेन में प्रजातन्त्र की लिए व्याकुल था परन्तु एंथो फ्रैंको विरोधी रुख के कारण किसी प्रकार नहीं उठा सका। २६ जनवरी १९३६ तक जनरल फ्रांको ने सम्पूर्ण स्पेन पर कब्जा जमा लिया। जर्मनी और इटली इससे पक्का ही फ्रांको के स्पेन का मान्यता दी। २७ फरवरी १९३६ का इंग्लैंड और फ्रांस ने भी मान्यता दे दी।

स्पेन के गृह युद्ध के परिणामों के सम्बन्ध में आज भी विद्वानों में मतभेद है। स विद्वानों का कथन है कि द्वितीय महायुद्ध का वास्तविक प्रारम्भ यही है। विशेषकर उस समय से जब कि घुरी राष्ट्रों ने फ्रांको का प्रत्यक्ष समर्थन किया। कथन पूर्णतया असत्य नहीं है। इस युद्ध ने घुरी राष्ट्रों की गठित और मित्रता कर दिया और इंग्लैंड तथा फ्रांस की स्थिति की निर्बलता का स्पष्ट रूप प्रदर्शित किया। जो विश्वास हो गया कि पश्चिमी देश साम्यवादों से ही स भयभीत हैं और साम्यवादी विरोधी कार्रवाहियों की छाप में, जमा कि उन्होंने स्पेन में अहस्तक्षेप की साम्यवादी विरोधी करार दिया था, यदि वे अपनी साम्राज्यवादी नीति पूर्ण करत जायें तो उन्हें रोकन वाला कोई नहीं है। इस गृह युद्ध ने सामूहिक प्रणाली को मृत प्राय कर दिया। राष्ट्रमण की आत्मा तो विन्कुल मन प्राय है।

इस अन्तरिम अवधि में, जापान ने सामूहिक सुरक्षा प्रणाली पर एक और प्रहार किया। उसने घोषणा की कि 'पूर्वी एशिया में शांति के भजन का स्वर वाला वह एकमात्र स्तम्भ है इस लिए उस सम्पूर्ण दक्षिण

जापान द्वारा करना पड़ रहा है।' अप्रैल १९३४ में जापान चीन पर आक्रमण किया। उसने कहा कि चीन में विस्थापिता का बसाव के लिए राष्ट्रमण की नीति विधियाँ, अमेरिका द्वारा चीन की नीति वाले प्रणाली चीनी मता की सहायता के लिए विन्की विधियाँ की उपस्थिति जापानों हित के विरुद्ध है और पश्चिम के द्वारा हम प्रकार के प्रयोग जारी रख जापान की वाध्य होकर नैतिक शक्ति का महारा लेना पड़ेगा और इसमें एशिया की भाग में पड़ जायेंगे। इसी यह स्पष्ट हो गया कि जापान, जापानी सुरक्षा और पश्चिम प्रसार की दृष्टि में, चीन का नियमित करने के अपने अधिकारा का बल का हृदय निरूपण कर चुका था।

१९३५ से द्वितीय महायुद्ध का मनाजि उस जापानी मनाजि चीन की परिणाम करती रही। इसी सम्बन्ध में उक्त घोषणा किया जायगा। यही जापान का मनाजि है कि चीन ने बार बार राष्ट्रमण में जापान की सामूहिक सुरक्षा

परन्तु उसे जापानी आक्रमण के विरुद्ध किसी प्रकार की सहायता प्राप्त न हो सनी । बार पुन सामूहिक सुरक्षा एक टूटी रीढ़ प्रमाणित हुई । राज्या का कोई भी गुट, जापानी आक्रमण से बचाने के लिए आवश्यक धन-जन हानि की बीमत्ता का भयानक कारण बनने के लिए तैयार नहीं था ।

१९३८ तक पश्चिम की राजनीतिक स्थिति इतनी असन्दिग्ध हो चुकी थी कि हिटलर का अपनी चिर अभिलाषित इच्छा आस्ट्रिया को हड़पना को पूर्ण करने का प्रयास सरल मिल गया । मुसोलिनी जिम्मे कि पहिले जर्मनी का इस सम्बन्ध में विरोध किया था अब हिटलर का मित्र बन चुका गा और उसने चापला भी करदी थी कि वह आस्ट्रिया की सुरक्षा के लिए इटालियन सेना को भेजने में असमर्थ है । फ्रान भी इस समय मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता के काल में से गुजर रहा था और एक निश्चिन्त अवस्था में नहीं था । ग्रेट ब्रिटेन में चैम्बरलेन सरकार के विरोधी ए थोनी ईटन का २० फरवरी १९३८ में विदेश मंत्री के पद से त्यागपत्र देने विवाद किया गया । कुछ लोगों का तो यहां तक विश्वास है कि चैम्बरलेन की सरकार ने आस्ट्रिया पर जर्मन आधिपत्य का स्वीकार कर लिया ।

हिटलर ने आस्ट्रिया के सम्बन्ध में अपना प्रथम कदम १२ फरवरी १९३८ को आस्ट्रिया, जबकि आस्ट्रियन चान्सेलर गुशनिग ( Schuschnigg ) हिटलर से मिलने के बवेरियन प्रासाद बर्चेगडन ( Berchtesgaden ) आया । फ्यूरर ( हिटलर ) ने घमनियों के कारण आस्ट्रियन चान्सेलर को, आस्ट्रियन नाजी नेता आर्थर सेइस ( Arthur Seyss Inquart ) को गृहमन्त्री तथा अन्य नाजी नेताओं को न्याय तथा विदेश मंत्री नियुक्त करने के लिए मजबूर होना पडा । गुशनिग ने वापस आकर घोषणा की कि इस प्रश्न पर चार दिन के बाद मतसंग्रह लिया जायेगा । विश्वास था कि इतने कम समय में नाजी लाग अपने प्रचार वाय में सफल नहीं होगी और जनमत उनके विपक्ष में रहेगा और सत्तार की भावना हो जायेगा कि आस्ट्रियन जनता जर्मनी के साथ मिलना नहीं चाहती और जर्मनी उम पर जबरदस्ती कर रहा है ।

परन्तु हिटलर मतसंग्रह के पक्ष में नहीं था । उसने गुशनिग को मतसंग्रह रद्द करने तथा त्याग पत्र देने का वडा और यह धमकी भी दी कि यदि ऐसा नहीं किया जाता जर्मन सेना आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दगी और सत्तार की कोई ताकत आस्ट्रिया का नहीं बचा सकेगी । अपने देशवासियों को उत्थान से बचाने के लिए गुशनिग ने दोनों भागों स्वीकार करली । मेइस इनक्वार्ट चान्सेलर बनाया गया और जर्मन जर्मनी से प्रार्थना की कि आस्ट्रिया में शान्ति बनाये रखने के लिए जर्मन आये । १३ मार्च का जर्मन राष्ट्रांग ने एक कानून बनाया जिससे अनुसार आस्ट्रिया



रोष्टाग का एक राज्य स्वीकार कर लिया गया। आस्ट्रियन राष्ट्रपति मिक्लास त्यागपत्र देना पड़ा। १४ मार्च को हिटलर ने संसदन जमन सेना के साथ वियत प्रवेश किया। जनता ने भारी उत्साह के साथ उसका स्वागत किया। इस प्रकार का हड़प लिया गया।

आस्ट्रिया के अपहरण के सम्बन्ध में विदेशी प्रतिक्रिया बड़ी हचिपूनी इङ्ग्लैण्ड में यह माना गया कि साम्यवादी तूफान को रोकने के लिए जो बाध था वह और अधिक मजबूत हो गया। कुछ लोगो ने इसे आत्म गिणाय का मुद्दा माना। मुसालिनी भी घबड़ा गया परन्तु उसने अपनी घबराहट को प्रगट नही किया। पोलैंड को अपनी सुरक्षा की चिन्ता हो गई। फ्रांस को बहुत अपसोस हुआ। इस तरफ मध्य यूरोप में जर्मनी की स्थिति मजबूत हो गई और हिटलर को अपनी 'की तरफ प्रसार' (Drang nach Osten) की नीति को साधक करने में मार्ग मिल गया। इस समय जर्मनी को सीमा इटली, यूगोस्लाविया और हंगरी के प्रत्यक्ष रूप से मिली हुई थी। आस्ट्रिया प्रभुत्व ने जर्मनी को दक्षिण पूर्वी यूरोप सम्पूर्ण यातायात का वास्तविक नियन्त्रण प्रदान कर दिया। चेकोस्लोवाकिया में पड़ गया। उसके व्यापारिक मार्ग जर्मनी में से होकर जाते थे, जो अब उसकी दखल निभर थे। उसके दक्षिणी और दक्षिण पूर्वी रेल और नदी मार्ग भी जर्मनी की दखल निभर करते थे। जर्मनी चेकोस्लोवाक सीमान्त सुरक्षा को बहुत सुगमता के साथ कर सकता था। यद्यपि हिटलर ने ११ मार्च १९३९ को चेकोस्लोवाकिया की प्रां अखंडता को स्वीकार किया था फिर भी यदि जर्मन नाजिया ने अपना ध्यान चेको की तरफ केन्द्रित किया और उसमें आबाद अपने ३५ लाख बहुधा की मुक्ति के लिए का निश्चय किया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

हिटलर की अगली योजना चेकोस्लोवाकिया का अंग भग थी। इस योजना को कार्यान्वित करने के कई कारण थे—( १ ) चेकोस्लोवाकिया सोवियत-आत्मक राष्ट्र ( २ ) राष्ट्रसंघ का बटुर् सदस्यक था। ( ३ ) फ्रांस और रूस का मित्र था। ( ४ ) वर्गों की संधि से इसकी उत्पत्ति हुई थी। ( ५ ) फ्रांस चेकोस्लोवाकिया के सेना का अस्तित्व मजबूत का कारण था। ( ६ ) साम्राज्य का अङ्ग भग दृष्टि में महत्वपूर्ण था और ( ७ ) हिटलर का विश्वास था इस समय कोई भी राष्ट्र उसकी महत्ता करने को नहीं सकता। इसके अतिरिक्त चेकोस्लोवाकिया विविध जातियाँ का घर था। १९३० जनगणना के अनुसार इसमें ७४,४७,००० चेक, ३२,३१,६०० जर्मन, २६,०८,००० स्लावाक, ६,६१,००० मग्यार, १,६८,००० रूथेनियन और ८१,७०० पोलैंड

नवास करते थे। इसलिए मूलवशोय अष्टमनिणय का सिद्धान्त यदि लागू किया जाता तो चेकास्लाविया रूप से उसका अग्न भग हो जाता।



चित्र—चेकास्लावाकिया का अग्न भग

यहां पर भी हिटलर ने अपने पुराने नुस्खे का प्रयोग किया। चेकास्लावाकिया जर्मन आवादी वाले सूडेटन जर्मन प्रदेश की सूडेटन जर्मन पार्टी की आठ में अपना हाथ दिखाया। इस पार्टी का नेता था कानाड हेनलिन (Konard Henlein)। उसने कारलोवाकिया में स्थित सभी जर्मनों का अपने दल में सम्मिलित होने की प्रार्थना को और प्रिमडल के जर्मन समस्या से त्याग पत्र दिलवाने में भी सफल रहा। इसके बाद हेनलिन भी मागे बढ़ती गई। मई १९३८ में आम चुनावों के समय स्थिति इतनी बिगड़ चुकी कि बहुतों को यह संदेह हुआ कि चुनाव के परस्पर विरोधी राष्ट्रीय वर्गों के आंतरिक झगड़ों की छोट में, वही जर्मनी, सूडेटन जर्मनों के पक्ष में बहाने चेकोस्लोवाकिया में न आ जायें। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

मक्षि फ्रेंच सरकार ने चेकोस्लोवाकिया से अनुरोध किया था कि वह कुछ सीमा तक सूडेटन जर्मनों का सुविधायें प्रदान करके उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करे, परन्तु फिर भी उसने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि चेकास्लावाकिया पर जर्मनी ने आक्रमण किया तो वह अपने साथी की सहायता को पहुंच जायेगा। ब्रिटिश सरकार ने पेरिस में साथ निरंतर सम्पन्न कायम रखा और बर्लिन तथा प्रेग दोनों का क्षान्तिपूर्वक निष्काटन की सलाह दी। इधर जर्मनी ने राइन के किनारे किनारे स्विजरलैंड के लेबर नीन्डरलड तक दुर्गबंदी शुरू कर दी। इसे "पश्चिमी दीवार" (west wall) कहा जाता है और इसका उद्देश्य पश्चिमपंक्त का रोकना था, यदि पूर्व में जर्मनी चेकास्लावाकिया पर आक्रमण कर दे।

जुलाई में, ब्रिटिश सरकार ने चक सरकार का स्वीकृति के बाद, मूटन जनता के विवाद या निपटान में, जब सरकार की सहायता के लिए लार्ड रंसमन (Runciman) का सलाहकार के रूप में प्रेष भेजा। ७ मितम्बर १९३८ का चक सरकार ने रसीमेन के निर्देशन में तैयार की हुई एक याचना इनलिन का भजी। यह मूटन जमनों की मांग प्रारम्भिक भाग को वास्तविक रूप में पूरा करने वाला। १२ मितम्बर का एक सावजनिक सभा में भाषण करते हुए हिटलर ने कहा कि मूटन जमनों का आत्म निर्णय का अधिकार दिया जाना चाहिए। यदि वे अपना सुरक्षा नहीं कर सकते तो उन्हें हमसे सहायता मिलेगी। इस घोषणा के स्थिति और भी खराब हो गई और उपद्रव बढ़ता ही गया।

इस प्रकार की मजबूतवादी स्थिति में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री चेम्बरलेन हिटलर का संतुष्ट करने तथा भागी युद्ध का टालने की दृष्टि से, हिटलर को मुलाकात के लिए लिखा और १५ सितम्बर का बर्चिंगडन महल में मुलाकात भी हो गई। यहाँ पर चेम्बरलेन को मालूम हुआ कि हिटलर यह तय कर चुका है कि मूटन यदि जर्मन राष्ट्रांग के साथ मिलना चाहते हैं तो उन्हें यह अधिकार दिया जाना चाहिए और वह उन्हें यूरोपियन युद्ध के जाश्म पर भी सहायता देने की कटि बद्ध है। ब्रिटेन और फ्रेंच सरकार का युद्ध टालने का एक ही मांग दिखाई पड़ा आत्मनिर्णय के निर्णय का स्वीकार कर लेना। १६ सितम्बर का दोना सरकार ने अपने निर्णय का चेक सरकार को पाम भेज दिया और यह भी कहा दिया कि यदि वह इस पर अमन नहीं करेगा तो उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं दी जायेगी।

चेकोस्लावाकिया के प्रिन्स एग्ना फॉच विश्वासघात के कई कारण थे। सत्राण राजा के लोकमत में यूरोपियन युद्ध में बचने की तात्पर्य अभिलाषा थी। दूसरे, दो दश इस समय युद्ध लड़ने की स्थिति में नहीं थे जबकि जर्मन वायुमन काफी समर्थ थी और नदन और परिसर का क्षण भर में नष्ट किया जा सकता था। तीसरे, दो दश चेकोस्लावाकिया की रक्षा के लिए प्रतिदान करने को तैयार नहीं थे। कुछ लोग राज्य का एक कृत्रिम उत्पादन मानते थे और उनका विश्वास था कि जब तक इस का अस्तित्व बना रहता पड़ना राष्ट्रांश देश इसका अपमान के प्रयत्न को रद्द करेंगे। फ्रांसीसी का मत था कि चेकोस्लावाकिया के पीछे जर्मनी से पुनर्मानना पर फ्रांस में साम्यवादियों का जार बढ़ जायेगा और ऐसा उद्देश्य नहीं था। फिर हिटलर अपने आपना साम्यवादियों का शत्रु घोषित करता था। अतः यदि साम्यवादी प्रसार के विरुद्ध हिटलर को संतुष्ट करने के लिए कुछ त्याग करना पड़ता अत्याय युक्त नहीं होता। क्योंकि हिटलर ने घोषणा की थी कि इसको बाद में यूरोप में किसी प्रकार की प्रान्तीय महत्वाकांक्षा नहीं रखता। चेम्बरलेन और दलाली (Daladier) का अब भी विश्वास था कि हिटलर के राज्य में युद्ध संभावना है।

चेम्बरलेन और दलादिये ( फ्रेंच विदेश मंत्री ) व निम्न का कोई भी वारण्य रहा हो, निम्न चेकोस्लोवाकिया को उनके आदेश का स्वीकार करना पड़ा । चक नताओ की यह इच्छा थी थी कि ममार उह दूसरे महा युद्ध के लिए दोषा ठहराये । इस समय वे इस बात के लिए भी सहमत नहीं थे कि उनसे दश की रक्षा साम्यवादी रुमी सेना करे । अतः २१ सितम्बर का उसने एस्ता फ्रेंच प्रस्ताव मान लिया । चेम्बरलेन इस खुशखबरी के साथ जमनी गया । हिटलर ने अपनी मांगें बढ़ा चला कर रखी । वे इस प्रकार थी—(१) जमनी को सौंप जाने वाला सम्पूर्ण क्षेत्र १ अक्टूबर तक जमनी को सौंप दिया जाय । (२) इस क्षेत्र से निम्नी प्रकार की सम्पत्ति नहीं हटाई जाय और न नष्ट की जाय । (३) चेक सेना या पुलिस के सूटेन जमनी का मुक्त कर दिया जाय और जमन कदिया का भी रिहा कर दिया जाय । (४) अन्तिम निपटारा जमन बेक या अन्तर्राष्ट्रीय आयोग व नियमन म मत सग्रह द्वारा हो । यह मत सग्रह २५ नवम्बर तक हो जाना चाहिए ।

२४ सितम्बर का प्रेस सरकार ने जमन मांग का सयथा और बिना 'तत् अस्वीकार्य' (Absolutely and unconditionally unacceptable) कहकर ठकरा दिया । ब्रिटिश और फ्रांस ने भा इन मांगों का अशुचित्त बनलाया । चेम्बरलेन, दलादिये और एजबल्ट न मुसालिनी ने अनुमति दिया कि वह हिटलर का शक्ति प्रयोग से चेको के लिए अपने प्रभाव का सन् प्रयोग कर । मुसालिनी ने टेलीफोन पर हिटलर से बातलाप की और हिटलर ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की मांग का स्वाकार कर लिया । उसने मुसालिनी चेम्बरलेन और दलादिये को २६ सितम्बर को म्युनिख आन का निमन्त्रण किया ।

निश्चित दिन पर चारा राजनीति म्युनिख स्थान पर मिले और एक समझौता हो गया जो कि हिटलर की मांग का हा दूसरा रूप था । यह ध्यान देने की बात है कि इस सम्झौता में चेकोस्लोवाकिया का हो और न इस का हो म्युनिख समझौता बुलाया गया । नि महाय चेक सरकार के सामने म्युनिख समझौते का स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मांग नहीं था । १ अक्टूबर १९३८ को प्रातःकाल जर्मन सैनिक ने सूटेन लैंड पर अधिकार कर लिया । इसी अवसर पर उसे तेसचेन के आस पास का लगभग ४०० वर्ग मील का क्षेत्र जिसकी आयता २४,०००० थी, पालेड का सोपना पण क्योंकि पोल सेना डम क्षेत्र की सीमा तक बढ़ आयी थी । हमरी ने भी मग्यार आवादा वाले क्षेत्र का गारा किया और २ नवम्बर को ४८०० वर्ग मील का क्षेत्र हमरी को सौंपना पड़ा । इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया का अग भग हो गया ।

म्युनिख समझौता का यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर मह प्रभाव पण । इसन माटे तार पर फ्रांस द्वारा निर्मित महाद्वीप सुरक्षा पद्धति का नष्ट कर दिया । पश्चिम म अपन शक्तिशाली साधियों के विनामयात व कारण चेकोस्लोवाकिया की

हो जमन प्रभुत्व में चला गया। पोलैंड, रूमानिया और यूगोस्लाविया, जिनके फ्रांस एक दीर्घ समय से शांति व्यवस्था द्वारा स्थापित तथा स्थिति का बनाये के लिए प्रतिज्ञा बद्ध था, सामान्य रूप से सामूहिक सुरक्षा और विशेषकर फ्रेंच के प्रश्न पर सदिग्ध हो उठे। मास्का से अपवाह आती रही कि सोवियत सरकार के साथ सम्बन्ध विच्छेद करने वाली है। यह बात ठीक भी थी। बाद सोवियत सरकार का विश्वास हो गया था कि इंग्लण्ड और फ्रांस ने नर हिटलर को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया है ताकि वह पूर्व की तरफ प्रहार नीति को कार्यान्वित कर सके और सोवियत संघ से उलझ जाय। शूनम ने लिखा है "The Munich Pact was the culmination of appeasement and warrant of death for the Western Democracies. It was the symbol of the collapse of the system of Collective Security" वास्तव में यह समझौता सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के प्रवर्तन प्रतीक था।

म्यूनिख समझौते के समय हिटलर ने यह विश्वास दिलाया कि सूडेटेन क्षेत्र बाद यूरोप में उनकी कोई प्रादेशिक महत्वाकांक्षा नहीं है। परन्तु यह विश्वास भा के विश्वासों की भांति दिखावा मात्र था। उसका ध्यान म्यूनिख के बाद चेकोस्लावकिया का हड़पने की तरफ लगा हुआ था। और मोरेविया में नवान हवाई ब्रिड्जों की प्राप्ति, चेक सेना के शस्त्रों की प्राप्ति की अभिलाषा, चेक विदेशी स्वर्ण और मुद्रा का प्रचोभन, कृषि और मानवीय शक्ति का प्राप्त करने तथा सामरिक दृष्टि से जर्मनी को मजबूत करने इच्छा में जमन तानागाह न चेक जनतंत्र का समाप्त करने का निश्चय कर लिए उसने स्लोवाकिया प्रांत के नाजी जमात को चेक सरकार से स्वतंत्र होने के लिए उकसाया। पत्रस्वरूप १४ मार्च १९३९ को स्लावाकिया की स्वतंत्रता स्वीकार ली गई। परन्तु हिटलर की तृष्णा तृप्त नहीं हुई। उसने चेक राष्ट्रपति हच्चा का बंधुनाया और उसे डरा धमका कर चेक शासन की बागडार जर्मन नाजी दल को सौंप दी। १५ मार्च १९३९ का जर्मन सेनापति ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश किया और सम्पूर्ण देश का अपने अधिकार में ले लिया। हिटलर के इस ने पश्चिमी देशों की निद्रा तोड़ दी। मुपोनिया भी आघित हो उठा परन्तु अब संधि छोड़ने का समय नहीं था।

हिटलर का अगला शिकार लिथुएनिया बना। २१ मार्च को उसने ममल प्रान्त पुन जर्मन राष्ट्रांग का सौंपने की मांग की। लिथुएनिया फ़्यूरर की मांग का ठुकराने की स्थिति में नहीं था और न ही उस पश्चिमी देशों का सहयोग मेमल का विश्वास था। अतः उसने तुरन्त ही बर्लिन सरकार के समझौता कर लिया। २३ मार्च का हिटलर ने ममल में प्रवेश किया। तब तक लिथुएनिया ने इस पूरा रूप में ब्यापक करके नाजी राजव्यवस्थाओं को



साप दिया था। मेमन आधिपत्य पश्चिमी राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा नीति।  
असफलता का एक ज्वलंत उदाहरण था।

सामूहिक सुरक्षा नीति पर अगला प्रहार फासिस्ट नेता मुसालिनी द्वारा १५  
मुसालिनी ने अल्वानिया की अपना शिकार बनाया। अपनी योजना को लागू

पूर्व, मुसालिनी ने हिटलर से विचार विमर्श कर लिया था और  
**अल्वानिया** अपने अनुकूल भी बना लिया। अल्वानिया पर अधिकार  
कारण यह था कि अल्वानिया के बादशाह जोशू और ११

गहरा असंतोष उत्पन्न हो गया था। सब प्रथम मुसालिनी ने खाली धमकियाँ और  
से अपना कार्य करना चाहा। परंतु जब वह इसमें सफल नहीं हुआ तो उस  
सहारा लेना पड़ा। ८ अप्रैल १९३९ को इटालियन सेनाओं ने ग्रेनोरी और  
(Lirana) नामक स्थानों पर अधिकार कर लिया। जोशू इटालियन सेना का  
नहीं कर सका और वह ग्रीनान भाग गया। अल्वानियन राज्यसभा ने अल्वानियन  
का राजमुकुट इटली के सम्राट् को अर्पित कर दिया। १५ अप्रैल को इटालियन  
ने घोषणा की कि विक्टर एमैनुएल को उपाधि अब "इटली और अल्वानिया का  
तथा इथोपिया का बादशाह" होगी। इस प्रकार इटली ने बाल्कन में अपना प्रभाव  
और अपनी स्थिति को भी दृढ़ बनाया।

हिटलर के उपरांत कदमा से प्रसादको का विश्वास भी समाप्त हो गया  
म लोगो को विश्वास भी हो गया कि हिटलर का अगला प्रहार पोलैण्ड पर होगा। ३१

१९३९ को इंग्लैण्ड और फ्रांस ने घोषणा की कि '१५  
प्रसादन का अन्त' कदम या घटना जिसमें पोलिश स्वतंत्रता के नष्ट होना का  
है, या जिसका पालिश सरकार अपनी राष्ट्रीय शक्ति रक्ष

करना उचित व महत्वपूर्ण समझे, व तुरन्त ही पोलैण्ड का अपनी शक्तिनुसार  
देंगे। 'पोलैण्ड के ही समान ग्रीनान और रूमानिया का भी सहायता की  
गई। इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों देशों ने तुर्की के साथ आपसी सहायता संधि भी की।

इस बीच, पोलैण्ड के एक अन्य विशेष क्षेत्र बनने के चिह्न दिखाई देने लगे  
माच में ही जर्मन प्रेस ने पोलिश गलियारे में स्थित जर्मनों पर होने वाले आक्रामक  
हमला पड़ा कर घोषणा शुरू कर दिया और पोलैण्ड की इस नीति की बड़ा मन्तव्य की  
लगी। २८ अप्रैल १९३९ का हिटलर ने डेन्जिग बंदरगाह को पुन वापस लेने  
माग की। पोलैण्ड ने इस माग का दुस्तरा दिया।

इसी समय इंग्लैण्ड और फ्रांस ने आर्यपन रुम में आर्यपरी सहायता मन्त्रालय  
पाना शुरू की। कदापि पूर्वी यूरॉप में तत्काल ही मन्त्रिक सहायता पहुँचाना  
आवश्यक नहीं था। बार्नाबास अगस्त तक जारी रहा परन्तु परिणाम कुछ नहीं  
आया। पोलैण्ड का ही लिया जा सकता है। पोलैण्ड माग रुम का साथ नहीं  
करने के पक्ष में नहीं थे और इंग्लैंड बिना रुम, पश्चिमी देशों के साथ आर्यपरी

बेच करने का तैयार नहीं था। दूसरी बात यह थी कि इस बीच रूस जर्मनी के साथ  
। वातालाप कर रहा था। वास्तव में रूस, जिसे दोनों पक्षा का रक्ती भर भी विश्वास  
था, दाहरा खेल खेल रहा था और अपनी मित्रता व सहायता की सौदेबाजी करने  
लगा हुआ था। २३ अगस्त १९३६ का जर्मनी और रूस के बीच एक अनाक्रमण  
समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये गये। इसके साथ ही एक गुप्त समझौते पर भी हस्ताक्षर  
के गये। गुप्त समझौते के अनुसार पूर्वी यूरोप को जर्मनी और रूसों प्रभावक्षेत्र में  
भाजित किया गया। रूस का फिनलैंड, लटविया, एसथोनिया में छूट नी गई और  
लैण्ड में विस्तृत और सान नदियों के पूर्वी प्रदेश पर अधिकार करने की छूट दी गई।  
धरु में, उसे बसारविया पर पुन अधिकार करने की छूट दी गई।

१ इस समझौते की करने के लिए हिटलर और स्टालिन कौन से तत्वा से प्रभावित  
थे थे ? यह नहीं कहा जा सकता। शायद हिटलर ने सोचा हो कि इस समझौते म  
रहा कर इंग्लैंड और फ्रांस, पोलैंड को दी गई प्रत्याभूति का अस्वीकरण करदे, जैसा कि  
होने चेकोस्लोवाकिया के सम्बंध में किया था। या फिर उसका विचार था कि पहिल  
पश्चिमी यूरोप को अपने अधिकार में ले लिया जाय और फिर रूस से निपट लिया जायगा।  
स्टालिन, शायद इस नियम पर पहुँच चुका था कि ब्रिटेन और फ्रांस से उसे किसी प्रकार  
की सहायता नहीं मिल सकती। इसके प्रतिरिक्त यदि जर्मनी एक लम्बे समय तक पश्चिमा  
एशिया युद्ध में डलझा रहा तो रूस का अपनी सैनिक तयारी करने का अवसर मिल  
जायेगा और तब जर्मनी के आक्रमण का, क्योंकि इसे वह अवश्यभावी समझता था,  
प्रतिकर प्रतिराध किया जा सकेगा। युद्ध के फलस्वरूप पश्चिमी देशों के निबल हो जाने  
की भी संभावना थी और इस स्थिति में साम्यवाद का प्रसार मुगमता से किया जा  
सकता था। कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि जर्मनी रूस पर आक्रमण की योजना  
रुना चुका था और रूस की इसकी संभावना थी।

१ परतु हिटलर की प्रथम धारणा गलत निकला। इंग्लैंड और फ्रांस अपने  
पॉलिबोए पर डटे रहे और उहाने बार-बार घोषणाएँ की कि वे किसी भी स्थिति में पाल्ड  
की सहायता करने से पीछे नहीं हटेंगे। १ सितम्बर १९३६ को प्रात ५ बजे से जर्मन  
आपुयाना ने पोलैंड के विविध नगरों पर बम बपा शुरू करदी। कुछ ही घंटों के बाद  
हिटलर ने डेजिंग पर अधिकार करने का आदेश प्रचारित किया और उस नगर के  
राजी नता का वहाँ का प्रशासक नियुक्त किया गया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने  
सहान्वान ही जर्मनी का चेतावनी दी कि यदि जर्मनी ने पाल्ड के विरुद्ध अपना  
आयवाही को तत्काल ही बन्द नहीं किया और जर्मन मनामो को नहीं हटाया  
जायेगा तो वे तत्काल ही अपने दायित्व का पूरा करने के लिए पोलैंड की सहायता  
करा जा रहेगे।



३ सितम्बर १९३९ के प्रातः ९ बजे तक उपरोक्त चेतावनी का उत्तर न मिला। बर्लिन स्थित ब्रिटिश राजदूत ने जर्मनी का सूचित किया कि यदि ११ बजे तक जवाब नहीं दिया गया तो दोनों देशों में युद्ध हो जायेगा। इस पर भी जर्मनी ने जवाब नहीं दिया। ११ बजेकर १५ मिनट पर चैम्बरलेन ने जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। ५ बजे सायंकाल को फ्रांस ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ समय के उपरान्त जापान और इटली भी युद्ध के पक्ष में आ गये। १९४१ तक रूस युद्ध समझौते वाले प्रान्ता पर अधिकार रहा परन्तु जब जर्मनी ने उसके विरुद्ध भी युद्ध घोषणा कर दी तो वह भी मित्र बन गया। अमेरिका प्रारम्भ में तटस्थ रहा परन्तु जब जापान ने उसके फिलीपीन्स पर हमला किया तो वह युद्ध में ( मित्र पक्ष की ओर से ) सम्मिलित हो गया। इस महायुद्ध का क्षेत्र व्यापक होता गया।

## नवा अध्याय प्रसादन की नीति ( Policy of Appeasement )

इ प्रथम महायुद्ध के उपरांत भावी विश्वशान्ति की स्थापना के लिए मित्र राष्ट्रों ने द्वंद्वों का बहिष्कार करने के लिये आपसी सहयोग के द्वारा आपसी विवादों को हल करने का निर्णय किया और इसी नीति के आधार पर सामूहिक सुरक्षा प्रणाली ( Collective security system ) का पालन पर अत्यधिक जोर दिया गया। परन्तु बस दस वर्षों के बाद इस प्रणाली की निबलता का चिह्न दृष्टिगोचर होने लग गये और आगामी दस वर्षों में सामूहिक सुरक्षा प्रणाली का पूरा रूप से अंत हो गया। सके पतन का चाहे जो भी कारण रहा हो परंतु इससे भी महत्वपूर्ण विस्मय की जहानी है—यूरोप की दुहाई देने वाले राष्ट्रों की प्रसादन नीति, जिसने परिणाम स्वरूप टर्की, जर्मनी, और जापान को शान्ति समझौतों का उत्सर्जन, विश्वशान्ति का अतिक्रमण और नतिक मर्यादा का दमन करने का अवसर मिला गया। वास्तव में एकमात्राश्राप्य महत्त्वकांक्षियों का प्रादुर्भाव अन्तर्गर्भीय सम्बंधों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि इसके परिणाम स्वरूप प्रसादन नीति का जन्म हुआ और इस नीति की सफलता से सामूहिक सुरक्षा प्रणाली का अन्त और द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ।

“प्रसादन की नीति” जिसकी चरम और अन्तिम अभिव्यक्ति म्यूनिख समझौते में ई थी, का वास्तविक स्वरूप घटनाओं एवं परिस्थितियों का पार्श्ववर्तन के परिणाम स्वरूप तना बदल गया है कि विचारार्थों के लिये उन कारणों को जिनके कारण इस नीति का जन्म हुआ, समझना अत्यधिक आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस सम्बंध में हमें एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि प्रसादन नीति चाह गन्त रही हो या सही, पर यह एक सुनिश्चित और विमर्शित नीति थी न कि ब्रिटिश सरकार की सनिय तयारिया के अभाव के कारण धूम भाग्य थी, जसा कि कई आलोचकों का कथन है।

ब्रिटिश प्रसादन नीति के जन्म दाता श्री चेम्बरलेन थे। प्रसादन नीति के सम्बंध में उनका प्रेरक भाव सदा यही था। उनका उद्देश्य शान्ति के भय से प्रसादन नीति का पालन करना नहीं था। अपितु वे चाहते थे कि युद्ध या बल प्रयोग की घमकी दिये बिना आपसी विवादों का व्यवस्थित रीति से निपटारा हो जाय।

**ब्रिटिश प्रसादन**

**नीति एवं**

**उसका आधार**

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ऊँची में ऊँची कीमत भुगत करन का तैयार थे। क्योंकि उनका विश्वास था कि इस प्रकार की कीमत चाहे कितनी ही ऊँची क्यों न हो महायुद्ध की कीमत की तुलना में बहुत कम

वस्तुतः एक ऐसे व्यक्ति थे जो राजनीतिक अवसरवादी नीति के प्रभाव में

मुक्त थे और उनकी अपनी धारणा यह थी कि जो मांग उठाने अपनाया है—वह है, और इसके द्वारा युद्ध की विभिन्नता को टाना जा सकता है। चेम्बरलेन का विचार था कि हिटलर और मुसोलिनी की आकांक्षाएँ कुछ छोटी बड़ी शिकायत तक ही हैं और यदि इन शिकायतों को दूर कर लिया जाय तो एक महायुद्ध का स्थापित जा सकता है और जर्मनी और इटली को भी परम्परागत रीति से सम्मेलन में आना तथा आपसी बातचीत के द्वारा विवादों का हल करने के लिये मनाया जा सकता है अतः प्रसादन की नीति अपने उद्देश्यों की दृष्टि से भयंकर नहीं थी परन्तु इसका ढग में प्रयोग नहीं किया गया और यही कारण है कि आज उसका रूप इतना दिखलाई पड़ता है।

अब हम ब्रिटिश प्रसादन नीति के मुख्य आधारा पर प्रकाश डालने का करें। सत्रहवीं शताब्दी में ही ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य आधार सामुद्रिक शक्ति नियंत्रण, व्यक्तिगत रूप से या किसी अथवा शक्ति की सहायता से यूरोपीय महाशक्तियों किसी एक शक्ति या शक्तियों के एकाधिकार प्रयत्न को विफल करना एक प्रजातन्त्र सार्वभौमिक सिद्धान्तों को सुरक्षा रहा है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त इंग्लिश शक्ति काफी निम्न पड़ गई और संसार का नवतृत्व अमेरिका बन, अर्थात् हाथा में लिमकने लगा। अमेरिका और जापान की बढ़ती हुई शक्ति ने काफी चिन्तित हो उठा। अतः उनमें अपनी विदेश नीति में आमूल परिवर्तन का प्रयत्न किया। इस परिवर्तित नीति का आधार निम्न सिद्धान्तों पर गया—

(१) इंग्लैण्ड एक पूँजीवादी राष्ट्र है, अतः पूँजीवाद के राष्ट्र साम्यवाद से होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि प्रथम महायुद्ध के उपरान्त साम्यवाद की नींव मजबूत हुई थी और प्रेरणाशक्ति के सिद्धान्तों की भाँति साम्यवादी विचार धारा धीरे धीरे पूँजीवाद में फलने लग गई थी। पूर्वी यूरोप तथा उसके प्रभाव क्षेत्रों में उनमें फैल गया था। इंग्लैण्ड को यह चिन्ता पड़ गई कि यदि साम्यवाद की प्रगति का अवरोध नहीं किया जाता वह पश्चिम में भी घटन पर जमा लगा। अस्तु इंग्लैण्ड की विदेश नीति का आधार साम्यवादी भय से मुक्ति तथा साम्यवादी प्रसार का रोकना बन गया। अतः अमेरिका की पूर्ण व नियंत्रण इंग्लैण्ड इतना आगे बढ़ गया कि वह उस प्रत्येक राष्ट्र को, जो साम्यवादियों में सघर्ष करने को तैयार था या कर रहा था, सहायता करने का था और उस भी हा उस कार्य करने का छूट देने को तैयार था चाहे साम्यवादी राष्ट्र की कार्यवाहियों के पतनस्वरूप भाँति मधिया का उल्लंघन तथा प्रादेशिक व्यवस्था का अतिक्रमण भी क्यों न हो जाय। जापान, जर्मनी और इटली के साथ इंग्लैण्ड की यह बीमारी छिपी न रही और उन्होंने इस रोग के निदान की अपनी व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये, घटनों तथा की वृद्धि के लिये महायुद्ध द्वारा पाणिन मधिया का अतिक्रमण शुरू कर लिया क्योंकि उन्हें विश्वास था कि

वास्तविक अभिप्राय स अनभिज्ञ इंग्लण्ड उनकी कार्यवाहियों का जो कि बाह्य रूप में साम्यवादी विरोधी आवरण डाले हुये थी, विराध नहीं करेगा।

(२) दूसरा प्रमुख आधार था—शक्ति सन्तुलन का सिद्धांत (Balance of Power)। इस आधार की पृष्ठ भूमि की चर्चा करते हुये गुमा ने लिखा है— महाद्वीपीय गतियों के आक्रमण के विरुद्ध ब्रिटेन का सुरक्षा तथा विश्व-व्यापी व्यापार एवं वैनियोजनों के द्वारा ब्रिटेन की समृद्धि, गतान्दियों से किसी भी एक शक्ति का यूरोप में सर्वाधिक बलाढ्य बनने से रोकने पर ही निर्भर रही है। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नपोलियन के युग में फ्रांस के विरुद्ध रूस की सहायता, प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध रूस तथा अमेरिका की तथा द्वितीय विश्व युद्ध में फासिस्ट त्रिगुट्ट के विरुद्ध एक बार फिर दोनों की सहायता की आवश्यकता पड़ी। परन्तु १९३० ई० में शभवतः इस ध्येय का भुला दिया गया।<sup>१</sup> इसका कारण प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की पराजय था जिसके परिणाम स्वरूप सन्तुलन की स्थापना हो गई। क्योंकि यूरोप का शक्ति फ्रांस के हाथ में आ गया और फ्रांस इंग्लण्ड की सहायता पर निर्भर था। परन्तु १९३० के बाद यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ने लगा। सोवियत रूस काफी शक्तिशाली हो चुका था और इधर हिटलर तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में जर्मन जर्मनी और इटली भी काफी शक्तिशाली हो गये। इन नीति के द्वारा शक्ति सन्तुलन का स्थापना की सम्भावना समाप्त हो चुकी थी। अब इंग्लण्ड ने त्रिगुट्ट—जर्मनी, इटली, जापान को रूस के विरुद्ध, एक दूसरे के ऊपर नियन्त्रक के रूप में रखने की सोची। यदि फासिस्ट त्रिगुट्ट साम्यवादी से संचय करे और रूस पराजित हो जाता है, तो साम्यवादी आतंक से राहता मिल जाती है और फासिस्ट गतियाँ भी निबल पड़ जाती है। यदि परिणाम उल्टा निकलता फासिस्ट भय समाप्त हो जाता है और इस स्थिति में इंग्लण्ड इनकी मदद करके रूस का पराजित करने की योजना बना सकता है और जर्मनी इंग्लण्ड के प्रभाव में आ जाता है। इसी आधार पर इंग्लण्ड ने साम्यवाद के विराधी एक्कास्ताघ्रा की कार्यवाहियों का पक्ष विराध नहीं किया। यमा न निवा है—“सौजरा की सतुष्ट” करने की यह नीति, जिसका प्रधानमात्रयो स्टली बाल्डविन (१९३५ ३७ ई०) तथा नेविल चेम्बरलेन ने बड़े परिश्रम से अनुसरण किया, ब्रिटिश हिता की दृष्टि में केवल इस कल्पना के आधार पर ही कि जर्मनी तथा रूस या तो एक दूसरे की ‘संतुलित’ करत रह्ये अथवा लड़ते लड़ने शान की शक्ति, समाप्त हो जाण्यो, तथा फ्रांस एवं इंग्लण्ड तटस्थ और सुरक्षित बने रह्ये, सार्थक कही जा सकती थी। इस अनुमान के मिथ्या सिद्ध होने की अवस्था में (जसा कि वह हुआ भी) यह नीति आरम्भ से ही एक आत्म घाती भ्रमता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। जिस इंग्लण्ड, कामनवेलथ तथा साम्राज्य के महान् दिवसा के उपयुक्त किसी प्रकार से भी नहीं ठहराया जा सकता था।<sup>२</sup>”

(३) इंग्लैंड की प्रमान्य नीति का एक आधार लंदन और पेरिस का में विद्यमान तोत्र मतभेद था। यद्यपि इस समय नौ इंग्लैंड और फ्रांस एक दूसरे का पारस्परिक अनुरागेय जगत में उनके रणाय वृत्त २ थे और स्वाधीन की पूर्ण कक्षा की शर था। गन्तव्य, सामूहिक सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण, क्षतिपूर्ति आदि विषया पर दोनों देशों में काफी मतभेद था और इस कारण इन विषयों के दोनों देशों के नियम संयुक्त कदम उठाना संभव नहीं हो सका। फ्रांस जर्मनी की हथियारों के लिये कुचनने की दृष्टि से उसके माथ कठोर से कठोर व्यवहार था जबकि ब्रिटिश लोकमत वर्षों की कठोर शर्तों से ही विवर्तित था और वह साथ महानुभूति का व्यवहार करने का पक्षपाती था। क्योंकि ब्रिटेन इस बात का विश्वसित नहीं कर पाया था कि युद्ध के पूर्व जर्मनी उसका एक अच्छा ग्राहक था। रान्त विकसित आर्थिक मदी के कारण इंग्लैंड के व्यापार-वाणिज्य का भी लगा था। अतः स्वयं अपनी व्यापार वृद्धि के लिये वह जर्मनी का औद्योगिक आवश्यक समझता था। इसके लिये यह आवश्यक था कि जर्मनी को पुनः निर्मित बनाया जाये, उसको फिर से शस्त्र धारण करने की छूट दी जाय त कि वह सामर्थ्य का मुकाबला कर सके और इंग्लैंड में सामान खरीद सके। यही कारण ब्रिटेन का रुख उदार बना रहा और उसने जर्मनी के पूर्वी सीमान्तों की सुरक्षा की प्रत्याभूति देने पर सहमत नहीं की। फ्रांस इस नीति का विरोधी रहा और यह युद्ध बात थी कि १९१६ से १९३० तक अंतर्राष्ट्रीय नीति की बागडोर फ्रांस के हाथों में जिसके परिणाम स्वरूप हिटलर का उत्कर्ष हुआ और इससे भी दुर्भाग्य की बात कि १९३० के बाद बागडोर इंग्लैंड के हाथों में आ गई जिसके परिणाम स्वरूप महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। यदि शुरू में बागडोर इंग्लैंड के हाथों में रहती या फ्रांस में फ्रांस के हाथों में रहती तो महायुद्ध के विनाशकारी परिणाम संभव था।

(४) ब्रिटिश प्रसादन नीति का एक आधार उसकी आर्थिक तथा आंतरिक कठिनी थी। प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को काफी प्रभावित किया और उसका नीचनीय हा गइ थी। परन्तु १९२६-३० के विद्वय्यापी आर्थिक संकट ने तो कमर हा तोड़ दी और एक तरह से ब्रिटेन भी दिवालिया हा गया। इसी अवधि में उपनिवेशों में स्वतंत्रता आन्दोलन का भीषण तूफान उठ खड़ा हुआ और इस तूफान के लिये उसे अपनी सम्पूर्ण संचित शक्ति लगानी पड़ी। इस प्रकार की परिस्थिति में इंग्लैंड अपना घबराव खाँ बैठा और उसकी नीति में भी अस्थिरता आ गई। परिणाम स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बंध में ठोस कदम उठाना संभव न हो पाया।

(५) अंतिम आधार ब्रिटेन के कण्ठधार की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति एवं फामिस्ट नायकों के चरित्र एवं उनकी नीति का सही मूल्यांकन करने की क्षमता

१। चैम्बरलेन एवं लम्बे समय तक हिटलर के वचनों के प्रति झूठे श्रद्धा रखता रहा और उस महान्त विश्वास था कि 'छोटे राष्ट्रों की भेंटियों के आगे डालने से उनको सन्तुष्ट किया जा सकता है, उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि एक बार सहू का स्वाद लग जाने से 'शान्ति कभी पूर्ण नहीं होती, जितना तुष्टीकरण किया जायेगा, उतना ही असंतोष होगा।' बात है भी ठीक। हिटलर जब कभी किसी संधि का अतिव्रमण करता तो यह वाक्यन दता जाता था कि इसके बाद उसकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं है और अथ वह तुष्ट है। परन्तु उनकी महत्वाकांक्षाएँ एक के बाद एक अपना निखरा रूप प्रकट कर लेती चैम्बरलेन को मुग्ध करती रही। यही पर ब्रिटिश नेताओं ने भयकर गलती की।

२। अब हम विभिन्न दशों के साथ इंग्लैंड की प्रसादन नीति की समीक्षा करेंगे।

३। १९१६ के बाद में ही इंग्लैंड का स्वयं जर्मनी की तरफ उदार होता गया और १९१८ के उत्थान के पूर्व ही जर्मनी ने अन्तर्गत मतभेदों से उत्साहित होकर क्षतिपूर्ति की राशि में कमी करवाने, कूरक्षेत्रों की खाली करवाने तथा जर्मनी के प्रति गुप्त रूप से शस्त्रीकरण के बारे में विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। हिटलर के उत्थान के बाद भी इंग्लैंड की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया और जर्मनी ने वसाय संधि की धारा का उल्लंघन करते हुये अनिवार्य सैनिक सेवा जारी रखी तो इंग्लैंड ने उदासीन स्वयं अपनाया। इतना ही नहीं बल्कि १८ जून १९३५ को इंग्लैंड ने जर्मनी के साथ नौ सैनिक समझौता भी कर लिया। इसी प्रकार की नीति उस समय भी लागू की जाती रही जबकि जर्मनी ने वसाय और लोकनों संधियाँ का अतिव्रमण करते हुए इंग्लैंड का पुनः सैनिककरण करना शुरू किया। जर्मनी के इस कदम का भाव इंग्लैंड के द्वारा सक्रिय प्रतिवाद नहीं किया गया। १९३६ में स्पेन के गृह युद्ध में, साम्यवादी प्रभाव का अतः करने की दलील की ओर हिटली ने एकपास्या कर ली फ्रैंको को घन, जन अस्थ शस्त्र का सहायता देकर स्पेन में प्रजातन्त्र का गना दिया परन्तु इंग्लैंड चुप्पी साधे रहा।

४। आस्ट्रिया के सम्बन्ध में इंग्लैंड की चुप्पी प्रसादन नीति के इतिहास में एक नया अध्याय थी। ४ फरवरी १९३८ को ब्रिटिश विरोधी रिबबन्ट्रॉप (Ribbentrop) को हिटलर ने अपना विदेशमंत्री नियुक्त किया। ब्रिटिश विदेश मंत्री ईडन ने चैम्बरलेन का चेष्टा किया परन्तु चैम्बरलेन ने उल्टे ईडन का त्याग पत्र देने को विवश किया। प्रसादन नीति के अनुसरण के लिये चैम्बरलेन ने यह प्रथम कीमत अदा की। १३ जनवरी १९३९ का रूडोल्फ ने तत्स्थ राष्ट्रों की अंतराष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव के सम्बन्ध में प्रस्ताव को बनाने की दृष्टि से, एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा था परन्तु चैम्बरलेन ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। वस्तुतः यह एक ऐसा प्रस्ताव था जिसके द्वारा प्रसादन नीति के बिना ही जर्मन आक्रमण का सीमित किया जा सकता था। इतना ही

नहीं, चैंम्बरलेन एक कदम और आगे बढ़ गया। उसने ऐसा समय म जब कि आस्ट्रिया को हटाने की तैयारी कर रहा था, अपने विदेश मंत्री हेलेफावम को गति सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण आदि समस्याओं पर विचार करने के लिये बर्लिन भेजा। समय आस्ट्रिया के राष्ट्रपति ने ब्रिटेन से सहायता की याचना की, परन्तु न यह कह कर कि यह जर्मन लोग का घरेलू मामला है, प्रमादन नहीं हद करदी।

चेकोस्लावाकिया का अम भग ब्रिटिश प्रसादन नीति की चर्म सीमा कहा जा है। इस सम्बन्ध में इंग्लैण्ड ने प्रारम्भ से ही यह निश्चय कर रखा था कि चेक राज्य सुरक्षा के लिये वह युद्ध का आश्रय नहीं लेगा। रुम ने चेक राज्य की सुरक्षा के सामूहिक कदम उठाने का प्रस्ताव भी रखा था परन्तु इंग्लैण्ड ने उस ठुकरा इंग्लैण्ड की नीति इस दिशा पर चलने लगी—सूडेटन जर्मनो की मांगों में संशोधन लिये बर्लिन सरकार पर जोर डालना ताकि चेक सरकार उस हे स्वीकार कर सके। चेक सरकार पर सूडेटन जर्मनो की मांगें स्वीकार करने के लिये दबाव डालना ताकि जर्मनी आक्रमण या युद्ध का रास्ता छोड़ सके। क्योंकि यदि युद्ध छिड़ता तो फ्रांस के कारण फ्रांस को युद्ध में सम्मिलित होना पड़ता और फ्रांस का मित्र होने के इंग्लैण्ड को भी युद्ध में सम्मिलित होना पड़ता। अतः इंग्लैण्ड ने फ्रांस पर भी डाला कि वह अपने साथी चेक राज्य को सूडेटन जर्मनो की मांगें मंजूर करने का एक कर ताकि चेक राज्य युद्ध का सहारा लेने का विचार छोड़ दे। चैंम्बरलेन की नीति सुधार रूप से काम किया परन्तु हिटलर की मांगें बढ़ती गईं। फिर भी, प्रमान्त अग्रे उपासक चैंम्बरलेन ने म्यूनिख समझौता स्वीकार करके चेक प्रजातन्त्र का करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

म्यूनिख समझौते के समझौते ने अपने पक्ष में निम्न तक दिये—(१) मोविम की सहायता के उपरान्त भी चेकोस्लावाकिया का सैनिक शक्ति के द्वारा नहीं बढ़ा जा सकता था क्योंकि रुमानिया और पालण्ड ने इसी सन्धि की सीमा में पक्ष की स्वीकृति नहीं दी। अतः रूसी सहायता निरपेक्ष थी। (२) हिटलर की मांगें 'अन्तर्निर्णय के सिद्धान्त' पर आधारित थी अतः 'यायमगत थी। (३) इस समय में जर्मन युद्ध के विरुद्ध था। (४) ब्रिटिश उपनिवेशों के विषय का लेकर ल. जात युद्ध में सहयोग देने की तैयारी नहीं थी। (५) म्यूनिख व्यवस्था में युद्ध का मकसद एक अथ पक्ष का कहना था कि इंग्लैण्ड ने युद्ध छड़ना इंग्लैण्ड ठीक नहीं समझा क्योंकि उसकी युद्ध सम्बन्धी तैयारियाँ अधूरी थी। पर, इस कथन में तो मर्यादा का अर्थ नहीं है क्योंकि इस समय इंग्लैण्ड की स्थिति १९३९ के अन्तिम समय से अच्छी थी चेक मेनाएँ तैयार थी तथा रूसी सहायता का भी आरोसा था।

प्रसादक सतुष्ट थे कि युद्ध टल गया । परन्तु हिटलर उह घोखा दे रहा था । शून्य स्थिति व्यवस्था तो चेकोस्लोवाकिया के विनाश की दिशा में प्रथम कदम था । शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि प्रसादन के द्वारा विश्व शांति किसी भी कीमत पर नहीं खरीदी जा सकती । फिर भी चैम्बरलेन का हान नही आया और ज़िम समय हिटलर यहूदिया पर अमानवीय अत्याचार कर रहा था, चैम्बरलेन व्यक्तिगत बातचीत के द्वारा शांति स्थापित करने के पक्ष में था । जब हिटलर ने चेक राज्य का पूणतया हड़प लिया तब ही जाकर चैम्बरलेन की अमनी नीति के दापा का पता लगा और उसने हिटलर की नीति को रोकने का प्रयत्न किया । ३१ मार्च १९३६ को पोलैण्ड को सुरक्षा का प्रसादन दिया गया, परन्तु अब परिस्थितियाँ बदल चुकी थी । नात्सी भेडियो का लहू का श्राव मिल चुका था और विश्व की कोई ताकत भावी महायुद्ध को रोकने में समर्थ नही थी । इटली के सम्बन्ध में भी ब्रिटिश प्रसादन नीति पूण रूप से असफल रही । इटली, महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही मित्र राष्ट्राँ से असंतुष्ट हो गया था क्योंकि उसने लुट व बँटवारे में उचित हिस्सा नही मिला था । मुसोलिनी के प्रति इटली के प्रति नेतृत्व में इटली की शक्ति और उसकी महत्वाकांक्षाओं का विकास प्रसादन नीति होने लगा । मुसोलिनी शुरू में नात्सी जर्मनी का विराधी था । परन्तु मित्र राष्ट्राँ के साथ भी उसने सम्बन्ध अधिक अच्छे नही । क्योंकि मुसोलिनी भूमध्यसागर को अपने नियंत्रण में रखना चाहता था । ईथोपिया और अल्बानिया का हड़पना चाहता था । बाल्कन प्रायद्वीप में इटली का प्रभाव स्थापित करना चाहता था । परन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस का यह स्वीकार नही था । उधर यूरोप राजनीतिक परिस्थितियाँ द्रुत गति से बदलन लगी । हिटलर काफी शक्ति शाली हो गया था और इंग्लैण्ड तथा फ्रांस को यह भय लगने लगा कि कही इटली जर्मनी के साथ गठ बन्धन न कर बैठे । अतः इटली के प्रति ब्रिटिश प्रसादन नीति का प्रमुख आधार मन्त्रिण धुरी के निर्माण को राजना था । इसलिए यह जानते हुये भी कि इटली की ईथोपिया विजय से राष्ट्रसंघ की नींव खोखली हो जायेगी, विश्वशांति खतरे में पड़ गयी, भूमध्यसागर में इटली की प्रधानता के कारण ब्रिटन की आधिपत्य दूटनीतिक राजनीतिक स्थिति को भारी धक्का लगेगा, ब्रिटेन ने इटली ईथोपिया संधि के समय प्रसादन की नीति का अनुसरण किया । इसमें कोई सन्देह नही कि इटली के मामले में उसने प्रथम कदम बढ़ाया । ७ जनवरी १९३५ ई० को फ्रेंच विदेश मन्त्रि (Laval) ने अपनी राम यात्रा के समय गुप्त रूप से मुसोलिनी को ईथोपिया में अपनी कार्यवाही करने की छूट दे दी थी । हालांकि सावजनिक रूप से वह मुसोलिनी को प्रशंसा करता रहा । परन्तु जसा कि 'गूमेन' ने लिखा है कि 'सावाल' ने जूल गमेल (Jules Romains) का कहा था 'मन मुसोलिनी को ईथोपिया दे दिया है ।' १९३५ का ब्रिटिश विदेश मन्त्री समुचित दृष्टि ने भी सावाल की नीति का गुप्त

गूमेन-प्रन्तरीष्ट्रीय राजनीति ।



मध्य म समझन कर दिया था। २४ जून का ईटन ने राम जॉन्स मुसालिनी का म समझा दिया कि वह इथापिया के सम्बन्ध में कार्यवाही करने इरादा बाद इंग्लैण्ड और फ्रांस ने इथापिया के अग भग म इटली का याजना भी बनाई परन्तु मुसालिनी ने उह ठुकरा दिया।

ब्रिटिश लोकमत का सतुष्ट करने के लिये क्योंकि ग्राम चुनाव नजदीक आ इंग्लैण्ड ने राष्ट्रसंघ में इटली की नीति का जोर शोर से विरोध किया। तरफ मुसोलिनी का शुष्ट रूप से आश्वासन भी देता रहा। गणान हाई न कि १० सितम्बर १९३५ का होर ने लावाल का स्पष्ट बता दिया था कि इटली के विरुद्ध राष्ट्रसंघ के द्वारा किसी प्रकार की विघ्नकारी अनुशास्तिया नही दगा और न ही सनिक कार्यवाही की जायेगी। लावाल न मुसालिनी का इमका द दी। इस प्रकार के आश्वासन के उपरान्त ही मुसोलिनी ने १ अक्टूबर को पर आक्रमण किया था। ७ अक्टूबर का सप ने इटली का आक्रान्ता घोषित और ८ अक्टूबर को इटली के विरुद्ध अनुशास्तिया जारी कर दी गई। ब्रिटिश नवम्बर में होने वाल ग्राम चुनावों को जीतने के लिये दिखावटी तौर पर इन्हीं निन्दा करते रहे और इस कारण वाल्डविन का मंत्रिमण्डल चुनाव जीत भी गया। २२ दिसम्बर १९३५ को संपादित होर-लावाल पैक्ट का भण्डा भोर हो गया और हो त्याग पत्र देना पडा।

ब्रिटेन की दुरगी नीति का परिणाम बहुत बुरा रहा। मुसालिनी इटली के विरुद्ध स्तिया को जारी करवाने वाला को नही भूला, हालांकि बाद में इंग्लैण्ड ने अनुशा का रद्द करवाने का प्रयत्न भी किया। परन्तु अब समय बीत चुका था और मला को ब्रिटिश नीति के प्रति विश्वास नही रहा और वह जमनी की तरह झुकन लग राम बॉलन धुरी का निर्माण हो गया। यह अच्छा हाता यदि निबल कदमों को बजाय किसी प्रकार का कोई कदम नही उठाया जाता। क्योंकि इस स्की प्रसादन नीति कुछ अंश में सफल हो सकती थी और राम-बॉलन धुरी को नष्ट जा सकता था। इस प्रकार की शिथिल और उदासीन प्रसादन नीति के कारण ईथोपिया, अल्बानिया और राष्ट्रसंघ का अंत हो गया और इटली भी जमनी से जागृत

जमनी और इटली के सम्बन्ध में ब्रिटेन द्वारा जिस प्रसादन की नीति का प्र किया गया था, उसका सर्व प्रथम प्रयोग जापान के साथ किया गया था। जापान

सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रसादन नीति को लागू करने के निम्न कारण थे—(१) ब्रिटेन का विश्वास था कि सुदूर पूर्व में जापान पराजय का अथ साम्यवादी प्रभाव की प्रगति है। अर्थात् जापान को मंचूरिया में राबने का प्रयत्न किया जाता है

आंतरिक मंगोलिया, मंचूरिया और चीन में साम्यवादी प्रभुत्व को रोकना



परन्तु जापान के विरुद्ध कायवाही करने से स्पष्ट रूप से इकार कर दिया। इंग्लैंड यह नीति बहुत सतरजाब थी क्योंकि इस नीति के द्वारा वह चीन के राष्ट्रीय साम्यवादी प्रचार तथा कुछ सीमा तक अमेरिका के विरोधी तत्वा का पथप्रदर्शित गया। परन्तु अन्त में ग्रेट ब्रिटेन को अपनी भूल का ज्ञान होकर ही रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इंग्लैंड ने सर्व प्रथम जापान के सम्बन्ध प्रसादन नीति का प्रयोग किया परन्तु इसमें उसे विफलता मिली। फिर भी, इस विफलता से उसने कुछ भी भय नहीं सीखा और इसा प्रकार की नीति जर्मन और इटली के सम्बन्ध में लागू की। हा, हिटलर और मुसोलिनी ने अवश्य ही नीति की विफलता से सबक सीखा और इस अर्जित ज्ञान के आधार पर उन्होंने राज्या की स्थापना का प्रयत्न भी किया।

फ्रांस की प्रसादन नीति फ्रांस का सुरक्षा समस्या से घटित रूप से संबंधित है। वेम अपन साधियों की सहायता से प्रथम महायुद्ध में फ्रांस जर्मनी का पराजित कर मजबूर रहा परन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद भी फ्रांस अपना सुरक्षा के नियम अमान्य और इसी उद्देश्य युन में उसने अनेक रास्ता से साधना भी की।

**फ्रांस की**

**प्रसादन नीति**

फ्रांस के इतिहास का अवलोकन करने पर हमें एक बात का ज्ञान हो जाना है कि गत १६ शताब्दियों से फ्रांस की विचारणा को फ्रांसीसी सुरक्षा रूपी घुरी के सहार ही घूमती रहा है।

कारण था कि पेरिस शांति सम्मेलन में तत्कालीन प्रधान मंत्री क्लेमण्टो ने फ्रांस को सुरक्षा पर अत्यधिक जार दिया था।

अपनी साम्य सुरक्षा की दृष्टि से फ्रांस ने अनेक कदम उठाये। सर्वप्रथम अपनी पूर्वी सीमा का मजबूत बनाने का प्रयत्न किया। इसके बाद उसने जर्मनी को निर्धनता का अवस्था प्रयत्न किया और यही कारण था कि फ्रांस वर्साय संधि में सफल बहुर विराधी था। शांतिपूर्ति के बाद में जर्मनी करने का भी वह चार विराधी था। प्रकार यह उस समय तक जब तक कि उसे सुरक्षा की ठोस प्रत्याभूति न दी गई कि शस्त्रीकरण का लागू करने का भी विरोधी था। फ्रांस का दूसरा कदम अन्य देशों सैनिक सहायता प्राप्त करने वाली संधियाँ को सम्मिलित करना था। इस दृष्टि से एक तरफ तो इंग्लैंड के साथ अपनी सुनह नीति जारी रखी और दूसरी तरफ पश्चिमी यूरॉप के साथ, ग्रीस के साथ और रूमानिया के साथ संधियाँ की शृंखला स्थापित की। तबसे फ्रांस साम्य को जीवित रखने के सम्बन्ध में उठाया गया। यदि पूर्वक देखा जाय तो मान्य पड़ेगा कि फ्रांस ने इस नीतिगामी अन्तर्राष्ट्रीय संधि बनाने के नियम अमान्य प्रयत्न किया था और इसका जीवित रखने में उसका सहयोग अत्यधिक सहायता है। फिर भी, फ्रांस के प्रयत्नों का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। १९१९ में यूरॉप की राजनीति का वायव्य रूप ही चुना था। इसी और जर्मनी की शक्तिगता बनने के, साम्य का पान ही चुना था, साम्यवादी रूप का महान शक्ति बन चुना था, ज

बुल्लम बुल्ले रूप से अपनी साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर रहा था और ब्रिटेन आखिरी मूढ़ कर शक्ति संधियों का प्रतिप्रमाण सहन कर रहा था। ऐसी स्थिति में फ्रांस की राजदूत होकर ब्रिटेन का अनुसरण करना पड़ा और प्रसादन की नीति का पालन करना पड़ा।

फ्रांस की प्रसादन नीति के प्रमुख आधारों का टूटने के लिये हमें अधिक दूर जानने की आवश्यकता नहीं है। सबसे प्रथम आधार फ्रेंच नीति की दुर्बलता, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिर नीति की अभिव्यक्ति थी। प्रथम महायुद्ध में फ्रांस को जन धन की भयंकर क्षति सहन करनी पड़ी थी। उसका जनसंख्या की वृद्धि भी कम गई थी। उभर जर्मनी के द्वारा क्षतिपूर्ति के दावा की भ्रष्टाचार से इन्कार करने के परिणामस्वरूप फ्रांस की आर्थिक स्थिति काफी नाचनीय हो गई।

फ्रेंच प्रसादन नीति। इस प्रकार के वातावरण में प्रजापत विरोधी तत्वा का नीति के आधार प्रभाव बढन लगा। मन्त्रिमंडल का अस्थिरता के कारण फ्रांस नीति का पालन करना संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में उन प्रमाण

नीति का अनुसरण करने का विचार होना पड़ा। दूसरा आधार था युद्ध का विनाश स्मृति का ताजा रहना। फ्रांस अभी उस विनाश का भूला नहीं था और इस प्रकार विनाश की पुनरावृत्ति का रोदन के लिये उस प्रसादन भाग ग्रहण करना पड़ा। द्वैत फ्रांस को केवल अपनी सुरक्षा की चिन्ता थी। अपनी चिन्ता से मुक्ति पाने की भ्रान्त धारा में वह प्रसादन का पत्ता पकड़ रहा। तीसरा आधार साम्यवादी भय था।

गैल्ले की भाँति फ्रांस को भी साम्यवाद के बढ़ते कर्मों से काफी चिन्ता हो रही थी और उसने भी साम्यवाद के विरोधी एक आस्तात्रा का मनुष्य करने में ही अपना बल्यारा भरा। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से फ्रांस का यह कदम गलत था। क्योंकि इतिहास हम

त का साक्षात् है कि हम के साथ मिलकर लड़ जाने वाले प्रत्येक युद्ध में फ्रांस की विजय है जबकि हम के सहयोग के बिना लड़े गये प्रत्येक युद्ध में फ्रांस पराजित हुआ है। फ्रांस की प्रसादन नीति का चौथा आधार किसी भी कीमत पर इटली का मित्रता प्राप्त

रना था। उसका विश्वास था कि जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति की रोकने के लिये इटली सहायता आवश्यक है। हालांकि इस नीति के कारण फ्रांस को पारंगत की मित्रता हाथ धोना पड़ा। इटली द्वारा ईथोपियन अभियान के समय फ्रांस का विप के कटुघट पीने पड़े, स्पेन के कुछ युद्ध में इटली का सतुष्ट करने की खानिर स्पनिश प्रजापत

गला घुट जाने दिया। यहाँ तक कि संधियों की वह श्रृंखला जिसको स्थापित करने और कुछ समय तक बनाए रखने में फ्रांस को अथर्व प्रयत्न करना पड़ा था, टूट गई और एक माथो दंग उस बददुआ देने लग गया थे। लघु मंत्री मध समाप्त हो चुका था जन के साथ औपचारिक संबंधों की स्थापना अभी कल्पना की उदात्त थी, जर्मन भय प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था और अमेरिका अभी अपने एकात्मता में मस्त था। निम्न समझौते पर हस्ताक्षर करके फ्रांस ने सावित्र मध की महानुभूति को भी खो

दिया और जमना के लिये पोलैण्ड विजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया । ६ दिसम्बर १९१८ को फ्रेंको जमन उद्घोषणा ने तो प्रसादन के क्षत्र में इंग्लैण्ड को भी पछाड़ दिया । लेखक ने इसकी चर्चा करत हुये लिखा है कि उसने जमनो से एक ऐसे वक् क नाम जेक स्वीयार किया जिसका कभी कोई अस्तित्व ही न था । इस नीति से घत में, पाम इटली और सोवियत सघ दोनो को ही खो दिया । अन्त में हम केवल इतना ही कहें हैं कि जब फ्रांस की स्वयं द्वारा निर्मित भुरक्षा भित्ति ढह गई ता उसने इंगलैण्ड को दामन थाम लिया और इन अन्तिम कृत्य ने उसे स्वतन्त्र रूप से कर्म उठाने की शक्ति में वचित कर दिया ।

अब हम अमेरिका की प्रसादन नीति की तरफ आते हैं । अमेरिका का प्रसादन नीति का सही मूल्यांकन करने के लिये प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अमेरिकन विदेश नीति का समझना अनिवार्य हो जाता है । अमेरिका की विदेश नीति का स्वरूप बहुत कुछ उस युग की ब्रिटिश नीति से जड़ है कि

अमेरिका की  
प्रसादन नीति

का स्वरूप बहुत कुछ उस युग की ब्रिटिश नीति से जड़ है कि युरोपीय महाद्वीप से 'एकात्मता' ग्रहण कर चुका मिलता जुलता था । इस प्रकार की नीति में कोई निहित

तथ्य नहीं होता है । यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अमेरिका ने कूटनीति राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में, किसी अन्य राष्ट्र की अपेक्षा अधिक नैतिकता का प्रयोग नहीं किया था । यह बात अवश्य सही है कि प्रथम महायुद्ध के बाद से ही उसका आर्थिक और आर्थिक महत्व दिन प्रति दिन विकसित होता जा रहा था । फिर भी, वास्तविक रूप से, उसका प्रजातन्त्र की सुरक्षा या स्वाधीनता अथवा उपनिवेशों की मुक्ति सम्बन्ध में कोई विशेष रुचि नहीं थी । उसकी रुचि तभी सक्रिय हो उठती थी उसके स्वयं के आर्थिक या राजनीतिक हितों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो । अन्य राष्ट्रों की भाँति अमेरिकन नीति का ध्येय भी सुरक्षा सम्मान तथा परन्तु जहाँ तक उसका स्वयं का प्रश्न था उस बहुत कम चिन्ता थी ।

यहाँ पर अमेरिकन विदेश नीति के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक तथ्य बताना जरूरी नहीं होगा । पेरिस के शांति अधिवेशन में तथा संधियाँ की रचना और राष्ट्र सम्मेलन में अमेरिका ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी । परन्तु जब वर्मिय सर्त अनुसमयन का प्रश्न आया तो अमेरिका ने अस्वीकार कर दिया और १९२१ में उसने जमनी के साथ एक पृथक् संधि की राष्ट्र सघ का सदस्यता का भाव ठुकरा दिया । १९३४ तक अमेरिका ने साम्प्रदायिक संधि का मान्यता नहीं की थी । परन्तु जिन समस्याओं के साथ उसके हित सम्बन्धित थे जैसे सतत अतिवृद्धि और मित्रराष्ट्रों के युद्धकालीन बर्जों आदि, उनके समाधान में वह समय समय पर केवल सम्मेलन ही देता रहा बल्कि मार्ग भी निर्दिष्ट करता रहा । परन्तु उसकी वास्तविक मुख्य उद्देश्य मुद्रा पृथक् था और यही कारण था कि १९२१ में वार्शिंगटन सम्मेलन में सम्मेलन का मफल बान के नियम उसने अथक प्रयत्न भी किया । फिर भी, तब तक



पक्ष को किसी प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का निर्यात नहीं किया गया। अमेरिका नागो ने रोमन कैथोलिक जनरल फ्रैंको का जबरदस्त समर्थन किया और सरकार का भी सदेह था कि सोवियत रूस स्पेनिश सरकार की सहायता कर अतः अमेरिका को प्रसादन की नीति का पालन करने को विवश होना पड़ा।

१९३७ में अमेरिका ने 'शांति के अष्टांगस्तम्भ' (Eight Pillars of Peace) की घोषणा की। इससे अधिनायको का यह विश्वास हो गया अमेरिका उधेड़ धुन में लगा हुआ है और यह कागजी-योजनाओं के प्रतिनिधि कदम उठाने की स्थिति में नहीं है। १९३८ की घटनाओं ने अमेरिका की नीति पर परिवर्तन अवश्य ला दिया। यही कारण था कि म्युनिख सम्मेलन के ताना फ्रांजो ने इंग्लण्ड, फ्रांस, जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया का मुद्दा शान्ति समस्या का शांतिपूर्वक निराकरण ही थोकर है और इस सम्बन्ध में परितः ध्यान में रखना अधिक लाभप्रद होगा। इसके बाद अमेरिकन नीति कुछ मजबूत हुई। जब हिटलर ने यहूदिया का दमन शुरू किया तो अमेरिका ने अपने बर्लिन स्थित को वापिस बुला लिया। और जर्मनी के साथ अपने दूतनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिए। १४ अप्रैल १९३९ को अमेरिका ने हिटलर का अंतिम चेतावनी देते हुए अपने ३० राष्ट्रों की एक सूची भेजी और जर्मनी का स्पष्ट कहा गया कि इन राष्ट्रों का भ्रमण न किया जाय। हिटलर ने सूची को तर्फ बाई ध्यान नहीं दिया। फिर अमेरिका ने हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा। द्वितीय महायुद्ध के मूढ़ान के जब घुरी राष्ट्रा का आगामीत सफलता मिलने लगी तब वही जाकर अमेरिका ने रा परित्याग किया।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में अमेरिका इंग्लण्ड और फ्रांस की भांति जापान का सन्तुष्ट करने की नीति का अपनाया था। बाद में जाने जापान के प्रति कुछ सख्त नीति का ग्रहण कर लिया। अमेरिका

दुर्घटना के पूर्व, १९१७-२० में अमेरिका ने जापान का जापान के प्रति शांत साझेदारी की सीमात्मक धोखा पर अमेरिका के लिये उद्घाटित किया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका द्वारा जापानी महाशासकशासक का विराट केन्द्र स्थापित के लिया गया था न कि राजनीतिक आधार पर।

मुद्रर पूर्व में जापान अमेरिकन उद्योग-व्यापार को भारी प्रतिद्वन्द्वता रहा था। प्रारंभ १९०१ में अमेरिका ने इंग्लैंड पर जापान के साथ की गई १९०२ की सम्झौता दबाव डालकर रद्द कराया था कि जापान ब्रिटिश को मजबूत मदद न देता था। परन्तु जब जापान ने मंजूरिया पर आक्रमण किया तो अमेरिका ने विरुद्ध मजबूत कदम उठाते में इन्कार कर दिया क्योंकि एक ता, अमेरिका का विश्वास था कि मंजूरिया पर जापान के अधिकार के द्वारा जापान को एक

का जा सक्ता है और दूसरे जापान के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाने के लिए शक्तिशाली सेना की आवश्यकता थी और तीसरे जापान के विरुद्ध कायवाही करने के परिणाम रूप चीन द्वार जापान के साथ होने वाले अमेरिकन व्यापार को भारी धक्का लगने सम्भावना थी। इस अन्तिम स्थिति को अमेरिका सहन नहीं करना चाहता था। अतः इन प्रसादन की नीति का अनुमरण करने में ही भरना हिन सम्झा। अमेरिका की ति का एक कारण यह भी था कि तेनेवा स्थिति अमेरिकन राजदूत चार्ल्स डेविस त्तिगत रूप से जापानियों का घनिष्ठ मित्र था और वह हमेशा अगला प्रभाव जापान रक्ष में डालता रहा। अगली प्रसादन नीति की वंछता को प्रमाणित करने के लिए अरिका ने यह तब प्रस्तुत किया कि पेरिस पेट्ट और नौ राष्ट्रों की संधि (Nine Power Treaty) जनमत पर आधारित है और जनमत की सलाह के ता उनको कार्यान्वित करना सम्भव नहीं है। अमेरिका क इस हल ने जापान के न विनी भी सक्रिय कदम को निरर्थक बना दिया। परन्तु फिर भी अमेरिका द्वारा अगले राज्य (मचूरिया का जापानी नामकरण) को मायता न देने की नीति ने ससार आश्चर्यचकित अवश्य कर दिया। १९३२ में अमेरिकन राष्ट्रपति का नवीन चुनाव आया था। इस कारण भी कई दिन जापान के विरुद्ध कायवाही करना या करन घोषणा नहीं करना चाहता था क्योंकि युद्ध का अर्थ है जनता पर करों की वृद्धि। के बाद भी अमेरिका ने जापान का सन्तुष्ट करने की नीति को जारी रखा। यहाँ कि ५ अक्टूबर १९२७ में जब अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने तिकागो में अपन भाषण में जापान की कायवाहिया को रोकने की चचा की तो अमेरिकन जनता ने की काफी आलाचना की। इतना ही नहीं बल्कि अमेरिकन संविधान में भी संशोधन दिया गया कि किसी राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध की घोषणा जनमत के बहुमत के आधार ही की जानी चाहिए। ३ नवम्बर १९२७ का अमलन सम्मेलन में भी अमेरिका न पान के विरुद्ध किसी प्रकार का सक्रिय कदम उठाने से इन्कार कर दिया। हालांकि समय जापान ने मार्कापोलो दुर्घटना का उद्घाटन लेकर चीन पर पुन नये सिरे में हमला कर दिया था। अमेरिकन प्रसादन नीति अपने ध्य की चरम सीमा पर पहुँच जबकि जापान न यात्सी नदी में अमेरिकन जहाजों पर बम वर्षा की और चीन अन्ते अमेरिकन नागरिकों की बुरी तरह से अपमानित किया परन्तु अमेरिका ने मान रण कर लिया। जुलाई १९३६ में अमेरिका ने जापान के साथ की गई आर्थिक संधि भंग करने के उपरान्त जापान का ७०% तेल, ६५% मोटर का सामान, ७५% हवाई गा का सामान, ६०% इस्पात और लोहा आदि सामान अमेरिकन बाजार से खरोदन छूट दी गई। अमेरिकन प्रसादन नीति का अन्त तभी हुआ जबकि जापान ने अमेरिका ११ नवम्बर पर आक्रमण कर दिया। गुप्ता ने अमेरिकन प्रसादन नीति का सिंहावन करते हुए लिखा है कि 'The United States sought to reconcile Japanese Imperialism with the Open Door Policy'



in Eastern Asia and in this she proved to be a miser-  
failure”<sup>१</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप की दो प्रमुख शक्तियाँ—इंग्लैंड और  
तथा अमेरिका ने एकशास्ताओं—जर्मनी, इटली और जापान को सतुष्ट करन का  
किया। दूसरे शब्दों में छोटे छोटे निबल राज्या की बलि देकर अपनी सुरक्षा का  
प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु एकशाम्ता उनकी बलि से या पूरा स-  
नहीं हुए और अपने भक्त पर ही बार कर बड़े। तब कही १९  
को अपने भगवान की लीला का आभास हुआ और द्वितीय महायुद्ध  
सूत्रपात हुआ।

---

( १ ) M G Gupta—International Relations since 1914

द्वितीय महा युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन एवं  
शान्ति सम्मेलने

## भूमिका

महा मुद्र के मध्यकाल में ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~  
 गया । इस सम्बन्ध में ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~  
 आवश्यक है क्योंकि हमने ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~ ~~महा मुद्र के मध्यकाल में~~

किया गया था और युद्धागस्त जा शांति समझौते सम्पन्न हुये वे इसी रूप में आधारित थे ।

प्रथम महायुद्ध की भांति, इस बार भी अमेरिका युद्ध की प्राथमिक अवस्था में ही प्रयत्न ही रहा । परन्तु इस बार भी यह शुरू में मित्रराष्ट्रों की सैनिक सामर्थ्य से सहायता करता रहा । ६ जून १९४१ को अमेरिका

अटलाण्टिक तलाशीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमेरिकन नीति की व्याख्या करते हुए कहा कि इस नीति का ध्येय ससार का स्वतन्त्रताओं (Four Freedoms) की उपलब्धि करवाना है ।

ये इस प्रकार थी—(१) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (२) धार्मिक की स्वतन्त्रता, (३) प्रभाव और निधनता से स्वतन्त्रता अर्थात् गरीबी और बकाय अन्त और (४) भय से स्वतन्त्रता ।

१४ अगस्त १९४१ को अटलाण्टिक सागर के बगल पर न्यूफाउण्डलैण्ड के द्वीप एक युद्धपोत पर अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल एक साथ मिले और एक सामान्य नीति की घोषणा की । इतिहास में इस 'अटलाण्टिक चार्टर' (Atlantic Charter) के नाम से पुकारा जाता है । चार्टर की आधार गिला उपरासत चार स्वतन्त्रताएँ" ही थी ।

यह सम्मिलित घोषणा इस प्रकार थी—“संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति संयुक्त साम्राज्य की सम्राट का सरकार का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रधान मंत्री मिर्चिल, एक स्थान पर मिलने हुए, अपने अपने देशों की राष्ट्रीय नीतियों का सामान्य सिद्धांतों का बताना उचित समझते हैं, जिन पर उन्होंने ससार के लिए अच्छे भविष्य की आशा आधारित की है । सब प्रथम, उनके देश, प्रादेशिक अर्थ प्रकार की, दक्षिण वृद्धि नहीं चाहते । दूसरे वे ऐसे कोई भी प्रादेशिक नहीं देखना चाहते, जो उनसे संबंधित लोगों की स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट की गई स्वतन्त्रता के अनुकूल न हो । तीसरे, वे प्रत्येक राष्ट्र के, अपनी सरकार, जिसके अन्तर्गत वे रहें के रूप की चुनने के अधिकार का सम्मान करने हैं, तथा वे यह देखना चाहते हैं कि जिन राज्यों के अन्तर्गत अधिकारी एवं स्वशासन को बल प्रवृत्त छीन लिया गया है वे उन्हें फिर से प्राप्त हो जायें । चौथे, वे, अपने वर्तमान वस्तुओं का पूरा ध्यान रखते हुए सभी राज्यों के लिये, चाहें वे छूटे हो अथवा बड़े, विजेता हों अथवा विजित, बात की चर्चा करेंगे कि उन्हें समान रूप में ससार के व्यापार एवं वृद्धि मार्ग प्रगति के साधन प्राप्त हो सकें, जो उनकी आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं, परन्तु वे, सभी के लिए मजदूरी के उन्नत स्तरों, आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति की दृष्टि में, आर्थिक क्षेत्र में, सभी राष्ट्रों के मध्य, पूरा सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं । छठे, नाजी अत्याचार की अन्तिम रूप में नष्ट करने के उपरांत, वे एक ऐसी नीति की स्थापना करने की आशा करते हैं जो सभी राष्ट्रों का, अपनी अपनी सीमाओं के

भीतर, सुरक्षित रहने के साधन दे सकें, तथा जा यह आश्वासन भा दे सकेगी कि सभी मनुष्य सभी देशों में भय तथा युद्ध से स्वतंत्र होकर अपना जीवन व्यतीत कर सकें, सातवें, इस प्रकार की शान्ति, बिना रुकावट के, बाह्य भागरी एवं महासागरी को पार करने का अधिकार प्रदान कर सकेगी, आठवें उनका विश्वास है कि सत्तार के सभी राष्ट्रीय, वास्तविक एवं आध्यात्मिक कारणों की दृष्टि में, शक्ति के प्रयोग का छोड़ देना चाहिये, क्योंकि यदि राज्य स्थल, जल अथवा हवा के शस्त्रों का प्रयोग करते रहेंगे, जो उनकी सीमाओं के बाहर आक्रमण की धमकी देते हैं अथवा दे सकते हैं, तो भविष्य में शान्ति नहीं रह सकती, अतएव उनका विश्वास है कि सामाजिक सुरक्षा की एक विस्तृत एवं स्थायी व्यवस्था की स्थापना के समय तक, ऐसे राज्यों का निरस्त्रीकरण आवश्यक है। इसी प्रकार से, वे अन्य सभी आवश्यक कार्यों में सहायता एवं प्रोत्साहन देंगे, जो शान्तिप्रिय साधनों के शस्त्रों के भारी बोझ का हलका कर सकेंगे।<sup>११</sup>

४ इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि इस समय तक अभ्युक्त राज्य अमेरिका प्रत्यक्ष रूप में महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। ऐसा तो १९ दिसम्बर १९४१ का पन हाबर पर जापानी आक्रमण के उपरान्त ही सम्भव हुआ। ८ दिसम्बर को अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों की तरफ से संयुक्त राष्ट्रों की महायुद्ध में प्रवेश किया। ११ दिसम्बर का ठूरी राष्ट्रों—  
नव घोषणा जर्मनी, इटली और जापान ने अपने विपक्षाय समझौते”  
( Tripartite Pact ) को, जिन २७ दिसम्बर १९४० में सम्पन्न किया गया था, पुनः पुष्ट किया और साथ ही अमेरिका और मित्रराष्ट्रों से पृथक् संधि करने की भावना भी अभिव्यक्त की। परन्तु उपरोक्त राज्यों ने इस प्रकार की संधि याजना को दुबारा दिया और मित्रराष्ट्रों की तरफ से जो जर्मनी सख्या इस समय तक २१ हा चुकी थी, ( २१ राष्ट्र निम्न थे—अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, चीन, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, म्यूका, चेकास्लोवाकिया, डानि, फ्रान्स, ग्रेट ब्रिटेन, एत सेलबेडर, यूतान, गोटमाला, हंगरी, होलैंड, भारत, चित्रेसबग, लिथुआनिया, लुक्सेम्बर्ग, नीदरलैंड, नार्वे, पोलैंड, पोलैंड, दक्षिण-अफ्रीका और यूगोस्लाविया )।  
यूनाइटेड नेशन्स ( United Nations ) का नया नाम दिया गया, अष्टलाष्टिक चाटर के सिद्धान्तों पर आधारित एक नूतन घोषणा की गई। इस घोषणा को “संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा” कहा जाता है। यह एक जनवरी १९४५ को की गई।

इस घोषणा में कहा गया है कि “इस पर हस्ताक्षर करने वाली सरकारें, १४ अगस्त १९४१ ई की अमेरिका के राष्ट्रपति एवं ब्रिटेन के प्रधानमंत्री की सम्मिलित ( १ ) नूमेन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।



समवार सामान्य सुरक्षा के महत्वपूर्ण तथ्या के सम्बन्ध में कुछ निर्णय किया जाना है।  
 'पराधीन' के आपसी मतभेदों को दूर करने के लिए लन्दन में "परामर्शदाता आयोग" (European Advisory Commission) की स्थापना की जाती है।  
 स्ट्रिया के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि युद्धोपरांत उसे पुनः जर्मनी से पृथक्  
 किया जाय और उसे एक स्वतंत्र नया स्वाधीन राष्ट्र का सम्मान दिया जाय।  
 'लो' के बारे में यह तय किया गया कि पोलिशों को जड़ मूल से समाप्त कर दिया  
 जाय और लाकन की स्थापना की जाय और देश के निवासियों को, उपासना, भाषण,  
 आदि की स्वतंत्रता प्रदान की जाय। जर्मनी के भविष्य के बारे में यह व्यवस्था  
 की गई कि महापुद्ग के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को बरतोर दंड दिया जाय। मास्को  
 सम्मेलन में भविष्य में, समार की शांति को बनाये रखने के लिए, एक अन्तर्राष्ट्रीय  
 न्याय की स्थापना करने का निर्णय भी किया गया। इस प्रकार यह सम्मेलन बहुत  
 महत्वपूर्ण रहा।

तो मास्को सम्मेलन में यूरोप के शत्रु राष्ट्रों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय किये गये।  
 तांतु सुद्ध पूर्व की समस्या का समाधान अभी बाकी था। इस क्षेत्र में जापान अभी तक  
 पराधीन का डटकर मुकाबला कर रहा था। अतः २२ नवम्बर १९४३ को अमेरिका  
 की तरफ से रूजवेल्ट, ब्रिटेन की ओर से चर्चिल और चीन की  
 काहिरा सम्मेलन तरफ से जनरल च्यांग काई शेक का काहिरा में सम्मेलन हुआ  
 और चार दिन के विचार विमर्श के उपरान्त वे एक निश्चय पर  
 पहुँचने में सफल हुये। यह निश्चय इस प्रकार था—जापान का गति का कृचनने के लिये  
 इतना राष्ट्र अपनी सम्पूर्ण जल, नभ और स्थल सशक्तता का प्रयोग करे। चान का यह  
 स्वाभिमन दिया गया कि जापान ने बलपूर्वक जिन् चीनी प्रांतों का हृदय लिया है उन  
 प्रांतों को पुनः चीन को लौटा दिया जायेगा क्योंकि 'तीन महान मित्रों' की किसी नये  
 हारण की महत्त्वानुशा नहीं है। इस सम्मेलन में कोरिया की समस्या पर भी विचार  
 किया गया और युद्धोपरान्त कोरिया का स्वतंत्र राष्ट्र बनाने का विचार किया गया। इस  
 सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि चीन के लिए और जापान अभी तक एक  
 शत्रु के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे, अतः साविद्यत रूप से इस सम्मेलन में  
 भाग नहीं लिया।

अगला महत्वपूर्ण सम्मेलन ईरान की राजधानी तहरान में (२८ नवम्बर से १  
 दिसम्बर १९४३) हुआ। इस सम्मेलन में सर्वप्रथम सुसार के तीन महान् नेताओं रूजवेल्ट,  
 चर्चिल और स्टालिन का मिलन हुआ। इन नेताओं के अतिरिक्त तीनों देशों के सेनाध्यक्षों  
 का भी सम्मेलन हुआ जिसमें जर्मन सैन्य शक्ति के विनाश की  
 योजना तैयार की गई। इसके अनिरिक्त ईरान की स्वतंत्रता सत्ता  
 एवं पूर्णता का बचन दिया गया। युद्ध में विजय एवं शांति का  
 दावा भी घोषणा की गई। यूगोस्लाविया के नेता मार्शल टिटो का भी अधिक

सहायता देने का निणय किया गया। इस प्रकार इस सम्मेलन का भी हो जाता है।

महायुद्ध कालीन अंतिम महत्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा (कृष्ण सागर में प्रायद्वीप में) नामक स्थान पर ४ फरवरी १९४५ को हुआ और ११ फरवरी रहा। इस सम्मेलन में अनेक नेताओं ने भाग लिया। रुजवेल्ट, चर्चिल, स्टालिन,

नियस, ईडन, मोलोटोव, मादास, ब्रुक, एण्टानाव, याल्टा सम्मेलन बेडगन विशिस्की आदि प्रमुख थे। इस सम्मेलन में

सब यूरोप के नवीन मानचित्र, सुदूर पूर्व, मध्यपूर्व सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचारविमर्श किया गया और इन विचारों ने जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय समझौता की आधारशिला रखी वहीं दूसरी तरफ मित्रराष्ट्रों में आपसी भेदों को उत्पन्न भी किया जिसकी चरम सीमा शीत युद्ध (Cold war) बनी है। गुरु गुरु में इसके निणय गुप्त रखे गये परन्तु १९५५ में अमेरिका ने इन निर्णयों प्रकाशित करवा दिया। ये इस प्रकार थे— (१) सयुक्त राष्ट्र सच की स्थापना के सहायी राष्ट्रों का २५ अप्रैल १९४५ को सैन फ्रांसिस्को में सम्मेलन हुआ। (२) दशों के निवासियों को, जिन्हें जर्मनी और इटली के आधिपत्य से मुक्त किया गया अटलाण्टिक चाटर में निहित स्वतंत्रताएं प्रदान करना अर्थात् इन देशों में शासन व्यवस्था की स्थापना करना। (३) जर्मनी में चार अधिकृत क्षेत्र होने और इन के कारखानों मशीनों और सामग्री तथा जर्मन जनता के श्रम से क्षतिपूर्ति करने की व्यवस्था की गई। क्षतिपूर्ति की कुल राशि लगभग २० अरब डालर रही। इस राशि का आधा भाग रूस को देना तय किया गया। इसके साथ नाज़ी अभियोग चलाना भी तय किया गया। इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखा चाहिए कि उपरोक्त सभी बातों को तीन बड़ों के विदेश मंत्रियों की दृष्टि कार्यान्वित करने की व्यवस्था की गई थी। (४) पोलैण्ड की सीमा का कुछ परिवर्तन साथ स्वीकार कर लिया गया और यह व्यवस्था की गई कि पोलैण्ड की समस्याएँ दयाशील स्वतंत्र चुनाव करवाये। (५) यूगोस्लाविया में दयाशील मार्शल टोर्गो मुवासिच के मध्य सम्पन्न समझौते के आधार पर नूतन सरकार बनाने का विचार गया। (६) यूरोप में युद्ध की समाप्ति के आगामी तीन महीनों के भीतर रूस ने के विरुद्ध भी युद्ध घोषणा करने तथा मित्रराष्ट्रों का सहयोग देने का आश्वासन। (७) सबसे महत्वपूर्ण निणय सुदूर पूर्व के बारे में किया गया। जापान के विरुद्ध सहायता के उपलक्ष में रूस को बहुत सी सुविधाएँ प्रदान की गईं। जैसे कि (अ) मंगोलिया में पूर्व स्थिति (Status quo) को स्वीकार किया गया। (आ) जापान ने रूस के जिन प्रांतों को छोड़ा था उन्हें पुनः रूस का लौटाना तय किया। (इ) जस सखाली द्वीप का दक्षिणी भाग, पाट आर्थर का बंदरगाह प्रांत। (ई) (Dairen बंदरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना। (ए) चानो पूर्वी रेल तथा

चूरियन रेलवे पर चानी मावियन कम्पनी का सम्मिलित अधिकार स्वीकार किया गया ।  
 (उ) मचूरिया को चीन की सावभौम सत्ता के अन्तर्गत मान लिया गया । (ऊ) क्यूराइल  
 ओप पुन रूस का सौटाना ।

इस सम्बन्ध में चीन को स्वीकृति नहीं ली गई थी । अतः यह निश्चय किया गया  
 कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट चीन को स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा और जापान की  
 राज्या के बाद ही रूस का दी गई सुविधायी को कार्यावित्त किया जायेगा । रूस चीन  
 साथ मैत्री संधि कर लेगा ताकि चान का रूस की तरफ से किसी प्रकार का भय न  
 रहे । चूंकि सम्पूर्ण वायद जापानी पराजय के उपरांत ही सम्भव हो सकते थे, अतः यह  
 स्वीकृत रखा गया और १९५५ तक ससार इनके बारे में अनभिज्ञ ही रहा ।

द्वितीय महायुद्ध का वास्तविक अन्त तो १० अगस्त १९४५ को ही सम्भव हो सका  
 परन्तु यूरोप में युद्ध का अन्त बहुत समय पूर्व हो चुका था और जापानी पराजय के  
 आसार भी दिवने लग गये थे । अब मित्र राष्ट्रों के सामने युद्ध

सैन फ्रांसिस्को की समस्या का उतना अधिक महत्व नहीं रहा जितना  
 सम्मेलन कि विश्व शांति को बनाये रखने का । इसके लिये राष्ट्रसंघ  
 के समान ही एक संस्था की स्थापना करना आवश्यक था ।

इसी उद्देश्य की दृष्टि से २५ अप्रैल १९४५ को सन फ्रांसिस्को में मित्र  
 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया गया । सम्मेलन का प्रमुख कार्यक्रम  
 संयुक्त राष्ट्रसंघ का चाटर बनाना तथा संधि की स्थापना करना था । इस सम्मेलन की  
 विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की गई है ।

७ मई १९४५ का जर्मनी ने बिना किसी शर्त के आत्म समर्पण कर दिया और इन  
 प्रकार यूरोप में युद्ध का अन्त हो गया । यूरोप के नवीन मानचित्र को तैयार करने तथा  
 मित्र राष्ट्रों के साथ की जाने वाली शांति संधियों की

पोट्सडाम (बर्लिन) रूप रेखा तैयार करने की दृष्टि से पोट्सडाम (Potsdam)  
 सम्मेलन नामक स्थान पर तीन बड़ा का एक सम्मेलन हुआ ।

यह सम्मेलन १७ जुलाई १९४५ से २ अगस्त १९४५  
 तक चलता रहा । इस सम्मेलन का बहुत महत्व है । हिटलर और मुसालिनी दूसरी  
 दुनिया में पहुँच चुके थे । अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट का भी १२ अप्रैल १९४५ का  
 स्वर्गवास हो चुका था और उनके स्थान पर उपराष्ट्रपति ट्रुमन गए थे । इंग्लैंड का  
 आत्म-निर्वाचन में चर्चिल का दल पराजित हो चुका था और १७ जुलाई १९४५ का मजबूर  
 दल का नेता एटली प्रधानमंत्री बन गये । चीन का व्यापक अभाव तब जापान में उत्पन्न  
 हुआ था । अतः इस सम्मेलन में सोवियत नेताओं का छोड़ कर, बाकी सब साथ गये थे ।

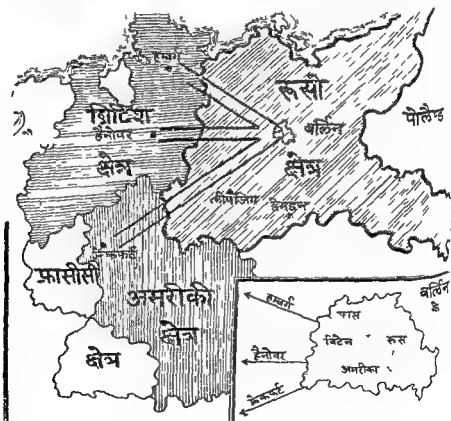
इस सम्मेलन के सामने बहुत सा कठिनाइयाँ थी । इसे यूरोप की भावी शांति का  
 स्थायी बनाना था, यूरोप का अधिकांश भूभाग का, जो युद्ध काल में रूखा हो चुका था,  
 फिर से آباد करना था, मुद्रा पूर्व में जापान को पराजित करना था, पराजित जर्मनी



त साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय—यह तय करना था। १९१७ की प्रथम महत्त्वपूर्ण विषय था—मित्र राष्ट्रों के युद्धवालीन आपसी सहयोग को बढ़ावा देना कि युद्ध समाप्ति के बाद उनमें आपसी मतभेद का सूत्रपात हो चुका था। विद्वय के निर्माण के लिये तीन बड़ा का आपसी सहयोग नितान्त आवश्यक था।

पोट्सडाम सम्मेलन में निम्नलिखित निर्णय किये गये—(१) नूतन की रूप रेखा निर्धारित करने के लिए लन्दन में स्थायी सचिवालय रखने वन में अमेरिका, साखियत रूस, फ्रांस और चीन एवं ब्रिटेन के विदेश मंत्रियों की एक (Foreign Minister's Council) की स्थापना करना। इस परिषद काय विविध देशों के माध्यम से जाने वाली सचिया की आरम्भिक तैयारी करना था।

(२) दूसरा प्रमुख निर्णय जर्मनी के सम्बन्ध में किया गया। जर्मनी का निर्माण और राजीयवाद का अन्त करना—इस प्रश्न पर सभी महत्त्व के और यह किया गया कि जर्मनी शिक्षा की व्यवस्था इस ढंग से की जाय कि उसमें नयी



चित्र—जर्मनी के अधिकार क्षेत्र

सैनिकवाद के मित्रता का समावेश न हो और लावतांत्रिक विचारों का प्रचार हो। यह भी स्वीकार किया गया कि पिछले जर्मनी में किसी प्रकार की मायता

की जाय तथा जमनी के चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाय । प्रत्येक क्षेत्र पर क्रमशः इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस और रूस का अधिकार रहे । सम्पूर्ण जमनी के नियन्त्रण के लिये चारों राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक परिषद् स्थापित की जाय । यह परिषद् जमनी की व्यवस्था करे और नात्सी सिद्धान्तों से सगठना का अन्त किया जाय तथा जमनी जनता को पुनः नागरिक अधिकार प्रदान कर दिया जाय । जमनी में गस्त्रास्त्र तथा युद्ध सामग्री का उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय । वायुयानों तथा सामुद्रिक जहाजों के निर्माण का भी निषेध कर दिया गया । जमनी पर पनडुब्बियाँ का अधिकार भाग की नष्ट कर दिया जाय और तीनों देशों का शांति काय के लिये दस दस पनडुब्बियाँ प्रदान की जाय । सामुद्रिक जहाजों का नष्ट कर दिया जाय परन्तु व्यापारिक जहाजों का तीनों राष्ट्रों में बांटने का निश्चय किया गया । जमनी पर युद्ध का हजाना भी लादा गया परन्तु इस सम्बन्ध में यह नद किया गया कि हर्जाने की वापस बित्तों इतनी हो रखी जाय जितनी कि जमनी का निर्माण सहायता के बिना सुगमतापूर्वक अन्त करने में समर्थ हो । इसके साथ ही यह भी कहा गया कि सावित्र्य रूस अपने हिस्से की क्षतिपूर्ति, जमनी के अन्त होने के पूर्व (पूर्वोक्त) से वसूल करेगा और पश्चिमी राष्ट्र अपने अधिकारों को और अधिक विदेशी पूँजी से वसूल करें । जमनी की गानिकानीय अगव्यवस्था के अन्त और मशीनों का रखने का निषेध किया गया । अनाश्रयक का अन्त और हटाने की योजना बनाई । पयें क्षयम स्थित कारखानों का अन्त और अधिकारी राष्ट्र का अधिकार होगा । पश्चिमी क्षेत्र के अन्त और मशीनों का दस प्रतिशत रूस का दत्ता तय किया गया । जमनी में रूस, कोयला इमारती लकड़ी आदि सामान पश्चिमी देशों को देने का अधिकार होगा । इस प्रकार जमनी का आर्थिक साधना का वेंटकाग हुआ ।

(५) आस्ट्रिया से क्षतिपूर्ति न ली जाय (६) ईरान से मित्र राष्ट्रों को हटा दिया जाय । (७) टर्जियर क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रखा जाय । जापान के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय किये गये । उसे बिना किसी शर्त के छोड़ा गया और इसका पालन न होने की स्थिति में जापान का पूर्ण विध्वंस करने का निर्णय किया गया । जापानी आत्मसमर्पण के उपरांत जापान के सैनिक तत्वों का और इस कार्य के अन्तर्गत जापानी प्रदेशों को मित्र राष्ट्रों की सेना के अधिकार में आने का निश्चय किया गया । जापान की सत्ता मोटे तौर पर हाशू (Hokkaido), होकाइडो (Hokkaido), और क्यूशू गिकोक (Shikoku) टापुओं तक सीमित कर दिया गया । जापान को निःशस्त्र करने का भी निर्णय किया गया । परन्तु इस चेतावनी को ठुकरा दिया और युद्ध जारी रखा । ६ अगस्त को अमेरिका और ९ अगस्त को दूसरा अणु बम गिराया । १० अगस्त १९४५ का ज्ञान सन्तुलन समर्पण कर दिया । इस प्रकार 'द्वितीय महायुद्ध' का पूर्ण रूप से अन्त हुआ ।

### युद्धोपरान्त शान्ति संधियाँ

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद जिन प्रकार मित्रराष्ट्रों में आपसी मतभेद खड़े हुये थे, ठीक उसी प्रकार इस बार भी पारस्परिक मतभेद उठ खड़े हुये । परन्तु इस बार मतभेद अधिक उग्र और स्थायी था क्योंकि इस बार पूर्व और पश्चिम पारस्परिक विरोधी गुट पूर्व और पश्चिम में विभाजित हो गए थे । दूर-दूर तक फैला हुआ यह अंतर है कि नवीन समारंभ के शान्ति संधियों और पूँजीवादी आदर्शों के मध्य अंतर नतीजा यह निकला कि पूर्व और पश्चिम में एक चौकी दरार पड़ गई जिसके पानि संधियों का काम बहुत मद गति से प्रगति कर पाया । इसका एक सकारण पर प्रभाव स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा थी । अमेरिकन लोग एकाएक करने लगे कि वे सन्तार की सबसे बड़ी ताकत हैं । वास्तव में कुछ समय से इस स्थिति का उपभोग कर रहा था परन्तु इस बात का अनुभव बिलकुल नया अणु बम के रूप में इसने पाया एक एमो गति थी जिसके कारण में किसी राष्ट्र भी जानकारी नहीं थी और न ही किसी के पास इस गति से विकास के साधन इसरी तरफ इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे पश्चिमी देश थे जिनकी गति कमजोर थी और फिर इस बात का अनुभव हुआ था कि पिछले दो महायुद्धों में जीत मिनी है—वह अमेरिकन सहायता के कारण ही उपलब्ध हो सकी थी । इसलिए यह भी मान्य हो चुका था कि उनका अर्थ व्यवस्था की बागडार भी हाथ में आ चुकी है । अतः उन्होंने अमेरिका का साथ देना ही उचित समझा । अतः पूर्व और पश्चिम गुट के सदस्यों थे । पूर्वी गुट का नेतृत्व सोवियत संघ था । द्वितीय महायुद्ध के बाद कम की गति भी बाधा बढ़ चुका थी ।

अजय पर सततप था और उस यह बात दाद थी कि उसने अपने स्वयं के प्रयत्नों तथा प्राग के द्वारा ही जर्मनी का पराजित किया था। रूस ने एस्थोनिया, लट्विया, लीथुएनिया, बसारबिया, रूथेनिया, पूर्वी पोलैण्ड तथा पूर्वी प्रशा के कुछ भागों एवं फिनलैण्ड के कुछ भागों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इससे उसकी आबादी में लगभग ४४ मिलियन की वृद्धि हो गई। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक देशों में अपना नियंत्रण स्थापित कर रखा था। परन्तु फिर भी इस युद्ध में रूस का अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक न-जान की हानि उठानी पड़ी थी। अतः वह अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने का च्युक्त था। फिर उसे अमेरिकन अनुबन्ध का भी भय था। अतः पूर्व और पश्चिम के मध्य दरार की दूरी बढ़ती गई।

इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी है। शांति संधियों के निर्माण में व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिन तीन बड़ों ने महायुद्ध का संचालन किया था, उनमें से एक—रुजवेल्ट का स्वर्णवास हा चुका था, और दूसरा—वॉर्चल का दल मृत्यु ने पराजित हो चुका था। इनो प्रकार फ्रांस को विदेश नीति का संचालन एक समय के प्राध्यापक जाँज बीदा (Bidauld) कर रहे थे। ये सब उनमें अनुभवही नहीं थे जितने कि इस के स्तालिन और मोलातोव। अतः संधियाँ का काम धीरे धीरे गाने बढ़ा।

द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनांक मित्रराष्ट्रों ने शांति संधियों की आरम्भिक चर्चा का सम्बन्ध में विदेश मंत्रियों की एक परिषद् स्थापित की थी, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। इस परिषद् के अतिरिक्त कुछ अन्य सम्मेलन भी विदेश मंत्रियों की संधियों से सम्बंधित आकड़ा तथा अन्य आवश्यक सूचनाएँ परिषद् के सम्मेलन एकत्र करने में लगी हुई थी। १९४५ के अंत तक तीनों महान् शक्तियाँ ने यह निश्चय किया कि इन बातों परिस शांति सम्मेलन की तरह के सम्मेलन से अच्छा जाय और संधियाँ का कार्य बड़ देगो के प्रतिनिधियों पर आड़ दिया जाय। क्योंकि यह स्पष्ट हो चुका था कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था के लिये छाँटी शक्तियों की स्वीकृति उतनी मन्तव्यपूर्ण नहीं है जितनी कि महान् शक्तियों की सर्वसम्मति स्वीकृति। परन्तु दुर्भाग्य से इन विनियम प्रतिनिधियों में समझौता न हो सका और पराजित राष्ट्रों के साथ यथाशीघ्र संधियाँ भी न की जा सकी। दो वर्ष के काफी याद विवाद के बाद इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और फिनलैण्ड ने संधियाँ हो सकी। इससे पोछे भी राजनीतिज्ञ उद्देश्य थे—रूस चाहता था कि पश्चिम में इटली से यथा शीघ्र हट जाय और पश्चिम देश मध्ययूरोप में रूस का यथाशीघ्र हटाना चाहते थे। अतः संधियाँ हो सकी। परन्तु जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान के शर में पूर्व और पश्चिम का मतभेद उत्पन्न होता गया और नतीजा यह हुआ कि आज तक

एक सम्मिलित संधि का काम खटाई में पड़ा हुआ है। शायद "आइक खुश्चे" नत्वाली व्यक्तिगत वार्तालाप कोइ रग लाये।

सितम्बर १९४५ में लंदन में विदेश मंत्रियों की परिषद् की बैठक हुई और गॉसिया के निर्माण का प्रथम अध्याय आरम्भ हुआ। इस बैठक में शीघ्र ही यह मान्य हो गया कि विचार विमर्श का प्रमुख केंद्र पूर्वी यूरोप और भूमध्य-विदेश मन्त्री परिषद् सागर का भावी नियंत्रण होगा। मालोताव ने इटली के लंदन में बैठक लिविया उपनिवेश पर रूसी सुरक्षण की मांग रखकर मित्र (पश्चिमी राष्ट्रों) को आश्चर्य चकित कर दिया।

अतिरिक्त रूसी जिदेंग मन्त्री ने इटली की क्षति पर साम्यवादी यूगोस्लाविया का टिक सागर की ओर प्रसार सम्बन्धी मांग का भी जोरदार समर्थन किया। इस नीति का व्याख्या करते हुए लगसम ने लिखा है कि "यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि प्रमुख काय इटली के साथ संधि करना नहीं है, बल्कि पश्चिमी राष्ट्रों और सोवियत के मध्य समझौता करना है।" यहां पर एक बात का ध्यान रखा जाना चाहिए। सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों—रूमानिया, बल्गेरिया, फिनलैंड और चेकोस्लाविया के साथ इसके पूर्व हो स्वतंत्र रूप से संधियां कर ली थी और पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध अग्रिम विरोध का प्रदर्शन इसलिये नहीं किया था कि वे पूर्वी यूरोप में प्रभाव को मानने को तैयार थे यदि रूस पश्चिमी यूरोप में हस्तक्षेप न करे। परंतु इटली का सवाल आया तो रूस उसमें भी अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने की दृष्टि से मांग पर अडने लग गया। इसमें दोना पक्षों में तनाव उत्पन्न हो गया और पश्चिमी यूरोप में रूसी प्रभाव का कम करने के उपाय साधने लगे। इससे रूस को निराशा हुई और नन्ग की बैठक बिना किसी निष्णय पर पहुंचे ही समाप्त कर दी गई।

लंदन की बैठक के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ तेजी से घटने लगी और परिणामस्वरूप दोना पक्षों के बीच तनाव का वृद्धि भी हाथों गई। सुदूर पूर्व में रूस तथा मन्चूरिया में रूस ने अपनी स्थिति दृढ़ करनी शुरू कर ली और ईरान में रूसी सेना की सरया बढ़ने लगी। जबकि पूर्व समझौता के अनुसार ईरान से रूसी सैनिकों का निःशस्त्र किया गया था। इतना ही नहीं बल्कि यूनान में भी रूसी सैनिकों की बढ़ती गयी। अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन का रूस की यह नीति पसंद नहीं आई। उसने इस नीति को घाट में निकट पूर्व और भूमध्यसागर पर रूसी प्रभुत्व की दृष्टि से पहचान दिया। इसीलिए उसने रूस की इन चालों का "विशाल सदासी की चाल (Giant Pincer movements) का नाम दिया। परंतु संधि के नाम के विमान किसी प्रकार पूरा करना ही था और दोना पक्षों ने समझौते के प्रयत्न जारी रखे।

सितम्बर १९४५ में, मास्को में अमेरिका, इंग्लैंड और रूस के विदेश मंत्रियों

क हुई। यह बैठक प्रथम बैठक से अधिक सफ़ल रही और इसमें प्रयोजित पाँच शांति संधियाँ से सम्बंधित मामलों पर विचार विमर्श किया गया। बैठक स्वीट्सूमेलन में यह निश्चित किया गया कि संधियों के अंतिम लेख लिखने का कार्य विदेश मंत्रियों की परिषद के द्वारा किया जायेगा परंतु सभी दलों के, जिन्होंने घुरी राष्ट्रों के विरुद्ध संधि में सहयोग दिया था और उन मित्र राष्ट्रों के जिनके माध्यम का निराधार किया जाने वाला है, विचार जानने के लिये प्रथम लेख की एक सम्मेलन में, जिसमें उपरोक्त सभी राष्ट्र भाग लगे, प्रस्तुत किया जाएगा। संधियों पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद सम्बंधित राष्ट्रों से, मित्रराष्ट्रों की प्रकार सेनाएँ हटा ली जायेगी। आस्ट्रिया में स्थित रूसी अधिकार सेना के साथ एक की सुरक्षा की दृष्टि से रूस का उस समय तक के लिये जब तक आस्ट्रिया में की अधिकार सेनाएँ हैं, रुमानिया और हंगरी में सैनिक दस्तों को रखने की छूट दी गई। इसक बाद विदेश मंत्रियों की परिषद की अप्रैल १६४६ में पेरिस में बैठक हुई। बैठक में तथाकथित पाँच संधियों के प्रारूप पर विचार किया गया क्योंकि परिषद इसी दूसरी बैठक बुलाई गई थी और इस दूसरी बैठक में उपरोक्त सभी राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व किया गया था और उनके सामने संधियों के प्रारूप को प्रस्तुत करना था। इसी बैठक में २१ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और ११ सप्ताहों के बाद विदेश उपरांत २० राष्ट्रों ने संधियों के प्रारूप का मान्यता प्रदान कर दी। यूरोप में अपनी मान्यता नहीं दी क्योंकि उसकी भांगों की पूर्ण पूर्ति नहीं की गई थी। अक्टूबर १९४६ में विदेश मंत्रियों की परिषद की तीसरी बैठक प्रारंभ हुई। इस बैठक में पाँच शांति संधियों का अंतिम प्रारूप तैयार किया गया। अक्टूबर १९४७ के दिन पेरिस में २१ राष्ट्रों ( मित्रराष्ट्र ) तथा पाँच पराजित राष्ट्रों के द्वारा संधियों पर हस्ताक्षर किये गये, शांति संधियाँ अनुममयन के लिये १९४७ में प्रारंभ की गई। इस प्रकार, यूरोप के अखंडता के लिये एक नया संधि सम्भव हो सकी। फिर भी, किसी भी पराजित राष्ट्र के लिये संधियों का अर्थ ही माना और 'महाघन आदालत' का यथायोग्य प्रयोग हुआ।

### पाँच शांति संधियाँ

इटली के साथ की गई संधि के अंतर्गत इटली को अपने अपने क्षेत्रों में संधि हाथ धोना पड़ा। इटली के समस्त इलाकों में संधि प्रारंभ होने लगे। लैटिन बर्नाड का दर्रा (Little St. Bernard Pass), (Bige-Tan) के लिये, यह संधि (१) इटली के साथ संधि (Verdun) के लिये, यह संधि (Zurich) के लिये, यह संधि (Trier) के लिये, यह संधि

परन्तु इसे स्वतन्त्र प्रदेश घोषित कर दिया गया। और इस प्रदेश का नामन राज्यापाल के सुपुद कर दिया गया। इस राज्य पाल का नियुक्ति एवं उनके व्यवस्था का दायित्व संयुक्त राष्ट्र मंत्र की सुरक्षा परिषद का सौंपा गया। गडर ( Dodecanese Islands ) रोड्स और कास्तेलारेजा ( Castellor-  
यूनान को दिये गये। साजेतो का टापू, जिस पर पहिले अल्बानिया का अधिकार परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद इटली के अधिकार में चला गया था, पुन प्राप्त हुआ। दक्षिणी टिरोल ( Tirol ) यद्यपि इटली के अधिकार में था परन्तु १९४६ के आस्ट्रा इटालियन समझौते के अनुसार इस प्रदेश में बसने वाले जनता भाषियों को समान अधिकार और भीमिन स्वायत्त शासन देने के लिए इटली का हौना पड़ा।

उपनिवेशों के सम्बन्ध में इटली को लिबिया, एरिट्रिया ( Eritrea ) इटालियन सुमालालण्ड पर अपने सभी अधिकारों का त्याग करना पड़ा। इन देशों का भविष्य संधि के लागू होने की तिथि से एक वर्ष के अन्दर अन्दर चार महा इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और सोवियत रूस की सब सम्मत सलाह से तय हुआ। यदि ये सरकारें सहमत न हो सके तो इस विषय को संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा की सौंपना निश्चित किया गया, और साधारण सभा के चारों राष्ट्र स्वीकार करने की वद होगे। साधारण सभा ने दिसम्बर १९४६ में किया कि १ जनवरी, १९४९ को लिबिया स्वतन्त्र कर दिया जाय उसी प्रकार युना के बारे में यह निर्णय किया गया कि इस २ दिसम्बर १९६० तक स्वतन्त्र हो जाय। यहां पर अल्बानिया और इथोपिया का भी उल्लेख कर देना चाहिए। पूर्व इटली ने इन दोनों स्वतन्त्र देशों पर अधिकार कर लिया था। महायुद्ध मित्र राष्ट्रों ने इन दोनों देशों का पुन स्वतन्त्र कर दिया। मई १९४१ में इथोपिया के भूतपूर्व सम्राट हलसेलेसी ( Haile Selassie ) ने पुन इथोपिया का स्व स्वीकार कर लिया। १९४६ में साम्यवादी प्रभाव के अन्तर्गत अल्बानिया में भी स्थापना की गई। इस प्रकार, इस संधि के परिणाम स्वरूप इटली का प्राचीन साम्राज्य समाप्त हो गया और उसका यूरोपीय आकार भी संकुचित हो गया।

इटली पर ३६०,०००,००० डॉलर की क्षतिपूर्ति का भार लाद दिया। इस कुल राशि का भुगतान सात वर्षों में अदा करना था। इस क्षतिपूर्ति को वसूला गया—

यूगोस्लाविया का—१२५,००० ००० डॉलर, यूनान का १०५,०००,०००

सोवियत रूस को—१००,००० ००० ,, इथोपिया का २५,०००,०००

अल्बानिया को—५ ००० ००० डॉलर।

इस संधि ने इटली की सैनिक शक्ति का भी अन्त कर दिया। इटालियन इस प्रकार सीमित कर दिया गया—स्थल सेना २५०,००० सैनिक, २००

१—२५००० नाविक और १० लडाकू जहाज, नभ सेना—२५००० हवाबाज और ० लडाकू वायुयान तथा १५० यातायात विमान । फ्रेंच और यूगास्लाव सीमा पर ति दुर्गों का नष्ट कर दिया गया । हमने अनिर्दिष्ट मय स्थानों पर विद्यमान दुर्ग भी नष्ट कर दिया गया ।

सन्धि में यह स्पष्ट कर दिया गया कि संधि की उपरोक्त गतों उम समय तक लागू हों जब तक कि इटली और हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों के बीच कोई सन्धिविध समझौता न हो जाय, या समुक्त राष्ट्र संधि की सदस्यता प्राप्त करने के उपरांत, इटली और समुक्त राष्ट्र संधि की मुरादा परिपक्व में कोई समझौता न हो ।

दूसरी संधि रमानिया के साथ की गई थी प्राद्विक व्यवस्था की दृष्टि से रमानिया का गारबिया तथा पूर्वी बुरोविना का प्रान्त रूस को दिया गया तथा दक्षिणी डाब्रूजा भूभाग बल्गेरिया को सौंप दिया गया । परंतु इस दंग का ट्रांससिल्वानिया का प्रान्त पुन प्राप्त हो गया । यह प्रान्त १९४० में जर्मनी के दबाव के

२) रमानिया कारण उस हंगरी को सौंपना पड़ा था । क्षतिपूर्ति की दृष्टि के साथ संधि स रमानिया पर ३००,०००,००० डालर का भार लाद दिया गया । यह सम्पूर्ण राशि बवल रूस को वस्तुमा के रूप में चुकानी । युगतान की अवधि घाठ बप रखी गई । नि गस्त्रीकरण की दृष्टि स रमानिया पदाति सेना १२०,००० सनिकों तक, नौ सेना ५००० नाविका तक और नभ सेना ६००० व्यक्तिया तक सीमित करदी गई ।

तीसरी संधि बल्गेरिया के साथ की गई । इस संधि के अनुसार बल्गेरिया का द्रिदिगिक दृष्टि स किसी प्रकार की क्षति नहीं उठानी पड़ेगी । उल्टे उम दक्षिणी डाब्रूजा का प्रांत, जिस पूर्वकाल में उसे रमानिया को देना पड़ा था,

३) बल्गेरिया वापस मिल गया । क्षतिपूर्ति की दृष्टि स उस पर ७०,०००,००० के साथ संधि डालर का भार लादा गया । इस राशि का युगतान घाठ वर्षों में यूगास्लाविया को २५,०००,००० डालर और यूनान को ५,०००,००० डालर करना था । नि गस्त्रीकरण की दृष्टि स उसकी पदाति सेना ५,००० सनिकों तक, नौ सेना ३५०० नाविकों तक नभ सेना ५२०० व्यक्तिया तक सीमित करदी गई । लडाकू वायुयानों की संख्या ७० तक सीमित करदी गई । इस संधि के अतिरिक्त यह भी निष्पत्ति किया गया कि बल्गेरिया अपने यूनानी सीमान्त पर किसी प्रकार की स्थायी निलबंदी नहीं कर सकेगा ।

चौथी संधि फिनलैण्ड के साथ की गई । इस संधि ने फिनलैण्ड के साथ की गई पूर्व संधि—मास्को संधि (१९४०) और युद्ध बंदी संधि (१९४४) द्वारा प्रदत्त रूसी लाभों का स्वीकार कर लिया । इन संधियों के द्वारा बरेलियन स्पल डमरू मय, सल्ला क्षेत्र, पेतसाया प्रान्त और ५० वर्ष के लिये पट्टे पर हेलसिंकी के

४) फिनलैण्ड पश्चिम में १६ मील दूर स्थित पोरवकाला उद् (Porajla Udd) नौ सनिक क्षेत्र बनाने के लिए मास्को को प्राप्त हुये थे । क्षतिपूर्ति की दृष्टि से फिनलैण्ड को



प्रथम में वस्तुओं के रूप में ३००,०००,००० डालर रूस का देना था। परन्तु १ के ग्राम निर्वाचन में साम्यवादी दल को सफल बनाने की दृष्टि से रूस ने क्षतिपूर्ति में ७५,०००,००० डालर को बर्बाद कर दी। फिर भी, ग्राम चुनाव में साम्यवाद को नई स्थाना से हाथ धोना पड़ा। निःशस्त्रीकरण दृष्टि से क्षतिपूर्ति की संज्ञा ३४,४०० सैनिकों तक, नौ सेना ४५०० नाविकों तक और नौ सेना ३ व्यक्तियों तथा ६० विमानों तक सीमित कर दी गई।

पाँचवीं और अन्तिम संधि हंगरी के साथ की गई। प्राथमिक दृष्टि से १ स्लोवाकिया के वे सब प्रदेश जो हंगरी ने १९३८ में चेक अग्रभाग के साथ वियेना, वापस लौटाने पड़े। इसके अतिरिक्त डेब्रुच के

(५) हंगरी के साथ में आनिस्लावा के कुछ प्रदेश भी चेकोस्लावाकिया के संधि हुए। इसी प्रकार हंगरी को ट्रान्सिल्वानिया का प्रांत भी

को वापस करना पड़ा। क्षतिपूर्ति की दृष्टि में हंगरी का वर्षों में कुल ३००,०००,००० डालर का भुगतान करना था। इस राशि में २००,०००,००० डालर रूस का, ३०,०००,००० डालर चेकोस्लावाकिया को ७०,०००,००० डालर यूगोस्लावाकिया को अदा करना था। अदायगी वस्तुओं के में करनी थी। निःशस्त्रीकरण की दृष्टि से हंगरी की पदाति सेना ६५,००० मानवा नभसेना ५२०० व्यक्तियों तथा ६० विमानों तक सीमित कर दी गई।

शांति संधियाँ न यूगोस्लाविया का बाल्कन प्रायद्वीप में सैन्यविनशाली बन दिया जिसके परिणामस्वरूप वह इटली का प्रतिस्पर्धी बन गया। आर्थिक सबसे अधिक लाभ सावित रूस को हुआ क्योंकि पांच राष्ट्रों पर लौटी गई का ७०% भाग अर्थात् ६००,०००,००० टालर वसूल करने का अधिकार रूस प्राप्त हुआ जबकि पश्चिमी राष्ट्रों का इन संधियों में न तो आर्थिक दृष्टि से और प्राथमिक दृष्टि से किसी प्रकार का लाभ हुआ। आपत राजनीतिक प्रभाव का भी पूर्वी यूरोप में रूस का एकाधिकार स्थापित हो गया। अतः हम कह सकते हैं इन शांति संधियों ने रूस का सर्वोच्चता को कम से कम पूर्वी यूरोपीय क्षेत्र में, स्थापित कर लिया और भावी समस्याओं में रूस की मार्गें बढती गईं जिसके परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्र जर्मनी, जापान और आस्ट्रिया के साथ सामूहिक रूप से शांति संधियाँ का असफल रहे।

### जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ संधि का प्रयत्न

छोटे छोटे राज्यों के साथ संधियाँ करने में मित्रराष्ट्रों को अधिक कठिनाई सामना नहीं करना पड़ा परन्तु जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या इतनी उन्नत और महत्वपूर्ण थी कि मित्रराष्ट्रों के मार्ग में अनेक कठिनाईयाँ उपस्थित हो गईं उनके मध्य आपसी तनाव बढता ही गया। हालांकि सितम्बर १९४५ से होने सभी देशों में इस समस्या को सुलभान में काफी समय नष्ट किया गया

अब किसी एक सर्वसम्मत सतापजनक निर्णय पर पहुँचने में असफल रह। लन्दन में  
 वदेश मंत्रियों की परिषद की बैठक में प्रोच विदेशमन्त्री ने राइनलैंड के सम्बन्ध में  
 प्रोच योजना प्रस्तुत की। परन्तु इंग्लैण्ड और अमेरिका के विदेश मंत्रियों ने शांति  
 अधिपति की रचना योग्य पृष्ठभूमि का निर्माण करने के लिए एक उप आयोग की  
 नेपुक्ति का सुभाव रखा। उद्यम सावित्यत विदेश सचिव मालातोव ने रूसी नीति का  
 पण्ट करत हुए प्रस्ताव रखा कि सर्वप्रथम क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में सावित्यत दाव  
 और रूहर नियन्त्रण में सावित्यत अधिकार का स्पष्ट करना आवश्यक है। इस प्रकार  
 तत्पर विरोधी दृष्टिकोणों के कारण बैठक किसी निर्णय पर पहुँचने में असफल रही।  
 अप्रैल १९४६ में पेरिस बैठक के समय तक जर्मनी की स्थिति विगड़ती गई और  
 शरा महान् शक्तियाँ निम्न मसला के मध्य ही उलझी रहा, आपस में लड़ती भगड़ती  
 रही। (१) जर्मनी की आर्थिक एकता (२) क्षतिपूर्ति की अदायगी का स्वरूप (३)  
 जर्मनी और पाल्ड की सीमा का निर्णय (४) जर्मनी का अस्तित्व और नात्सी  
 भाव का अन्त। पेरिस बैठक में अमेरिकन विदेश मन्त्री बर्न (Burnes) ने रूसी  
 मय का काम करने की दृष्टि से जर्मन निश्चयीकरण और अस्तित्वकरण के सम्बन्ध  
 एक २४ वर्षीय संधि का सुभाव रखा परन्तु ६ जुलाई १९४६ को मालातोव ने  
 यह कह कर कि यह संधि अग्रणी है और इसका उद्देश्य जर्मन सैनिक शक्ति का पुनरुत्थान  
 रना है, सुभाव का ठुकरा दिया। इसके अगल ही दिन मोरानाव ने परिषद में घोषणा  
 की कि जर्मनी के साथ संधि करने के पूर्व एक ऐसा अखिल जर्मन सरकार का स्थापना  
 जानी चाहिए जो बिगुड रूप में लोकतांत्रिक है, नात्सी तत्वों का नष्ट करने  
 तथा मित्रराष्ट्रों के प्रति अपन दायित्वों का विशेषकर क्षतिपूर्ति के दायित्व का पूरा  
 करने में समर्थ हो। रूस के इस रवय से अमेरिका ने फासीवा विरोध के उपरांत  
 जर्मनी की और अधिक कमजोर बनाने वाली अपनी नीति का परित्याग कर दिया  
 और वह जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रयत्न में ला गया। उसने घोषणा की कि वह  
 जर्मनी की आर्थिक एकता की दृष्टि से जर्मन अधिकार क्षेत्रों से संबंधित सरकारों के  
 साथ मिल जुलकर काम करने को तयार है। २० जुलाई को इंग्लैण्ड ने रूस का  
 पण्ट कर दिया कि यदि रूस जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रस्ताव का स्वीकार नहीं  
 रंगा तो इंग्लैण्ड, अमेरिका के प्रस्ताव का स्वीकार कर लेगा और इंग्लैण्ड तथा  
 अमेरिका के जर्मन अधिकार क्षेत्रों को मिला दिया जायेगा। रूस ने इस प्रस्ताव की  
 विरुद्ध आलोचना की परन्तु इंग्लैण्ड और अमेरिका पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा  
 क्योंकि उन्होंने जर्मनी के शासन-दायित्व को पुन जर्मन लोगों को सौंपने का निश्चय  
 कर लिया था ताकि जर्मनों के शांतिप्रिय एवं स्वतंत्र राष्ट्रों के बीच पुन अपना  
 स्थान ग्रहण कर सकें। १ जनवरी १९४७ को अमेरिका और इंग्लैण्ड के दोनों अधिकार  
 क्षेत्रों को मिला दिया गया और एक द्विशेत्र (Bizonia) का निर्माण किया गया।  
 द्विशेत्र के प्रशासन हेतु एक संयुक्त बोर्ड, एक संयुक्त आर्थिक नियन्त्रण बोर्ड और एक  
 जर्मन कार्यपालिका कमेटी की स्थापना की गई।

जूनवरी १९४७ से मार्च १९४७ के मध्य जर्मन आस्ट्रियन सचि को समस्या हल करने लिये विदेश मंत्रियों की विविध बैठकें हुईं परन्तु किसी प्रकार का मिली। १७ मार्च को क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में पुनः बैठक हुई। जैसा कि आपको होगा कि याल्टा सम्मेलन में इस समस्या पर विचार किया गया था और कुल १, २० अरब डालर तय की गई थी। इसमें से १० अरब डालर रूस को देना था। पाटसडाम सम्मेलन में यह तय किया गया कि क्षतिपूर्ति का भुगतान जर्मन विशेष और अनावश्यक वस्तुओं से किया जायेगा और कुल राशि का अंश निम्न नियमों पर विभक्त करेगा। इस बैठक में और आगामी सभी बैठकों में रूस इस तरह डटा रहा कि क्षतिपूर्ति की कुल राशि याल्टा सम्मेलन में तय कर दी गई थी और जर्मनी के वर्तमान उत्पादन से होना चाहिए। पश्चिमी राष्ट्र इसे मानने का तयार थे। उनका कथन था कि २० अरब की समस्या रजिस्ट्रार न वार्तालाप का आधार कर स्वीकार किया था कि बातचीत शुरू हो सके। अतः निम्न तः सम्मेलन में किया गया था। अतः पश्चिमी राष्ट्र २० अरब डालर की मांग को स्वीकार करते रहे और माविगत रूस जर्मनी की आर्थिक एकता से संबंधित पश्चिमी प्रस्तावों विशेषाधिकार (Veto) का प्रयोग करता रहा।

इस सम्बन्ध में यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो कुछ सीमा तक सविचार का हल सहो था। क्योंकि पाटसडाम सम्मेलन में क्षतिपूर्ति का निम्न याल्टा निम्न आधार पर किया गया था। परन्तु पश्चिमी राष्ट्र केवल पाटसडाम निम्न को ही स्वीकार किये जाने पर और दते रह। इससे रूस का क्राधित होना स्वाभाविक था। पश्चिमी राष्ट्रों को जर्मन औद्योगिक शक्ति का पुनर्स्थापन, क्षतिपूर्ति में सहायता जर्मनी का युद्ध सामर्थ्य शक्ति में संबंधित नीति का रूस द्वारा किया जाना वाला विचार वास्तविक ही था। बेनिन और मादल ने इस गत्यावरोध (Deadlock) का हल करने के लिये माविगत रूस की इस मांग को कि क्षतिपूर्ति का भुगतान वर्तमान में किया जाय इस मार्ग पर स्वीकार करने का तैयार थे कि जर्मनी की धरोहर का कताओं की पूर्ति के उपरान्त जो मान बचे, उसके द्वारा क्षतिपूर्ति का भुगतान किया जा सकता है। परन्तु रूस ने इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया क्योंकि इसमें जर्मनी की आवश्यकताओं की कोई निश्चित मर्यादा सम्मिलित नहीं की गई थी।

पूव और पश्चिम के मध्य तनाव उत्पन्न करने वाले तथ्य संक्षेप में इस प्रकार (१) पूव और पश्चिम की लोक मान्यताओं में आचारभूत अन्तर था क्योंकि क निवासिया या विशेष कर अमेरिकन नागा का महायुद्ध में उत्पन्न विनाश का अनुभव नहीं था और न ही उनके जन घन की इतनी क्षति हुई थी जितनी कि रूस की। रूस वाला का मानिया ने हाया अत्यधिक अत्याचार और आर्थिक विनाश करने पड़ा था। मालाताव ने मत्य हा कहा था कि "This question of reparations has one meaning for the United States and another

the Soviet Union The United States is in a different position. Perhaps there they do not feel what Soviet Citizens feel after having lived through the excruciating atrocities, destruction and plunder perpetrated by the Nazis in the occupied territories."

२(२) सोवियत रूस यह मानने का तैयार नहीं था कि पोट्सडाम सम्मेलन के कारण 'याल्टा' नियम समाप्त हो गया जबकि पश्चिमी राष्ट्र पाट्सडाम सम्मेलन का ही धर्म मान रहे थे। (३) रूस पश्चिम को इस दलील का कि जर्मनी अपने समस्त दायित्व का पूरा करने में असमर्थ है मानने को तैयार नहीं था। रूस का कहना था कि यदि जर्मनी के शांतिवादी उद्योग धंधों का विकास किया जाय तो क्षतिपूर्ति के भुगतान में किसी प्रकार की बाई बठिनाई उपस्थित नहीं हो सकती। (४) सोवियत रूस द्विद्वेष्ट निर्माण में बहुत कोशिश हो गया क्योंकि एक तो इंग्लैंड अभिप्राय पश्चिमी जर्मनी का दोष जर्मनी से पुनर्करना था और दूसरा गृह का क्षेत्र जो खनिज सम्पदा या भण्डार था और इन्हीं क्षेत्रों में सम्मिलित था, से सावित्यत रूस का दूर रखना था। रूस चाहता कि 'रूहर क्षेत्र' पर जारा राष्ट्रा का नियंत्रण रहना चाहिए। (५) जर्मनी में किस ढंग की शासन व्यवस्था लागू की जाय, इस प्रश्न पर भी काफी मतभेद था। (६) इसी प्रकार जर्मनी के कौन से उद्योगों का और किस सीमा तक विकास किया जाय किस प्रकार के भूमि सुधार किए जाय और किस तरीके से नाज़ी तत्वों का नष्ट किया जाय आदि प्रश्नों पर भी अत्यधिक मतभेद था। (७) पश्चिमी राष्ट्र सार और राइन्लैंड के देश जर्मनी से पुनर्करना चाहते थे परन्तु रूस जर्मनी के इस प्रकार के अग्रभग के विरुद्ध था। (८) जर्मन निःशस्त्रीकरण और असन्निवकरण पर भी मतभेद नहीं था। (९) जर्मन सीमाओं को पुनर्पूर्व सीमाओं के सम्बन्ध में भी भारी मतभेद था। पाट्सडाम सम्मेलन में पूर्वी प्रणिया का रूस और पोलैंड के मध्य बाटन का सम्मेलन हुआ था परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसमें सहोदन चाहते थे और रूस पाट्सडाम सम्मेलन का अन्तिम मानता था।

उपरोक्त मतभेदों के कारण पूर्व और पश्चिम में सम्मेलन न हो सका। ३१ मई १९४५ का फ्रांसीसी अधिकार क्षेत्र भी द्विद्वेष्ट में सम्मिलित कर लिया गया और २१ मई १९४६ को पश्चिमी जर्मनी में पश्चिमी राष्ट्रों ने एक संघीय गणराज्य (Federal Republic of Germany) की स्थापना कर दी और इस गणराज्य में सम्मेलन अधिकार सौंप दिए गए। इस नवीन गणराज्य की राजधानी बॉन (Bonn) रखी गई। रूस ने पूर्वी क्षेत्र में, ७ दिसम्बर १९४६ को जर्मन डेमोक्रेटिक

गणराज्य की स्थापना की और इसकी राजधानी रूम अधिवृत्त बर्लिन क्षेत्र में रखा गई। यह निर्दिष्ट होना चाहिए कि सम्पूर्ण जर्मनी की भूमि बर्लिन नगर का भी चार क्षेत्रों में बांटा गया था। बर्मे बर्लिन पूर्वी क्षेत्र में है। १८२१ में पश्चिमी राज्यों जर्मनी के साथ युद्ध की स्थिति की समाप्ति की घोषणा कर दी। २५ जनवरी १९१८ का माघियन रूम न भी युद्ध की स्थिति की समाप्ति की घोषणा कर दी। कुछ बाद पश्चिमी राष्ट्रों ने पश्चिमी जर्मनी का और रूम न पूर्वी जर्मनी को स्वायत्तता के सर्वोच्च सत्ता प्रदान की। परन्तु बर्लिन आज भी चार क्षेत्रों में विभाजित है और इस समस्या का समाधान नहीं हो सका है।

जर्मनी की भूमि आस्ट्रिया की समस्या भी इतनी उलझी हुई थी कि निर्यात सुगमता के साथ उसके साथ संधि नहीं कर सके हालांकि आस्ट्रिया को राष्ट्र माना गया था बर्लिन इसे नाट्मी अधिकार से मुक्त किया हुआ राज्य माना गया था। मास्का की बैठक में जर्मनी की समस्या को लेकर इतना मतभेद बढ़ गया था। आस्ट्रिया के बारे में किसी प्रकार का विचार ही नहीं हो सका। परिणाम में विन्स्टन चर्चिल की बैठक में अमेरिका ने आस्ट्रियन संधि का सुझाव रखा था परन्तु रूस ने कहकर कि अभी उपयुक्त समय नहीं आया है, इस सुझाव का ठुकरा दिया। जनवरी १९४६ में विदेश मंत्रियों की बैठक में पश्चिमी राज्यों ने आस्ट्रिया से विदेशी सैनिकों को हटाने का प्रस्ताव रखा परन्तु इस बार रूस ने यह कह कर कि अभी आस्ट्रिया में तत्त्वों का पूर्ण रूप से अन्त नहीं हुआ है, सेनाएँ हटाना अस्वीकार कर दिया। इस लगभग १० वर्षों की अवधि में और तब कही जाकर, काफी बाद विवाद के बाद २७ जुलाई १९५५ को आस्ट्रिया के साथ संधि की जा सकी। इस संधि पर अमेरिका, रूस और आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किये थे। यह ध्यान रहे कि १२ मार्च १९३८ आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ था अर्थात् लगभग १७ वर्षों की पराधीनता उपरान्त उस पुनः स्वतन्त्रता मिली। इस संधि की प्रमुख विशेषता यह थी कि द्वारा आस्ट्रिया ने यह आश्वासन दिया कि भविष्य में राजनीतिक अथवा आर्थिक रूप से वह जर्मनी के साथ गठबंधन नहीं करेगा। अर्थात् आस्ट्रिया जर्मन संधि का निर्धारण किया गया।

### जापान के साथ संधि

जबकि पूर्वी यूरोप में रूसियों का सामान्य रूप से उभरती नीति की छूट दी तो जापान के सम्बन्ध में अमेरिकन लोगों को इससे भी अधिक छूट मिल गई। परन्तु सचचा पृथक् पृथक् विजित क्षेत्रों के साथ विजितावा के सम्बन्धों में किसी प्रकार समानता नहीं थी। पूर्वी यूरोप के देशों में रूसियों ने मुक्तिप्राप्ति के रूप में और दशों की राजस्व स्वतन्त्रता को लौटाने की प्रतिज्ञा के साथ प्रवेश किया था, जब जापान में अमेरिकन ने बिना किसी शर्त के विजेता के रूप में प्रवेश किया था। पूर्वी यूरोप के निवासियों के साथ रूसी लोग इतिहास और पड़ोसी के नाम से संबंधित थे।

गिनिया व साथ अमेरिकना का इस प्रकार का बार्ड सम्बंध नहीं था और जापानियों मनोवृत्ति को समझने याग्य कोई साधन भी नहीं था। रूसियों को यह मालूम था उन्हें पूर्वी यूरोप से क्या चाहिए, वे मशीनरी और सुरक्षा चाहते थे और उनका ल साम्यवादीकरण था। अमेरिकन लोग ठीक तरह से यह नहीं जानते थे कि उनका लान में क्या चाहिए, परंतु पहिले जापानी आक्रमण की पुनर्गवृत्ति से सुरक्षा का अव्यवता महभूत की जाती थी, वही आवश्यकता १९४६ के बाद स्थल शक्तियों के दो आक्रमण के विरुद्ध जापान का एक सुरक्षा भित्ति के साधन के रूप में बदल गई। जापान के प्रति अमेरिकन नाति में बाह्य परिस्थितियां व परिणामस्वरूप महत्वपूर्ण बसत होता गया।

1 जापानी आत्म समपण की तिथि ( १० अगस्त १९४५ ) में जापान पूर्णरूप से अमेरिका व नियंत्रण में था। वास्तव में अमेरिकन लोगों ने ही जापान को जीता था। 2 अमेरिकन मनापति जनरल मैकार्थर का मित्र शक्तियों के सर्वोच्च सेना नायक Supreme Commander for the Allied Powers SCAP ) पद पर नियुक्त किया गया। प्रारम्भ में जापान की भूमि पर ब्रिटिश, आस्ट्रेलियन व यूजीलैंड की सैनिक टुकड़ियां भी थी परंतु १९४७ के बाद जापान पर केवल अमेरिकन सेना ही रह गई और जापान का सम्पूर्ण शासन प्रबंध जनरल मैकार्थर के हाथ में आ गया। इस जापान के लिये मिश्रगटा की एक परिषद् बनाई गई थी और Commision F E C ) भी नियुक्त किया गया, परंतु अमेरिका ने कभी भी अपने साथिया जापान में अधिक हस्तक्षेप करने की छूट नहीं दी।

3 जापान के संबंध में सबसे प्रथम बठिनाई-जापानी सम्राट की स्थिति थी। वस युद्ध के लीन सम्मेलन में जापान में लोकतंत्र की स्थापना का निश्चय किया गया था और रूस, अमेरिका आदि मिश्रगटा जापानी सम्राट को एक युद्धापराधी समझने थे और जापान में लोकतंत्र चलाना भी चाहते थे। परंतु अमेरिका इस नीति के विरुद्ध था। वह जापान में लोकतंत्र की स्थापना के पक्ष में तो था परंतु जापानी सम्राट को भी बनाये रचना चाहता था। क्योंकि एक ता जापानिया की उसक प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी और दूसरे जापान के राजनीतिक जीवन की एकता के लिये उसका होना अत्यधिक आवश्यक था। अमेरिका के सामने केवल यह सवाल था कि जापानी सम्राट को पहिले के ही समान की अधिकारा की प्रतिभूति माना जाय या लोकमत के द्वारा नियुक्त सम्राट माना जाय। त में उसने जापानी सम्राट को राष्ट्र का प्रतीक ही स्वीकार किया और १९४६ में निर्वाचित जापानी लोकसभा ने एक नूतन संविधान का स्वीकार करते हुये सम्राट की स्थिति को भी स्वीकार कर लिया।

अब हम जापान के सम्बन्ध में मित्र राष्ट्रों के आपसी मत भेदा की चर्चा करें। १९४७ में वाशिंगटन सुदूर पूर्व आयोग की बैठक में अमेरिका ने जापान के साथ संधि के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव रखे परन्तु सोवियत रूस ने उन्हें ठुकरा उसका कहना था कि अग्र राष्‍ट्रा के साथ की जाने वाली संधियों के समान जापान साथ संधि करने का दायित्व भी विदेश मंत्रियों की परिपद को सौंप दिया जाना चाहिए अमेरिका का कथन था कि याल्टा या पोट्सडाम सम्मेलन में कहीं पर इस प्रश्न पर समझौता नहीं किया गया था और जिस प्रकार जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या तक बर्लिन में पड़ी हुई है, वैसे ही जापान की समस्या भी अभी नहीं सुलभ होगी। प्रकार पूर्व और पश्चिम में, यहां तक कि पश्चिमी देशों के आपस में भी मतभेद पड़ा गया। मतभेद के कुछ कारण इस प्रकार थे—(१) रूस जापानी क्षतिपूर्ति में भी चाहता था परन्तु मंचूरिया से उसने जो जापानी माल हथियाया था, उस माल का पूरा अपने हिस्से में सम्मिलित किये जाने के विरुद्ध था। (२) रूस की मांग थी कि जापान भूमि से अमेरिकन सेना यथा शीघ्र हटा ली जाय और अमेरिका जापान के युद्ध क्षतिपूर्ति खाली कर दे। (३) जापान के साथ की जाने वाली संधि के सम्बन्ध में साम्यवादी सत्ता चीन की जाय जबकि अमेरिका राष्ट्रवादी चीन का सम्मिलित कर रहा। (४) रूस जापान के रयूकु (Ryuku) और बोनिन टापूओं को अमेरिका को सौंप देने का विरोधी था। (५) अमेरिका और इंग्लैण्ड में मतभेद का कारण यह था इंग्लैण्ड चाहता था कि जापान साम्यवादी चीन को भाग्यता दे दे जबकि अमेरिका विरोधी था। इसी प्रकार भारत की नीति थी कि अमेरिका जापान से अपनी हटाल और जापान के साथ उसके सम्मान योग्य संधि की जाय। (६) अब फिर जापान से भारी क्षतिपूर्ति की आशा लगाय बैठे थे परन्तु अमेरिका क्षतिपूर्ति के विरुद्ध था।

१९५० में कारिया का युद्ध शुरू हुआ और इसके कारण अमेरिकन नौ-सैन्यबल पूर्ण परिवर्तन आ गया। उसने जापान के साथ संधि करने का हल सत्ता लिया और अमेरिका के विदेश सचिव डेविस ने संधि का प्रारूप तैयार किया इसकी रूपरेखा इस प्रकार थी—(१) जापान की सर्वोच्च सत्ता और प्रभुता केवल वड़े और कुछ लघुद्वीपा तक सीमित कर दी गई (२) जापान ने कोरिया की स्वतंत्रता का स्वीकार कर लिया (३) जापान ने फारमोसा, कुवराइल तथा मालालीन द्वीपों पर अपना अधिकार का त्याग दिया और रयूकु, बोनिन तथा कुछ अन्य लघुद्वीपों का अपने संरक्षण में देना स्वीकार कर लिया। (४) विदेशी सैनिकों को जापान से हटाना यदि जापान और अमेरिका में विदेशी सैनिकों का रखने के सम्बन्ध में कोई समझौता जाय तो विदेशी सैनिक जापान में रह सकेंगे। (५) जापान ने चीन में शांति सम्पूर्ण विरोधाधिकार का परित्याग करना स्वीकार कर लिया तथा युद्धावधि सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रों के युद्धपरायण आयातों के निर्यात का मानना स्वीकार कर (६) मित्रराष्ट्रों ने आगामी चार वर्षों के लिए जापान का व्यापारिक मुक्ति

वेकार कर लिया । (७) जापान ने युद्ध के पूर्व लिये गये ऋणों की अदायगी का दायित्व वेकार कर लिया ।

२० जुलाई १९५१ को अमेरिका ने द्वितीय महायुद्ध के ५१ मित्रराष्ट्रों को इस संधि का प्रारूप भेजा और ४ सितम्बर को सेनफ्रांसिस्को में उपरोक्त मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन भी बुलाया । भारत ने इस प्रारूप की बहुत आलोचना की । तां ने भी भारत का अनुसरण किया और दानो देशों ने सम्मेलन में भाग लेने से अस्वीकार कर दिया । आशा यह थी कि सोवियत रूस और उसके साथी देश भी सम्मेलन का ह्वाकार कर देंगे । परन्तु आगा के प्रतिकूल सोवियत सभ ने सम्मेलन में सम्मिलित होने से धोपणा करके सम्पूर्ण ससार को आश्चर्य चकित कर दिया । सोवियत रूस का विचार सम्मेलन में सम्मिलित होकर संधि के प्रारूप को रद्द कराना था । परन्तु डलेस ने रूसी पक्ष का अनुमान लगा कर धोपणा की कि तथा कथित सम्मेलन संधि पर हस्ताक्षर करने के लिये बुलाया गया है और इस सम्मेलन में संधि के प्रारूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार के सशोधन या पृथक् प्रस्तावों पर विचार नहीं किया जायेगा । डलेस का धोपणा के उपरान्त भी रूसी विद्वान् मन्त्री ग्रोमिको ने सम्मेलन में भाग लिया और उस की तरफ से १३ नव प्रस्ताव रखे । परन्तु ये प्रस्ताव स्वीकार नहीं किये गये और सोवियत रूस, पोलैण्ड और चेकास्लावाकिया ने संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया । बाकी के ४८ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस संधि पर हस्ताक्षर कर दिये । इस प्रकार जापान के साथ संधि का काम सम्पन्न हुआ । २८ अप्रैल १९५२ से जापान की शांति संधि कार्यागित की गई ।

इधर अमेरिकन सरकार ने ४ सितम्बर १९५१ को जापान के साथ एक पृथक् संधि भी की जिसके अनुसार जापान ने अपने सैनिक ब्रह्मे अमेरिका का देना और जापानी मित्र अमेरिका की सेना का रखना स्वीकार कर लिया । ६ जून १९५२ को भारत ने जापान के साथ पृथक् संधि की । इस संधि के अनुसार भारत न युद्ध काल में जल्त की गई जापानी पूंजी को वापस देने का आश्वासन दिया ।

इस प्रकार काफ़ी वर्षों के बाद विवाद के उपरान्त शांति समझौते सम्पन्न हो सके । सम्पन्न तो क्या हुये, जैसे तैसे महान् शक्तियों ने अपनी अपनी नीति के अनुसार अपने अपने भावनाशील क्षेत्रों के राज्यों के साथ संधियाँ की और पारस्परिक तनाव को कम करने के मान पर उसे और अधिक विकसित करने का प्रयत्न किया ।



## ग्यारहवां अध्याय संयुक्त राष्ट्रसंघ

**प्रस्तावना—**मन् १८३८ के बर्गेद राष्ट्रसंघ (League of Nations) सिधिल हा गया था। जापान, इटली तथा जर्मनी के व्यवहार से उपासित तथा बड़ी शक्तियाँ की उदासीन वृत्तियाँ राष्ट्रसंघ को मृतजवन् बनाने में कुन मिद्ध हुए। इस वातावरण में बड़ी शक्तियाँ पुन अपनी परम्परागत नातिक समझीत, सधियाँ और दल बनाने के उद्देश्य की लकर आगे बढन लगी और इन शक्ति सत्तुमन का बनाये रखना चाहा। परन्तु सन् १९३९ में द्वितीय विश्व महायुद्ध हो गया और युद्ध की भयकरता एवं मानव की नुशस वृत्तियों का तात्पर्य होव दस युद्ध काल में ही मानव ने यह अनुभव किया कि शांति स्थापन एवं प्रस सहयोग विश्व के लिए अनिवार्य है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक संघ की स्थापना को अत्यधिक महत्व दिया गया। कुछ समय तक यह धारणा रही कि राष्ट्र संघ को ही पुन प्रतिष्ठापित किया जाय किन्तु शीघ्र ही सोच विश्व सगठन की स्थापना के पक्ष में समर्थन करने लगा। यह विचार कुछ नय के साथ आगे बढा। यह यक्त किया जाने लगा कि सगठन की मफलता एवं अवलम्बित रहगी कि वह विश्व में स्थायी शांति स्थापना की गिना में कितना दि बनाये रखता है। इस प्रकार नय विश्व सगठन के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए।

**प्रागम्भिक प्रयत्न—**(१) इस दिशा में सर्व प्रथम प्रयत्न १२ जून सन् १९११ में किया गया था। जब ब्रिटन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, यूजीलैण्ड तथा दक्षिण एवं अन्य कई सरकारों के प्रतिनिधियों ने सेंट जम्स महल में लादन घोषणा हस्ताक्षर किये थे। इस घोषणा के अनुसार स्वीकार किया गया कि विश्व में शांति का आगार भित भित देशों के बीच हुए परस्पर शान्ति समझौते के नहीं हो सकती वरन् समस्त स्वतंत्र राष्ट्रा का स्वप्रेरित सहयोग ही सकता है। आक्रमण के भय से मुक्त तथा आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा से युक्त है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्ध और शांति के समय सबका मिल जुलकर प्रयत्न करना एक मात्र ध्येय निर्धारित किया गया।

(२) दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न इस दिशा में अटलांटिक चार्टर के द्वारा लिखित है। अगस्त सन् १९४१ में इंग्लैंड के प्रधान मंत्री श्री चर्चिल एवं संयुक्त अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट अटलांटिक समुद्र में प्रिम ग्रोफ वेन

वहाज पर मिले और १४ अस्त सन् १९४१ को उठोने एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर कये जिसे अटलाटिक चाटर कहा गया। इस चाटर में चार मुख्य विदुषो पर बन दया गया। प्रथम विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में बन प्रयोग निम्नीय जाना गया। दूसरे प्रादेशिक अतिक्रमण अनुचित ठहराया गया। तीसरे आक्रमण सत्त्वने के उपाय पर विचार किया गया और चौथे विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों का अपने राज्य सरकार का स्वरूप निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य मानी गई। प्रोफ० १० टी० शाह के मतानुसार यह चाटर न शांति समझौता माना जा सकता और न ही सम्बन्धित राज्या द्वारा पारित अधिनियम कि तु फिर भी शान्ति स्थापना तथा प्रभावशाली विश्व संगठन का अस्तित्व कायम करने की दिशा में एक सफल प्रयत्न माना गया। इसी चाटर द्वारा यह आशा व्यक्त की गई थी कि नाजो जर्मनी व अस्त हाने के बाद ऐसी शान्ति स्थापित हो सकेगी जब विश्व के समस्त राष्ट्र अपनी अपनी सीमाओं में सुरक्षित रह सकें। और सब के लिए शक्ति प्रयोग का अमानुषिक साधन प्राप्त किया जा सके। लौकिक और पारलौकिक तथा स्वयं और दूसरे के लिए यह एक अतन्त्रितक सुझाव ही स्वीकार किया जा सकता है।

( १ ) तीसरा प्रयत्न इस दिशा में सम्मिलित राष्ट्रों की घोषणा थी। प्रथम जनवरी १९४२ का वाशिंगटन में २६ विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इसमें निहित के सिद्धान्त भी अटलाटिक चाटर के सिद्धान्तों के समान थे। हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक राष्ट्र ने यह निश्चय किया कि वह अपने समस्त साधनों का प्रयोग कुछ राष्ट्रों के विरुद्ध करेगा तथा दूसरे हस्ताक्षरित राष्ट्रों को साथ पूर्ण सहयोग करेगा। परस्पर अलग सविया व समझौते नहीं करेगा। तथा कुछ राष्ट्रों का पूर्ण बहिष्कार करेगा।

( ४ ) प्रथम नवम्बर सन् १९४३ का मास्को में ग्रेनेन, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ब्रिटन तथा रूस के विद्वान मंत्रियों का सम्मेलन हुआ और विचार विमर्श के पश्चात् एक घोषणा की गई जिसके अनुसार यह आवश्यकता अनुभव की गई कि सम्भवतः शीघ्र ही एक सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना अनिवार्य है। इस संगठन का प्रभुत्व सार्वजनिक समस्त शांति प्रिय देशों की समान सार्वभौमिकता का सिद्धान्त ही और समस्त छोटे बड़े राष्ट्रों के लिए इस संगठन की सदस्यता खुली हो ताकि विश्व शांति सुरक्षा स्थापित हो सके। इसे मास्को घोषणा कहा जाता है।

( ५ ) प्रथम दिसम्बर १९४३ का तेहरान सम्मेलन में तीन प्रधान राजनीतिज्ञ डॉ० ट्रुपति रूजवेल्ट, प्रधान मन्त्री स्टालिन एवं प्रधानमन्त्री चर्चिल, ने पुनः यह घोषित किया कि हमें विश्वास है कि हमारा समझौता विश्व में चिर शांति स्थापित करने में सफल होगा। इस तेहरान घोषणा कहते हैं।

## भारतवा अध्याय संयुक्त राष्ट्रसंघ

**प्रस्तावना—**सन् १८३८ के कगेव राष्ट्रसंघ (League of Nations) सिधिल हा गया था। जापान, इटली तथा जर्मनी के व्यवहार से उपस्थित बाधा तथा बड़ी शक्तिया की उदासीन वृत्तिया राष्ट्रसंघ को मृतस्वन् बनाने में मुख्य कारण निद्व हुए। इस वातावरण में बड़ी शक्तिया पुन अपनी परम्परागत नीति के अनुसार समझौते, संधियाँ और दल बनाने के उद्देश्य को लेकर भाग बढन लगी और इन साधनास शक्ति सत्तुल्य का बनाये रखना चाहा। परन्तु सन् १९३९ में द्वितीय विश्व महायुद्ध प्रारम्भ हा गया और युद्ध की भयङ्करता एवं मानव की नृशंस वृत्तियो का ताण्डव हाने लगा। इस युद्ध काल में ही मानव ने यह अनुभव किया कि शान्ति स्थापन एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विश्व के लिए अनिवार्य है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ऐसे राष्ट्र संघ की स्थापना को अत्यधिक महत्व दिया गया। कुछ समय तक यह धारणा व्याप्त रही कि राष्ट्र संघ को ही पुन प्रतिष्ठापित किया जाय किन्तु शीघ्र ही लोक मन नय विश्व संगठन की स्थापना के पक्ष में समर्थन करने लगा। यह विचार कुछ नय सुभावा के साथ आगे बढा। यह यत्न किया जाने लगा कि संगठन की मर्यादा इस बात पर अवलम्बित रहणी कि यह विश्व में स्थायी शांति स्थापना की दिशा में कितना विद्वान बनाये रखता है। इस प्रकार नये विश्व संगठन के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए।

**प्रारम्भिक प्रयत्न—**(१) इस दिशा में सर्व प्रथम प्रयत्न १० जून सन् १९४१ का किया गया था। जब ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, यूजीलण्ड तथा दक्षिण अफ्रीका एवं अन्य कई सरकारों के प्रतिनिधिया ने सेंट जेम्स महल में लांदन घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इस घोषणा के अनुसार स्वीकार किया गया कि विश्व में स्थायी शान्ति का आधार भिन्न भिन्न देशों के बीच हुए परस्पर शान्ति समझौते व संधियाँ नहीं हो सकती बरन् समस्त स्वतंत्र राष्ट्रा का स्वप्रेरित सहयोग हो सकता है, जो आक्रमण के भय से मुक्त तथा आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा में युक्त है। इसलिए इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्ध और शान्ति के समय सबका मिल जुनकर प्रयत्न करना ही एक मात्र ध्येय निर्धारित किया गया।

(२) दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न इस दिशा में अटलांटिक चार्टर के नाम में विख्यात है। अगस्त सन् १९४१ में इंग्लैंड के प्रधान मंत्री श्री चर्चिल एवं मधुन राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट अटलांटिक मधुन में प्रिम घोष वलय नामक

जहाज पर मिल और १४ अस्त सन् १९४१ को उठोने एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये जिस अटलांटिक चाटर कहा गया। इस चाटर में चार मुख्य बिंदुओं पर बल दिया गया। प्रथम विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में बल प्रयाग निन्दनीय माना गया। दूसरे प्रादैनिक अतिव्रमण अनुचित ठहराया गया। तीसरे आक्रमण संचालने के उपायों पर विचार किया गया और चौथे विभिन्न स्वतंत्र राष्ट्रों को अपने राज्य व सरकार का स्वरूप निर्धारित करने के लिए स्वतंत्रता अनिवार्य मानी गई। प्रा५० के० टी० शाह के मतानुसार यह चाटर न शांति समझौता माना जा सकता और न ही सम्बंधित राज्यों द्वारा पारित अधिनियम कि तु फिर भी शांति स्थापना तथा प्रभावशाली विश्व सगठन का अस्तित्व कायम करने की दिशा में एक सफल प्रयत्न माना गया है।<sup>१</sup> इसी चाटर द्वारा यह आशा व्यक्त की गई थी कि नाजी जर्मनी के अस्त होने के बाद ऐसा शांति स्थापित हो मकेगी जब विश्व के समस्त राष्ट्र अपनी अपनी सीमाओं में सुरक्षित रह सकें। और सदैव के लिए शक्ति प्रयाग का अमानुषिक साधन समाप्त किया जा सके। लौकिक और पारलौकिक तथा स्वयं और दूसरे के लिए यह एक हितचिन्तक सुझाव ही स्वीकार किया जा सकता है।

( ३ ) तीसरा प्रयत्न इस दिशा में सम्मिलित राष्ट्रों की घोषणा थी। प्रथम जनवरी सन् १९४२ का वाशिंगटन में २६ विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इसमें निहित के सिद्धान्त भी अटलांटिक चाटर के सिद्धान्तों के समर्थक हैं। हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक राष्ट्र ने यह निश्चय किया कि वह अपने समस्त साधनों का प्रयोग कुछ राष्ट्रों के विरुद्ध करेगा तथा दूसरे हस्ताक्षरित राष्ट्रों के साथ पूर्ण सहयोग करेगा। परस्पर अलग संधियाँ व समझौते नहीं करेगा। तथा कुछ राष्ट्रों का पूर्ण बहिष्कार करेगा।

( ४ ) प्रथम नवम्बर सन् १९४३ को मास्का मॉन्ट्रेन, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, चीन तथा रूस के विदेश मंत्रियों का सम्मेलन हुआ और विचार विमर्श के पश्चात् एक घोषणा की गई जिसके अनुसार यह आवश्यकता अनुभव की गई कि सम्भवतः गीघ्राति शीघ्र एक सावजनिक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना अनिवार्य है। इस सगठन का मूलभूत आधार समस्त शांति प्रिय देशों की समान सार्वभौमिकता का सिद्धान्त हो और इस समस्त छोटे बड़े राष्ट्रों के लिये इस सगठन की सदस्यता खुली हो ताकि विश्वशांति व सुरक्षा स्थापित हो सकें। इस मास्का घोषणा कहा जाता है।

( ५ ) प्रथम दिसम्बर १९४३ का तेहरान सम्मेलन में तीन प्रधान राजनीतिज्ञ राष्ट्रपति रूजवेल्ट, प्रधान मंत्री स्टालिन एवं प्रधानमंत्री चर्चिल, ने पुनः यह घोषित किया कि हमें विश्वास है कि हमारा समझौता विश्व में चिर शांति स्थापित करने में सफल होगा। इस तेहरान घोषणा बहुत है।

उपरोक्त घृष्टभूमि के आधार पर यह निश्चय सा था कि विश्व युद्ध की ज्वाला गाने हाने के पश्चात् एक नव सगठन स्थापित होगा और वह सीम भ्रॉक नेगन्स की अग्रा अधिन प्रभावगानी और सफल होगा। अब इसके लिए प्रयत्न रूप में स्पष्ट प्रयत्न आरम्भ हुए। प्रथम प्रयत्न सितम्बर मन् १९४४ को वाशिंगटन में हुआ। यह अमेरिका, रूस व चीन राज्या के प्रतिनिधि डम्बाटन भ्रॉक नामक भवन में एकत्रित हुए और यह विचार किया गया कि मास्का तथा तेहरान का घोषणाओं का किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय। ७ अक्टूबर मन् १९४४ को यह सम्मेलन पूर्ण हुआ। तत्पश्चात् सम्मेलन में स्वीकृत विश्व सगठन की रूप रेखा प्रकाशित की गई। संयुक्त राष्ट्र मण्डल की स्थापना की गिा में यह प्रथम स्वीकृति चरण था। इन प्रस्तावों के अनुसार विश्वगानि के लिए इस सगठन का मुख्य अंग सुरक्षा परिषद माना गया था तथा इसमें "बिग फिवा" ( Big Five ) ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, चीन व फ्रांस का स्यादी प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया था। परन्तु विचार विमर्श, मतदान व निणायों के लिए क्या प्रक्रिया होगी यह स्पष्ट नहीं था। त्रिमयन सम्मेलन ( इस याहटा सम्मेलन भी कहते हैं ) में यह मनी पूरी की गई। राष्ट्रपति रूजवेल्ट, प्रधान मंत्री चर्चिल तथा प्रधान मंत्री स्टालिन इस सम्मेलन में उपस्थित हुए और विचार किया गया। ११ फरवरी मन् १९४५ को यह घोषित किया गया कि मतदान, निणय आदि की प्रक्रिया सबधित बिन्दु भी निर्धारित कर लिया गया है। और संयुक्त राष्ट्र मण्डल की स्थापना के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए २५ अप्रैल मन् १९४५ को संन फ्रांसिस्को ( अमेरिका ) में विश्व सम्मेलन आमन्त्रित करने का निणय भी लिया गया। तदनुसार महावित शान्ति प्रिय समस्त देनों को निमन्त्रित किया गया।

सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन—२५ अप्रैल मे २६ जून मन् १९४५ तक यह सम्मेलन हुआ। इसमें ऐसे ५१ राष्ट्रा के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए जिनमें विश्व के ५ जनसंख्या निवास करती है वे सब राष्ट्र इसमें सम्मिलित थे जिन्होंने जर्मनी या जापान के विरुद्ध युद्ध घोषित किया था अथवा प्रथम जनवरी मन् १९४२ का संयुक्त राष्ट्रीय घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। मुख्य रूप से डम्बाटन भ्रॉक व याहटा सम्मेलन के प्रस्ताव तथा विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रेषित सलाहों व सुझावों पर विचार किया गया और संयुक्त राष्ट्र सविधान Charter तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अधिनियम तैयार किया गया।

२६ जून मन् १९४५ को सर्वसम्मति से संयुक्त राष्ट्र मण्डल सविधान स्वीकृत किया गया और समस्त प्रतिनिधियां ने हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् जब पाँच मुख्य प्रस्तावक सदस्य, चीन, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका व रूस तथा अन्य सदस्य राष्ट्रों के बहुमत द्वारा स्वीकृति पत्र उपस्थित कर दिए गये, तब २४ अक्टूबर मन् १९४५ से यह सविधान प्रभावगानी हुआ। उसी समय से २४ अक्टूबर संयुक्त राष्ट्र मण्डल दिवस के रूप में मनाया जाता है। यह नाम, United Nations या संयुक्त राष्ट्र मण्डल, राष्ट्रपति

कन्वेंशन के द्वारा प्रस्तावित किया गया था, जो सर्व सम्मति से स्वीकार किया गया।

**प्रस्तावना (Preamble)**—अब की बार इस सगठन के विधान का रूप कुछ कुछ ऐसा है जैसा किसी स्वतंत्र गणराज्य का होता है। तदनुसार प्रस्तावना भी सम्मिलित की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका भारतवर्ष तथा रूस आदि प्रमुख दशों के संविधानों में प्रस्तावना में यह उद्घाषित किया गया है कि यह विधान वहाँ की जनता द्वारा स्वयं स्वीकृत, नियमित और लागू किया जाना है। उसी भावना का इस विश्व सगठन के संविधान में अपनाता गुप्त लक्षण ही माना जाता है। प्रस्तावना तो काफी विस्तृत है परन्तु उसमें मुख्य रूप से निम्न सिद्धान्त स्वीकार किए गए हैं—

(१) यह निर्णय किया गया कि विश्व की भावी पीढ़ियों का युद्ध की पीड़ा से मुक्ति मिले।

(२) मानव के मौलिक अधिकार, प्रतिष्ठा, योग्यता स्त्री व पुरुष तथा छोटे बड़े समस्त राष्ट्रों के समानाधिकार में पूर्ण विश्वास किया गया।

(३) ऐसी स्थिति लाई जाय जिसमें संधियाँ तथा अथ एस अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ द्वारा स्थापित कल्याण का पालन सुविधा पूर्वक किया जा सकें।

(४) अच्छे पहासियों की भाँति सहिष्णुता अपनाते हुए सामाजिक उन्नति तथा उच्च स्तरीय जीवन की प्रगति सम्भव बनाई जा सके।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थापित करने के लिए समस्त शक्तियों का एका सगठित करना कि बल प्रयोग केवल सामान्य हित में ही किया जाय।

(६) समस्त विश्व के मानव की आर्थिक व सामाजिक प्रगति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का प्रयोग किया जा सके।

सर्व सम्मति से यह स्वीकार किया जाता है कि उपरोक्त आधारभूत सिद्धान्तों की पूर्ति और पालन के लिए हम सब सगठित रूप में प्रयत्न शील रहेंगे।

तदनुसार विभिन्न राज्यों की सरकारों द्वारा स्वीकृति भेज दी गई इसके पश्चात् इस सगठन से संबंधित दूसरे अनिवार्य उद्देश्य आदि स्वीकार किए गए जो निम्न लिखित हैं—

उद्देश्य—धारा प्रथम के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की मुख्य उद्देश्य निधारित किए गए हैं, (१) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना।

(२) विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच परस्पर मित्रता पूर्ण तथा सहकारिता का व्यवहार विकसित करना।

(३) मानव के मूल अधिकारों व प्रति सम्मान की वृद्धि करना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं का सुलभाना।

(५) उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों के व्यवहारों व कार्यों में साम्य लाना हुआ (एक विषयों का) केंद्र बन जाना।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र सभ के उद्देश्या का समर्थन में चार गठन द्वारा किया जा सकता है (१) सुरक्षा (२) न्याय (३) कल्याण तथा (४) मानव अधिकार। परन्तु इनका साथ ही यह भी सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि जब तक कोई सदस्य राष्ट्र चाटर के अन्तर्गत आचरण करता है उसके आन्तरिक मामला में हस्तक्षेप नहीं किया जावेगा।

इस उद्देश्या की पूर्ति के लिए, यह भी आवश्यकता थी कि किस प्रकार तथा किस सिद्धान्त का अपनाया जाय। इस लिए निम्न कुछ सिद्धान्त स्पष्ट रूप में व्यक्त किए गए हैं, जो चाटर की दूसरी धारा में वर्णित हैं —

(१) यह संगठन सब सदस्यों की सार्वभौमिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु यहाँ कुछ मर्यादाएँ स्वीकार करना भी जरूरी है। उदाहरणार्थ सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य संगठन के अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक अधिकारों का प्रयोग करते हैं। और सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी सम्मति अनिवार्य माना गई है। नए सदस्यों का प्रवेश, चाटर का संशोधन, विवादों का निणय तथा निणयों का कार्यान्वित करना आदि कुछ ऐसे ही विषय हैं। कोई भी महत्वपूर्ण निणय स्थायी सदस्यों की स्वीकृति बिना अमंजब होता है। वास्तव में इस प्रक्रिया के पीछे यह भावना थी कि विश्व के महत्वपूर्ण निणयों में बड़ी शक्तियाँ एकमत हो और छोटे सदस्यों में से भी कम से कम दो सदस्यों का सहयोग हो ताकि कोई अत्याय न हो। परन्तु जिस रूप में यह प्रणाली विकसित हुई है वह बहुत ही निराशापूर्ण है। श्री हन्स जे० भारगे थाऊ के मतानुसार सुरक्षा परिषद् का यह संगठन इस दृष्टि से किया गया था कि विश्व की बड़ी शक्तियों का साथ दो साधारण शक्तियों की अनिवार्यता इसे एक विश्व की वैधानिक या मर्यादित सरकार का रूप देगा। परन्तु बड़ी शक्तियों में परस्पर ही घोर संघर्ष उत्पन्न हो जाने के कारण यह उद्देश्य कभी भी पूरा नहीं हुआ।<sup>१</sup> परन्तु इस अपवाद के अतिरिक्त सम्पूर्ण सदस्यों की सप्रभुता में समानता अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है।

(२) सभी सदस्य, सदस्यता से प्राप्त सब लाभ और प्राप्त अधिकारों का निश्चित करने के लिये, चाटर द्वारा अपेक्षित समस्त कसबों का पालन ईमानदारी तथा तत्परता से करेंगे।

(३) समस्त सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांतिमय साधनों से इस प्रकार करेंगे कि जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति सुरक्षा व न्याय को कोई भी क्षति न पहुँचे।

(४) समस्त सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में दूसरे राज्यों की स्वतंत्रता या प्राणिक एकता के विरुद्ध युद्ध की धमकी या युद्ध का प्रयोग नहीं करेंगे।

(५) समस्त सदस्य संयुक्त राष्ट्र सभ को प्रत्येक सम्भावित सहायता देंगे और विशेषकर किसी कार्यवाही के अग्रसर पर जो चाटर के आधीन की जा रही है। साथ ही उन राष्ट्यों का मद देने से बचेंगे जिनके विरुद्ध यह कार्यवाही की जा रही है।

(६) सगठन यह भी प्रयत्न करेगा कि जो राष्ट्र इस सगठन के सदस्य नहीं है वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना के लिए ऐसा व्यवहार करें जो चाटर के अन्तर्गत अपेक्षित है ।

(७) चाटर द्वारा स्वीकृत किसी भी नियम के अनुसार सगठन को सदस्य राष्ट्रों के आतरीय मामले में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होगा, परन्तु यह सिद्धान्त ७ वें अध्याय के अंतर्गत कुछ अनिवार्य साधनों के उपयोग में बाधक भी नहीं होगा ।

उपरोक्त सिद्धान्त आदर्श रूप में बहुत उपयुक्त हैं किन्तु व्यवहार में बड़ी कठिनाई उपस्थित करते हैं । यदि प्रत्यक्ष उदाहरण लिए जायें तो इन सिद्धान्तों की व्यवहारिकता में कसी रुकावटें आती हैं, यह स्पष्ट हो जायगा । सबसे प्रथम भारत दक्षिण अफ्रीका विवाद पर दृष्टि डालें तो यह प्रतीत होता है कि भारतवासियों का वाद उचित है और दक्षिण अफ्रीका सरकार को ऐसी भेद नीति और नियम नहीं बनाने चाहिए जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ पैदा होती हैं । परन्तु जब यह विवाद संयुक्तराष्ट्र सभ की जनरल असेम्बली के सामने प्रस्तुत हुआ तो दक्षिण अफ्रीका सरकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि यह हमारा आतरीय मामला है और धारा २ के ७ वें पक्ष के अनुसार असेम्बली इस विषय में हस्तक्षेप नहीं कर सकती । यद्यपि ये नियमादि भारत और दक्षिण अफ्रीका की परस्पर समझौते के विरुद्ध हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, तथापि मानव के मूल अधिकारों का उल्लंघन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भंग करने की संभावना पर ध्यान में आगे बढ़ते हुए । संयुक्तराष्ट्र सभ ने इस विषय में कई प्रस्ताव भी पास किए किन्तु ६० अफ्रीका सरकार ने उन्हें कार्यावित ही नहीं किया और कहा कि ये भ्रष्टानिक हैं और हमारी स्वतन्त्रता के विरुद्ध हैं । इसी प्रकार सन् १९५० में उपस्थित कोरिया का प्रश्न था । संयुक्तराष्ट्र सभ ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का विषय माना और मासिक सभ ने इसे छुड़ छुड़ कह कर टाल दिया । यही स्थिति इराक और ईरान के बीच तेल विवाद के बाबत हुई । ईरान के विरुद्ध रूस का विरोध होते हुए भी विचार किया गया और आतरीय विषय का विवेचन हुआ । अक्टूबर सन् १९५६ का हंगरी उपद्रव भी इसी श्रेणी में रखता जा सकता है । वहाँ की आम जनता सत्तापरिवर्तन के हेतु झुझ रही थी किन्तु वहाँ के विदेशमन्त्री ने संयुक्तराष्ट्र सभ को सूचित किया कि यह उनका निर्णय आतरीय प्रश्न है और राष्ट्रसंघ का कोई भी प्रयत्न उनकी आतरीय संप्रभुता में बाधा हस्तक्षेप होगा और चाटर की धारा २ के भी विरुद्ध होगा । इसीलिए संयुक्तराष्ट्र सभ समिति का हंगरी में भी प्रविष्ट नहीं होने दिया ।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र सभ चार्टर ऐसे विषयों में हस्तक्षेप का अधिकार देता है जो विश्व शांति के लिए घातक हो या हो जायें परन्तु फिर भी यह कठिन प्रतीत होता है कि सम्बन्धित राष्ट्र की स्वीकृति बिना कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता । उपरोक्त सगठन सभी उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि विभिन्न राज्यों के अपने स्वार्थ अन्तर्राष्ट्रीय शांति और शांति का हमें गौण बना देने में अधिक सफल होते हैं । इस प्रकार



उपरोक्त सिद्धान्त आदश रूप में होने हुए भी कार्यक्रम में पूर्ण सफल व प्रभावशाली नहीं हो पा रहे हैं ।

**प्रधान कार्यालय—संयुक्तराष्ट्र सघ का प्रधान कार्यालय (Head Quarters)** यूनायट में है जो सन् १९५२ में बनकर पूरा हुआ है । अबूधवीर सन् १९५२ में वहाँ सर्वप्रथम जारीत असेम्बली की बैठक हुई । संयुक्तराष्ट्र सघ का कार्यालय भवन उस १७ एकड़ भूमि पर निर्मित है जो श्री जोन डी राक्फेनर द्वारा प्रदान की गई है । इसमें ३६ मजिल है और लगभग ३,५०० अधिकारी इसमें कार्य करते हैं । इसका लागत ११ करोड़ डालर मानी जाता है ।

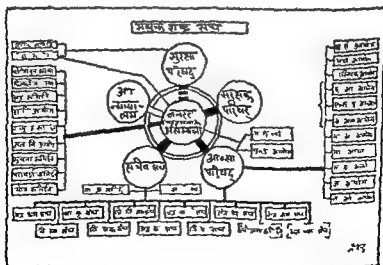
**भाषाएँ—**अंग्रेजी, फ्रेंच, चीनी, रूसी तथा स्पेनिश भाषाएँ संयुक्तराष्ट्र सघ का स्वीकृत भाषाएँ हैं परन्तु अधिकांश कार्य अंग्रेजी व फ्रेंच भाषा द्वारा ही होता है ।

**पताका—**हल्की नीली पृष्ठ भूमि पर संयुक्तराष्ट्र सघ का चिह्न, जिसमें ११ जटून का झुकी हुई शाखाएँ किन्तु ऊपर से खुली हुई और उनके मध्य में विश्व का मानचित्र है, स्वीकार किया गया है ।

**अर्थ व्यवस्था—**संयुक्तराष्ट्र सघ का आय व्यय लगभग ५ करोड़ डालर प्रतिवर्ष माना जाता है और प्रतिवर्ष इसमें वृद्धि की सम्भावना रहती है । यह समस्त धन राशि विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रदान की जाती है । जिसका अनुमानित अनुपात इस प्रकार है —

संयुक्त राज्य अमेरिका	३६.६०% ग्रेट ब्रिटेन	१०.५६%
सोवियट रूस	६.५५% राष्ट्रीय चीन व फ्रांस	५.७५% (प्रत्येक)
भारतवर्ष	३.५१% कनाडा	३.३५%

**सुरक्षित अङ्ग—**संयुक्तराष्ट्र-सघ में मुख्य रूप से ६ अंग संगठित किए गए हैं जो क्रमशः (1) महासभा, (11) सुरक्षा परिषद, (111) आर्थिक व सामाजिक परिषद, (1V) सरक्षता परिषद (V) अंतरराष्ट्रीय न्यायालय तथा (VI) सचिवालय है । इनका संगठन, अधिकार क्षेत्र तथा कार्यों आदि का विस्तार के साथ अध्ययन करना अनिवार्य है ।



(1) महासभा (General Assembly)—संयुक्त राष्ट्र-सघ के समस्त

सदस्य राष्ट्र इस सभा के सदस्य होते हैं। और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र पाँच प्रतिनिधियों का भजना है। परन्तु मत एक राष्ट्र को एक ही देने का अधिकार है। महासभा का वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष २ मितम्बर के बाद होता है। माघारणत वर्ष में एक ही अधिवेशन होना है। परन्तु आवश्यकता होने पर विशेष अधिवेशन भी आमन्त्रित किया जा सकता है। विशेष अधिवेशन बुलाने के लिए संयुक्तराष्ट्र सभ के सदस्य राष्ट्रों के बहुमत अथवा सुरक्षा परिषद् द्वारा, आवेदन किया जाना चाहिए, तब महामंत्री १५ दिन का पूर्व सूचना (Notice) देकर आमन्त्रित कर सकता है। महासभा अपने अधिवेशन के अध्यक्ष में ही एक अध्यक्ष (President) एवं ७ उपाध्यक्ष (Vice-Presidents) निर्वाचित करती है जो अधिवेशन की समाप्ति तक रहते हैं। इन अधिवेशन में कोई सदस्य राष्ट्र चाटर की सीमाओं के अंतर्गत किसी भी विषय को विचारार्थ प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु निजी अथवा अंतर्रीय विषयों से संबंधित नहीं होना चाहिए।

महासभा की शक्तियाँ एवं कार्य — संयुक्तराष्ट्र-सभ के संविधान की धारा १० में १७ तक, महासभा के कार्यों का ही विवरण है। तदनुसार महासभा अपने अधिवेशन में किसी भी ऐसे विषय पर विचार विमर्श कर सकती है जो इसके क्षेत्र में आता है और उन प्रश्नों का आवश्यकतानुसार संयुक्त राष्ट्र सभ के सदस्यों के पास अथवा सुरक्षापरिषद् या दाना के समक्ष भी उपस्थित कर सकती है। विश्व शांति और सुरक्षा की स्थापना से सम्बंधित प्रश्नों के विचार करने के लिए यह सभा पूर्ण रूप से अधिकारिणी है। ऐसा प्रश्न सदस्य राष्ट्रों की ओर से, सुरक्षा परिषद् द्वारा अथवा सदस्य राष्ट्र द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि यह महासभा विश्व की सावधानीमय विधान सभा नहीं है किन्तु फिर भी इसके द्वारा विचार किया हुआ विषय विश्व के जनमत को नतिष्प रूप से प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है। यही महासभा स्थिति की गंभीरता का देखते हुए यदि विश्वशांति सङ्कट में होने की संभावना हो तो सुरक्षापरिषद् का ध्यान भी आकर्षित कर सकती है। विशेष सुभाव दे सकती है और अन्य वैधानिक माधनों द्वारा पुनः संतुलन के लिए प्रयत्न कर सकती है। धारा १३ के अनुसार महासभा को निम्न विशेष कार्य करने चाहिए —

- (१) शांति और सुरक्षा की स्थापना के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों पर विचार करना तथा अपने सुभाव देना।
- (२) निरास्त्रीकरण तथा इससे सम्बंधित समस्याओं पर शांति और सुरक्षा का दृष्टि में विचार करना तथा उचित एवं प्रभावोत्पादक सुभाव देना।
- (३) विश्व के राजनितिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देना।
- (४) निरन्तर विकासशील अंतर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता देना तथा संग्रह (Codification) को प्रोत्साहित करना।
- (५) विश्व के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा सम्बंधी तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना।



सकती है। ऐसी बैठक सुरक्षा परिषद् की प्राथना, पर बुलाई जा सकती है। इसी दृष्टि से महासभा ने सामूहिक साधन समिति (Collective Measures Committee) की स्थापना की है जो आवश्यकता आने पर किसी भी कार्यक्रम का सामना कर सकने की व्यवस्था कर सके। और इसी के साथ 'शांति निरीक्षक आयोग' (Peace Observation Commission) भी स्थापित किया गया।

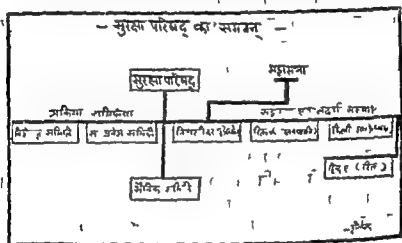
उपरोक्त साधनों के अन्तर्गत ही, नवम्बर सन् 1956 में इजरायल, फ्रांस और इङ्ग्लैंड द्वारा मित्र पर कार्यक्रम करने के विषय पर महासभा के सफट कालीन अधिवेशन में विचार किया गया था। यह आवश्यकता इसलिए हुई थी कि सुरक्षा परिषद् में संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रस्ताव रखा था कि मित्र में समस्त देशों की शक्ति प्रयोग अथवा शक्ति प्रयोग का भय प्रदर्शन नहीं करना चाहिए और इङ्ग्लैंड और फ्रांस ने अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग कर इसे अस्वीकार कर दिया था इस प्रकार विश्वशांति की स्थापना को और अधिक सुरक्षित बनाया गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इन साधनों द्वारा संयुक्त राष्ट्र सभ के इन दोनों अंगों, महासभा एवं सुरक्षा परिषद् का सम्बन्ध ही परिवर्तित हो गया। जहाँ सुरक्षा परिषद् किंचित भी असमर्थ दृष्टिगत हो वहाँ महासभा आगे आकर काम पूरा कर सकती है। बड़ी शक्तियों के विचार भेद के कारण निषेधाधिकार के अधिकतम प्रयोग की कठिनाइयाँ इस सुविधा से जीती जा सकती हैं।

महासभा की स्थिति पर विचार—प्रारम्भ से ही महासभा की गति की महासभा की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण सस्या के रूप में स्थापित की गई थी। और इसकी प्रतिष्ठा भी अपेक्षाकृत बड़ी हुई है। इसके कई कारण हैं। सुरक्षा परिषद् की बुलना में यह महासभा अधिक—महत्व की है क्योंकि इसमें सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि हैं। दूसरे, सुरक्षा परिषद् में, स्थायी सदस्यों में परस्पर विचार भेद अधिक हो गया है। अन्त में महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी, जैसे निस्त्रोकरण, विवाद निष्पत्ति, सामूहिक सुरक्षा आदि, महासभा ही अधिक महत्वपूर्ण काम कर रही है।

कुछ विद्वानों का मत है कि महासभा को समस्त सदस्य राष्ट्रों के लिए ऐसे नियम बनाने की शक्ति होनी चाहिए जिनका पालन अनिवार्य है और 'एक राज्य एक मत' का सिद्धांत भी बदलना चाहिए ताकि यह संगठन अधिक प्रतिनिध्यात्मक बन सके। आज भी महासभा को 'विश्व का नगर सम्मेलन' (Town meeting of the world) कहा जाता है। फिर भी इस सस्या में कुछ ऐसे अभाव हैं जो इसके महत्व को पूर्ण नहीं होने देते। उदाहरणार्थ—यह समा केवल आशंसाएँ (Recommendations) भेजती है जो सदस्य राष्ट्रों की सुविधानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। और इसी प्रकार सारे प्रतिनिधि एकत्रित होते हैं भाषण, श्रवण, प्रतिवेदन, अध्ययन विचार, प्रस्ताव, मनन, विवाद, मतदान आदि सभी कुछ करते हैं परंतु वे सवमाय नियम और विधियाँ नहीं बनाते और न बना सकते हैं। जो

किसी एक भी राष्ट्र को स्वीकार नहीं है। ऐसे नियम बनाने में यह समा असमर्थ है। इस प्रकार महासभा प्रभावशाली है, पहले से उन्नत और शक्तिशाली है और पर्याप्त सीमा तक सफल है परन्तु फिर भी पूर्ण सफलता के लिए इसमें कुछ अभाव है। महासभा का प्रथम अधिवेशन 10 जनवरी सन् 1946 में लंदन में धोरम हुआ था। 21 सितम्बर, 1955 को महासभा का नवा अधिवेशन 'न्यूयार्क' में नव निर्मित कार्यालय में आरम्भ हुआ। और अब महासभा विश्व में बहुत बड़ा लोक मंच (Forum) बनकर महत्वपूर्ण निर्णय करने योग्य संस्था सिद्ध हो रही है।

(२) सुरक्षा परिषद्—सुरक्षा परिषद् में ग्यारह सदस्य होते हैं। चीन (राष्ट्रवादी), फ्रांस, रूस, ग्रेट ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका पाँचो स्थायी सदस्य हैं।



और केवल दस सदस्य केवल दो वर्ष के लिए चुने जाते हैं। यह चुनें महासभा द्वारा विभिन्न सदस्य राष्ट्रों में से उनके संयुक्त राष्ट्रों को दिए सहयोग, शांति व्यवस्था में सहायता तथा भौगोलिक वितरण के आधार पर किया जाता है। कोई सदस्य राष्ट्र सरकार पुनर्निर्वाचन के योग्य नहीं माना जाता है। इस परिषद् में सदस्य संस्था निर्धारित हो जाने के कारण छोटे राज्यों द्वारा गुटबन्दी की सम्भावना नहीं रही। इस परिषद् में सदस्य राष्ट्र का केवल एक ही प्रतिनिधि उपस्थित हो सकता है। विधान में यह भी दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्र सच का ऐसा सच्य जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है, परिषद् की बैठक में बिना मताधिकार प्राप्त किए सम्मिलित हो सकता है, यदि उस राष्ट्र के हितों पर प्रभाव डालने वाले प्रश्नों पर विचार किया जाय। ऐसी प्रकार ऐसा राष्ट्र जो न सुरक्षा परिषद् का सदस्य है और न संयुक्त राष्ट्र सच का, वह भी उससे सम्बन्धित विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार करते समय, विचार विमर्श में बिना मताधिकार भाग लेने के लिए भाग्यवत किया जायगा। इस परिषद् की अध्यक्षता इसी परिषद् के

मदस्या की भङ्गरेजी की अक्षरमाला के क्रम से प्राप्त होती है। प्रत्येक अध्ययन का काय काल एक पूरा मास होता है।

सयुक्त राष्ट्र सच का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग सुरक्षा परिपद ही है। इसलिए इस परिपद की शक्तियाँ एवं कार्य भी अनेक हैं। कुछ अधिकार तो परिपद के स्वयं ही पूरे हैं और शेष महासभा के सहयोग से पूरे काय एवं शक्तियाँ बन जाते हैं। विश्वशांति और सुरक्षा की स्थापना एवं व्यवस्था, इस परिपद का मुख्य कार्य है। और साधारण रूप में यह सस्था सयुक्त राष्ट्र सच की कार्य कारिणी है। जो इस सच के समस्त महत्त्व काय करती है। धारा २५ के अनुसार समस्त सदस्य राष्ट्रों ने सुरक्षा परिपद के निर्णयों को स्वीकार करने तथा कार्यान्वित करने का आश्वासन दे दिया है। सुरक्षा परिपद वास्तव में इस सभ्यता की वास्तविक मुख्य सस्था है।

सयुक्त राष्ट्र सच के चाटर में अन्तर्राष्ट्रीय शांति व्यवस्था कायम रखने के लिए परिपद के हस्तक्षेप की चार निम्न विभिन्न अवस्थायें हैं —

शांति समझौता—चाटर के अनुच्छेद छ के अनुसार सुगन्धा परिपद विवादों की जांच पड़ताल करती है और अनुच्छेद छ के अनुसार शांति भंग करने वाली बातों के लिए कायवाही करती है। अनुच्छेद छ के अनुसार ही विवाद-पड़ती अवस्था अस्त दलों की आवश्यकता समझें तो आमंत्रित कर सकती है, और विश्व शांति व सुरक्षा को खतरा होने की अवस्था में, वार्ता, ताव, साव विचार, विचार विमर्श, मध्यस्थ निरणय, 'यायिक निरणय, प्रादेशिक सस्थाओं की स्थापना या अपने इच्छानुसार अन्य शांतिपूर्ण ढंग से तय कर लेने चाहिए। इन साधनों के असफल होने पर अन्य अवस्थाएँ काम में ली जाती हैं। ऐसा राष्ट्र भी जो सदस्य राष्ट्र सच न हो, अपना विवाद उपस्थित कर सकता है यदि वह चाटर के शांति समझौते की प्रतिवाय स्थितियों को स्वीकार कर ले। यह प्रथम अवस्था है।

दूसरी अवस्था—जब शांति सचमुच भंग हो जाय अथवा एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण करे तो परिपद भगड़ने वाले राज्यों को अपनी स्थायी शक्तें स्वीकार करने के लिए आह्वान कर सकती है किन्तु उस अवस्था में उन राज्यों के अधिकार तथा शक्तें अक्षुण्ण रहेंगे। उदाहरणार्थ—वह मांग कर सकती है कि सम्बन्धित दश अपनी सेनाएँ कथित स्थिति पर बुला लें या युद्ध विराम पर हस्ताक्षर करें। यदि एक या दोनों दल इस मांग को अस्वीकार कर दें तो यह भविष्य की कायवाही के लिए नोट कर लिया जायगा। (धारा ३६-४०)

तीसरी अवस्था—परिपद सदस्य राष्ट्र से आर्थिक प्रतिबंध करने—जिसमें रेल, डाक, समुद्र वायु, तार, रेडियो, तथा यातायात के अन्य साधनों की पूरी या आंशिक रोक या कूटनीतिक सम्बंध विच्छेद सम्मति हो, के लिए कह सकती है। (धारा ४१)।

चौथी अवस्था—अन्त में उपरोक्त तीनों उपायों के अप्रभावशाली होने पर परिषद् सैनिक कार्यवाही सैन्य प्रदक्षन, अवरोध, तथा वायु जल या स्थल मना का प्रयोग परिस्थिति अनुसार कर सकती है। धारा ४३ के अनुसार प्रत्येक सयुक्त राष्ट्र सच का सदस्य प्रतिज्ञा बद्ध है कि इस परिषद् के आह्वान पर सशस्त्र सैन्य सहायता तथा सुविधाएँ, जैसे माग अधिकार आदि, प्रदान करेंगे। ऐसे अवसर के लिए राष्ट्रीय वायु सेनाएँ सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए। जिससे कि सयुक्त राष्ट्र सच शीघ्रातिशीघ्र सैनिक कार्यवाही कर सके (धारा ४५)।

इस प्रकार सातवें अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा परिषद् यह निर्णय करती है कि किस स्थान पर शांति की खतरा है, कहा शांति भंग हो चुकी है, कहा आक्रमण हो रहा है और उसी के अनुसार उपाय करने का यत्न या सिफारिश करती है जिससे पुनः शांति स्थापित हो जाय और सुरक्षा बनी रह। सर्वप्रथम इस शक्ति का प्रयोग कोरिया में किया गया था। इससे पूर्व फिलीपीन्स, इटोनेशिया तथा काश्मीर के मामलों में बरल विराम संधि (Cease fire) तक सुरक्षा परिषद् की शक्ति कार्यान्वित हुई थी। मग भी यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि दोनों विपक्षी दल शांति पूर्ण ढंग से समझौता नहीं कर सकें तो ये शक्ति प्रयोग सुरक्षा परिषद् किस सीमा तक कर सकेगी। सुरक्षा परिषद् ही यह कार्य कर सकती है और उसी परिषद् में बड़ी शक्तियों को पूर्ण निपेधाधिकार है। जिसके कार्यान्वित होने पर कोई निर्णय बाँध नहीं होता। फिर भी प्राचीन लोग की अपेक्षा सयुक्तराष्ट्र सच अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली है, यह मतों का विषय है। डा० मुरे का कथन है कि नवीन सच में सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान इसके दात हैं जिसके द्वारा गान्धानिशीघ्र बड़ी कार्यवाहियाँ की जा सकती हैं। यह ही का विषय है।<sup>१</sup>

सुरक्षा परिषद् के अन्य कार्य भी महत्वपूर्ण हैं ऐसे 'याम क्षेत्र, जो सैनिक दृष्टि में महत्वपूर्ण माने गए हैं, उनका नियंत्रण व निरीक्षण भी सुरक्षा परिषद् करती है और सदस्यों को प्रवेश, निषेधन तथा निष्कासन भी, महा सभा, सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही करती है।

मतदान प्रणाली ( सुरक्षा परिषद् में )—इस परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों पर सुरक्षा परिषद् सात सदस्यों की स्वीकारात्मक मत से निर्णय करती है। तथा अन्य सब विषयों का निर्णय भी सात सदस्यों के स्वीकारात्मक मत में करती है परन्तु इन पाँचो स्थायी सदस्यों का सम्मिलित हुना अनिवार्य है। इन पाँचो स्थायी सदस्यों में से एक की भी सहमति न होना तो निर्णय नहीं लिया जा सकता। चाहे अन्य या सभी सदस्य एक मत हों परन्तु निर्णय बाँध नहीं कहा जा सकता। स्थायी सदस्यों का यह अधिकार दो बोटों (Veto) या निषेधाधिकार कहलाता है।

निवेधाधिकार—सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों का निवेधाधिकार राजकल चर्चा का विषय है। यह अधिकार पाँच बड़ी शक्तियों को इसलिये दिया गया था कि विश्व शांति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व प्रमुख रूप से इन्हीं पर रहेगा। अमेरिका के 'राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह प्रस्ताव रखा था और उसका दृष्टिकोण भी यही था कि जब तक ये शक्तियाँ सहयोग से कार्य करेंगी तब तक ही सुरक्षा और शांति सम्भव है। विरोध की अवस्था में विश्व शान्ति स्थापित नहीं रह सकती। भविष्य में छोटी शक्तियों के सहयोग से बहुमत बनाकर ये बड़ी शक्तियाँ परस्पर एक दूसरे को दबा न सकें, इसलिए इन्हें निवेधाधिकार दिया था। क्योंकि बड़ी शक्ति की इच्छा के विरुद्ध उन पर कोई निर्णय थोपना युद्ध को सीधा निमंत्रण देना होता है और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा सुरक्षित नहीं रह सकती। इसलिए ऐसे सचप और विवादों को दूर रखना तथा सम्मेलनों के मंच तक ही विरोध रोक रखना इस अधिकार का उद्देश्य था। कुछ विद्वानों के मतानुसार निवेधाधिकार को स्वीकार करना बुरा था और उसका प्रयोग उसमें भी बुरा बन गया। और आज सयुक्त राष्ट्र सच के समर्थकों के लिए यही प्रक्रिया एक भयंकर समस्या बन गया है। इससे सम्बन्धित धारा 27 राजकल सबसे अधिक विवादास्पद बनी हुई है। और जनता का ध्यान भी इस और अधिक है। "सुरक्षा परिषद् में निवेधाधिकार के प्रयोग या दुरुपयोग के कारण सयुक्त राष्ट्र सच के प्रति विश्वास में सबसे अधिक प्रति क्षति हुई है।" वास्तव में विश्व शांति की सुरक्षा के लिए यह प्रावधान रखा गया था परन्तु यही प्रावधान सबसे अधिक परिषद् को निष्क्रिय बना रहा है।

निवेधाधिकार का प्रयोग सबसे प्रथम रूस की ओर से भारम्भ हुआ जब रूस के हित और सयुक्त राष्ट्र के विधान में अंतर आने लगा और सन् 1951 तक अकेले रूस ने लगभग 40 बार इसका प्रयोग किया। अब भी रूस निवेधाधिकार का प्रयोग इस प्रकार करता है कि सुरक्षा परिषद् में कोई महत्वपूर्ण निष्णय नहीं लिया जा सकता। जिन अधिकार द्वारा सुरक्षा परिषद् प्रभावशाली सत्ता बनाई गई थी उसी के द्वारा यह सत्ता निष्क्रिय बन गई। कैंसी विडम्बना है। कई महत्वपूर्ण प्रश्न इसी स्थिति के कारण उपस्थित ही नहीं हो पाते। भारत का गोमा का प्रश्न इसी कारण सुरक्षा परिषद् में नहीं उपस्थित किया गया। इसी निवेधाधिकार के अनुचित प्रयोग के कारण महासभा ने "शान्ति के हेतु संगठन" प्रस्ताव पास किया तथा अन्तःकाल

\* Nothing has done more to lessen public Confidence in the United Nations than frequent use & abuse of the veto in Security Council N D Palmer & H C. Perkins — International Relations, P 1090,



धिकार का प्रयोग करेगा । सुरक्षा परिषद् का विश्व संगठन का प्राण कहा जा सकता है । इसलिए इसमें उत्पन्न रोग का निदान और उपचार ही बाध्यता है । न कि शक्त्यधिकार द्वारा किसी अंग को निष्क्रिय बनाने का प्रस्ताव । अतः निषेधाधिकार का संशोधन परमावश्यक है ।

### दो निषेधाधिकार ( Double Veto ) —

निषेधाधिकार का प्रयोग समुक्त राष्ट्र के विधान में साधारण तौर पर दिया जा चुका है । परन्तु इसका प्रयोग इतना महत्वपूर्ण हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसके दो स्वतन्त्र पक्ष बन गये । एक प्रक्रिया सम्बन्धी साधारण विषयों के सम्बन्ध में और दूसरा महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में । इस प्रकार निषेधाधिकार भी दो तौरों का कहा जाने लगा । कुछ लोगों ने तो इस भावना की स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है कि प्रारम्भिक प्रश्न के समय ही बड़ी शक्तियाँ अपने निषेधाधिकार के प्रयोग द्वारा यह नियम होने में कि प्रमुख प्रश्न प्रक्रिया सम्बन्धी है या महत्वपूर्ण, ठिनाई पदा कर सकते हैं और यह भी निषेधाधिकार का प्रयोग ही है । और वास्तव में यही प्रक्रिया निषेधाधिकार के दो रूप बना देती है । ऐसे प्रयोग साधारणतः द्वारा बहुमत की व्यवहृतना करते हुए कई बार किये गये । इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग उस समय किया गया जब चेकोस्लोवेकिया के ऊपर साम्यवादी आक्रमण किया गया था और चेकोस्लोवेकिया के प्रतिनिधि डा० जेन वापानेक की प्रायश्चित्त विधान सभा ने डबल वीटो का प्रयोग करते हुए सब बमेटो की स्थापना की व्यवस्था नष्ट कर दी । ( 24 मई सन् 1949 ) इस दो निषेधाधिकार के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् की कार्य प्रणाली में दोष की दुगुन हो गयी और कठिनाइयाँ भी बढ़ गई । परन्तु समुक्त राष्ट्र सभ के सामने कोई स्पष्ट माग नहीं है जिसका अनुसरण किया जा सके और निषेधाधिकार के दुरुपयोग बढ़ ही रहे हैं ।

### स्व-सुरक्षा ( Self Defence ) —

समुक्त राष्ट्र सभ के विधान की धारा 51 के अनुसार यदि किसी राष्ट्र पर आक्रमण होता है तो वह उस समय तक व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में आत्म सुरक्षा अधिकारी है जब तक सुरक्षा परिषद् पुन शान्ति स्थापना के लिए निश्चित कदम नहीं उठाती । ऐसी बाधवादी की सूचना तत्काल सुरक्षा परिषद् के पाँच अंगों तक पहुँची और इस बाधवादी से सुरक्षा परिषद् के अधिकारों में कोई अंतर नहीं आयेगा । आत्म सुरक्षा के अधिकार का प्रयोग केवल आत्मरक्षा के धर्म के लिए ही स्वीकार किया गया है अन्य किसी भी प्रकार की स्थिति में उचित नहीं माना गया । उदाहरणार्थ यदि किसी पड़ोसी राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र की संपत्ति पर सैनिक जमाव किया जाता है तो किसी भी मरकर स्थिति हो, दूसरे सुरक्षा के अधिकार का प्रयोग बाधकारी नहीं कहा जा सकता । केवल व्यक्ति की सूचना सुरक्षा परिषद् का ही हो सकती है । इस प्रकार

संयुक्तराष्ट्र सभ के सदस्य का शक्ति प्रयोग का अधिकार उपरोक्त एक स्थिति में प्रतिरिक्त किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं किया गया है। राष्ट्र सभ की अपेक्षा इस नवीन संगठन द्वारा स्वीकृत यह प्रावधान निम्नित रूप से एक ऐसा मुद्धार है जिसमें विश्व शान्ति की सुरक्षा अधिक मुमकिन और नियन्त्रित बन गई है।

**महासभा तथा सुरक्षा परिषद के सम्बन्ध** — उपरोक्त वर्णन द्वारा दोनों प्रमुख अंगों का सम्बन्ध ऐसा प्रतीत होता है जसा एक राज्य में कार्यवाहिनी और व्यवस्थापिका का होता है। सुरक्षा परिषद बहुत कुछ प्रणामन मस्था के रूप में है और महासभा उसकी व्यवस्थापिका के रूप में। संयुक्त राष्ट्र सभ का सम्पूर्ण कार्य क्षेत्र और मसल विषय जो विधान में वर्णित है महामभा के मामले ही प्रस्तुत होने हैं। जब कि सुरक्षा परिषद का मुख्य सम्बन्ध केवल उन्हीं प्रश्नों से है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थिति में बाधक या घातक सिद्ध हो सकने हैं। सुरक्षा परिषद की समस्त कार्यवाही की सूचना प्रतिवर्ष अपने प्रतिवदन द्वारा महामभा के मामले प्रस्तुत हानी है और महासभा में उस पर विचार और विवाद भी होता है परन्तु उस पर किसी प्रकार का आदेश अथवा उसमें बाँट। शोधन नहीं किया जा सकता जिससे महासभा की उच्चता और सुरक्षा परिषद की हीनता मिट्ट हो। अधिकतम प्रश्नों के निराकरण में साधारणतया महामभा और सुरक्षा परिषद मिल जुलकर ही काम करती हैं जस नए राष्ट्रों का प्रवेश, नए राष्ट्रों का निष्कासन, महामन्त्री की नियुक्ति, अन्तराष्ट्रीय यावार्थियों की नियुक्ति आदि।

इसके प्रतिरिक्त महामभा का अधिकार साधारणतया रूप में केवल एक बार होता है जब कि सुरक्षा परिषद लगभग एक स्थायी मो सस्था है जो निरन्तर कार्य में आ रही है। इन सस्थाओं के आकार में अंतर होने के कारण महामभा सभ का पारण कर लेती है और सुरक्षा परिषद एक कूटनीतिज्ञा की समिति का। महासभा के प्रतिनिधि सस्था होने के कारण "जनमत" का अधिक ध्यान रखती है। परन्तु सुरक्षा परिषद में इस पर ध्यान नहीं दिया जाता। यहाँ प्रत्येक समस्या का जमनिक पक्ष अधिक प्रभावपूर्ण समझा जाता है। फिर भी सन् १९५० के "शान्ति लिए संगठन" प्रस्ताव द्वारा यह सम्बन्ध बहुत मजोदित हो गया है। अब महासभा और अधिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग सम्भव हो गया है, परन्तु विश्व शान्ति पर अतारा कम नहीं हो पाया। अतः यह कहा जा सकता है कि सुरक्षा परिषद की पनता के मार्ग में कई बाधाएँ होती हुए और महामभा का कार्य क्षेत्र विस्तृत होते हुए, दोनों सस्थाओं में सुरक्षा परिषद अधिक शक्ति शाली, महत्त्वपूर्ण और प्रणामनीय सस्था हो बनी हुई है और बनी रहेगी।

**सुरक्षा परिषद की सफलताएँ** — संयुक्त राष्ट्र सभ के समस्त महत्त्वपूर्ण कार्य सुरक्षा परिषद द्वारा किए जाते हैं और तत्सम्बन्धी निराकरण या तो स्वयं ही करती हैं अथवा महासभा की सहमति में करती हैं। परन्तु उन्हीं कार्यवाहिनी करने का



परन्तु यूनान द्वारा इस बात का विरोध किया गया तब सुरक्षा परिषद ने इस विषय पर ध्यान नहीं दिया। इससे विपरीत पुन यूनान ने यह आपत्ति सुरक्षापरिषद के सामन रखी कि साम्यवादी राष्ट्रा को हमारे यहाँ के गोरीनाम्ना की सहायता नहीं करनी चाहिए। इस पर एक जांच आयोग की नियुक्ति की गई जिसने स्थिति का अध्ययन कर कुछ निष्कारणों को जो सुरक्षा परिषद ने भी स्वीकार करली। २७ मई सन् १९४७ की इस आयोग रिपोर्ट में यह बताया गया है कि गोरीनाम्ना को साम्यवादी सहायता पड़ोसी राष्ट्रा से प्राप्त होती थी। इस रिपोर्ट में यह भी सुझाव दिए गए कि यूनान के सम्बन्ध इन तीनों पड़ोसी राष्ट्रो से अच्छे रहने चाहिए। सीमा नियमन आदि के लिए इन राष्ट्रो को नए समझौते करने चाहिए। सीमा संबंधी विवादों के निर्णय के लिए कम से कम दो बंध तब एक आयोग स्थापित रहना चाहिए, आदि आदि। इसी के साथ यूनान की आर्थिक सहायता का भार संयुक्त राज्य अमेरिका ने लिया और इस प्रकार यूनान की स्थिति को नियंत्रण में रखा।

इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों तथा अनेक स्थानों पर सुरक्षा परिषद सफल रही है। बर्लिन आर्थिक प्रतिबन्ध (Blockade) फिलिस्तीन, सीरिया, लेबनान, ईरान—तेलविवाद, कोफू—जल मार्ग विवाद, कोरिया, भूलजीरिया का प्रश्न, काश्मीर की समस्या, स्वज नहर प्रश्न, हंगरी टिस्ट, दक्षिणी अफ्रीका मिश्र, बर्मा, मोरक्को तथा ट्यूनिशिया का प्रश्न आदि अनेक समस्याओं का सुन्दर और समायोजित हल एक समयोजित आतिमय उपाय, सुरक्षा परिषद की सफलता के सुस्पष्ट प्रमाण हैं।

**काश्मीर समस्या**—सन् १९४७ के स्वतंत्रता अधिनियम के पारित होने के पश्चात् भारतवर्ष की समस्त देशी रियासतों की स्थिति एक सी थी और उन पर स ब्रिटिश सत्ता का अधिकार मिट चुका था। वे अपना भविष्य निर्धारित करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र थीं। उन्हें यह अधिकार था कि वे भारत अथवा पानिस्तान के साथ स्वेच्छा से मिल सकती थीं। काश्मीर के शासक को भी अपने राज्य की सर्वभारिक स्थिति निर्धारित करने की स्वतंत्रता थी।

कुछ समय तक काश्मीर सरकार पानिस्तान के साथ भी अपने यथावत् सम्बन्ध रखना चाहती थी। किन्तु भारतवर्ष के साथ स्वाभाविक रूप से सम्बन्ध अच्छे रहने के कारण पाकिस्तान के द्वारा व्यवहार में अन्तर आने लगा जिसके कारण काश्मीर सरकार पाकिस्तान की आर से अधिक आशावादी नहीं रही। इस अवसर पर पाकिस्तान ने काश्मीर पर पूर्ण आर्थिक प्रतिबन्ध (Full Blockade) लगा दिये और सितम्बर सन् १९४७ का उत्तर पश्चिमी सीमात्तर प्रदेश से लेकर काश्मीर की सीमा तक रूट खराद, हत्या आदि, उपद्रव भी आरम्भ हो गये। इस पर काश्मीर सरकार ने पाकिस्तान की सरकार को अपनी आपत्तियाँ उपस्थित की परन्तु पाकिस्तान सरकार ने इन पर कोई ध्यान नहीं दिया। आक्रामक बग बड़ी सख्या में संगठित था। इसलिए काश्मीर के कुछ प्रदेश पर आधिपत्य भी कर लिया और श्रीनगर पर अधिकार करने का भय

भी निकट दिखाई दिया। यह आक्रमण स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की सहायता में मंचा लिये हुआ था। इसलिए काश्मीर की स्थिति बड़ी कठिन और संकटमय बन गई। बिना किसी बाहरी सहायता के काश्मीर की रक्षा असंभव भी थी। अतः काश्मीर के शासक ने भारत सरकार से सैनिक सहायता के लिए प्रार्थना की। परन्तु यह काश्मीर का आन्तरिक प्रश्न होने के कारण भारतवर्ष का उस समय तब हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था जब तक काश्मीर राज्य भारतीय संघ में सम्मिलित नहीं हो जाता। २१ अक्टूबर सन् १९४७ को काश्मीर महाराजा को यह ज्ञान करा दिया गया कि भारतीय संघ में सम्मिलित हुआ बिना सैनिक सहायता संभव नहीं है। इस कठिनाई का दूर करने के लिए २६ अक्टूबर सन् १९४७ को महाराजा ने काश्मीर राज्य का भारतीय संघ में सम्मिलित होना का प्रवेश पत्र उपस्थित कर दिया। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अनुसार राज्यों के राजाघ्रा का किसी भी संघ में सम्मिलित होने का पूर्ण अधिकार था इसलिए भारतवर्ष ने काश्मीर महाराजा द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रवेश पत्र (Instrument of Accession) निर्यात्मक रूप में स्वीकार किया जा बध तथा नियमों के अनुसार था। २७ अक्टूबर सन् १९४७ को काश्मीर भारतवर्ष का अभिन्न अंग स्वीकार करते हुए सम्मिलित कर लिया गया। परन्तु सर्वधानिक नहीं बल्कि राजनतिक कारणों से स्वयं यह प्रस्ताव रखा कि काश्मीर का प्रवेश पूर्ण शान्ति स्थापित होने पर जनमत द्वारा भी पुष्ट कर लिया जाय। परन्तु यह निर्णय काश्मीर के भारतीय संघ में मिल जाने के बाद हुआ। तत्पश्चात् ३० दिसम्बर १९४७ का भारतवर्ष ने संयुक्त राष्ट्र संघ विधान की धारा ३५ के अनुसार यह विवाद सुरक्षा परिषद में भेजा। और यह अध्यास की कि सुरक्षा परिषद पाकिस्तान का यह आदेश दे कि वे सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार की सहायता जम्मू और काश्मीर राज्य पर ही रहे आक्रमण में देना बन्द कर दें। और आक्रमकों को अपने राज्य में से किसी भी प्रकार के प्रवेश आदि की सुविधा न दें। परन्तु पाकिस्तान ने यह झूठ आरोप बताने हुए भारतवर्ष के विरुद्ध आपत्तिपूर्ण उपस्थित कर दी।

अप्रैल सन् १९४८ में सुरक्षा परिषद ने शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिए एक आयोग की स्थापना की जिसने १३ अगस्त सन् १९४८ को विराम पत्र तथा शांति समझौता का प्रस्ताव रखा जिसे दोनों राज्यों की सरकारों ने स्वीकार किया और १ जनवरी १९४९ की अर्धरात्रि तक कार्यावित हुआ। इस समझौते के एक स्वरूप आयोग ने अपनी जायबाही में उसाह लिया और नई नई योजनाएँ उपस्थित की। तदनुसार यह प्रस्ताव भी रखा गया कि जम्मू और काश्मीर राज्य का भारत या पाकिस्तान में प्रवेश वहाँ की जनता के मुक्त तथा निष्पक्ष जनमत निर्णय द्वारा निर्धारित किया जाय और अमेरिका की उस सला के अधिकांश एडमिरल निमिट्ज का संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिवों द्वारा जनमत निर्णय प्रशासक (Plebiscite Administrator) निर्वाचित किया गया। और भारत, पाकिस्तान तथा काश्मीर ने भी इस

नियुक्ति में अपनी सहमति दी थी। किन्तु धीरे-२ पाकिस्तान ने तथाकथित आजाद काश्मीर सेना का अपनी ही सेना का भग्न बताया और संयुक्त राष्ट्र संघ आयोग से इस विवाद का निर्णय होने तक किसी भी प्रकार की जायजाही बंद करने अथवा सैन्यों हटाने के लिए स्वीकृति नहीं दी। यह व्यवहार पाकिस्तान की ओर से १३ अगस्त सन् १९४८ के उस प्रस्ताव के विरुद्ध है जो भारत और पाकिस्तान दोनों राज्यों ने स्वीकार कर लिया था।

संयुक्त राष्ट्र के भारत पाकिस्तान आयोग ने सारा प्रश्न पुनः दिसम्बर सन् १९४९ का संयुक्त राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित कर दिया और एक मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए सिफारिश की। किन्तु स्थिति में कोई सुधार न होने के कारण, सुरक्षा परिषद ने आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय के 'यायायोग' एवं विधिसाक्षन श्री सर ओवेन डिकसन का मध्यस्थ के पद पर नियुक्त किया। परन्तु वे भी सफल नहीं हो सके। श्री डिकसन ने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि काश्मीर प्रदेश में हाकर पाकिस्तान की राज्य सेनाएँ निरन्तर आवागमन करती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधान के सबका विरुद्ध है और इस प्रकार पाकिस्तान काश्मीर में आक्रामक है। ३० अगस्त सन् १९५१ की सुरक्षा परिषद ने उत्तर केरोलीना विश्वविद्यालय के सभापति डा० फ्रेड्राहम को काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र प्रतिनिधि के पद पर नियुक्त किया। हर प्रकार प्रयत्न करने पर भी डा० फ्रेड्राहम सफल नहीं हो सके। दोनों राज्यों में प्रत्येक की स्थिति काश्मीर के सम्बन्ध में क्या है, इस विषय पर भेद बराबर बना रहा। वास्तव में पाकिस्तान का यह दुस्ताहस है कि वह काश्मीर में भारत की भाँति अपनी स्थिति सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करता है। जब काश्मीर भारतीय संघ में उसी प्रकार प्रविष्ट है। चुका जैसे अन्य भारतीय देशों राज्य तब पाकिस्तान का इस दिशा में प्रत्येक व्यवहार अवध है और आक्रामक का कार्य है।

६ नवम्बर सन् १९५२ को इंग्लैंड और अमेरिका की ओर से सुरक्षा परिषद में पुनः एक प्रस्ताव रखा गया कि दोनों राज्यों अपनी अपनी सेनाओं की अधिकतम संख्या निर्धारित कर लें परन्तु यह प्रस्ताव काश्मीर अर्थात् भारत की सावभौमिकता के विरुद्ध था, अतः इसका स्वागत नहीं हुआ।

वास्तव में काश्मीर की वैधानिक स्थिति बहुत स्पष्ट है। इस विषय में विचार भेद नहीं हो सकता कि भारतीय संविधान के अनुसार काश्मीर भारत का अभिन्न अंग बन चुका है। इसके अनिवार्य काश्मीर विधान सभा ने निष्ठात्मक रूप से अपने राज्य को भारतीय संघ का अंग बनाना निर्धारित कर दिया। बख्शी गुलाममुहम्मद के गद्दा से यह स्थिति और भी स्पष्ट हो गई है कि ६ वर्ष पूर्व भारत ने स्वेच्छा से पाकिस्तान के सामने जनमत निर्णय का प्रस्ताव रखा था किन्तु पाकिस्तान ने उसका उपयोग नहीं किया। ऐसी स्थिति में काश्मीर के नागरिक कहीं तक सदेह की स्थिति में रहकर अपनी उन्नति का रोके रहते। अतः उन्होंने भारत के साथ अपना सम्बन्ध निष्ठात्मक रूप से स्थापित कर सदा के लिए इस समस्या का अन्त कर दिया।

फरवरी सन् १९५७ में सुरक्षा परिषद ने पुन काश्मीर समस्या पर विचार आरम्भ किया और औपचारिक रूप में चार शक्तियों की ओर से एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसके द्वारा उस माह के सुरक्षा परिषद् अध्यक्ष, स्वीडन के श्री जारिंग स. य. प्राथना की कि वे दोनों विवाद ग्रस्त राज्या की सरकारों से सम्भव स्थापित करें और संयुक्त राष्ट्र मेना का काश्मीर में मेज कर सनिक करण का अंत करें। भारतीय प्रतिनिधि श्री० बी० के० मेनन ने संयुक्त राष्ट्र सघ की इस शक्ति के लिए आपत्ति की और यह स्पष्ट किया कि भारत वष किसी भी परिस्थिति में विदेशी सनामा का अपनी भूमि में प्रविष्ट नही होने देगा। इस अवसर पर कोलम्बिया के प्रतिनिधि ने काश्मीर की सावभौमिकता तथा पाकिस्तानी सेना की काश्मीर में अनियमित उपस्थित, जिस संयुक्त राष्ट्र पहले स्वीकार कर चुका था की आर ध्यान दिलाया और अपने सौभत प्रस्तुत किये। साविट सघ के प्रतिनिधि ने काश्मीर म जनमत का प्रश्न ही अप्रासंगिक बताया और कहा कि यह विषय तो पूर्ण रूप से निपटाया जा चुका। अब काश्मीर भारत का अभिन्न अंग है।

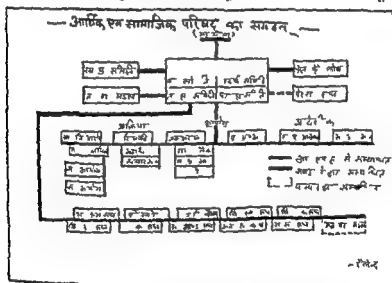
इस विवाद के बाद उही चार शक्तियों ने ( ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया क्यूबा और अमेरिका ) दूसरा प्रस्ताव रखा जिसमें संयुक्त राष्ट्र सेना का काश्मीर में जनेका उल्लेख नही था। सुरक्षा परिषद ने २१ फरवरी सन् १९५७ को यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। और श्री जारिंग (तत्कालीन सुरक्षा परिषद् अध्यक्ष) का काश्मीर जान और भारत तथा पाकिस्तान के बीच किसी भी ऐस सम्भव समझौते का प्रयत्न करने के लिए प्राथना की जो उनके परस्पर सघष का दूर कर सकें। और १५ अप्रैल सन् १९५७ प्रति बदन प्रस्तुत करने की अंतिम तिथि भी निश्चित कर दी।

**जारिंग प्रतिवेदन**—उपरोक्त प्रस्तावानुसार श्री जारिंग न भारत और पाकिस्तान की ओर प्रस्थान किया। और विचार विमर्श आरम्भ किया। परन्तु ३० अप्रैल के उनके प्रतिवेदन में काश्मीर समस्या पर व कोई स्पष्ट सुझाव नही द सके। उन्होंने यह विचार व्यक्त किये कि दोनों राज्य अपने अपने वादों का बलपूर्वक प्रस्तुत करते हैं। इसी बीच काश्मीर प्रश्न की राजनैतिक, आर्थिक और सैनिक स्थिति में भी अन्तर प्राप्त जा रहा है। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि काश्मीर सनस्या के सम्बन्ध म व स्वयं कोई सुझाव नही द सके परन्तु यह निश्चित है कि दोनों राज्या में वर्तमान गतिराध होने के अतिरिक्त भी किसी न किसी प्रकार का हल प्राप्त करने के लिए दोनों दन उन्मुख हैं। उपरोक्त रिपोर्ट स यह स्पष्ट होता है कि जनमत रिणय की बात का उन्होंने अब अनेक समस्याओं का ज म देने वाला विषय बनाया। विशेष तौर पर इसलिए कि पाकिस्तान के नये सैनिक समझौता तथा काश्मीर के नागरिका का जनमत निर्णय के विरुद्ध होन व कारण यह स्थिति वास्तव में बन गई है।

इस सम्बन्ध म भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल ने यह व्यक्त किया है कि चाहे कुछ भी हो जाय वे भारत का एक इच्छा भूमि पर भी विदेशी सनामा का प्रयत्न

नहीं होने देंगे। तथा सुरक्षा परिषद का ऐसा कोई भी प्रस्ताव, जो काश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण का विस्मृत करता है भारत को स्वकाय नहीं हो सकता। किसी भी परिस्थिति में भारतवर्ष, पाकिस्तान के आक्रमण का सहायता या सुरक्षा देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घा-घनी का नहीं सहेगा, इस प्रकार काश्मीर समस्या भारतवर्ष न अपनी न्यायप्रियता और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार परा नतिकता के साथ भूलभा ली है। अब केवल ऐसी विदेशी शक्तियाँ इस प्रश्न को बराबर बनाये रखना चाहती हैं जिनके निहित हित पाकिस्तान के सघर्ष रत रहने से ही पूरा होते हैं। वस्तुतः काश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और अब समस्या जसी बोर्ड बात नहीं है। राजनैतिक, आर्थिक, साम्प्रतिक तथा अन्य दृष्टियों से काश्मीर और भारत प्राचीन काल में एक थे, और एक ही तथा भविष्य में भी एक रहेंगे।

(३) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद —संयुक्त राष्ट्र सच के रिघान को धारा ६१ से ७२ तक के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों में शान्ति तथा मित्रतापूर्ण व्यवहार



और परस्पर कल्याण के लिए आर्थिक तथा सामाजिक परिषद का निर्माण किया गया है। यह सच है कि शान्ति और सुरक्षा केवल संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रस्तावित सुभावो और उनके पालन पर ही निर्भर नहीं है बल्कि उसमें अधिक आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य विषयों के उचित सन्तुलन पर भी आधारित है। इसी उद्देश्य से महासभा के अधिकारों के अन्तर्गत इस परिषद की स्थापना की गई। इस परिषद में महासभा द्वारा निर्वाचित संयुक्त राष्ट्र के अठारह सन्स्य होते हैं। जिनमें ६ सदस्य प्रतिवर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए चुन जाते हैं। रिटायर (Retire) होने वाले सदस्य तुरन्त पुनर्निर्वाचन के लिए योग्य माने गए हैं। मसूर के दीवान श्री रामाम्बामी मुदालियर मई १९४६ में इसके प्रथम अध्यक्ष चुन गए थे।



## उद्देश्य एवं कार्य—

उपराक्त सस्या के उद्देश्य मुख्य रूप से निम्नलिखित माने गये हैं—(१) ससार का अधिक गमदि दानी, रपायी और न्याय परायण बनाना (२) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सामाजिक सागृति तथा पिदा एवं स्वास्थ सम्बन्धी तथा इसी प्रकार के अन्य विषय का अध्ययन करना तथा उनके लिए प्रतिबन्ध प्रस्तुत करना और महासभा सयुक्त राष्ट्र सदस्य तथा विविष्टममितियों का नवीन मुभाव देना (३) ममस्त मानव मात्र के लिए मौलिक मानव अधिकारा एव मूल स्वतन्त्रताका का अध्ययन करना और इन पर अपना प्रतिबन्ध तथा मुभाव प्रस्तुत करना । (४) महासभा के सम्मुख इही विषय के सम्बन्ध में नियम बनाने के लिए मसयिदे तैयार कर, उपस्थित करना । तथा (५) अपने क्षेत्र के विषयों से सम्बन्धित अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना और विचार विमर्श के बाद निणयों को सन्न भजना ।

आर्थिक तथा सामाजिक परिपद उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए मन्व वत्तस्थ रहती है । विविष्ट समितियों (Specialized Agencies) के कार्य में सामञ्जस्य करत हुए विभिन्न राष्ट्रों का परस्पर सहयोग प्राप्त करना इस सस्या का मुख्य कार्य है । इन्ही विभिन्न समितियों में प्रतिबन्ध समय पर प्राप्त करना तथा उन पर कुछ विवचना के साथ महासभा के ममस्त उपस्थित करना इस परिपद का दूसरा मुख्य कार्य है । इसके अतिरिक्त यही परिपद आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में आवश्यकतानुसार आयागा की निपुत्ति करती है । मानव अधिकारा का सम्मान बढ़ाने के लिए समय समय पर सयुक्त राष्ट्र सभ के प्रमुख अगों के पास सिफारिषें भजती है । विशेष क्षेत्रों की प्रमुख समस्याका का हल करने के लिए प्रादेशिक आर्थिक आयोग—भी निपुत्त करती है जिसने ममस्याओं का हल सरलता से हा सक ।

इस परिपद में मतदान का साधारण पद्धति है । प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त हाता है । बहुमत से निणय लिय जाते हैं । इस परिपद के तत्वाधान में नौ कार्यकारा आयोग स्थापित किये गये हैं । जो इस प्रकार हैं —

मानव अधिकार आयोग, महिला प्रतिष्ठा आयाग, सामाजिक समस्या आयाग, आर्थिक तथा वृत्ति (Employment) आयोग, यातायात और सचार आयोग सांख्यिकी आयोग, नलीली औपधि आयोग आदि । इनो परिपद के अन्तगत विविष्ट सस्याए (Specialized Agencies) भी कार्य करती हैं । जा मुख्य रूप से निम्न लिखित हैं —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सभ (I L O) (२) खाद्य तथा कृषि सभ (F A O)  
(३) सयुक्त राष्ट्रीय नैसर्गिक वैज्ञानिक तथा सांख्यिक सभ (यूनेस्को) (४) अन्तर्राष्ट्रीय पुननिर्माण तथा विकास बक (I B R D) (५) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I N F)  
(६) विद्युत डाक सभ (U P U) (७) अन्तर्राष्ट्रीय नार सचार सभ (I T U)

(८) विश्व स्वास्थ्य सघ ( W H O ) (९) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी सघ ( I R O ) (१०) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उद्बुधन सघ ( I C A O ) तथा इनके प्रतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सवाहन सघ ( J T U ) विश्व अन्तरिक्षीय सघ ( W M O ), अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सघ ( I T O ) आदि कई सस्याएँ हैं। इनमें से कुछ सस्याएँ तो मयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना के पहले से ही कार्य कर रही हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ आदि। परन्तु इन सब सस्याओं की प्रगति का विवेचन मयुक्त राष्ट्र सघ ने ही किया। नये विधान के अनुसार यह मयुक्त राष्ट्र सघ विशेष समस्याओं तथा विषयों के लिए नई नई सस्याओं की स्थापना का प्रारम्भिक कार्य इसी आर्थिक और सामाजिक परिपद के द्वारा करता है। अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में यह छाट-२ प्रायाग और सघ, विशेषण के समान हैं और अपनी सम्मति परिपद का देने दे। विषय सस्याओं के प्रतिनिधि आर्थिक और सामाजिक परिपद की बैठका में भाग ले सकते हैं परन्तु इन्हें मतानुसार प्राप्त नहीं है। परिपद पर सरकार सस्याओं से परामश प्राप्त करने की व्यवस्था भी कर सकते हैं। इस प्रकार मयुक्त राष्ट्र के चाटर (प्राज्ञापत्र) निर्माताओं ने, जिन्हें आर्थिक तथा सामाजिक कुप्रबन्ध म युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना अनुभव होती थी, मनुष्य मात्र का इस आवश्यकता म मुक्त करने का विचार किया और वास्तव में इन समस्याओं का हल विश्व में युद्ध का सम्भावनाओं का दूर ल जाता है।

मयुक्त राष्ट्र सघ ने इन विभिन्न समस्याओं के द्वारा विश्व में भूख बीमारी, निधनता और मजानता का दूर करने का प्रयत्न किया है। अविकसित तथा रिछड़ हुए राष्ट्रों की म्हायता के लिए तकनीकी सहायता योजना आरम्भ की। इस योजना का उद्देश्य कृषि, उद्योग, शिक्षा तथा स्वास्थ्य में विकास करना है। व्यापारिक गतिरोधों म विश्व व्यापार व्यापारिक व्यवस्था लाने का प्रयत्न किया गया है। उपराक्त सस्याओं में से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ तथा यूनेस्को आदि कुछ संगठनों का विस्तृत अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। इसलिए ऐसी कुछ समस्याओं का बरण हम नीचे करते हैं।

### (अ) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ ( I L O ) —

निगिष्ट सस्याओं में से यह सबसे प्राचीन सस्या है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित सस्याओं में से यह एक अवशिष्ट सस्या है। इस सघ के विधान म जो १९१९ में बना था, यह घोषित किया गया है कि सामाजिक न्याय के आधार पर ही विश्व में शांति स्थापित की जा सकती है। मयुक्त राष्ट्र सघ में इस सस्या का भी हतीय रूप एक विषय स्थान रखता है। इस सघ में श्रम के प्रतिनिधि और प्रबन्ध प्रतिनिधि (Management) एवं सरकार के प्रतिनिधि मिलकर नीति निर्धारित करते तथा नियम बनते हैं। इस सघ के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं, जो सन् १९४४ के फिनाडेन किया सम्मेलन में घोषित किये गये हैं।

(१) श्रम कौशल वस्तु नहीं है। (२) किसी भी स्थान का निधनता श्रम सन्धानों की समृद्धि के लिये खतरा है। (३) निरन्तर प्रगति के लिए अभिव्यक्ति और समुदाय की स्वतंत्रता आवश्यक है तथा। (४) आवश्यकता के विरुद्ध युद्ध प्रत्येक राष्ट्र में प्रचलित रूप से चलना चाहिए। इनके अतिरिक्त निम्न उद्देश्यों की पूर्ति भी इस श्रम सन्ध न अपना उद्देश्य निर्धारित किया है —

(१) पूर्णवृत्ति मजदूरी तथा पर्याप्त वेतन (२) सामाजिक सुरक्षा का विस्तार (३) पर्याप्त भोजन, वस्त्र और निवास (४) सामूहिक रूप में विनियमों का अधिकार (५) अवसर की समानता तथा स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के सामान्य उपाय।

यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सन्ध अपने सदस्य राज्यों का कई प्रकार से मदद पहुँचाता है। शिष्ट मण्डल भोजना, श्रमिकों के शिक्षण की व्यवस्था करना सामाजिक विषयों पर शोध की व्यवस्था, आर्थिक प्रतिक्रिया तैयार करना, साक्ष्यकी तथा पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित करना इसके मुख्य कार्य हैं। संयुक्त राष्ट्र सन्ध के तकनीकी कार्य में भी सहायता पहुँचाता है तथा विभिन्न राष्ट्रों को जीवन स्तर बढ़ाने में सहायता करता है। यह श्रमिकों की शिक्षा द्वारा मालिकों को परामर्श द्वारा और सरकारों की नीति के सम्बन्ध में सभावा द्वारा उत्पादन की वृद्धि और सम्बन्धों को सुधारने में सहायता करता है। श्रमिकों की जनसंख्या को उचित स्थानों पर भेजने तथा उनकी व्यवस्था का भी निरीक्षण करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सन्ध तीन मुख्य अंगों द्वारा चलाया गया कार्य सम्पादित करता है।

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference), (२) प्रशासक संस्था (Governing Body) (३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office) (इस कार्यालय का अध्यक्ष प्रधान निर्देशक (Director General) होता है।

(ब) यूनेस्को — [United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation (UNESCO)] यह संस्था भी संयुक्त राष्ट्र सन्ध की प्रमुख संस्था है। विश्व संगठन का सफल बनाने में तथा लोक प्रियता एवं स्थिति प्राप्त करने में यह संस्था अग्रणी है। इस संगठन का उद्देश्य है कि 'संयुक्त राष्ट्र सन्ध के संविधान द्वारा स्वीकृत विश्व के नागरिकों के लिए, बिना जाति, रंग, भाषा अथवा धर्म का भेद किए हुए, विज्ञान, विज्ञान एवं सभ्यता के माध्यम से, न्याय विधिमान्यता (Rule of law) तथा मानव अधिकार एवं मूल स्वतंत्रताओं के सम्मान की अभिवृद्धि के लिए, विभिन्न राष्ट्रों का सहयोग और समन्वय लेकर शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में योग देना।'

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ की भांति इस संस्था का संगठन भी व्यापक तथा प्रभावशाली है। इसमें भी तीन अंग हैं — (१) महा सम्मेलन (General Conference) (२) कार्यपालिका मण्डल (Executive Board) तथा (३) सचिवालय (Secretariat)।

४—महासम्मेलन—इस संस्था के ६८ सदस्यों में से प्रत्येक राष्ट्र का एक प्रतिनिधि इस सम्मेलन में सम्मिलित होता है। महासम्मेलन में एक वर्ष में दो अधिवेशन होते हैं जिनमें यह अपना नीति तथा कार्यक्रम निर्धारित करता है तथा अपनी कार्यपालिका का निर्वाचन करता है।

५—कार्यपालिका मण्डल—इसमें २० सदस्य होते हैं। यह मण्डल वर्ष में कम से कम दो बार बैठक करता है तथा महासम्मेलन द्वारा निर्धारित कार्यक्रम का पालन करता है।

६—सचिवालय—यह एक विशाल कार्यालय है जिसके अध्यक्ष, प्रधान निर्देशक (Director General) होते हैं। उनके निरीक्षण में विश्व भर के विभिन्न राष्ट्रीय व लोक कार्यालय में काम करते हैं। प्रधान कार्यालय पेरिस में स्थित है। इसमें मुख्य निम्न ६ विभाग हैं। (i) शिक्षा, (ii) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences), (iii) सामाजिक विज्ञान Social Sciences, (iv) सांस्कृतिक कार्य (Cultural Activities), (v) जन संचार (Mass Communication), तथा (vi) तकनीकी सहायता (Technical Assistance)

इस संस्था का मुख्य कार्यक्रम आठ विभिन्न शीपका में विभाजित किया जा सकता है — (१) शिक्षा (२) प्राकृतिक विज्ञान (३) सामाजिक विज्ञान (४) सांस्कृतिक कार्य (५) व्यक्तियों का आदान प्रदान (६) जन संचार (७) पुनर्वास और (८) तकनीकी सहायता।

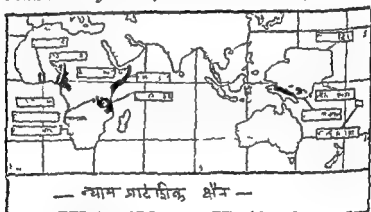
उपरोक्त विभिन्न शीपका में से शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को “मौलिक शिक्षा” अथवा “सामुदायिक विज्ञान” के नाम से कार्य चलाता है और इसके अन्तर्गत जनता को अपना स्वास्थ्य, भोजन, उपज तथा जीवन स्तर सुधारन का ज्ञान प्रदान करता है। अध्ययन के लिए निरक्षर नागरिका को वसुमाला के ज्ञान के साथ २ स्वास्थ्य, कृषि तथा गृह सम्बन्धी अन्य व्यवस्था के लिए भी प्रारम्भिक ज्ञान देने की व्यवस्था करता है। विज्ञान के क्षेत्र में यूनेस्को और भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। विश्व में विज्ञान के विशेषज्ञों द्वारा जो भी नये प्रयोग अथवा योजनाएँ चलाई जाती हैं उनका ज्ञान सर्वत्र उपयोगी एवं उपलब्ध बनाना इसका मुख्य काम है। इसके अतिरिक्त रेगिस्तानों में गोप्य कार्यालय के प्रसार एवं विकास का कार्य भी यह संस्था प्रगति से कर रहा है। यहाँ इस प्रकार का काम हो रहा है, वहाँ प्रोत्साहन देना तथा नई २ ऐसी समस्याओं के अध्ययन की व्यवस्था करना इसी संस्था का काम है। सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में भी गोपराय का प्रोत्साहन देना तथा विभिन्न जानियों तथा राष्ट्रीयों में निष्ठावाद अथवा

असत्य धारणाओं को दूर करना भी इसी सस्था का कार्य है । उदाहरणार्थ औद्योगीकरण का नाभरिको के जीवन पर क्या प्रभाव होता है यह यूनेस्को के अध्ययन का विषय है । सांस्कृतिक क्षेत्र में तो विभिन्न कलाएँ जैसे नृत्य, नाटक, संगीत चित्रकला, वास्तुकला, साहित्य, दर्शन आदि सब इसके सम्बन्ध के विषय हैं ।

उपरोक्त कार्यक्रम वास्तव में विभिन्न राष्ट्रों के अराजनतिक जीवन क्षेत्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है और राजनैतिक क्षेत्र के विवाद और सघर्षों के प्रतिरिक्त भी इस क्षेत्र में परस्पर सहयोग सुलभ है और वाछनीय भी । इसलिए यह सस्था अपन कार्य क्रम में बहुत सफल हो रही है ।

### (४) सरक्षक परिषद (Trusteeship Council) —

प्रथम विश्व युद्ध के बाद विश्व के पिछड़े हुए राष्ट्रों की सुरक्षा के हेतु मण्डल प्रणाली (Mandate System) की स्थापना की गई थी, परंतु राष्ट्र सभ की



मण्डल प्रणाली भी अधिक सफल नहीं हुई । उस अनुभव के आधार पर द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पिछड़े हुए राष्ट्रों के कल्याण के लिए सुरक्षा पद्धति अपनाई गई है । तदनुसार समुक्त राष्ट्र सभ के विधान में अविवक्षित तथा आधीन व्यक्तियों के कल्याण तथा विकास और स्वायत्त शासन की ओर उनकी उत्तरात्तर उन्नति के लिए अग्रसर हो रहने की व्यवस्था करना, विश्व के उन्नत राष्ट्रों ने अपना वक्तव्य स्वीकार किया है । यह प्रणाली उन प्रदेशों पर लागू होती है जो पहले राष्ट्र सभ (लीग) के गारमनादेन के अधीन कर लिए गये थे, जो द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् दातु में निष्पन्न हुए तथा वह प्रदेश जो स्वयं सुरक्षक परिषद के अन्तर्गत आ गए हैं । वह देश जो समुक्त राष्ट्र सभ का सदस्य हैं उस ट्रास्टीशिप कौंसिल से शासित नहीं हो सकते हैं । इस प्रणाली का प्रचलित करने के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं —

(क) आन्तरिक शांति व सुरक्षा का अग्रसर करना ।

(ख) न्याय क्षेत्र (Trust Territory) के निवासियों का स्वराज्य की ओर अग्रसर करना

(ग) मानव अधिकारों के लिए सम्मान की वृद्धि करना और विश्व में पारस्परिक सहयोग को मान्यता देना तथा

(घ) "यायिक समानता को प्रतिष्ठित करना ।

सुरक्षा परिषद में वे लोग सम्मिलित हैं जो सुरक्षण प्राप्त प्रदेशों के शासक हैं, सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य तथा जो महासभा द्वारा अपने सगठन सदस्यों में से तीन वर्ष की अवधि के लिए इस परिषद की सन्स्यता के लिए चुने जाते हैं ।

महासभा केवल उतने ही सन्स्य निर्वाचित करेगी जितने सुरक्षण प्राप्त प्रदेशों का शासन की सत्ता में से सुरक्षा परिषद के स्थायी सन्स्य को कम कर देने से शेष रहते हैं । इस सत्ता के मुख्य कार्य महासभा के अन्तर्गत ही सम्पादित होते हैं । प्रशासकों द्वारा प्रस्तुत प्रतिबद्धता पर विचार उपस्थित प्रार्थना पत्रों की स्वीकृति तथा प्रशासकों से सम्पन्न स्थापित करने हुए उनकी परीक्षा करना विभिन्न सुरक्षित क्षेत्रों का समय २ पर निरीक्षण करना, सुरक्षण सम्बन्धित समझौतों के अनुसार वायव्यवाही करना आदि इस सत्ता का कार्य है । प्रत्येक सुरक्षित क्षेत्र के निवासियों ने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा क्षेत्रों में कितनी प्रगति की है, इस सम्बन्ध में प्रश्नावली तैयार कर पूरी जानकारी करना भी महत्वपूर्ण कार्य है । ऐसी प्रश्नावलियाँ, महासभा के सम्मुख की जाने वाली रिपोर्टों का मुख्य आधार बनती हैं । इस परिषद में मतदान आधारण ढग से होता है तथा निम्न बहुमत से लिए जाते हैं । इस समय ब्रिटेन का सुरक्षण टैमनिका केम्ब्रिज तथा टोणगेन्ड के आधे भाग पर है । फ्रांस का सुरक्षण केम्ब्रिज तथा टोणगेन्ड के दो आधे भाग पर है । बेल्जियम का क्वाण्डा यूरोण्डा पर है । आस्ट्रेलिया का म्बूगनी तथा नोर्न पर, और न्यूजीलैंड, पश्चिमी समोआ पर, सुरक्षण करते हैं । इस परिषद के अन्तर्गत कुछ "रूपट क्षेत्रों" (Strategic Areas) के लिए भी सुरक्षक समझौतों द्वारा विशेष प्रविधान स्वीकार किए जा सकते हैं । ऐसे क्षेत्रों के लिए संयुक्त राष्ट्र सभ की ओर से सारे कार्य सुरक्षा परिषद द्वारा किए जाते हैं । परन्तु सुरक्षा को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचात हुए कोई भी कार्य सुरक्षण परिषद द्वारा भी करवाया जा सकता है । ५ मार्च सन् १९५७ को घाना की स्वतन्त्रता और तत्पश्चात् उसका संयुक्त राष्ट्र सभ की सदस्यता प्राप्त होना अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षण पद्धति की बहुत बड़ी सफलता है । ऐसे ग्यारह प्रदेशों में से यह पहला प्रदेश था जिसने विधान के अनुसार स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य की पूर्ति की । शेष सुरक्षित प्रदेश भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के समीप हैं । इटालियन सोमालीलैंड सन् १९६० तक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा । इस प्रकार पहले जो आदिष्ट प्रणाली असफल हो चुकी, उसके अनुभव के आधार पर और विश्व के राज्यों की सहभावना के फलस्वरूप वर्तमान न्यास पद्धति सफल हो रहा है ।

## (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

यह न्यायापालिका स युक्त राष्ट्र सघ के लिए अपने विधान की भांति अभिन्न तथा महत्वपूर्ण अंग है। इससे पूर्व वालो न्यायापालिका से वर्तमान न्यायालय एक विशेषता रखता है और वह यह है कि स युक्त राष्ट्र सघ का विधान इस न्यायालय को भी अपना अंग मानता है। इसलिए समस्त सदस्य स्वतः (Ipso facto) इसके न्यायाधीन हो जाते हैं। वैसे पिछले और वर्तमान न्यायालय की विधि ( STATUTE ) में कोई विशेष भेद नहीं है।

यद्यपि पिछला न्यायालय द्वितीय विश्व युद्ध के कारण प्रभावशाली कार्य नहीं कर सका। किन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास तथा विवादों का शांतिमय हल हो नवीन न्यायालय की स्थापना के आधार हैं। प्राचीन न्यायालय द्वारा किए हुए नियम वर्तमान के सहायक अंतर्राष्ट्रीय नियम हैं, और इस बात के प्रमाण है कि कितने कठिन प्रश्नों को उन नियमों द्वारा सरस बनाया गया है। वह प्राचीन न्यायालय अप्रैल सन् १८४६ में नियमानुसार भंग किया गया। उससे पूर्व ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना का प्रतिधान किया जा चुका था। वर्तमान न्यायालय संवत्सर ३ अप्रैल सन् १९४६ का हंग में प्रारम्भ हुआ। चाटर की धारा ६२ के अनुसार यह न्यायालय स युक्त राष्ट्र सघ का प्रमुख न्यायिक अंग है।

### संगठन —

पिछले न्यायालया की भांति इस न्यायालय में भी १५ न्यायाधीश होते हैं। जिनमें एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष यही लोग अपने बाच से चुने हैं। न्यायाधीशों के पद के लिए उच्च नैतिक चरित्र राष्ट्रीय कानून की विशेषता एवम् अन्तर्राष्ट्रीय विधि में पारदर्शी होना आवश्यक है। कोई दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नहीं होने चाहिए। न्यायाधीशों का साधारण कार्य काल नौ वर्ष है। और वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। सबसे पहले चुनाव में ५ न्यायाधीश तीन वर्ष के लिए ५ न्यायाधीश छ वर्ष के लिए तथा शेष पांच न्यायाधीश भी वर्ष के लिए चुने गये थे। न्यायाधीशों की निर्वाचन प्रणाली कठिन है। राष्ट्रीय विधि विशेषज्ञों द्वारा चार प्रतिष्ठित नियम शास्त्रियों के नाम मनोनीत किये जाते हैं और उनमें से दो स अभिन्न नाम अपने राष्ट्र से सम्बंधित नहीं होना चाहिए। चुनाव की विधि के कम से कम तीन माह पूर्व महामन्त्री राष्ट्रीय कानून विधानों के पास एक लिखित प्रार्थना भेजता है, तथा विभिन्न राष्ट्रीय दलों व पार्षदों के पास इस प्रकार के नाम मनोनीत करने की सूचनाएं भेजता है। वे ऐसे लोगों के नाम भेजते हैं जो इस पद के उपयुक्त हों तथा न्यायालय के सम्मुख बन सकें। कोई भी दल तारतम्य अधिक नाम नहीं भेजता। प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपने यहां त नाम मनोनीत करने से पूर्व सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श करना अनिवार्य है। महामन्त्री इस प्रकार भावे द्वारा सारे मनोनीत नामों की सूची वसुधामाता के अनुसार बनाता है। और उगने पश्चात् न्यायमा और गुरुता परिपक्व एक दूसरे में स्वनम हारकर न्यायालय के सम्मुखों का

निर्वाचन करती हैं। ऐसे प्रत्यागो जा महासभा तथा सुरक्षा परिषद में शुद्ध बहुमत प्राप्त करते हैं, निर्वाचित माने जाते हैं। यदि तीन बँटों के बाद भी एक या दो स्थान रिक्त रह जाते हैं, तो महासभा और सुरक्षा परिषद, प्रत्येक के द्वारा तीन तीन प्रतिनिधि नियुक्त किये जाते हैं और यह छ सदस्यों का संयुक्त सम्मेलन रिक्त स्थानों की पूर्ति करता है। वास्तव में न्यायाधीश बिना राष्ट्रीयता का यान दिये हुए चरित्र योग्यता तथा व्यक्ति-त्व के आधार पर चुने जाते हैं। ये न्यायाधीश निर्वाचन के पश्चात् कोई राजनैतिक प्रशासनिक काम नहीं कर सकते और न किसी अन्य निजी व्यवसाय में ही संलग्न नहीं हो सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान की धारा ३१ के अनुसार विवाद संसंबन्धित प्रत्येक दल को अपना राष्ट्रीय न्यायाधीश भा न्यायालय में भेजने का अधिकार है अगर एक दल का प्रतिनिधि पहले से ही न्यायालय में है तो दूसरे दल का भी अपना राष्ट्रीय न्यायाधीश मनानीत करने का अधिकार है। यदि दोनों के न्यायाधीश नहीं हैं तो दोनों दल एक एक न्यायाधीश भेज सकते हैं।

साधारणतः न्यायालय की स्थापना हेतु स की गई है। और यही इसका काम का मुख्य स्थान है। परन्तु न्यायालय अन्य स्थानों पर भी अपना काम संपादित कर सकता है यदि वह ऐसा करना आवश्यक और वाछनीय समझे। न्यायालय, अवकाश के अतिरिक्त, सदैव कार्य संलग्न रहेगा।

न्याय क्षेत्र (Jurisdiction) — इस न्यायालय का वाय क्षेत्र उन सब राज्या पर व्याप्त है जो न्यायालय की सविधि (Statute) का स्वीकार कर चुके हैं अथवा जिन राज्या ने बाद में राष्ट्र-साथ के विधान के अंतर्गत इस सविधि का स्वीकृति के लिए अपनी सहमति प्रकट करत हुए घोषणा न्यायालय के रजिस्टार के पास प्रस्तुत कर दी और आगवाहन दिया है कि पूर्ण सत्यता के साथ न्यायालय के नियमों का पालन करेंगे तथा धारा ६४ के अंतर्गत कृत्य पालन किया जायगा। यह न्याय क्षेत्र मुख्य रूप से तीन प्रकार का है —

(१) वैकल्पिक न्याय क्षेत्र (२) अनिवार्य न्याय क्षेत्र (३) परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र  
वैकल्पिक न्याय क्षेत्र—के अन्तर्गत वे सब वाद सम्मिलित होते हैं जिन्हें राजना दल सहमत होकर न्यायालय के सम्मुख उपस्थित करते हैं। यह भी सम्भव है कि वाद एक दल द्वारा प्रस्तुत किया जाय और दूसरा दल शांत सम्मति द्वारा उसकी पुष्टि कर दे।

अनिवार्य न्याय क्षेत्र—के अन्तर्गत सविधि का स्वीकार करने वाला कोई भी राष्ट्र वह घोषित कर सकता है कि प्रस्तुत विवाद वह अनिवार्य न्याय क्षेत्र के आधीन मानता है। दूसरा राष्ट्र इसमें सहमत नहीं हो तो भा निम्न विषया में अनिवार्य न्याय क्षेत्र स्वीकार किया जा सकता है। (1) सधि की व्याख्या, (11) अन्तर्राष्ट्रीय विधि से सम्बन्धित प्रश्न, (111) कोई ऐसा प्रश्न जो मयमिद होने पर अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन पालन में बाधक



हो सकता है, और (iv) अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य पालन न करने के कारण क्षतिपूर्ति की माग़ा तथा प्रकार से सम्बन्धित ।

परन्तु उपरोक्त 'याय क्षेत्र' उसी अवस्था में कार्यरत होते हैं जब सम्बन्धित राष्ट्र 'यायानय' के 'यायक्षेत्र' को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है । किसी भी राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध कोई भी अभियोग 'यायालय' में चलाया नहीं जा सकता । श्री ओगनहेम के मतानुसार बकल्पिक 'याय क्षेत्र' का प्रावधान बहुत व्यापक तथा महत्वपूर्ण है । एका काई भी वाद नहीं हो जा बकल्पिक धाराया के क्षेत्र में नहीं आता । फिर भी उनकी स्वीकृति के लिए नैतिक कर्तव्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है जिसकी सहायता में अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का पालन कराया जा सके ।

धारा ६५ के अनुसार यह न्यायालय महासभा तथा सुरक्षा परिषद का न्याय सम्बन्धी परामर्श भी देता है । विधि सम्बन्धी प्रश्नों पर अथ परामर्शात्मक न्याय सस्थाएँ भी परामर्श के लिए प्राधना कर सकती हैं । यह परामर्श क्षेत्र स्वीकार करना अनिवार्य तो नहीं है परन्तु यदि सम्बन्धित राष्ट्र यदि पहल से ही समझौते आदि द्वारा यदि परामर्श स्वीकार करना घोषित कर दें तो वे पालन करने के लिए बाध्य हो जाती हैं । श्री ओगनहेम के विचार से परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र आग़ा से अधिक व्यापक और लाभदायक सिद्ध हुआ है ।

यायालय के समक्ष न्यायाधीश तथा अन्य राष्ट्र प्रतिनिधि कूटनीतिक विशेषाधिकारों का उपभोग करते हैं । 'यायाधीशों' का वेतन, भत्ता आदि सब प्रकार के कर्तव्य सम्पन्न होता है । याय सम्पादन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराएँ (Conventions), अन्तर्राष्ट्रीय रीतियाँ (Customs), विधि सम्बन्धी सामान्य नियम तथा न्यायालय द्वारा दिए गए नूतन नियम भी व्यवहार में लाए जाते हैं । अन्य 'यायालयों' की भांति अन्तर्राष्ट्रीय 'यायालय' भी अन्तःकालीन आशाएँ (Interim Measures) प्रसारित कर सकते हैं । अभी तक कई महत्वपूर्ण अभियोग इस न्यायालय के समक्ष आ चुके हैं । उदाहरणार्थ एंग्लोईरानी तेल विवाद, काफ़ू जलमग़ विवाद आदि कई महत्वपूर्ण अभियोग हैं जो 'यायालय' के समक्ष उपस्थित हो चुके हैं ।

इस प्रकार यह 'यायालय' कर्तमान महत्वपूर्ण समस्याओं का हल करने में पेशगी रूप से सफल हुआ है । अन्तर्राष्ट्रीय विधि का समग्र, उसके प्रति सम्मान तथा विश्वास की वृद्धि के सम्बन्ध में 'यायालय' का कार्य प्रामाण्य है ।

(६) सचिवालय—राष्ट्र सभ की भांति संयुक्त राष्ट्र सभ का कार्य सम्पन्न करने के हेतु सचिवालय का संगठन किया गया है । इस संगठन के सुगम और व्यवस्थित कार्य करने पर ही संयुक्त राष्ट्र सभ की सफलता निर्भर करती है सचिवालय का मुख्य अधिकारी महामन्त्री (Secretary General) होता है जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद की आज्ञा पर महासभा द्वारा ५ वर्ष के लिए की जाती है । महामन्त्री इस संगठन का मुख्य प्रशासन अधिकारी होता है । अपने पद के कारण ही महामन्त्री

महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद तथा सरक्षण परिषद के अधिवेशनों में उपस्थित होता तथा भाग लेता है। राक्ष की सम्पूर्ण वष की कायवाही के सम्बन्ध में महासभा के अधिवेशन में प्रतिवेद प्रस्तुत करता है। अथ कोई विषय, जो अन्तराष्ट्रीय शांति व्यवस्था में बाधक हो सकता है, उस और सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित करना भी, महामन्त्री का मुख्य कर्तव्य है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का काय सम्पादित करने के लिए सचिवालय में लगभग ३००० लिपिक (क्लर्क) तथा वक्ता होते हैं जिनकी नियुक्तियाँ महासभा द्वारा स्वीकृति नियमानुसार महामन्त्री द्वारा की जाती हैं। इन नियुक्तियों में लगभग समान भौगोलिक आधार रखने की चेष्टा की जाती है। इनका चुनाव में मुख्य रूप में उच्च स्तर, कुशलता, योग्यता तथा चरित्र का प्राधान्य दिया जाता है।

महामन्त्री की सहायता के लिए एक उपमहामन्त्री भी होता है। इन्हें पूर्ण कूटनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रथम महामन्त्री श्री टिन्वीली थे और वर्तमान महामन्त्री स्वीडन के अर्थशास्त्री श्री डा० डे हर्मरशोल्ड हैं। सचिवालय के कर्मचारी, किसी सरकार अथवा संस्था से परामर्श नहीं ले सकते तथा उन्हें ऐसे प्रत्येक कार्य से भी बचना होता है जो उनकी संस्था के उत्तरदायित्व पूर्ण पक्षों पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डाल सकते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि सचिवालय के कर्मचारी अपना राष्ट्रीय स्वभाव छोड़कर अन्तराष्ट्रीय विचार और व्यवहार करें, यह अपेक्षा की जाती है। वास्तव में एक विश्व संस्था के कर्मचारियों के लिए यह अनिवार्य भी है।

वर्तमान युग में अम सत्य, शांति तथा अन्धकार का विरोध नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार मानव के मूल अधिकार भी सर्वसम्मति में मूल मानव अधिकार स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु फिर भी उनका सम्बन्ध में कुछ समस्याएँ हैं। जिनका प्रवेश संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में नियुक्त मानव अधिकार आयोग के विचार विमर्श के समय हुआ चुका है। वर्षों के निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप अब जाकर ऐसे लेख (Documents) प्रस्तुत हो गये हैं जिनमें मानव के मूल अधिकारों का स्वरूप निश्चित हो गया है।

इन अधिकारों का ऐतिहासिक विकास हम वर्तमान स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। यह तो स्वीकार करना होगा कि विकास अन्तराष्ट्रीय विधियाँ तो पहले भी और आज भी मुख्यतः पर ऐसी विधियाँ हैं जिनका पालन राज्या द्वारा होता है। किन्तु नृम अथवा और सम्पत्ति की तरह मानव भी अन्तराष्ट्रीय विधि के अध्ययन का विषय रहा है। वैसे राज्य अपने उन नागरिकों की सुरक्षा का ध्यान रखते हैं जो विदेशों में रहते या व्यापार करते हैं। परन्तु यह उनका ऐसा कार्य नहीं था जिन्हें करने के लिये बाध्य हो। इसलिए मानव अधिकारों का अन्तराष्ट्रीय विधि का विषय मानव अधिकार और कर्तव्यों का अध्ययन करना तथा इसका मन्व्यता देना, बहुत धीरे-धीरे विकसित हुआ। सब प्रथम विदेशों में स्थित राजदूत, व्यापारी तथा अन्य

के अधिकारों का सुरक्षित बनाता अन्तर्राष्ट्रीय विधि में परम्परा के अनुसार प्रारम्भ हुआ । १९ वीं शताब्दी के अन्त तक यह सब राज्यों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा कि नाबल मर्यादा और स्वतन्त्रता के अनुरूप अधिकार सभी विदेशियों के लिए स्वीकार करने चाहिए । और उस अन्तर्देशीय दो दलीय तथा अनुरूप दलीय संधियों द्वारा दाम-प्राप्ति आदि अवधि प्राप्त किये गये । सन् १८७८ की बर्लिन कांग्रेस बलकान राज्यों का यह प्रश्न निश्चित किया गया कि वे अपने उन नागरिकों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करें तादृश नहीं है । परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि उस समय तक इतनी विकसित नहीं हुई थी । इसीलिए नाजियो ने जहाँ जहाँ यह किया करने में किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन नहीं ममभा ।

राष्ट्र संधि (लोग) ने मानव अधिकारों से केवल इतना ही सम्बन्ध रखा जितना अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् हासिल की संधियों में बताया गया था । यद्यपि इन संधियों का आधार आत्म निर्णय के सिद्धांत पर था किन्तु धार्मिक तथा अन्य दूसरे हित इनके पालन में बाधक होते थे । इसलिए हर राष्ट्रपति के लोग दूसरे राष्ट्रों में जाकर अल्पसंख्यकों में सम्मिलित होने के लिए बाध्य हो जाते थे । इसीलिए पोलैंड, इटली तथा बल्कन और पूर्वी यूरोपियन राज्यों में ऐसे लोगों की सख्या बहुत थी । राष्ट्र संधि की परिपद इन अल्पसंख्यकों के हित के लिए उत्तरदायी थी और विवादग्रस्त विषयों को, यथायालय के समक्ष भी ले जा सकती थी । अल्पसंख्यक सार स्वयं भी परिपद के समक्ष अपना प्राथम्य पत्र प्रस्तुत कर सकते थे । परन्तु उस पर कार्य बाही तभी हो सकती थी जब परिपद सदस्य अपने उत्तरदायित्व पर इस विषय को प्रस्तुत करना चाहें । सन् १९३० तक तो इस प्रकार मानव अधिकार सुरक्षित रहे परन्तु प्रिन्सिपलतावाद के कारण द्वितीय युद्ध तक, यह अधिकार ठुकराए जाने लगे ।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय सामान्य मानव अधिकारों का उल्लंघन और व्यक्तिगत विरोधन पर जर्मनी द्वारा बहुत अधिक हुआ । यह मानव की आत्मा के विरुद्ध पड़ने वाला था । इसलिए अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों तथा वर्गों ने यह याचना की कि ऐसा कार्य किया जाय, जिससे इस प्रकार के अमानुषिक व्यवहार का पुनरागमन न हो । इसलिए के सब संयुक्त राष्ट्र संधि की ओर उन्मुख हुए । संधि के विधान में यह प्रसंग है कि धार्मिक और सामाजिक सहयोग के लिए मानव के अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताओं का सम्मान करना एक मुख्य सिद्धांत है । परन्तु लोकमत इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ । अनेक समस्याओं ने सैनिकानिमित्तों में यह प्राथम्य भी की कि मानव अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया जाय और न पुनः राज्य अमेरिका ऐसे राष्ट्रों में प्रमुख था । संयुक्त राष्ट्र संधि इस ध्यान देना चाहता था, परन्तु कुछ राष्ट्रों के प्रतिनिधि, राज्यों की सारभौमिकता के प्रति जागरूक थे । तो भी बहुत विवाद होने के बाद संयुक्त राष्ट्र संधि ने मानव अधिकारों के कई पक्षों में अगला सम्बन्ध स्वीकार किया । सामाजिक और धार्मिक परिपद ने ध्यापार संधि अधिकार दाम प्रथा तथा अनिवार्य श्रम ( Forced Labour या बगार ) धार्मिक

का अध्ययन किया है। अस्वतंत्र राज्यों के अधिकारों का अध्ययन संरक्षण परिपद ने किया है।

## मानव अधिकार आयोग —

चाटर के अनुसार मानव अधिकार आयोग की स्थापना आवश्यक मानी गई थी। इस संस्था का कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद ही यह आयोग संगठित हुआ और कार्य आरम्भ कर दिया। इसमें अठारह राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं जो तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं और पुनर्निर्वाचन के लिए योग्य माने जाते हैं। यह संस्था इस विषय के सब पक्षों पर विचार करने की अधिकारिणी है। परंतु फिर भी मानव अधिकारों को यह प्राथमिकता देती है। श्रीमता रजवेस्ट की अध्यक्षता में इस आयोग ने मानव अधिकारों का आदर्श पत्र तैयार किया और १० दिसम्बर १९४८ को महासभा ने मानव अधिकारों का विश्व घोषणा पत्र स्वीकार किया। इस घोषणा पत्र में मनुष्य के मूल मूल अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दी गई है। मानव के सम्मान और मूल्यों को महत्व दिया गया है। घोषणा पत्र में उल्लिखित विभिन्न धाराओं द्वारा निम्न मौलिक अधिकार स्वीकार किए गये हैं —

(१) सम्मान और अधिकारों की दृष्टि से तथा स्वतंत्र रहने के लिए सभी मानव समान हैं।

(२) घोषणा पत्र में सम्मिलित अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए सारे मानव अधिकारी हैं।

(३) जीवन, स्वतंत्रता और सुरक्षा का अधिकार प्रत्येक मानव को प्राप्त है।

(४) कोई भी मानव दास नहीं रखा जा सकता एवं दामता और दास व्यापार प्रतिबन्धित होगा।

(५) किसी भी मानव के साथ अत्याचार एवं अमानवीय व्यवहार नहीं किया जा सकता।

(६) नियम के समक्ष प्रत्येक मानव प्रत्येक स्थान पर मानव के अधिकारों की प्राप्ति का अधिकारी है।

(७) नियम के समक्ष सब व्यक्ति समान हैं और नियम का संरक्षण समान रूप में प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

(८) स्वीकृत मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करना अथवा अनुचित लाभ उठाना नियम विरुद्ध है।

(९) कोई भी व्यक्ति बिना उचित कारण बन्दीगृह अथवा बन्धन में नहीं रखा जा सकता।

(१०) प्रत्येक मानव को अपने प्रति लगाए गये आरोपों की सुनवाई निम्न न्यायालय द्वारा करवाने का अधिकार होगा।

(११) निजा कार्य भयवा जीवन में बाहरी हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। और इसी प्रकार आवागमन और निवास का समान अधिकार, राष्ट्रीयता का अधिकार, विवाह एवं परिवार का अधिकार, सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार आदि अनेक अधिकार हैं जो स्वीकार किए गये हैं। (धारा १ से २० तक) यह कहा जा सकता है कि इस घोषणा पर मैं किसी भी मानवीय अधिकार को छोड़ा नहीं गया है।

**सामूहिक सुरक्षा ( Collective Security )**—सामूहिक सुरक्षा का प्रश्न राष्ट्र सभ के समय से ही प्रमुख रहा है। और संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में भी छठ अनुच्छेद के अनुसार विभिन्न विवादों के आख पड़तान एवं शांतिमय समझौते का वर्णन किया गया है। सातवें अनुच्छेद द्वारा सामूहिक सुरक्षा का प्रश्न भी सुलझाया गया है। जिसमें शांति का सतारा, शांति भंग, आक्रामक व्यवहार का निश्चय करने तथा अन्तराष्ट्रीय शांति का पुनः स्थापित करने के लिए क्या क्या उपाय करने चाहिए, का उल्लेख है। किसी भी परिस्थिति पर अधिकार पाने के लिए सुरक्षा परिषद अपने उपायों को काम में लेने से पूर्व सम्बन्धित दलों का बुला कर आवश्यक कार्य करने के लिए कह सकती है और या काम किसी भी राष्ट्र के हित, अधिकार अथवा प्रतिष्ठा के प्रति पक्षपात पूर्ण नहीं होगा। इन उपायों में आर्थिक सम्बन्धों में हस्तक्षेप, यात्रायात या आवागमन के साधनों पर रोक अथवा कूटनीति सम्बन्धों का विच्छेद भी सम्मिलित हो सकता है। इन उपायों के प्रसफल होने पर और भी कठोर उपाय काम में लिए जा सकते हैं, जिनमें आर्थिक प्रतिबन्ध, जल, स्थल और वायु सेना द्वारा कायबाही भी सम्मिलित हो सकती है। ऐसी अवसर पर सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा सहायता देना अनिवार्य किया जा चुका है।

सैनिक आयोग (Military Staff Commission) का स्थापना का भी प्रावधान है। जिसकी सहायता व परामर्श से सैनिक आवश्यकता के समय सुरक्षा परिषद अन्तराष्ट्रीय शांति को स्थापित करने का प्रयास करेगा। शांति का नियमन, निश्चयीकरण तथा सैन्य का संग्रह एवं नियंत्रण आदि विषय इसी आयोग की महानता से निष्पत्ति होंगे। (धारा ४७) संयुक्त राष्ट्र सभ के सन्त्य ऐसे अवसर पर अपना पूरा सहयोग देने के लिए सहमत होंगे।

राष्ट्र सभ इस प्रकार के प्रयत्नों में तगभग असफल रहा है। संयुक्त राष्ट्र सभ के संविधान में फिर इन आशाओं के पूर्ण करने के प्रयत्न किए गए हैं। किन्तु अभी वह अवस्था नहीं है जब हम यह कह सकें कि यह नई संस्था भी पूर्ण रूप से सफल हो गई। यह तो निश्चित है कि सभी राष्ट्रों की समानता का मित्रात विश्व में बहुलता की भावना उत्पन्न करने में असफल हुआ है। सन् १९५० में कोरिया तथा सन् १९५६ में मिस्र आदि स्थानों पर सुरक्षा परिषद ने प्रभावपूर्ण कार्य किए हैं। फिर भी विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से अनेक प्रकार की संधियाँ और समझौते किए हैं तथा मण्डलों की भी स्थापना की है उनमें से निम्न मुख्य हैं—

संयुक्त राष्ट्र सच का विधान इस प्रकार के प्रादेशिक समझौते की व्यवस्था के विपरीत नहीं है। यदि ऐसी समस्याओं से अन्तर्राष्ट्रीय शांति सुरक्षित रहती है तो ये स्थापित किये जा सकते हैं। परन्तु यह सब संयुक्त राष्ट्रसच के सिद्धान्तों (अ) प्रादेशिक समझौते — के अनुकूल होने चाहिए। वर्तमान घटना चक्र में, जिसने अमेरिका और सोवियट रूस का संघर्ष मुख्य है, इस प्रकार के प्रादेशिक समझौतों का बाहुल्य है।

### (क) उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (NATO)

४ अप्रैल १९४८ का अमेरिका की राजधानी में बारह राष्ट्रों ने मिलकर बीस वर्ष की अवधि के लिए यह संगठन स्थापित किया है। इस संगठन का उद्देश्य अपने नागरिकों



की स्वतंत्रता, सामान्य उत्तराधिकार तथा सम्पत्ति की रक्षा करना, प्रजातंत्र के सिद्धान्तों पर आधारित व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा नियमों का शासन स्थापित करना आदि हैं। यह १२ राष्ट्र बनजियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, आइसलैंड, इटली, लक्जमबर्ग, नीदरलैंड्स, नार्वे, पुर्तगाल, यू.के. और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका हैं। सन् १९५२ में यूनान और टर्की भी इसमें सम्मिलित हो गये। ५ मई १९५५ को नाटो ने पश्चिमी जर्मनी का प्रवेश भी स्वीकार कर लिया तथा ७ मई को उस औपचारिक रूप से सम्मिलित कर लिया।

यह संगठन दूसरे यूरोपीय राज्यों को भी अपने साथ रखना चाहता है। किन्तु यह एक ऐसे संगठन के रूप में बन गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति को स्थापित करने के बजाय निश्चयी दल बन्दी की ओर उग्र बना देता है। ११ दिसम्बर सन् १९५६ को १५ राष्ट्रीय सम्मेलन में इस संगठन ने अपनी भूना भी संगठित करने का प्रस्ताव रखा है। इससे साम्यवादी दल और कम्युनिस्टों का दल का संघर्ष ही बढ़ा है।

इसी प्रकार सन् १९४७ का रियोपेक्ट, डनक्यू संधि, सन् १९४९ की ब्रूसेल्स संधि, अमेरिका, जापान, सुरक्षा समझौता, दक्षिणी पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा संधि

(मनीला समझौता), बल्कान पेक्ट, फास और लीबिया की मित्रता संधि, मित्र-गारिया सुरक्षा समझौता, वासा संधि (पूर्वी यूरोपीय संधि संगठन), आज़ज (ANZUS) पेक्ट (The Australia—New Zealand—United States of America Security Treaty), बगदाद पेक्ट, अरब लीग, संयुक्त राज्य अमेरिका, फिलीपपाइन्स पारस्परिक सुरक्षा संधि, आदि मुख्य हैं।

आर्थिक एवं राजनैतिक सहयोग के क्षेत्र में यूमेन योजना, कालम्बा योजना, मागन योजना आदि मुख्य हैं।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सामुहिक सुरक्षा का स्थापित करने के लिए अनेकानेक प्रयत्न ता किये गये हैं, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों द्वारा उनके अथ भी विभिन्न लगाये जाते हैं। इसलिये संयुक्त राष्ट्रसंघ का गाम्भट्विक उद्देश्य जिसका अर्थ पारस्परिक सहयोग से सुरक्षा स्थापित करना है, की पूर्ति नहीं होती। जितने राष्ट्र मिलकर यह काम कर रहे हैं, उनमें परस्पर मत्री एवं मदभावना तो विकसित होती है, परन्तु साथ ही दलीय गुटबन्दी की भावना उद्दे अभिपन्न प्राप्त करने से बचित रख देती है। यही कारण है कि विश्व में मदभावना के स्थान पर दल भावना, उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही है और विश्व का वातावरण अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की स्थापना के अनुकूल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य अनिश्चित और अधकारमय हो सकता है। भविष्य की उज्ज्वलता इतनी ममीप नहीं दिखाई देती जितनी अपेक्षित है।

आज विश्व की दानि एवं सुरक्षा के लिए इस शक्ति का नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रथम महासभा ने अणु शक्ति आयोग की स्थापना की है। इस आयोग में सुरक्षा परिषद के सदस्य एवं अणुशक्ति नियन्त्रण कनाडा को रता गया। इमने राष्ट्रीय गश्ताकरण से अणुशक्ति के प्रयोग को रोकने का निश्चय किया है। अमरीका ने भी इस सस्था की स्थापना पर बल दिया था। साविट रूस ने यह प्रस्ताव रक्खा था कि सबन पहले जिनके पास अणु बम हैं उह नष्ट कर दिया जाय और बाद में अणु नियन्त्रण का वायवाही की जाय। इस प्रकार कुछ गतिराय की स्थिति उत्पन्न हा गई। ११ जनवरी सन् १८५१ से छठवी महा सभा ने आयोग तो मग कर लिया और सेवा के विषयन के लिए १२ राष्ट्रीय निगस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की। कुछ समय बाद परस्पर दल निर्धारित किया गया कि प्रत्येक बड़ी शक्ति का सेनामा की क्या सख्या हा। परन्तु रूस ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इसके बाद फिर राष्ट्रीय आधार पर अणु बम प्रयोग आरम्भ हो गए। रूस, ब्रिटेन, अमेरिका सब अरनी दानि के विकास में लग गए। मार्च, सन् १९५३ में मयुवत राष्ट्र संघ की महा सभा ने पुन १८ राष्ट्रीय प्रस्ताव म्पीकार किया जिसमें निगस्त्रीकरण पर प्रयत्न जारी रखन की मांग की गई थी। भारत इसमें तटस्थ रहा। अब भारतवर्ष इस प्रयत्न में है कि अणु शक्ति का विकास ता हा

परन्तु इसके वातिमय उपयोग किए जायें। बिनाशक प्रयोग समाप्त कर दिए जायें और मानव को सुख और वांति देने के लिए परमाणु शक्ति का भरसक उपयोग किया जाय। यही आदर्श सही है। परन्तु बड़ी गिनियाँ अपने प्रयोगों में बराबर सतर्क है और विश्व का कोई सामान्य संगठन इसके नियंत्रण में मफ्त होगा, यह एक दुराशा सा प्रतीत होती है।

आदेश पत्र के अनुसार संगोचन द्वारा किसी भा प्रकार का परिवर्तन सम्भव हो सकता है। महासभा स्थगित अथवा इसी उद्देश्य में आमन्त्रित विधिष्ठ सभा बनाने उपस्थित

### संशोधन

आदेश पत्र के किसी उपबन्ध में संशोधन कर सकती है। यह विधिष्ठ सभा, सुरक्षा परिषद के कोई सदन सदस्य अथवा महासभा के वा तिहाई सदस्यों द्वारा आमन्त्रित की जा सकती है। परन्तु संशोधन कार्यान्वित उस समय होगा जब सदस्य राज्यों का दो तिहाई और सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सभ्य अपनी स्वीकृति दें।

आज बल के इस अमेरिका गतिराध के कारण संशोधन के विषय अधिक चर्चा का विषय बना हुआ है। प्रारम्भ में जिस सभा को स्थापना विषय कल्याण के लिए सभी ५० राष्ट्रों ने एक मत हान कर तथा पाँच स्थायी सदस्यों ने हृदय से जिसका स्वागत किया, वही सभा आज विवाद के विरोध का रंगमंच (Forum of World Conflict) बन गई है। इसके लिए कुछ नए उद्भूत कारण उत्तरदायी मान जा सकते हैं।

(१) बड़ी शक्तियों का महत्त्व कम होना इसलिए कम हो रहा है कि कुछ नई शक्तियाँ विकसित हो रही हैं जैसे भारत, हिन्दिया आदि और जो किसी भी बड़ी शक्ति से सम्बन्धित तो हैं परन्तु आश्रित नहीं हैं। उनकी स्वतंत्र नीतियाँ हैं। ये दाना पुट्टों में अलग तीसरी सन्तुलन शक्ति का सृजन कर रहे हैं (२) अमेरिका में भी सयुक्त राज्य अमेरिका तथा गैर अमेरिका के सम्बन्ध पूर्ववत् नहीं रहे। (३) ग्रेट ब्रिटन तथा ग्रेट ब्रिटन राष्ट्र मण्डल के राज्यों के सम्बन्ध भाग ढग से विकसित हो रहे हैं। इसलिए विश्व विवाद कम करने के लिए यह सुझाव दिए जाते हैं कि सुरक्षा परिषद को कुछ बढ़ाया जाए और भारत जैसे राष्ट्रों का उसमें स्थान दिया जाए। निवेदाधिकार का प्रयोग 'यूनितेड नेशन्स' और वह भी बड़ी सावधानी और सचाई के साथ। यह भी प्रस्ताव दिए गए हैं कि महासभा के अधिकार और बढ़ा दिए जायें ताकि निष्पत्ति करने के बजाय यही सभा निर्णय भी कर सके।

इन सब बातों के लिए संगोचन आवश्यक है और विभिन्न शक्तियों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में भिन्न है। कुछ शक्तियों की धारणा है कि संशोधन (Revision of the Charter) आवश्यक ही नहीं है। विधान तो पट्ट से ही लचीला है। सचिवट कम इसी पक्ष का है। उनका विचार है कि सहयोग और सब सम्मति आदेश पत्र के आधार पर निश्चित है और उनसे विस्तृत होना ही सम्भव के लिए सख्त है। भारत



का दृष्टिकोण इस विषय में बहुत ही स्पष्ट और प्रशंसनीय है। भारत के मतानुसार केवल आदेश पत्र के परिवर्तन सगठन को सफल नहीं बना सकते। मनोवैज्ञानिक एवं हृदय के परिवर्तन अनिवार्य है। मेन फामिसको में भाषण देने हुए श्री कृष्णमेनन ने कहा था कि सगाधन के विषय में, भारत सरकार की ओर से मुझे यह कहने का आदेश मिला है कि हमारा साधारण दृष्टिकोण यह है कि यदि आदेश पत्र में सगाधन करना है तो सभी राष्ट्रों की सम्मति की आवश्यकता होगी और यदि सब राष्ट्र सहमत हो जायें तो फिर सगाधन की आवश्यकता ही क्या है।" फिर भी विश्व के सगठन राष्ट्र तथा कुछ बड़ी शक्तियाँ आर विरोध तौर पर विद्वान यह चाहते हैं कि यह सगठन राष्ट्र शय सफल हो और विश्वशांति स्थापित रहे। अथ अविष्य में कोई संघर्ष न हो। इस दिशा में कई प्रस्ताव उपस्थित किए जाते हैं कि क्या क्या आवश्यक परिवर्तन इस संस्था में होने चाहिए या किए जा सकत हैं जो इन संस्था को सफल बनाने में सहायक हो सकते हैं। वे निम्न हैं—

सुझाव—(१) निषेधाधिकार का प्रयोग अत्यंत सीमित बनाया जाय

(२) गृह अधिकार क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) का प्रयोग  
सुस्पष्ट किया जाय ताकि द० प्र० संघ आदि मनमाना न कर सकें।

(३) मरक्षणपरिषद का क्षेत्र और व्यापक बनाया जाय।

(४) निगस्त्रीकरण को सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय तथा विश्व सभा का सगठन स्थापित करने की ओर अग्रसर हुआ जाय।

(५) प्रादेशिक सगठनों का स्थापना कठिन बना दी जाय ताकि तनाव कम हो जाय।

(६) अणुबम तथा उद्‌जन बम के प्रयोग समाप्त कर दिए जाय और उनके गति मय उपयोग बड़ा दिया जाय।

(७) मानव अधिकारों के पालन पर ध्यान दिया जाय।

(८) विश्व नागरिकता को प्रोत्साहन दिया जाय और एक सीमित सी सरकार भी स्थापित की जाय।

**संयुक्त राष्ट्रसंघ और राष्ट्रसंघ (League of Nations)—एक तुलना**

राष्ट्र संघ की तुलना में वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ एक उन्नत और ऐसी विकसित संस्था है जो सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत द्वारा विश्व शांति स्थापित रखना चाहती है। इस का सगठन और कार्य राष्ट्रसंघ की अपक्षा पूर्ण रूप से व्यापक और प्रभावशाली हैं। निम्नलिखित मुख्य बातों का अन्तर दोनों का तुलना का और अधिक स्पष्ट कर देता है—

१ प्राचीन राष्ट्रसंघ का विधान उन अनुमति सचियों ने सचिपत था जिनसे युद्ध का अन्त किया गया था इसलिए नमस्त देशों की सम्भावना उस सगठन के साथ स्वाम

विक रूप से नहीं रही। परन्तु वक्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वाली वंसी मन्थियों से पूर्णरूप से स्वतन्त्र, एक शान्ति प्रेरक एवं संस्थापक पत्र या सन्धि है। इसलिए इसका प्रभाव वास्तविक है।

२ उस संगठन में सदस्य राष्ट्रों के स्थायी प्रतिनिधि प्रधान कार्यालय में नहीं रहते थे, जब कि वक्तमान संगठन में यह व्यवस्था की गई है। इसके विधान में मन्त्र राष्ट्रों पर यह उत्तरदायित्व रखा गया है कि 'गांति' सबकी व्यवहार के लिए वे सदैव स्थायी प्रतिनिधि रखेंगे। संयुक्त इस व्यवस्था में परस्पर मिथ्या भाव दूर हो जाते हैं।

३ राष्ट्रसंघ की परिषद एक साधारण कामकारिणी थी जो यदा कदा मिलकर औपचारिक रूप से विश्व की समस्याओं पर विचार कर लेती थी। आधुनिक सुरक्षापरिषद विश्वशांति की स्थापना के लिए विशेष तौर पर उत्तरदायी मानी गई है और इसीलिए निरंतर सत्र चल सकते हैं।

४ राष्ट्रसंघ में हमें मिलने ५ अंग थे जो कार्य करते थे। वक्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ बहुत व्यापक है। मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर अपनी संस्थापना का निर्माण कर एक जाल सा बिछा दिया है, जिसमें हर क्षेत्र में समर्थन देना सहायक अपना सके और यह सिद्ध करता है कि यह विश्व मान्य संस्था है।

५ आदिष्ट प्रणाली की अपेक्षा (Mandato System) संरक्षण पद्धति निश्चित रूप से एक विकसित और आवश्यक तथा सफल प्रणाली है जो अभी स्थापित है। उस समय जब अध्याय दशों का प्राप्ति किया गया, नवीन प्रणाली का अन्तर्गत आना जम प्रणाली को स्वतन्त्र किया गया। यह वास्तव में प्रगति का प्रमाण है।

६ राष्ट्रसंघ में अमेरिका, प्रस्तावक सदस्य राष्ट्रों के न आने से एक गैर-निष्पक्ष अवस्था रह गया था। जमना सन् १९२६ तथा अन्तः सन् १९३४ में उसके सदस्य बन थे। परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ में सारे प्रस्तावक राष्ट्र सदस्य बने ह और फिर भी सदस्यता के लिए स्वागत है। राष्ट्रसंघ की सदस्यता क्रमशः कम होती गई थी और इस संगठन का सदस्यता निम्नतर बढ़ रहा है। इस समय कुल सदस्य संख्या ५२ है।

७ उस संगठन से संबंध विच्छेद या सदस्यता त्याग सुगम था परन्तु 'वर्तमान संघ' में ऐसा प्रावधान ही नहीं है अतः लगभग असम्भव सा है।

८ राष्ट्रसंघ के समस्त नियम सर्वसम्मति से होते थे। प्रक्रियात्मक तथा महत्वपूर्ण विषयों में कोई भेद नहीं था। संयुक्त राष्ट्र संघ में इस प्रकार के विषयों का अलग अलग रखकर नियम का ढग भी उही के अनुसार रखा गया है। सब सम्मति का सिद्धान्त केवल सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों के लिए ही बाध्यकारी होना है।

९ राष्ट्रसंघ किसी भी प्रकार का संकटमय स्थिति में उस समय तक कोई विचार नहीं कर सकती थी जब तक कोई सदस्य राष्ट्र उस विषय का उपस्थित न करे। वक्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ में महासचिव का यह प्रथम कर्तव्य है कि किसी भी स्थिति का, जो 'गांति' के लिए घातक हो तुरंत सुरक्षा परिषद के समक्ष उपस्थित करे। किसी औपचारिकता की प्रतीक्षा का प्रश्न अब नहीं है।

१० राष्ट्रसंघ के पास शक्ति और सेना का अभाव था। उसको आनाओ का पालन कराने की क्षमता या श्रवधान नहीं था। अधिक से अधिक दोपी राष्ट्रों के विषय अधिक प्रतिबंध ला सकता था। परन्तु सयुक्त राष्ट्रसंघ आवश्यकता होने पर सैनिक कार्रवाई भी कर सकता है जैसा कि २५ जून सन् १९५० को कोरिया में किया।

११ उक्त मान सयुक्त राष्ट्र संघ का कार्यालय वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय बन कर विषय की सेवा कर रहा है और प्रधान कार्यालय के भवन निर्माण तथा विस्तृत कार्य अथवा जोर प्रिय बन गया है।

इस प्रकार दोनों की तुलना में, राष्ट्र संघ एक मध्यकालीन एवं अविकसित संस्था प्रतीत होती है जब कि सयुक्त राष्ट्रसंघ नवीन युग का एक जीवित और महत्वपूर्ण संगठन जिसका परिचय प्रत्येक विश्व नागरिक के लिए गौरव और सम्मान का विषय है।

सयुक्तराष्ट्र संघ का मूल्यांकन—इस संघ का मूल्यांकन करने से पूर्व हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम निष्पक्ष रूप में इसकी व्यवहारियों का पयदर्शन करी। न तो हम यह हीन दृष्टि से देखें और न अतिशयोक्ति द्वारा तिलक पहाड़ बनाए, यह व्यवहार अनिवार्य है।

मैं प्रथम ही यह देखते हैं कि सयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद विश्व में तीन प्रधान विफास हुए हैं। (१) पाँच बड़ी शक्तियों में विरोध (२) परमाणु शक्ति का विकास तथा (३) औपनिवेशिक प्रणाली का क्रमशः विमर्जन। इस प्रगति को ध्यान में रखकर यदि हम सयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रगति को समझें तो ऐसा लगता है कि यह एक सपना संस्था है। उपरोक्त नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर भी यह संघन पर्याप्त रूप में सफल हुआ है। सन् १९४६ में ईरान विवाद में मध्यस्थता बनकर रुस की सेनाएं वापस बुलवाई। हिंद एशिया में सहायता पहुँचाकर उसे स्वतंत्रता में सहायता की और सयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया। इजरायल और अरब राज्यों के आपसी विरोध को रोक कर विराम संधि पर हस्ताक्षर करवाए। इसी संगठन ने काश्मीर में युद्ध—विराम समझौता कराया। यूनान की सीमा पर आयोग भेजकर शांति स्थापित रखी। २० जून सन् १९५० को, जब उत्तर कोरिया दक्षिण कोरिया पर आक्रमण करने लगा, अन्तर्राष्ट्रीय सेना का व्यवस्था के लिए कामवाही कर, शांति रखी। और सन् १९५४ में हार्लैंड व फ्रांस में जब मिस्र पर आक्रमण किया तो सयुक्त राष्ट्र सेना ने हीरिदगी सेनाओं से वह प्रेरित करवाया और अब भी वहाँ संधि की रोकने के लिए कुछ राष्ट्रसंघ सेना नियुक्त हैं। सीरिया और लेबनान बर्तन (ब्लोकेड) अर्थ प्रतिबंध तथा हिंद आन भी सयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता के प्रमाण हैं। इसने अनिश्चित साम्राज्यवाद की समाप्ति की दशा में भी सयुक्त राष्ट्र संघ के प्रबल प्रामाण्य है। अवीसीनिया की स्वतंत्रता तथा इरीट्रिया का अवीसीनिया के साथ याग, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात्, की एक महत्वपूर्ण घटना है। गोमारीनड दस वर्ष के लिए इटली के संरक्षण में है जो गोमरीन स्वतंत्र हान वाला है। सीधीया का अवीसी तम साम्राज्य का भाग था, इस संगठन के अन्तर्गत स्वतंत्र

बना दिया गया। मोरक्को एव ट्यूनिशिया, जिसे फ्रांस नहीं छोड़ना चाहता था, और संयुक्त राष्ट्र सभ के समक्ष कई बार विवाद का विषय रहा, अन्त में स्वतन्त्र हो गए। भूतजोरिया का प्रश्न वहाँ के फ्रांसीसी निवासियों के कारण कुछ बठिन बन रहा है, परन्तु अवश्य ही सुलभ जायगा। इस प्रकार यह सगठन एक सफल सस्या है।

परन्तु अभावों की दृष्टि से देखा जाय तो कई ऐसे स्थल हैं जहाँ यह सस्या असफल रही है। ईरान का तेल विवाद, दक्षिण अफ्रीका सभ तथा काश्मीर प्रधान रूप से लिए जा सकते हैं। तेल विवाद में यह सस्या इङ्ग्लैंड और अमेरिका के हितों को ही सुरक्षित बना सकी, वहाँ की जनता के हित नहीं बचा सकी दक्षिण अफ्रीका सभ ने भारत और पाकिस्तान के साथ किसी प्रकार समझौता करने से इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह उनका घरेलू प्रश्न है और संयुक्त राष्ट्र सभ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। और काश्मीर में तो इनकी असफलता और भी अधिक रही। भारत ने यह प्रायना की थी कि पाकिस्तान ने भारतीय भूमि पर आक्रमण किया है और वहाँ पाकिस्तानी सेना की उपस्थिति विश्वशान्ति के लिए खतरा है। इस विषय को विस्मृत कर संयुक्त राष्ट्र सभ की पश्चिमी शक्तियाँ, अपने पूर्वी सहायक राष्ट्रों की सहायता से, धनमत निर्णय पर बल देने लगी, जो कि काश्मीर की जनता का अधिकार था, पाकिस्तान अथवा संयुक्त राष्ट्र सभ का नहीं। भारत की भाग पर उचित ध्यान ही नहीं दिया गया। इसी प्रकार हंगरी और चेकास्लोवाकिया पर साम्यवादी-आक्रमण के समय भी यह सगठन कुछ नहीं कर सका हंगरी पर आक्रमण के समय जब विश्व लोकमत जाच के लिए उत्सुक हुआ तो यह प्रस्ताव किया गया था कि महामन्त्री थो हेमरशोल्ड उसी स्थान पर जाकर जाच करें परन्तु रूस द्वारा प्रेरित हंगरी ने आवश्यक अनुमति नहीं दी। बाद में महासभा ने प्रिंस घान वथेको की नियुक्ति (Thailand निवासी) एक सदस्यीय आयोग में की और वहाँ जाकर जाच करने के पश्चात् प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का आदेश दिया। उन्होंने यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है कि उनका आयोग सहकारिता के अभाव के कारण "पूर्ण असफल" रहा है।

**निष्कर्ष—**दोनों पक्षों का अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि अब संयुक्त राष्ट्र सभ की स्थिति कसी है। बड़ी शक्तियाँ किसी भी विवाद को सत्यता के आधार पर न देखकर, राजनतिक दृष्टि से देखती हैं, अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार के लिए यत्न करती हैं। इसलिये ये बड़ी शक्तियाँ स्वयं ही आदेश पत्र का उल्लंघन करती हैं और विश्व शान्ति की क्षति पहुँचाती हैं। दलबन्दी विशेष होगई है और नाटो, सीटो सेटो द्वारा शीत-युद्ध की ओर प्रोत्साहित कर रही हैं। एक ओर राष्ट्रीय चीन की सदस्यता बनी हुई है और दूसरी ओर लाल चीन को सदस्यता में प्रवेश नहीं मिल रहा है साथ ही भारत जैसा एशिया का

प्रमुख तथा प्रजाग्राहक देश गुरुता परिपक्व में लिया नहीं जा रहा। फिर भी इन सब सुराहियों से दबाये हुए यह सगठन बराबर आगे चल रहा है। प्रत्येक स्थान पर संघियों को स्थायीय बना देना, एक बड़ी भारी बात है। दूसरे यह सगठन अब एक बहुत बड़ी 'रिजि' ताता को प्राप्त कर चुका है जिसके साथ विश्व-ओस लोकमत साथ है। अतएव कोई भी राष्ट्र सरमता से इसकी प्रशंसा नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बड़ी शक्तियाँ जो प्रादेशिक सचियों और समझौते में सम्मिलित हैं अपने में सचियों सशस्त्री सब कार्य संघ के विधान के अन्तर्गत मानती हैं। समुक्त राष्ट्र संघ की सबसे बड़ी देन राष्ट्रों के बीच गोरे-काले, गरीब-भमीर, विकसित-अविकसित तथा पूर्व-पश्चिम का भेद भाव कम कर समानता की भावना बढाने में है। सोवियत संघ के नेता क्रिश्चेव ने एक समय में जो समुक्त राष्ट्र संघ के प्रति विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था आज वह देश इसके महत्त्व की ओर प्रयत्नशील है। समुक्त राष्ट्र संघ समस्त विपरीत परिस्थितियों और 'बड़ी शक्तियों के स्वाधों व्यवहार के होते हुये भी इसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में लोकमत के निर्माण में सफल हो रहा है। विश्व का बहुमत वास्तव में शान्ति चाहता है और इस सगठन का आदेश भी शान्ति का पूर्ण सहयोग इसकी सफलता के सहयोगी हैं। आज विश्व के सभी जनतांत्रिक स्वतन्त्र राष्ट्रों में 24 अक्टूबर को 'समुक्त राष्ट्र दिवस' मनाया जाता है। समुक्त राष्ट्र न तो अन्तराष्ट्रीय सरकार है और न शक्ति पर आधारित संस्था। यह मानवता के सिद्धांत पर निर्मित संस्था है और मानवता में जितना विश्वास बढेगा, इस संस्था का महत्त्व भी उतना ही बल प्राप्त करेगा।

## चारहवा अध्याय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१९४५-५६)

सन् १९४५-५६ ई० की अवधि में सम्पूर्ण संसार को दो प्रमुख समस्याओं का सामना करना पड़ा और अभी करना पड़ रहा है। प्रथम समस्या है—सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिद्वंद्विता अथवा प्रतियोगिता, एक ऐसा संसार की दो प्रमुख समस्याएँ प्रतियोगिता या नाममात्र की सामंजस्य से शुरू हुई थी परन्तु आशीघ्र ही शस्त्रीकरण की दौड़ और एक शीत युद्ध (Cold war) में परिवर्तित हो गई और जिनसे सम्पूर्ण यूरोप तथा एशिया के अधिकांश भाग को सशस्त्र गुटों में विभाजित कर दिया। संसार की प्रत्येक औद्योगिक शक्ति किसी न किसी गुट के प्रति स्वामिभक्त हो गई और प्रत्येक गुट समय समय पर संघर्ष की धमकी देने भी तैयार गया जिसका तात्पर्य तीसरे विश्व व्यापी युद्ध का सूत्रपात ही हो सकता है। दूसरी समस्या, श्वेत मनुष्यों द्वारा राजनीतिक या आर्थिक दृष्टि से नियंत्रित देशों में, स्वतंत्रता के लिये राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात भी और है। लेटिन अमेरिका, मध्यपूर्व, अफ्रीका तथा दक्षिणी एशिया के अधिकांश भागों के साथ महान् शक्तियों के आपसी संघर्ष में अधिक रुचि न लेकर अपनी स्वयं का स्वतंत्रता को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखने थे और आज भी रखते हैं। उपरोक्त दोनों समस्याएँ एक दूसरे से घुसनी ही रही और बहुत कम अवसरों पर एक दूसरे में मिल सकी और ऐसा भी नहीं हुआ जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनों के नायकों को यह भान हो गया कि उनके प्रयत्न साम्राज्यवादी शक्तियों के हस्तक्षेप के कारण धूलि धूसरित हो रहे हैं। इस प्रकार का अवसर चीन में आया और कुछ सीमा तक इण्डो चाइना (Indo China) में भी आया, जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनों के नायकों ने साम्यवादी रुढ़ि में महायत्ना की याचना की। अतः मोटे तौर पर, इस युग में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इन्हीं दो समस्याओं के ईर्षमिद घूमती रही और इसी के आधार पर द्वितीय महायुद्ध के बाद अनेक भवित्वादी संधियों और संगठनों का जन्म हुआ।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सुगमता से समझने के लिये, हमें इस विषय का अध्ययन निम्नलिखित हिस्सों में, पृथक् पृथक् रूप से करना चाहिए—

- (१) सोवियत संघ और अमेरिका की विदेश नीति।
- (२) प्रादेशिक सैनिक संधियाँ और संगठन।
- (३) शीतयुद्ध
- (४) अन्तर्राष्ट्रीय नोक-भाक।

प्रमुख तथा प्रजातन्त्रात्मक देश सुरक्षा परिषद् में लिया नहीं जा रहा। फिर भी इन सब घुराइयों से दबाते हुए यह सगठन बराबर आगे चल रहा है। प्रत्येक स्थान पर सघर्षों को स्थानीय बना देना, एक बड़ी भारी बात है। दूसरे, यह सगठन अब एक बहुत बड़ी नतिव सत्ता को प्राप्त कर चुका है जिसके साथ विश्व-ठोस लोकमत साथ है। अतएव कोई भी राष्ट्र सरलता से इसको अपसन्न नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बड़ी शक्तियाँ जो प्रादेशिक संधियों और समझौते में सम्मिलित हैं अपने में संधियाँ सम्बन्धी सब बाय सघ के विधान के अनन्त मानती हैं। समुक्त राष्ट्र सघ की सबसे बड़ी देन राष्ट्रों के बीच गोरे-बाले, गरीब धनी, विकसित अविकसित तथा पूर्व-पश्चिम का भेद-भाव कम कर समानता की भावना बढ़ाने में है। सोवियत सघ के नेता क्रिश्चेव ने एक समय में जो समुक्त राष्ट्र सघ के प्रति विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था आज वह देश इसके महत्त्व की ओर प्रवर्तनीय है। समुक्त राष्ट्र सघ समस्त विपरीत परिस्थितियों और बड़ी शक्तियों के स्वार्थों व्यवहार के होते हुये भी इसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में लोकमत के निर्माण में सफल हो रहा है। विश्व का बहुमत वास्तव में शांति चाहता है और इस सगठन का आदर्श भी शांति स्थापना है। ससार का नैतिक लोकमत तथा भारत जैसे प्रजातन्त्र तथा तटस्थ राज्यों का पूर्ण सहयोग इसकी सफलता के सहयोगी हैं। आज विश्व के सभी जनतांत्रिक स्वतन्त्र राष्ट्रों में 24 अक्टूबर को 'समुक्त राष्ट्र दिवस' मनाया जाता है। समुक्त राष्ट्र न तो अन्तर्राष्ट्रीय सरकार है और न शक्ति पर आधारित संस्था। यह मानवता के सिद्धांत पर निर्मित संस्था है और मानवता में जितना विश्वास बढ़ेगा, इस संस्था का महत्त्व भी उतना ही बल प्राप्त करेगा।

## चारहवा अध्याय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१९४५-५६)

सन् १९४५ ५६ ई० की अवधि में सम्पूर्ण ससार को दो प्रमुख समस्या का सामना करना पड़ा और अभी करना पड़ रहा है। प्रथम समस्या है—सावियत सघ और समुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिद्वन्द्विता अथवा प्रतियोगिता, एक ऐसा ससार की दो प्रतियोगिता का नाममात्र की सम्भेदारी में शुरू हुई थी परन्तु प्रमुख समस्याएँ जो बीघ्र ही गस्तीकण की दौड़ और एक शीत युद्ध (Cold-war) में परिवर्तित हो गई और तिनसे सम्पूर्ण यूरोप तथा एशिया के अधिकांश भाग की सत्ता गुटों में विभाजित कर दिया। ससार की प्रत्येक औद्योगिक शक्ति किसी न किसी गुट के प्रति स्वाभिभक्त हो गई और प्रत्येक गुट समय समय पर सघ की धमकी देने भी लग गया जिसका तात्पर्य तीसरे विश्व व्यापी युद्ध का सूत्रपात ही हो सकता है। दूसरी समस्या, श्वेत मनुष्यों द्वारा राजनीतिक या आर्थिक दृष्टि से नियन्त्रित देशों में, स्वतन्त्रता के लिये राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात था और है। लेटिन अमेरिका, मध्यपूर्व, अफ्रीका तथा दक्षिणी एशिया के अधिकांश भाग का लोग महान् शक्तियों के आपसी सघ में अधिक रुचि न लेकर अपनी स्वयं का स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखते थे और आज भी रखते हैं। उपरोक्त दोनों समस्याएँ एक दूसरे से पृथक् ही रही और बहुत कम अवसरों पर एक दूसरे में मिल सकी और ऐसा भी तभी हुआ जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनों के नायकों को यह भाव हो गया कि उनके प्रयत्न साम्राज्यवादी शक्तियों के हस्तक्षेप के कारण धूलि धूमरित हो रहे हैं। इस प्रकार का अवसर चीन में आया और कुछ सीमा तक इण्डो चाइना (Indo China) में भी आया, जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनों के नायकों में साम्यवादी रुझान महायत्ना की माचना की। अतः मोटे तौर पर, इस युग में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इन्हीं दो समस्याओं के ईर्षं गिद घूमती रही और इसी के आधार पर द्वितीय महायुद्ध के बाद घनक मन्त्रि सधिया और सगठन का जन्म हुआ।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मुगमता से समझने के लिये, हमें इस विषय का अध्ययन निम्नलिखित हिस्सों में, पृथक् पृथक् रूप से करना चाहिए—

- (१) सोवियत सघ और अमेरिका की विदेश नीति।
- (२) प्रादेशिक सैनिक सधियाँ और सगठन।
- (३) शीतयुद्ध
- (४) अन्तर्राष्ट्रीय नाक-भाक।



## (१) सोवियत संघ और अमेरिका की विदेश नीति

प्रथम महायुद्ध की भांति द्वितीय महायुद्ध में भी रूस और अमेरिका ने जमनी क विरुद्ध बचे में बचा मिला कर संघर्ष किया था और अंततोगत्वा वे सफल हुये। जमनी

अपने साधियों सहित पराजित हुआ। परन्तु रूस का अन्त  
रूस की नीति विजय की भारी कीमत चुकानी पड़ी। महायुद्ध के विनाशकारी  
विजय की कीमत परिणाम स्वरूप ३८,०००,००० रूसी नागरिक बर्बर हो गये।

७,०००,००० सैनिक, नाविक, हवाईवाज तथा अन्य सैनिकारी एवं  
नागरिक या तो युद्ध में मारे गये, घावों में मर गये, भूख, बेगार से मर गये या फिर  
शत्रुओं द्वारा मार डाले गये। जर्मन ने लिखा है कि "मृतक की संख्या हम में पश्चिमी  
संयुक्त राष्ट्रों की सम्मिलित संख्या से दस गुनी थी। सम्पत्ति की हानि का अनुमान  
६७६,०००,०००,००० रूबल (रूसी मुद्रा) लगाया जाना है। बरबादी में १,७००  
नगरीय नगरों तथा ७०,००० छोटे छोटे गांवों के ६,०००,००० भवन, जिनमें ८४,०००  
स्कूल, ४३,००० पुस्तकालय, ३१,००० कारखाने, १३,००० पुस्तकालय तथा ४०,००० मान  
व्यक्ति की लाशें थी। इसके साथ ही साथ ७,०००,००० घाड़े, १७,०००,००० भैंसों,  
२०,०००,००० सूअर, २७,०००,००० भेड़ें तथा बकरियाँ आदि नष्ट हो गये। संयुक्त  
राज्य अमेरिका इसकी पुनरावृत्ति की हानि उस समय महत्त्व करता था कि जहाँ जहाँ  
६,०००,००० अमेरिकी मारे गए होते। तथा २४,०००,००० बेघर हो जाने तथा  
मिसिसिपी के पूर्व में अधिकांश क्षेत्रों को बरबाद कर दिया गया हुआ तथा अधिकांश में त  
रिया गया हुआ।"

रूस पर इस भयंकर विनाश का गहरा प्रभाव पड़ा और जब उसने प्रथम महायुद्ध  
से लेकर द्वितीय महायुद्ध की अवधि तक की घटनाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया तो  
उसका ध्यान और भी अधिक बढ़ गया। प्रथम महायुद्ध में उसने मित्रराष्ट्रों के पक्ष  
में युद्ध की घोषणा की थी और उसे जर्मनी के द्वारा बार बार पराजित हुआ था।  
इसी बीच बोल्शेविक क्रान्ति (१९१७) हुई और उसने जर्मनी के साथ संधि करके जर्मनी  
को पराजित करने का प्रयत्न किया। परन्तु मित्रराष्ट्रों ने साम्यवाद को  
सत्कार का सम्मान उलटने के लिये हर सम्भव तराजू का प्रयोग किया। युद्ध समाप्ति के  
बाद वेरसि के शांति अधिवेशन में रूस का निमन्त्रित भी नहीं किया गया और उसका साथ  
घट्टना जैसा व्यवहार किया गया। उसने चारों तरफ गिराने की राज्यों की स्थिति  
का गई और फिर इन राज्यों के साथ पश्चिम में दूना राधिया में उत्पन्न गया। साम्यवाद  
का पुनर्जागरण की दृष्टि में हिटलर मुर्खों को और हिंस्रता का नायकत्व का, रूस  
विरुद्ध के उत्पन्न पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नवरदाय किया गया। द्वितीय महायुद्ध दिसा  
और हिटलर ने जर्मनी सम्पूर्ण गिरावट का साथ रूस पर आक्रमण किया। एक समय में

रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों से युद्ध का दूसरा मोर्चा खोलने की याचना की ताकि जर्मन शक्ति का बटवारा हो जाय और रूस जर्मनी का सामना कर सक। परन्तु मित्रराष्ट्रों ने रूसी प्रस्ताव का ठुकरा दिया और जर्मनी द्वारा रूस के विनाश का तमाशा देखते रहे, साम्यवादी शक्ति का विनाश देखते रहे। रूस का अकेले ही, अपार जन घन की हानि का सहन करते हुये, अबलामो के कारण आतनाद की फौलादी हृदय के साथ व्यर्थ पूरव सहन करते हुये, अपने ही देश में निर्मित अस्त्र-शस्त्रों की सहायता से जर्मन आक्राताओं का अपनी भूमि से खण्डना पड़ा। महायुद्ध के अन्तिम दिनों में अमेरिका ने अगुा बम्ब का निर्माण किया। उसने इंग्लैंड को इस सम्बन्ध में जानकारी दी परन्तु रूस का भारित्व रखा।

इस प्रकार की ऐतिहासिक पुष्ठ भूमि में रूस पश्चिम का विश्वासघाती नहीं समझता तो क्या करता, अपनी भावी सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं करता क्या करता।

अपना सैनिक शक्ति और अगुा बम्ब से भी अधिक शक्तिशाली

रूस का ध्येय अन्धशक्तों की रचना की तरफ ध्यान नहीं देता ना फिर क्या करता। रूस के सामने कबल एक ही गश्ता था। वहह कि वह

आपस बारा तरफ अपने समथक राज्यों का एक शक्तिशाली घेरा बनाय और अपनी शक्ति का विकास कर ताकि भविष्य में उस पुन इस प्रकार के विश्वास का सहन न करना पड़े।

अने बारा तरफ एस राज्यों की स्थापना कर जिनके द्वारा उसकी सामान्य सुरक्षित रह और जो पश्चिमी राष्ट्रों के हितों का निकार न बन, उन्हें अपने सैनिक अड्डे न दें।

अगुा बम्ब से भी अधिक शक्तिशाली अन्धशक्तों का निर्माण कर ताकि पश्चिमी राष्ट्रों का उगक विरुद्ध काम उठाने का साहस न हो सके। जर्मनी का हर सम्भव उपाय में उस समय तक विभक्त और निबल रखा जाय, जब तक कि उहाँ पर साम्यवाद या साम्यवाद

मूलभूत शासन नहीं स्थापित हो जाता। इसी प्रकार जापान की सैनिक शक्ति का पुनर्स्थापन का विरोध किया जाय। इसके बाद जहाँ तक सम्भव हो सके शक्ति तथा

अपनी के विभिन्न राष्ट्रों का साम्यवादियों का मित्र बनाने का प्रयत्न किया जाय।

पता था रूस का ध्येय और इसी ध्येय पर आधारित थी रूस की भावी विदेश नीति।

रूस ने अपने ध्येय की तरफ गहरा हाने के पूर्व अपनी आंतरिक व्यवस्था का सुव्यवस्थित करना पड़ा। उसने विभिन्न प्रकार के उपायों द्वारा आन्तरिकता व आन्तरिकता,

उत्साह के एकीकरण तथा उत्पादन का व्यवस्था करने, उस पूर्व आंतरिक व्यवस्था व्यवस्था में लाने तथा उसका विस्तार करने की समझाया का

का ठोस प्रबंध गुलामाने की चेष्टा की। 'गुलामाने है कि 'गुलाम सहायुक्ति रखने वाल अन्य राज्य की व शूरता से मदद कर एगिया में भेज

िया गया। ११ फरवरी १९४४ ई० के एक अधिनियम मंगोपन व द्वारा यूनिफन क मतानों को अधिक विस्तृत 'स्वतंत्रता' दे दी गई, जिसने अगुा बम्ब उहाँ अपनी मांग उठाने रगन तथा अन्य राज्यों का साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने व भी अधिकार

मिल गए ।” उच्च नेतृत्व स्थायी रहा । “नास्तिकों की लीग” का भग कर दिया गया तथा कट्टर चर्च की प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना की गई, यद्यपि साम्यवादी नास्तिक ही बन रहे । आर्थिक पुनरुत्थान का वायु द्रुत गति में शुरू किया गया और इसमें उम्हे आशावात सफलता भी मिली ।

इस प्रकार आंतरिक व्यवस्था को सही माग पर खान के बाद उसने अपनी विदेश नीति का तरफ सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर दिया । पश्चिम के लेखकों और विचारकान रूप की विदेश नीति की कटु आलोचना की है । यूमेन लिखता है— ‘क्रेमलिन के कुनीन तत्र ने बाहर अपने पश्चिमी मित्रों के साथ सहयोग करने का ढोंग किया, जिसके पदों में उसने मोनियत की शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाने की चेष्टा की, इस प्रकार, उसने विश्व प्रभुत्व के लिए दी गई साम्यवादी चुनौती के विरुद्ध पश्चिम को अपनी रक्षा के लिए ‘शीत युद्ध’ की ओर बढ़ने को विवश कर दिया ।’ शायद इससे बढ़कर सपद भूत कुछ और नहीं हो सकता । पश्चिम ने नहीं, बल्कि रूस ने अपनी आत्म रक्षा के लिए इन प्रकार का कदम उठाया था । इसी लेखक ने आगे लिखा है—“विश्व क्रांति के प्रति रूस की निरंतर निष्ठा से उत्पन्न हुए पश्चिम के लोगों के भयों को शांत करने के लिए मार्को ने, २२ मई सन् १९४३ ई० को, साम्यवादी इंटरनेशनल को भग कर दिया । परन्तु ५ अक्टूबर सन् १९४७ को अमेरिका विराधी ‘साम्यवादी सूचना ब्यूरो’ ग्रथवा कोमिन्फार्म के रूप में, इस राक्षस का फिर से जीवित कर दिया ।” यूमेन का आरोप कहाँ तक सही है, इसका उत्तर ना मोनियत विदेश नीति के अध्ययन के उपरान्त देना ही अधिक उपयुक्त रहेगा ।

सन् १९४५ में लेकर वर्तमान समय तक की सोवियत विदेश नीति की मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्तालिन द्वारा निर्देशित नीति (अगस्त १९४५ - मार्च १९५३) और (२) मार्च १९५३ के बाद की नीति, जो एक प्रकार से ख्रुश्चेव की नीति कही जा सकती है ।

सोवियत मध्य की प्रारम्भिक विदेश नीति का मुख्य निर्देशक मार्शल स्तालिन था और उसका प्रमुख सलाहकार था, मोलातोव । इसी युग में सोवियत विदेश नीति का स्वरूप कुछ अर्थघ्न उग्र रहा और इस उग्रता के कारण ‘शीत युद्ध’ भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था । इस काल का विदेश नीति में प्रादेशिक विस्तार, सीमान्त राज्या में साम्यवादी शासन की स्थापना तथा दूर देशों में साम्यवाधियों का अन्तर्गत में सहायता देना तथा विरोधी सत्तासंघ देना की सरकार का तत्त्वा उलटने के लिए उह मातमाहित करना था ।

युद्धोपरात स्तालिनवादी विदेशनीति की सर्वप्रथम विगणना पूर्वी यूरोप में साम्यवाद

प्रभुत्व की स्थापना था। मन्वानिया, बल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, रुमानिया और यूगोस्लाविया में साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित की गई।  
 पूर्वी यूरोप में इसके लिए सोवियत संघ की अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा।  
 सोवियत प्रभुत्व क्योंकि (१) नाल सेनापति ने इन देशों का (यूगोस्लाविया का छाड़कर) जर्मन नियंत्रण में मुक्त किया था। (२) लाल सेनापति इन देशों में विद्यमान भी और (३) मित्र राष्ट्रों ने भी युद्धकालीन सम्मेलनों में पूर्वी यूरोप को सोवियत संघ का प्रभाव क्षेत्र (Sphere of Influence) स्वीकार कर लिया था, परन्तु फिर भी रुस ने इन देशों में जल्दबाजी नहीं की। पुरे में, इन देशों में त्रिभिन्न शक्ति दलों की मिली जुली 'राष्ट्रीय सरकारें' हो स्थापित की गई थी। परन्तु जब उपरांत सरकारें सुचारु रूप से शासन नहीं चला सकी तब साम्यवादी शासन की स्थापना का गई। परन्तु पश्चिम के समर्थकों का कथन है कि रुस ने इन देशों में साम्यवादी हथकड़ों-भर साम्यवादी नेताओं की प्राणान्ण्ड अथवा माजूम कारावास या फिर निवास, पर साम्यवादी दलों का दमन, मनदाताओं को धमकाया आदि का प्रयास किया और इन कारण वह सफल रहा।

कथन को पूरा रूप से गही नहीं माना जा सकता परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि यूगोस्लाविया के पृथक् हो जाने से यूनान में साम्यवादी प्रभुत्व की स्थापना सम्भव न हो सकी हालांकि अल्बानिया साम्यवादी घेरे में ही बना रहा। बाल्टिक राज्या में स्वीडन ही एक ऐसा देश था और है जो हमारे देश की भांति 'तटस्थ' बना रहा।

स्तालिन युग की विदेश नीति को दूसरी प्रमुख विशेषता—विश्व में साम्यवाद का प्रसार था। इससे अन्तर्गत साम्यवाद के मौलिक सिद्धांत—पूँजीवाद का उन्मूलन तथा धर्मियों

का शासन एवं सामाजिक समानता आदि का सम्पूर्ण सत्कार में विश्व में साम्यवाद प्रसार करना था। यह एक आवश्यकता की बात है कि जब का प्रसार करना स्तालिन के प्रतिद्वंद्वी साम्यवादी नेता ट्राट्स्की, जिसका दम स बहिष्कृत करने के उपरान्त ही स्तालिन लेनिन का उत्तराधिकारी बन सका था न किस्बन्नाति का सिद्धांत प्रतिपादित किया था तब स्तालिन न उसका पार विरोध किया था, परन्तु अब वह स्वयं इस नीति का पक्षधर बन चुका था। मोतोतोव ने कहा था "हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सब सदन साम्यवाद की प्रारंभ करने वाली ह।" बात कुछ ठीक भी थी। क्योंकि युद्धोपरान्त सत्कार आर्थिक दृष्टि से विहालिया हो चुका था। पश्चिमो युरोप में सरकारें बनती बिगड़ती जा रही थी और अफ्रीका तथा एशिया के लोग स्वतन्त्रपुत्र के भार से मुक्त होन को तड़प रहे थे। उधर दक्षिण सागो के देश इंग्लण्ड और फ्रांस अपनी ही घरेलू समस्याओं में उलझे हुए थे। अतः इस प्रकार की अराजकता एवं अव्यवस्था तथा आर्थिक पतन में परिपूर्ण परिस्थितियों में स्तालिन ने अपना विचार बदल लिया ता इसमें आवश्यकता की कोई बात नहीं थी।

समय में साम्यवादी सिद्धांत का प्रसार करने के लिए हर सम्भव उपाय तथा उपनयन साधन की सहायता ली गई। यूनान में गृह युद्ध का नाटक खेला गया और यूनानी साम्यवादियों का पड़ोसी साम्यवादी देश अल्बानिया, बल्गेरिया, यूगोस्लाविया आदि से घेर, जन और अस्त्रशस्त्रों में सहायता पहुंचाई गई। यहाँ पर एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि पश्चिम के पूँजीवाद ने भी हर सम्भव उपाय से साम्यवाद प्रसार का रोकने का प्रयत्न किया था। यूगोस्लाविया और रूस के आपसी विवाद के फलस्वरूप यूनान में साम्यवाद का प्रसार नहीं हो सका। टर्की और ईरान पर भी कई प्रकार से दबाव डाला गया परन्तु यहाँ पर भी साम्यवाद का शिक्स्त खानी पड़ा। इसी दृष्टि से जर्मनी का विभाजित हो रहने दिया गया और पूर्वी जर्मनी में एक पृथक् स्वतन्त्र परन्तु साम्यवादी कठपुतली सरकार का स्थापना की गई। चीन में साम्यवाधियों का आगामीत गणना मिली। भारत आदि देशों में साम्यवादिया न शुरू शुरू में ताड़ फोड़ और हिंसक उपायों का सहारा लेकर अपना भावी प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर लिया। इन प्रयत्नों के अतिरिक्त एक नूतन प्रयोग और किया गया। १९४७ में, बारसा में यूं ईंटरनेशनल के मिनिमिन में साम्यवादी देश तथा फ्रांस और इंग्लैंड

के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि एकत्र हुये और एक साम्यवादी सूचना संस्थान या कोमिन्फार्म ( Communist Information Bureau-Cominform ) को स्थापना का निश्चय किया गया। इसका प्रमुख केंद्र बेलग्रेड में स्थापित किया गया। इसका मुख्य ध्येय "आपसी सलाह के आधार पर साम्यवादी दलों के काम में समन्वय स्थापित करना था।"

इस युग की सोवियत विदेश नीति की तीसरी विशेषता पश्चिम का विरोध करना थी। इस प्रवृत्ति के कारण ही शीत युद्ध अधिक डरावना होता गया। क्योंकि विरोध की प्रवृत्ति पश्चिम के घेरे में भी थी। युद्धोपरान्त की अधिकांश समस्याएँ शांति संधियाँ, सतिपूर्ति, सीमान्त की समस्या निश्चयीकरण, पश्चिम का उग्र लोकतन्त्र के स्वरूप के सम्बंध में युद्ध वन्दिया की समस्या विरोध मध्यपूर्व के नियंत्रण की समस्या आदि, पर पूर्व और पश्चिम के मध्य मतभेद बढ़ते गये और परिणाम स्वरूप सोवियत संघ पश्चिम का उग्र विरोधी होता गया। वह पश्चिम के वित्तीय कार्यों—ट्रूमेन सिद्धांत, मांगल-योजना, जर्मनी और जापान के पुनरुत्थान के प्रयत्न, शून्य तथा प्लेवन योजनाएँ, आदि को सदेह की दृष्टि से देखता था और उसे यह सदेह था कि इन सब कार्यों का धोट में पश्चिमी राष्ट्र रूस के साम्यवादी शासन को समाप्त करने का पड़यंत्र रच रहे हैं। इस प्रकार के सदेह नील और अविश्वासी वातावरण में तनाव की वृद्धि कुछ सामान्य तो महज स्वाभाविक ही थी।

अनुरूप विशेषता लौह आवरण ( Iron Curtain ) की स्थापना थी। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि सोवियत संघ का पश्चिम के प्रति विश्वास नष्ट हो गया था। अतः अपने लोगों का पश्चिम के पापी विचारों से, पश्चिम के विकार बनने से देश विद्रोही बनने से रोकना तथा बचाना नितांत लौह आवरण आवश्यक हो गया था। अतः स्टालिन ने रूस के चारों तरफ एक ऐसा सुदृढ़ लौह आवरण स्थापित करने का निश्चय कर लिया ताकि इसी जनता पश्चिम के लोगों के सम्पर्क में ही न आये और न ही पश्चिम की सोवियत जनता के बारे में किसी प्रकार की जानकारी मिल सके। ऐसा इसलिए किया गया था कि स्टालिन को सदेह था कि पश्चिमी विचारों का रूस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इस सम्बंध में अनेक नियम बनाये गये। एक मजबूत नियम उन स्त्रियों के लिए बनाया गया जिन्होंने युद्ध काल में विदेशी सैनिकों के साथ विवाह कर लिया था। इसका अनुसार उन्हें रूस छोड़ने की स्वीकृति नहीं दी गई और पूछे जाने पर यह बयान दिया गया कि सोवियत नारियों का कर्तव्य सोवियत सरकार के लिए सतान पैदा करना है। कि विदेशी देशों के लिये। इससे भी अधिक सख्त एक और कानून बनाया गया जिससे द्वारा सोवियत नागरिकों का विदेशों के साथ विवाह करने से मना कर दिया गया। लौह आवरण इतना अधिक मजबूत था कि विदेशों में स्थित सोवियत

राजदूत भी यदि वहाँ के लोगो से अधिक सम्पर्क स्थापित कर लेता तो वह वापस बुला लिया जाता था और दूसरे सागा को नियुक्त किया जाता। इसी प्रकार सावित्र मंत्र में स्थित विदेशी राजदूतों तथा राजदूतावास के कर्मचारियों को स्वतन्त्रतापूर्वक घूमना जनता से सम्पर्क बढ़ाने आदि की सुविधाएँ प्रदाता नहीं की गईं। विदेशी पत्र सञ्चार कानूनों पर तो बड़ी निगरानी रखा जाती थी और उन्हें किसी रूप में भी माना कि मान की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। इस प्रकार सौंदर्य आन्दोलन की महायन्त्रा में एक नये सत्कार से सम्पर्क सम्पादित हो गया।

अन्तिम विचारणा धार्मिक प्रार्थना तथा आन्दोलन था। सावित्र मंत्र समय समय पर समाज में गाने कायम रखने की दृष्टि से, अन्तर्गत पर प्रतिपक्ष लगाने, निरन्तर प्रार्थना पर जार देने आदि की दुहाई दी। १५ मार्च १९५० के दिन स्टाफ्फोर्ड में विश्व धार्मिक समिति के अधिवेशन पर इसी मार्ग के

धार्मिक प्रदर्शन कोहराया गया और समाज की धार्मिक जनता के हस्तान्तरण तथा आन्दोलन करवाने का आन्दोलन चला। ऐसा अनुमान है कि लगभग ५०

बरोड लोगो ने धार्मिक धोपणा पत्र पर अपने हस्ताक्षर किए। इस प्रकार के धार्मिक सम्मेलन समय समय पर परिम, प्रातः सदन, मार्गो मन्त्रिका आदि स्थानों पर बुलाये गये और इनके द्वारा सभी देशों के लोगों से, जो धार्मिक में रुचि रखते हैं, सहयोग देने की अपील की गई। पश्चिम के विचारकों का मत है कि यह धार्मिक आन्दोलन सावित्र मंत्र का एक ठोस मार्ग था और इस प्रकार के मार्ग से वह समाज के भीले भीले लोगों का साम्यवाद की ओर आकर्षित करना चाहता था। चाह जा कुछ भी हो, इतना तो स्वाकार करना ही पड़गा कि इस नीति का अच्छा प्रभाव पड़ा और एशिया तथा अफ्रीका में साम्यवाद का लक्ष्यदायी स्थिति को काफी बल मिला।

स्तालिन की विदेश नीति से सम्बन्धित दो समस्याओं का हमने छान दिया है। क्योंकि इनकी विस्तृत व्याख्या यथास्थान पर की जायगी। परन्तु निरन्तरता की दृष्टि से

यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक है। प्रथम समस्या चीन की चीन और कोरिया है। चीन जैसे विशाल देश के अधिनायक जनरल च्यानका

शेर की सरकार को, जिसके पीछे अमेरिका का आर्थिक दबाव

सहयोग था, साम्यवादियों द्वारा चीन की भूमि से खदेड़ दिया गया और चीन में साम्य

वादी शासन की स्थापना का गई। १० फरवरी १९५० का रूस ने चीन के साथ मधिका

जिसका आर्थिक महत्व है। दूसरी समस्या कोरिया की है। उत्तरी कोरिया (साम्यवादी)

का दक्षिणी कोरिया (पश्चिम मध्यक) पर आक्रमण युद्धोपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति की एक महत्वपूर्ण घटना है। कोरिया की भूमि का ग्रीक युद्ध का समकक्ष

कर तथा कोरियन लोगो को गृह युद्ध की बलवेदी पर भेट चलाकर साम्यवादी शक्तियों

और पूँजीवादी शक्तियों के बीच अपनी अपनी शक्तियाँ माँग कर लेने के लिए अमानव

समय सम्पन्न किया गया उसने सम्पूर्ण समाज परिचित है।

५ मार्च १९५३ को सत्सार के एक महान मानवी नेता स्तालिन का स्वर्गवास हो गया और इसके साथ ही सोवियत संघ की युद्धोपरान्त विदेश नीति का प्रथम काल भी समाप्त हो गया। स्तालिनवादी नीति के परिणाम स्वरूप पूर्वी यूरोप में साम्यवाद का प्रभुत्व स्थापित हो गया और इस क्षेत्र में साम्यवादी शासन स्तालिनवादी व्यवस्था को पनपने का मौका भी मिला। परन्तु इस एक लाभ नीति की के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ उसे प्राप्त न हो सका। स्तालिन समीक्षा की उग्र तथा सदेहशील नीति के कारण न केवल पश्चिमी देश ही साम्यवाद के शत्रु बन गए परन्तु तटस्थ देशों में भी साम्यवादी लोक प्रियता को गहरा धक्का लगा। क्योंकि तटस्थ देशों के प्रति स्तालिन का रुझान ठीक नहीं था। उसके लोह आवरण से ता सत्सार का सोवियत संघ के प्रति अत्यधिक अविश्वास उत्पन्न हो गया। कोरिया और हिंद चीन के गृह युद्ध में सोवियत हस्तक्षेप से पश्चिम और पूर्व की खाई और अधिक विस्तृत हो गई। शीत युद्ध अपना चरम सीमा पर पहुँच गया। अन्त में, इस प्रकार की नीति ने सोवियत संघ को विशेष लाभ नहीं हो सका।

५ मार्च १९५३ ई० से सोवियत विदेश नीति का दूसरा दौर शुरू होता है। इसे नवीन नीति या समुचित नीति भी कहते हैं। इसके कर्णधार मालेकाव बुल्गानिन तथा ख्रुश्चेव थे। वैसे ख्रुश्चेव की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। सोवियत विदेश नीति का दूसरा १५ मार्च १९५३ को मालेकाव ने घोषणा की कि "सोवियत विदेशनीति का व्यवसाय की वृद्धि तथा शांति का सुदृढ़ बनाना है। कोई विवाद ऐसा नहीं है, जिसका निराय शांतिपूर्वक न किया जा सके। यह सिद्धांत अमेरिका सहित विश्व के सभी राष्ट्रों का सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" इस नई नीति का उद्देश्य वास्तव में महोपग की भावना थी और इसी दृष्टि से पश्चिम के प्रति उग्र दृष्टि कोण को घाटा उदार बना दिया गया। कोरिया युद्ध का अन्त हुआ, आष्ट्रिया के साथ संधि की गई, फिनलैंड से रूसी सेनाएं हटा ली गई, रूसी सेना में भारी कमी की गई, हिन्दचीन का समस्या का हल किया गया, जापान तथा पश्चिमी जर्मनी के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये, यूगोस्लाविया को फिर से मित्र बनाने के प्रयत्न किये गये तथा निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पुन वार्तालाप की गई। रूस का लोह आवरण समाप्त कर दिया गया। विदेशी पत्रकारों, नेताओं तथा निष्ठ मंडला का रूस में निमन्त्रित किया जाना और स्वयं रूसी लोग भी विदेशों की यात्रा करने लगे। कोमिनफार्म को भी समाप्त (१८ अप्रैल १९५६) कर दिया गया। इस प्रकार एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। परन्तु फिर भी कुछ घटनाएँ ऐसी घटित हुईं जिसे पूर्व और पश्चिम का तनाव पुन बन गया। जर्मन स्वतंत्रता, हंगरी का हत्याकांड आदि। संक्षेप में, इस युग की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं।

स्तालिन द्वारा स्थापित लोह आवरण दूर कर दिया गया और विदेशियों को रूस



मे आने की स्वीकृति दे दी गई। परिणामस्वरूप विविध देशों के नेताओं, गिण्ट मन्त्रा, पत्रकारों, यात्रियों आदि ने रूस की यात्रा की। यहाँ के लोगों ने लौह आवरण का बातचीत की और की रूस की प्रगति का अवलोकन किया। इसी प्रकार रूसिया ने विदेशों में जाकर वहाँ की प्रगति का अध्ययन किया। एक प्रकार से पूव और पश्चिम के मध्य गम

नागमन शुरू हो गया और आपसी सदेहों का काफी सीमा तक अन्त भी हो गया। जून १९५५ में भारत के प्रधानमंत्री ने रूस की यात्रा की, प्रत्युत्तर में नवम्बर १९५५ में रूसी नेताओं बुल्गानिन, खुश्चेव ने भारत यात्रा की। अप्रैल १९५६ में इन दोनों नेताओं ने ब्रिटेन की यात्रा की। सोवियत उप प्रधान मिर्कोयिन ने अमेरिका की यात्रा की। ब्रिटिश प्रधानमंत्री बेवमिलन तथा विराधोपाटी के नेता गेट्सबल भी रूस हो आए। अभी हाल ही में अमेरिका के उपराष्ट्रपति निक्सन भी रूस यात्रा करके वापस लौटे। १५ सितम्बर १९५६ को सोवियत प्रधानमंत्री खुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की और निक्सन भविष्य में अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहोवर (आइक) भी रूस जाने वाले हैं। इस प्रकार यात्राओं के द्वारा, व्यक्तिगत सम्पर्क तथा वातावरण के द्वारा सोवियत संघ पुनः पश्चिम के साथ ही नहीं अपितु ससार के सभी देशों के साथ अपने सम्बन्धों को मजबूत बनाने में प्रयत्न में लगा हुआ है। इसका एक परिणाम भी निकला। वह यह कि बहुत से समस्याएँ हल हो गईं। जैसे कि कोरिया, हिंद चीन आदि।

दूसरी प्रमुख विषयता साम्यवादी तथा गैर-साम्यवादी देशों की आर्थिक सहायता करना है। स्तालिन ने साम्यवादी देशों का तरफ अवश्य ध्यान दिया था परन्तु गैर-साम्यवादी देशों को आर्थिक सहायता देना नई नीति का काम है। आर्थिक सहायता अफगानिस्तान, भारत, बर्मा, मिथ आदि देशों का सोवियत संघ की नई नीति अर्थिक सहायता दे रहा है। कुछ तागा का कहना है कि यह नीति अमेरिकन सहायता का जवाब है। अमेरिका अपने अर्थव्यवस्था के आधार पर अफावा और एशिया में अपना प्रभाव बढ़ा रहा है। इस प्रभाव को रोकने के लिए तथा साम्यवादी हम के प्रति सहानुभूति में चित करने एवं साम्यवादी का लक्ष्य बनाने की दृष्टि से सोवियत रूस ने इस नीति का अनुसरण किया। इससे अनिच्छित सावियन देशानिर्वा तथा विविध देशों का नाना प्रकार की सहायता पहुँचा रहा है। भारत का भिलाई दम्पान कारखाना रूसी सहायता से ही बन रहा है। देश प्रसार बर्मा और इटोनागिया का भी सहायता प्रदान की गई है। मिथ के आरम्भ का तैयार करवाने में भी रूस हर प्रकार की सहायता दे रहा है। रूस की इस नीति का बचा करत हुए प्रसिद्ध विचारक वाटर लिप्पमैन ने कहा है कि रूस ने पहले संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्र में अमेरिका के एकाधिकार का भग दिया और अब वह विदेशों के आर्थिक सहायता देकर पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार का मान मान कर रहा है। रूस का इस नीति के साथ क्या ध्येय है? यह तो यह ही जाना है। परन्तु हम

मांग ववन इतना कह सकते हैं कि सावियत सघ सच्चे हृदय से अद्विष्टित देशों का सेवा करने का प्रयत्न अवश्य कर रहा है क्योंकि उसकी सहायता कार्यक्रम के साथ किसी प्रकार की राजनीतिक सौदम्राजी की वृत्ति नहीं है। यदि ऐसा होता, जसा कि लागो का विश्वास है, तो हमारा भारत जा कि एक तटस्थ राष्ट्र है, वदापि इसी सहायता स्वीकार नहीं करता। क्योंकि हम अपने सिद्धान्तों की हत्या वदापि सहन नहीं कर सकते।

संशोधित विदेश नीति की एक विशेषता दूसरे देशों के साथ गतिपूर्ण सम्बन्धों का स्थापना रही है। यदि साथे शब्दों में इसका अर्थ है 'जीआ और जीने दा।' इस प्रकार की नीति का आज के युग में 'गतिपूर्ण सहप्रस्तित्व' (Peaceful Coexistence)

को नीति कहते हैं। स्थापित की नीति इससे भिन्न थी। वह शांतिपूर्ण सह सावियत सघ के मित्र राष्ट्रों के अनिवारित सभी देशों का स्वतंत्रता का समर्थन था। परन्तु अब स्वतंत्र सभी देशों के साथ चाह के तटस्थता या अमेरिका के साथी देशों के साथ गतिपूर्ण सहप्र

स्तित्व का भावना में विश्वास करता है। यहाँ तक कि यह अमेरिका के साथ भी शांतिपूर्ण सहप्रस्तित्व बनाने का तयार है। अभी हाल ही में न्यूचेक न अपनी अमेरिकी यात्रा के दौरान में कहा था कि पूँजीवादी अमेरिका और साम्यवादी कम एक साथ रह सकते हैं और आपसी झगड़ों को शांति पूर्वक माधना से सुलभ किया जा सकता है। फिर भी स्वतंत्र अपनी पूर्व नीति की भाँव व भी वभी दिखला ही देता है। जर्मन एकीकरण की समस्या अभी ऐसी ही है जम कि पहले थी। हा, स्व पश्चिमी जर्मनी का पश्चिम में वृद्धि करने के प्रयत्न में अभी पड़े नहीं हटता। इस प्रकार फ्रांस का जर्मन आक्रमण के भय की याद दिला कर उस पश्चिमी जर्मनी के विरुद्ध उकसाने में भी बाज नहीं आता। साथ में, स्व समय समय पर ऐसी चाल चलने में नहीं चूकता जिसके परिणामस्वरूप नाटो (NATO) शक्तियों में या साटो (SEATO) शक्तियों में मतभेद उत्पन्न होने का आशा हो।

सावियत स्व की विदेश नीति की एक विशेषता परतंत्र देशों की स्वतंत्रता का समर्थन रहा है। वह उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद का शत्रु अथवा घोर विरोधी है। इसका तात्पर्य है—स्व पश्चिम के राजनीतिक तथा आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रबल शत्रु

है। उसकी मान्यता है कि आज के युग में किसी देश को उसके राष्ट्रीय स्वतंत्रता को स्वतंत्रता के विरुद्ध दासता की बडिया में जबड़ना न्यायसंगत का समर्थन नहीं कहा जा सकता। पश्चिम का साम्राज्यवाद अफ्रीका तथा एशिया में आज भी विद्यमान है और इस परतंत्र देशों की स्वतंत्रता का पक्षधर बनता जा रहा है। स्व की इस नीति के पीछे कठिन मानववाद भावना ही नहीं है। बल्कि उसका अपने हित भी निहित है। यदि पश्चिम के आधीन देश स्वतंत्र हो जायें तो पश्चिम की शक्ति क्षीण होती जायगी। पश्चिम का इन देशों की मानवतावादी, अविश्व सम्पदा, वृद्धि मानव तथा व्यापार की बडिया से हाथ धोना

पड़ेगा। इसका परिणाम रूस के पक्ष में रहगा। दूसरा हित यह है कि इन देशों का स्वतंत्रता का समर्थन करने के कारण इन देशों में रूस की लोकप्रियता बढ़ती जायेगी और धीरे धीरे आर्थिक महायन्त्रा आदि के द्वारा उन्हें रूस की तरफ झुकाने में सफलता मिल सकेगी।

रूस की नवान नीति न पश्चिम का अजीब परगानी में डाल दिया है। वह यह साचन का विवश हो गया है कि क्या साम्यवादिया की विश्व क्रांति की विचारधारा गिथिल हो गई है या इसी मिद्वान्त का कार्यान्विन करने के लिये एक नई योजना का निर्माण किया गया है और यह नवीन नीति उसकी पृष्ठभूमि का रूसो विदेश नीति न हा ? क्या स्तालिन की नीति को हमें का के लिये त्याग दिया की समीक्षा गया है या केवल कुछ समय के लिये ऐसा किया गया है ताकि पश्चिम उसके विश्वास रूपी कण्ट जाल का गिकार बन जाय। य कुछ ऐम पहलू है जि होने पश्चिम को आश्चर्य में डाल लिया है। परन्तु राजनीति क विद्यार्थी के लिये इस प्रकार की भाति में अविश्वास करने की कोई बात नहीं है। स्पिन हाल इस भाति के कारण गीम-युद्ध की उन्नता कम हा गई है। इसी नीति के कारण कोरिया तथा हिन्दचीन के स्थानांतरण सभ्य विश्व स्थापना युद्ध में परिवर्तित होते होने बच हैं। इसी के कारण ससार के सामने रूसी प्रगति का चित्र उपस्थित करना सम्भव हो सका है। इस नीति के द्वारा भारत आदि पिछड़े देशों का अधिक लाभ ही हुआ है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी का विन्वाम है कि जिस प्रकार अनेक देशों का जीवन के बा इस्लाम का जाग गिथिल हा गया और उस बाद में अन्य धर्मों के साथ मुलह करनी पग उसी प्रकार साम्यवाद का जोग भी अब ठडा पड गया है और यही कारण है कि वह अब अन्य देश क साथ गति पूरा सहअस्तित्व की बात करने लगा है। खैर टायनबी के रूस बधन का हम स्वीकार नहीं कर सकते। हम वास्तविक लगन के साथ ससार में गति का स्थापना का ध्येय लेकर आगे बढ रहा है।

रूस अमीना और गनिया क रक्षा के राग्य आन्दातनी का समर्थक रहा है। रंग भू क विन्धु भा उमने बार बार अपना गिराण प्रगट किया है। रूस पश्चिम के साथ मित्रता का हाथ बढ़ाने का हर समय तयार रहा है। वह चाहता है कि बलिन का समस्या का दाति के साथ आपसी बातचीत द्वारा हल हा जाय। नि गम्भीकरण का नामांविन किया जाय तथा अणु धानि का उपयोग गानिकानान उद्योग धधा के विज्ञान में किया जाय। इसी उद्देश्य का लेकर साविमन मध क युनयन प्रघान खुदचेव न निम्न १९५६ में अमरिका की यात्रा की। गायन 'आइव खुदचेव' सम्मेलन विश्व गानि का म्पायी बनान में मागन दे मने।

अब हम अमरिका की विन्धु नानि का अध्ययन करत है। गुमन ने किया है—

“अमेरिका की वैदेशिक नीति की कुछी, चाहे उसके विषय में किसी भी प्रकार के तक सगत शब्दों को काम में लाया जाए, उतनी ही साधारण हैं जितनी कि प्रारम्भिक शताब्दियों में ब्रिटिश वैदेशिक नीति की कुछी थी, किसी भी एक शक्ति अथवा शक्तियों के गुट या धुराप तथा शक्तियों पर निर्बिवाद नियन्त्रण प्राप्त न करने दत्ता, क्योंकि

उस अवस्था में, अमेरिका का मूलभूत हित अर्थात् एक स्वतन्त्र मता के रूप में राजनीतिक जीवन के अस्तित्व के प्रति खतरा उत्पन्न हो जायगा, इस प्रकार की सभी चेष्टाओं को दृढ़नीति एवं शक्तियों से तथा यदि आवश्यकता हो तो एक पूर्ण युद्ध के सभी शक्तियों से रोकना।” अमेरिका की विदेश नीति के बारे में एक दिलचस्प बात यह है कि उस दूसरे लोगों को हमेशा यह समझना पड़ता है कि उसकी विदेश नीति शक्ति से सम्बन्धित नहीं है अपितु नीति शास्त्र के प्रश्नों से सम्बन्धित है। मन्त्रातिथि दृष्टि से अमेरिकन विदेश नीति का आधार गलत है। परन्तु उसने इसी आधार पर प्रचार किया। प्रथम महायुद्ध में प्रवेश करते समय उसने कहा था—“अमेरिका कसर के बाल गुनाहों तथा ‘सैनिकवाद’ एवम् ‘निरक्षयता’ तथा ‘प्रशन्नवाद’ को नष्ट करने के लिए घम युद्ध करना, विश्व का प्रजासत्तव के लिए सुरक्षित करना तथा युद्ध को समाप्त करने के लिए युद्ध का जीतना चाहता है।” ठीक इसी प्रकार हमने महायुद्ध में प्रवेश करने पर उसने एकनास्ताश्व क पापों का समाप्त करने तथा प्रत्येक देश में “चारस्वत प्रजातन्त्र” लियाने के लिये युद्ध का जीतना आवश्यक बतलाया। १९५० में साम्यवादी क्रम तथा चीन के विरुद्ध भी नीतिशास्त्र का आट में विप्लवम किया गया।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका ने एक प्रकार में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सम्मिलित हो लिया था। परन्तु दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त वह ऐसा करने का हिम्मत न कर सका क्योंकि उस साम्यवादी प्रभुत्व के बढ़ जाने की आशंका थी। इन वह महान में डटा रहा और साम्यवादी विरोधी पश्चिमी राष्ट्रों का नेतृत्व करता रहा। अपने साधियों की अर्थ तथा शस्त्र शक्त से सहामता करता रहा। शीघ्र ही न लिखा है कि अमेरिकन विदेश नीति को १९४५ के बाद चार अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ा है। ये इस प्रकार हैं—(१) सहयोग एवम् अनुकूल अवस्था (१९४५-१९४६) (२) कठोरता तथा धैर्य अवस्था (अप्रैल १९४६-मार्च १९४७) (३) आधिक्य सहयोग द्वारा साम्यवादी प्रसार की सीमन अवस्था (मार्च १९४७-अप्रैल १९४९) और (४) शक्ति का प्रत्यक्ष सन्निधि सगठनों तथा सन्निधिता की अवस्था (अप्रैल १९४९)। इन चार अवस्थाओं के बाद एक और परिवर्तन दृष्टिकोण करने लगा है। वह है—आपसी वातानुष द्वारा शक्ति की सुरक्षा। इस परिवर्तन का सूत्रगत अंग १९४९ में हुआ और इसके परिणाम स्वरूप अमेरिका के उपाध्यक्ष निम्नलिखित न मानिये तथ की यात्रा

(१) Schleicher—Introduction to International Relations

को, सोवियत उप प्रधान मिकियोन ने अमेरिका की यात्रा को और मिनम्बर १९५८ में सोवियत प्रधान ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की तथा 'घाईक' के साथ व्यक्तिगत वार्ता भी की और नायद निकट भविष्य में ही 'आइक' सोवियत मध्य की यात्रा हो जाने वाले हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पर्क और वास्तुतः के द्वारा विवादों को सुलभता की नई प्रवृत्ति का सूत्रपात हो चुका है और फिलहाल विश्वास तो यही किया जाता है कि इसका परिणाम सामंदायक निवलेगा।

द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका तथा रूस ने आपसी सहयोग में काम किया था और अमेरिकन लोगो का विश्वास था कि युद्ध कालान्तर सहयोग युद्धोपरान्त उत्पन्न अव्यवस्थाओं का अधिक विनाश का दूर करने में भी बना रहेगा। इस विश्वास का एक कारण यह था कि युद्ध के उपरान्त भावी संसार के मानचित्र पर युद्ध

सहयोग की कालोन सम्मेलन में समझौता हो चुका था। अपने इसी

भयाना विश्वास के आधार पर अमेरिका ने सहयोग की नीति का

अनुसरण किया। मण्डल राष्ट्र मध्य की स्थापना, युद्ध के परिणाम स्वरूप बर्बाद प्रदेशों का फिर से आबाद करने का कार्य, अणु शक्ति का नियंत्रण करने का तरफ प्रयत्न, यूरोप में अमेरिकन सेनाओं की वापसी आदि कार्य अमेरिका ने सहयोग एवं आनुकूल्य नीति के ध्येय हैं। इतना नहीं बल्कि उसने चीन में ग्राफ और गाम्बुआदिया के चीन सम्मेलन कराने का भी अवसर प्रयत्न किया। इसी प्रकार पराजित राष्ट्रों के साथ यथा शीघ्र सम्मेलन करने का प्रस्ताव रखा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में अमेरिका ने अपने साथी देशों के साथ सहयोग की भावना से काम किया और किसी भी क्षेत्र में सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करने या यथा घमकी के द्वारा अपना हित साधने का प्रयत्न नहीं किया। अमेरिका की नीति राष्ट्रपति ट्रुमैन के २८ अक्टूबर १९४५ के भाषण सूत्र से स्पष्ट हो जाती है जिनका सार यह था कि अमेरिका किसी देश पर आक्रमण करने का इच्छुक नहीं है, उस किसी प्रकार के प्रादेशिक विस्तार की महात्माकाया नहीं है, किसी भी प्रकार के प्रादेशिक परिवर्तन उस प्रदर्शन के जनमत के विरुद्ध नहीं किया जायेंगे, प्रत्येक राष्ट्रीय देश का अपनी इच्छानुसार शासन व्यवस्था बनाने का स्वतन्त्रता होगी तथा पिछड़े और अविश्वसनीय देशों की आर्थिक उन्नति में अमेरिका अपना योग्य सहयोग देगा।

परन्तु महायुद्ध की यह नीति अतिशय समय नहीं चली चली क्योंकि शांति संधि का नया अर्थ सम्मेलन को तब अमेरिका और सोवियत संघ में तीव्र मतभेद पड़ा था। शांति सम्मेलन में स्टालिन ने पूर्वी यूरोपीय देशों में स्वतन्त्र सरकारों की

स्थापना का वचन दिया था। परन्तु अब पूर्वी यूरोप में सोवियत

पठोरता एवं धैर्य की कठोरता नाममात्र मरकारें स्थापित की जा चुकी हैं

की नीति और इस प्रकार नाममात्र सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप सोवियत

संघ में विलीन हो चुका था। इससे अमेरिका विनित हो उठा और

उमन सहयोग की नीति को जोड़कर कठोरता तथा धैर्य की नीति का अनुसरण किया। यही नीति के आधार पर जमनी के सम्बंध में, कारिया के एकीकरण यूनान के गृह युद्ध तथा टर्की में रूसी हितों की भाग के प्रति अमेरिका का रुख बढोर हो गया और वह धय के साथ रास्ते में आने वाली कठिनाइयों की प्रतीक्षा करता रहा। इस नीति का अनुसरण करने का एक कारण यह भी था कि अमेरिका का विश्वास था कि हम उसका उदारता का अनुचित लाभ उठा रहा है और वह तमा ठीक ढा स बात करेगा जबकि उसके प्रति कठोर और दृढ़ कदम उठाये जाय। विदेश परिषद् का बैठका में रूसी रुख से यह बात पुष्ट हो गई कि हम के साथ सहयोग की नाति कभी मकर नहीं हो सकती।

इस तनातनी के उपरांत ही अमेरिका का ध्यान साम्यवाद के प्रसार का रोकने की तरफ गया और उसने आर्थिक दृष्टि से नस्त एक सकट प्रस्तुत होगा की आर्थिक सहायता करने का संकल्प किया। क्योंकि इतिहास इस बात की चेतावनी दे रहा था कि साम्यवाद

के विकास का कारण आर्थिक सकट ही है। यूनान, ईरान और

आर्थिक नीति टर्की में यही सकट मँडरा रहा था। यूनान में राजतन्त्रवाधियों द्वारा साम्यवाद और मार्क्सवादियों में गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था। और राज पक्ष

का सीमाने पातियों का मित्र ब्रिटेन आर्थिक कारणों से अपनी सेनाओं का

और अधिक समय तक यूनान में रखने में असमर्थ था। उधर

साम्यवादियों की यूगोस्लाविया, बल्गेरिया आदि साम्यवादी दलों से सहायता मिल रही

थी। अतः अमेरिका के लिए यूनान की आर्थिक सहायता करना अनिवार्य हो गया

क्योंकि यूनान के हाथ में निराल जाने पर टर्की का बचाना सम्भव नहीं था। स्वयं टर्की

के ऊपर रूस द्वारा आक्रमण की आशंका बनी हुई थी। ईरान भी अपने तेल क्षेत्रों

के कारण हम का निगाना बना हुआ था और उसकी भूमि पर रूसी तथा पश्चिमी

सैन्य पक्षी हुई थी। हम इन तीनों देशों के योग का उद्गार रहा था। ऐसी परि-

स्थिति में ट्रूमैन ने इन देशों की आर्थिक सहायता करने का पक्का निश्चय कर दिया।

उसकी इस नीति का 'ट्रूमैन मिशन' कहते हैं।

"ट्रूमैन मिशन" का अमेरिका की विदेश नीति में एक महत्वपूर्ण स्थान है। नया

कि इस मिशन के साथ ही साथ अमेरिका का परम्परागत नीति में एक महान परिवर्तन

आ जाता है। जमा कि ट्रूमैन ने कहा था "यह अमेरिका की विदेश नीति में नया

माड था। हमने यह घोषणा की कि जहाँ कहीं शांति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या

परोक्ष आक्रमणायक कार्य होगा, वहाँ सशुक्र राज्य अमेरिका की सुरक्षा सकट में

होगी और वह इसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा।" यह सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूप में हम

को चुनौती भी और साथ ही चेतावनी भी कि संयुक्त के दिन अब बीत चुके हैं।

हमारे कारण हमारा नए परस्पर विरोधी युद्धों में भी विभाजित हो जाता है। एक

संयुक्तता का रक्षक तथा दूसरा अनेक महाधिकांशवाद। कुछ लेखकों का कथन है कि

यह सिद्धान्त मुनरा सिद्धान्त का विश्वव्यापी रूप था। इससे यह भी स्पष्ट हो जाना है कि जब ब्रिटेन में अधिक उत्तरदायित्व उठाने की शक्ति नहीं रही है और मध्यपूर्व का नियंत्रण उसने अफिरिका को साप दिया है।

टमैन सिद्धान्त के आलाचको का कहना है कि इस सिद्धान्त का उद्देश्य आर्थिक सहायता की आट में इन देशों के कच्चे माल, सनिक् ग्रहों तथा भागों पर प्रधिकार करना था। आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना था। क्योंकि जिस "प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता" के नाम पर यूनान, टर्की आदि का सहायता दी गई थी, उस समय इन दोनों देशों में दानों ही दाना का अभाव था। सहायता का उद्देश्य ही दूसरा था। वह था साम्यवाद के प्रसार को रोकना तथा अपना प्रभाव स्थापित करना। इस सिद्धान्त का दूसरे ढंग पर भी आलाचना की गई है। वह इस प्रकार कि अमेरिका ने इन देशों की सहायता देकर मधुक्त राष्ट्र सघ के सम्मान का कम कर दिया। इस प्रकार का सहायता यानि सधुक्ता राष्ट्र के द्वारा या कम से कम उनकी जानकारी में दी जाती तो अधिक अच्छा होता। परन्तु अमेरिका ता ईरान के तेल की रण्य के लिये आतुर था क्योंकि यदि इस तेल पर रूस का एकाधिकार हो जाता तो पश्चिमी देशों को एक जबरन सघ सहाय करना पड़ता। संक्षेप में, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि टमैन सिद्धान्त अमेरिका का साम्यवाद के प्रति घणा की अभिव्यक्ति था।

आर्थिक सहायता का कार्यक्रम यही पर नहीं रुक गया बल्कि और भा आगे बढ़ा। अब यूरोप की घारी थी। क्योंकि पूर्वी यूरोप का अधिकांश भाग साम्यवादी हो चुका था और बाकी का भाग तथा यूरोप का अन्य भाग आर्थिक संकट में उलझ चुके थे। उठा ध धे नष्ट हो चुके थे। बकारा बन्नी जा रही थी और बढ़ती जा रहा थी साम्यवादी विचार धारा। इसमें अमेरिका चिन्तित हो उठा और अमेरिका के विदेश मन्त्रि मागल ने "मागल योजना" के अंतर्गत यूरोप के पुनर्निर्माण का भार उठाने का स्वीकार कर लिया। केवल आर्थिक सहायता के द्वारा, तो भी कज के रूप में, दान के रूप में नहीं। परन्तु यह अपनी नीति का लुभावने गन्दा व साथ रखने में नहीं चूका। ५ जून १९४७ को दिन मागल ने एक भाषण में कहा 'हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, यह मूल दरिद्रता, निराशा और अन्धवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पुनर्स्थापन है जिसमें स्वतन्त्र सत्ताओं का विकसित करनेवाला राजनितिक और सामाजिक परिस्थितिया उत्पन्न हो सकें।' इस योजना के अंतर्गत आगामी चार वर्षों में यूरोप के लगभग १६ देशों को १२ अरब डॉलर की सहायता देने का निर्णय किया गया। सावित्त सघ और उसके साथी राज्यों ने अमेरिका की आर्थिक सहायता को ठुकरा दिया। अमेरिका द्वारा यह सहायता इस गर्न पर दी गई थी कि सहायता पाने वाले देश अपने अपने देश में साम्यवादी तत्त्वों को जड़ ध्वंस करने का प्रयत्न करेंगे।

२० जनवरी १९४६ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने चार सूत्री योजना की घोषणा की। वह इस प्रकार थी—(१) संयुक्तराष्ट्रसंघ का अविचलित समर्थन, (२) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के प्रोग्रामों को जारी रखना, (३) आक्रमण के खतरे के विरुद्ध स्वतंत्रता प्रिय राज्यों की शक्ति बढ़ाना, तथा (४) वैज्ञानिक विकास एवं व्यावसायिक लाभों को अल्प विकसित राज्यों के मुद्दे पर उन्नति के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से, एक साहसपूर्ण नवीन प्रोग्राम आरम्भ करना। प्रेसीडेंट ट्रूमैन ने इसका प्रस्ताव करते हुए कहा था—“चतुर्विध का विचार उचित रूप में कार्यान्वित किए जाने पर, स्वतंत्र सभ्यता की सफलतापूर्वक रक्षा के लिए आवश्यक है।”<sup>१</sup>

इस सम्बन्ध में हमारे सामने एक सवाल उठ खड़ा होता है, वह यह कि आखिर अमेरिका को इस के प्रति इतना विश्वास क्यों होता जा रहा था? इसका उत्तर भी इस युग की घटनाओं से मिल जाता है। चेकोस्लोवाकिया में रूस ने बलपूर्वक साम्यवादोपासन की स्थापना कर दी थी (फरवरी १९४८)। दूसरी घटना बर्लिन की घेराबंदी (Blockade) है और तीसरी घटना अमेरिकन सङ्घर्ष के उपरान्त चीन में गद्गार की पराजय है। इससे अमेरिका अत्यधिक आनुरित हुआ था—साम्यवादोपासन को रोकने के लिए।

अब तक अमेरिका का अपनी शक्ति की सर्वोच्चता का विश्वास था। विश्वास का कारण था बिनाशकारी अणुशक्ति के रहस्य का एकाधिकार। परन्तु उनके इस एकाधिकार को भी सोवियत संघ ने क्षीय ही समाप्त कर दिया। सितम्बर १९४९ तक अमेरिका को पूर्ण रूप से यह मालूम हो गया कि सोवियत संघ ने अणुशक्ति सैनिक समर्थनों की शृंखला के रहस्य को प्राप्त कर लिया है और अब वह इसमें भी भयंकर अस्त्र शस्त्रों के निर्माण की तैयारी में लगा हुआ है। इस जानकारी ने अमेरिका को और भी अधिक भयभीत कर दिया और उसका वैदग्विभी नीति में एक नया मोड़ आया, एक नये अध्याय का समावेश किया गया। अब उसने पश्चिमी गोलार्ध के बाहर स्थित शक्तियों के साथ सामूहिक सुरक्षा संबंधी समझौतों की रचना करने तथा सम्मिलित होने का निणय कर लिया। वास्तव में यह निणय महत्वपूर्ण था। क्योंकि इसके पूर्व अमेरिका ने शायद ही कभी सामूहिक सुरक्षा के गठबंधनों में उलझने की चेष्टा की है। इस नवीन नीति की प्रथम सतर्कता की संधि थी। इसके बाद अपने यूरोपियन साथी देशों की सैनिक शक्ति बढ़ाने तथा मनाफा का प्रायुक्तिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित करने की दृष्टि से नवम्बर १९४९ में “पारस्परिक प्रतिकार सहायता का कार्यक्रम” (Mutual Defence Assistance Programme MDAP) स्वीकार किया गया। सैनिक सहायता की दृष्टि से अमेरिका ने प्रथम बार कोरिया मध्य में भाग लिया और जून १९५० में संयुक्त राष्ट्रसंघ पर कोरिया में



सैनिक सहायता पहुँचाने पर जोर दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी अपने इतिहास में प्रथम बार अपने सदस्यों का दक्षिणी कारिया (पश्चिम समर्थक) की उत्तरी कारिया (साम्यवादी) से रक्षा करने के लिये सैनिक सहायता करने का आदेश दिया। अक्टूबर १९५१ में अमेरिका ने "पारस्परिक सहायता सुरक्षा कानून" (Mutual Security Appropriations Act) पास किया जिसके अंतर्गत अमेरिका से सैनिक संधियाँ द्वारा सर्वत्र देशों को ७ अरब २३ करोड़ डॉलर देने की व्यवस्था की गई। इस विंगाल राशि का अधिकांश भाग सैनिक सामग्री सहायता के रूप में दिया गया।

८ सितम्बर १९५१ का अमेरिकाने जापान के साथ अनिश्चित काल के लिये प्रतिरक्षा संधि सम्पन्न की। इस संधि के अंतर्गत अमेरिका ने जापान को सैनिक सहाय देने का वचन दिया यदि (१) जापान पर बाह्य आक्रमण किया गया, (२) विदेशी शक्ति द्वारा उसका ज्ञान पर या हस्तक्षेप करने पर जापान में आंतरिक उपद्रव उठ खड़ा हो। इन सहायता के बल में जापान ने अपने सैनिक अड्डे अमेरिकन प्रयोग के लिये देने तथा जापान में अमेरिकन सन्नाह रखने और सुदूरपूर्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने का वचन दिया। इस संधि के पूर्व १ सितम्बर १९५१ को अमेरिका आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैंड के साथ भी सुरक्षा संधि कर चुका था। इस संधि का ध्येय प्रशांत महासागर शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखना था। २६ मई १९५२ को अमेरिका पश्चिमी जर्मनी साथ, शान्ति एवं मित्रता की संधियों पर हस्ताक्षर करता है।

नवम्बर १९५२ में जनरल आइज़न होवर अमेरिका के नये राष्ट्रपति निर्वाचित। परन्तु 'आइज़न' के आगमन से भूतकाल से अधिक ताब प्रयत्न ही हुआ। 'आइज़न' पर से विकसित बदलिक नीति के स्थूल स्वरूप की रक्षा के लिए वचनबद्ध था। हाँ, पर १९५२ में स्थापित की गयी इस की नवान नीति के परिणाम स्वरूप एक नया का सूत्रपात अवश्य हो जाता है। फिर भी, अमेरिका का विदेश मन्त्रि स्व. हनेस, पश्चिम यूरोप को एक करने तथा उस शक्ति से पुनः सुसज्जित करने, त्रिटिया एवं महासागर में व्यवस्था की साम्य बटाने, रूस के विरुद्ध आक्रामक नीति अपना देने, लाल चीन को पराजित करने का उपाय की चीन का शासन सोपन का हिमायती था। यूमेन ने लिखा है— 'प्रतिगमन 'नीति युद्ध' जिसके साथ किसी विश्व-युद्ध अथवा पूर्ण (गर्म) युद्ध की सम्भावना नहीं क्योंकि कोई भी शत्रु-शक्ति दूसरे को पराजित करने की गंभीर आशा नहीं कर सकता था। इस प्रकार से, संयुक्त राज्य अमेरिका की बदलिक नीति तथा विश्व राजनीति का स्थापना प्रभावित हो गया।' आइज़नहावर के समय में दो महत्वपूर्ण सैनिक सम्मेलन हुए एक सीटा (SEATO) और दूसरा बगदाद पकट। परन्तु इस युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है— 'आइज़नहावर सिद्धांत' की घोषणा।

आइज़नहावर सिद्धांत (Eisenhower Doctrine) का दुष्प्रचार और प्रचार

अभियान की उपज था। १९५६ के पूर्व मध्य पूर्व में विशेष कर स्वेज क्षेत्र, पिलस्तीन तथा इराक में, ब्रिटेन का प्रभुत्व था। मध्य पूर्व अपने तेल के कारण सत्तार की राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहाँ के तेल की कम्पनियों पर

आइजनहावर सिद्धांत ब्रिटेन और अमेरिका का नियंत्रण है। अन्य देशों का प्रभाव नगण्य है। स्वेज दुर्घटना के बाद इंग्लैंड को मध्यपूर्व से वे आबू होकर निकलना पड़ा और मिस्र तथा ईरान आदि देशों में साम्य

वाद की लावप्रियता बढ़ने लगी। वाशिंगटन को यह सन्देह हुआ कि कहीं सोवियत संघ का प्रभाव अधिक न बढ़ जाये और इस प्रकार तेल के क्षेत्र उसका हाथ से निकल जाय। इसलिए "आइजनहावर सिद्धान्त" की घोषणा की गई और अमेरिकन कांग्रेस ने मध्यपूर्व के देशों की सहायता के लिए २० अरब डालर की राशि स्वीकार कर दी। इसके साथ ही कांग्रेस ने अमेरिकन राष्ट्रपति का मध्यपूर्व के मामलों में आर्थिक तथा सैनिक सहायता देने का अधिकार भी दे दिया। आइजनहावर सिद्धान्त के अनुसार मध्यपूर्व के किसी भी देश को, जो अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा अखण्डता को बनाये रखने का इच्छुक है, बाह्य आक्रमण की अवस्था में या आक्रमण की आशंका होने की स्थिति में, चाहे वह साम्यवादी रुस की तरफ से हो या उसके समर्थक देशों की तरफ से हो, अमेरिकन राष्ट्रपति को सैनिक सहायता देने का तथा सेना भेजने का अधिकार होगा बगैरे कि आक्रात देश इस प्रकार की सहायता के लिये अपील करे।

आइजनहावर सिद्धान्त को भिन्न भिन्न क्षेत्रों में कटु आलोचना की गई। १५ जनवरी को रूसी समाचार पत्र 'तास' ने उसकी घोर भत्सना की। भारत के प्रधानमंत्री प. नरसिंम न इस सिद्धान्त को उपनिवेगवादी का दूसरा रूप बनलाया। सीरिया तथा मिश्र ने इस साम्राज्यवादी पद्धति तथा अरब राष्ट्रीयता का कुचलने का साक्ष्य बतलाया। कुछ का विचार था कि इसका द्वारा इजराइल को अरब राज्यों के विरुद्ध अधिक शक्ति प्रदान करना था। पश्चिम के समर्थकों ने अवश्य ही इसका स्वागत किया था। उनकी दृष्टि में यह सिद्धान्त "विश्व व्यापी साम्यवाद" को नियंत्रण करने का एक महत्वपूर्ण साधन था। बाह्य आ भी हा, इतना तो कहा ही जा सकता है कि आर्थिक सहायता की भाँट में अमेरिका मध्यपूर्व में अपनी बठपुतली सरकारें स्थापित करने तथा साम्यवाद के प्रसार को रोकने में अत्यधिक उत्सुक था।

आइजनहावर सिद्धान्त के आधार पर १५ जुलाई १९५८ को मध्यपूर्व के लेबनान देश में अमेरिकन सेना तथा नौ सेना भेजी गई। लेबनान की समस्या पर आगे के भाषा में विचार किया जायेगा। १४ जुलाई १९५८ का इराक में सैनिक आगि हा गई और ऐसा अनुमान लगाया गया कि इसका प्रभाव जोर्डन में भी पड़ सकता है। अमेरिका के आदेश पर १७ जुलाई का ब्रिटिश सेना जोर्डन पहुँच गई और अमेरिका ने २० जुलाई का जोर्डन का ७५ लाख डॉलर की नई सहायता देने की घोषणा की। इस प्रकार आइजनहावर सिद्धान्त मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रसार का रोकने में तत्पर है।

अभी पिछले कुछ महीनों से अमेरिका की विदेश नीति में एक और नया मोड़ आ गया है। इसका एक कारण अतिरिक्त ज्ञान में रूस की महत्वपूर्ण प्रगति है। ४ अक्टूबर १९५७ को रूस ने अपना प्रथम कृत्रिम उपग्रह अतिरिक्त में छोड़ा। ३ नवम्बर ५७ को दूसरा और बाद में तीसरा उपग्रह छोड़ा गया। ख्रुश्चेव का अमेरिका यात्रा के एक निःपूर्व रूस का उपग्रह चन्द्रमा तक पहुँच गया और यात्रा की वापसी के बाद अर्थात् ३ अक्टूबर १९५६ को रूस ने एक और उपग्रह छोड़ा है जो चन्द्रमा का चक्कर लगा रहा है। विज्ञान के इस क्षेत्र में रूस अमेरिका से बहुत आगे निकल गया। इससे अमेरिका भयभीत हो उठा है और अब वह आपसी भगडा का आपसी वार्तालाप के द्वारा सुलभान की नीति पर अग्रसर होने की सोच रहा है। अमेरिकन उपराष्ट्रपति निकसन का रूस यात्रा और सोवियत उपप्रधान मंत्री मिर्किन्कोव की अमेरिका यात्रा ने इस नीति को सबल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सोवियत प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव की अभी हाल की अमेरिका यात्रा को इस दिशा में प्रथम कदम माना जाता है और आदर का निरुद्ध भविष्य में रूस यात्रा इस दिशा का दूसरा ठोस चरण होगी। आशा है कि इस विरुद्ध शांति की सुरक्षा बनी रहगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अमेरिका की विदेश नीति को अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा। सर्वप्रथम तो उसे अपनी परम्परागत धृष्टता की नीति का परित्याग करना पड़ा और ससार की समस्याओं को सुलभाने में साझीदार बनना पड़ा। गुरु में उसने सह्य तथा आनुकूल्य नीति का पालन किया परन्तु इस नीति से उसके साझीदार सतुष्ट नहीं हुये। अतः उस कुछ उप नीति का परन्तु साथ ही धय का सहारा लेना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप सोवियत सभ के साथ उसके मतभेद अधिक उग्र होत गय और शीत युद्ध का सूत्रपात हुआ। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिये उसने आर्थिक महायुद्ध का कार्यक्रम बनाया और जब इससे भी उसे सतोष नहीं हुआ तो सैनिक महायुद्ध का मार्ग स्वीकार किया। फिर भी शीत युद्ध में विशेष कमी नहीं आई। अतः में एक नवान मार्ग की तरफ अग्रसर होने का विचार किया जा रहा है। वह है आपसी वार्तालाप द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भगडा तथा समस्याओं को सुलभाना।

## (२) आदेशिक सैनिक सधियों और सगठन

“यह हमारा दृढ विश्वास है कि सैनिक सधियों की ये पद्धतियाँ शांति के मार्ग में बाधा बनकर आती हैं, भय और शरा को बढ़ाती हैं, सुरक्षा के नजदीक नहीं ले जाती जिस उद्देश्य के लिये इनकी रचना हुई है और वास्तव में शस्त्रोपकरण की दौड़ को सहायता देती हैं।”

—प० जवाहरलाल नेहरू।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, यूरोप के परम्परागत "शक्ति सन्तुलन सिद्धांत" ( Balance of Power ) का परित्याग कर दिया गया और उसके स्थान पर

‘सामूहिक’ ( Collective ) सुरक्षा के आधार पर, राष्ट्र  
 षष्ठभूमि सच की स्थापना की गई । राष्ट्रसंघ के २१ वें अनुच्छेद के

अंतर्गत शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के अभिप्राय से प्रादेशिक संधियाँ और संगठन को बनाने की एक सीमा तक छूट दी गई थी । राष्ट्रसंघ का स्थापना के शुरुआत बाद ही संसार के राष्ट्रों ने आपसी समझौते करने और उन पर अधिक विश्वास करना शुरू कर दिया और ज्यों ज्यों द्वितीय महायुद्ध का भय नजदीक गिँसलाई देने लगा त्यों त्यों उन्होंने राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा की तरफ ध्यान देना कम कर लिया और पूर्ण रूप से अपने सीमित दायित्व वाले सैनिक समझौता पर निर्भर रहना शुरू कर दिया । इसका परिणाम सविदित है । द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद भावी पीढ़ियों का युद्ध के विनाश से बचाने का दृष्टि से संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना की गई । परन्तु इस बार भी संयुक्तराष्ट्र के निर्माताओं ने प्रादेशिक, बहुपक्षीय तथा सामूहिक सुरक्षा समझौता के प्रति उदार मत अपनाते हुए, उन्हें मान्यता प्रदान की, वगैरे कि उनका उद्देश्य आत्म सुरक्षा की भावना है और संयुक्तराष्ट्र संघ की धारारों के विरुद्ध न हो । ऐसा इसलिये किया गया कि उन्हें यह विश्वास था कि सामूहिक सुरक्षा के दायित्व के स्थान पर प्रादेशिक या सीमित दायित्व को निभाना अधिक मरल था और इसमें विश्वव्यापि की सुरक्षा अग्रिम स्थायी रहे सकती थी । यही कारण है कि युद्धापरान्त अन्तरराष्ट्रीय राजनीति इस प्रकार के समझौता से अधिक प्रभावित होती जा रही है ।

सैनिक समझौतों की उत्पत्ति का एक महत्वपूर्ण कारण साम्यवाद का प्रसार है । हमारा प्रमुख कारण प्रजावादी राष्ट्र तथा साम्यवादी राष्ट्रों के मध्य विद्यमान तीव्र मतभेद है । साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये सर्वप्रथम "मानव योजना" के रूप में अमेरिका द्वारा दी जानेवाली आर्थिक सहायता का स्थान आता है । परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि केवल आर्थिक सहायता के माध्यम से साम्यवाद का प्रसार रोकना संभव नहीं है । क्योंकि निम्न राष्ट्रों की सोवियत संघ की प्रबल सैनिक शक्ति का भय था और वे अपनी सुरक्षा के लिये अत्यधिक अभ्यर्तित थे । अतः सैनिक समझौतों का माग प्रकट किया गया ।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद, प्रादेशिक संगठनों की दिशा में सर्वप्रथम बरम अमेरिकन राज्या ने उठाया था । अमेरिकन महाद्वीप के विविध राज्या का एकता के मूल में पिरान का विचार १८६० ई में बार्निंगटन में होने वाले अमेरिकन राज्यों के प्रथम "अन्तर अमेरिकन सम्मेलन" ( International Conference of American States ) में उठाया गया था परन्तु इस दिशा में अधिक प्रगति न हो सकी । दा-दा किन्तु ध्यायी महायुद्धों ने इस विचार का पुनः जीवन दिया । १९४५ में अमेरिकन

राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन मेक्सिको नगर में हुआ। इस प्रकारके साझा सारम्भिक ध्येय तत्परता के माध्यमों द्वारा जानकारी को एकत्र करना तथा सम्मेलनों का मूल्यांकन करना था। परन्तु १९४७ में ब्राजील का राजधानी रीओ डि जानेरों (Rio de Janeiro) के समीप पेट्रोपोलिस स्थान पर एक घोर सम्मेलन हुआ तथा इस सम्मेलन में पारस्परिक सहायता की द्वातर अमेरिकन संधि (Inter American Defence Treaty of Reciprocal Assistance) का प्रास्त्य तैयार किया गया। इन प्रास्त्य पर, २ नवम्बर १९४७ का रीओ डि जानेरों में हस्ताक्षर किये गये और सचयित राज्यों द्वारा अनुसमर्थित होने के उपरान्त ३ नवम्बर १९४८ को इस संधि किया गया। रीओ में हस्ताक्षर किये जाने के कारण इसे रीओ संधि (Rio Treaty) भी कहा जाता है। १९४८ में कोलम्बिया के बोगोटा स्थान पर अमेरिकन राज्यों का नया अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में वर्तमान कालीन "अमेरिकन राज्यों का संगठन" (Organization of American States—OAS) के विस्तृत स्वरूप को अंतिम रूप दिया गया और १३ नवम्बर १९४९ में यह संधि किया गया।

इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं—(१) महाद्वीप की शांति और सुरक्षा को मजबूत करना, (२) आपसी विलक्षणता के कारणों को रोकना तथा सन्तुष्ट राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों की शांति व्यवस्था करना, (३) आक्रमण की व्यवस्था में सभी सदस्य राज्यों द्वारा एक सामूहिक प्रतिक्रिया उठाना, (४) आपस में उत्पन्न होने वाली राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं का समाधान करना, और (५) आपसी सहयोग के द्वारा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान की तरफ प्रसरण होना।

इस संगठन में निम्नलिखित देश सम्मिलित हैं—अर्जेंटीना, बोलीविया, ब्राजील, चिली, कोलम्बिया, कोस्टारिका, क्यूबा, डोमिनिकन रिपब्लिक, इक्वाडोर, एल् साल्वाडोर, ग्रेटेमाला, हेरी, हाइस मेक्सिको, निकारागुआ, पनामा, परागुए, पेरू, मध्यराष्ट्र अमेरिका, यूरेगुए और वेनेजुएला। इनका प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त किये गये प्रादेशिक सुरक्षा सम्मेलनों, या सैनिक सम्मेलनों में, ४ मार्च १९४७ को ब्रिटेन तथा फ्रांस के मध्य सम्पन्न द्विपक्षीय सम्मेलन सबसे प्रथम सम्मेलन था। इस समय भी फ्रांस का, जर्मन आक्रमण

डचर्स की संधि की पुनरावृत्ति से अपनी सुरक्षा का भय था। जनवरी १९४७ में फ्रांस के प्रधानमंत्री एम. लिओन्यूस ने अपनी सन्तुष्टता के तत्पर

तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली से जर्मनी के उत्थान से उत्पन्न होने वाली समस्या पर बातचीत की और इसके परिणामस्वरूप ४ मार्च १९४७ की डचर्स स्थान पर दोनों देशों ने एक पारस्परिक सहायता की संधि पर हस्ताक्षर कर दिया। इस संधि का अवधि ५० वर्ष रही गई। इस संधि के द्वारा दोनों देशों ने—(१) जर्मनी द्वारा आक्रमण

मरण होने की, (२) जर्मनी द्वारा आक्रमण को उत्साह देने की नीति ग्रहण करने तथा (३) संयुक्तराष्ट्र-संघ के आदेशानुसार जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की अवस्था में एक दूसरे को सब प्रकार की सैनिक सहायता देने का वचन दिया। इसके प्रतिरुद्ध दोनों देशों ने एक दूसरे की समृद्धि और आर्थिक सुरक्षा के हित में सक्रिय सहयोग का निश्चय किया।

फरवरी १९४८ में सोवियत संघ के हस्तक्षेप से चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी सरकार की स्थापना हो गई। इससे पश्चिम के देश भयभीत हो उठे और उन्होंने पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा के लिए एक संगठन बनाने का निश्चय किया। १७ मार्च १९४८ का ब्रिजियम के ब्रुसेल्स नगर में इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड तथा लक्जमबर्ग के प्रतिनिधियों ने पश्चिमी यूरोप की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था का मजबूत बनाने की दृष्टि से एक संधि पर हस्ताक्षर किये। इतिहास में यह संधि 'ब्रुसेल्स संधि संगठन' (The Brussels Treaty Organization) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अंतर्गत संधि में सबंधित सदस्यों ने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और सामूहिक सुरक्षा की नीति का पालन करने का वचन दिया। संबंधित सदस्य देश पर आक्रमण होना की स्थिति में अन्य सदस्यों ने संयुक्तराष्ट्र संघ के ५१ वें अनुच्छेद के अंतर्गत, आक्रान्त देश को सब प्रकार की सैनिक सहायता देने का वचन दिया।

१९५४ में संधि से संबंधित सदस्यों का पेरिस में एक सम्मेलन हुआ और इस सम्मेलन ने इटली तथा पश्चिमी जर्मनी को इस संगठन में सम्मिलित करने का निश्चय कर लिया। संगठन का नया नामकरण भी हो गया और अब इसे "पश्चिमी यूरोपियन संघ" कहा जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त किये गये सम्मेलनों में सब से अधिक महत्वपूर्ण सम मेलना—नाटो (NATO) अर्थात् "उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन" (The North Atlantic Treaty Organization) है। इसका उत्तर अटलांटिक संधि संगठन स्थापना की कहानी बहुत लम्बी है। अतः यहाँ पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है। सोवियत संघ की बढ़ती हुई शक्ति और साम्यवाद के प्रसार से पश्चिम भयभीत हो गया था। क्योंकि संयुक्तराष्ट्र-संघ के माध्यम से इसे रोकना सम्भव नहीं था। इसलिए ब्रुसेल्स संधि संगठन का निर्माण किया गया परन्तु इस संगठन का मुचाब रूप में चलाने के लिये आवश्यकता काफ़ी कम थी। संगठन को अमेरिका से सहायता माँगने का विचार कर दिया। १९ जून १९४८ को अमेरिकन सीनेट में वेंडनबर्ग ने इस प्रकार के संगठन को आर्थिक सहायता देने के साथ-साथ अमेरिका को भी उसमें सम्मिलित होने का प्रस्ताव रखा। सीनेट ने इस प्रस्ताव को पास कर दिया। इस प्रकार इस संगठन की वृष्टभूमि का निर्माण हुआ। ४ अप्रैल १९४९ का वाशिंगटन में बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस

ग्राइगलड, इन्ली, नवजमदग, हार्लण्ड पुर्गान, ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका ने एक संधि पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके परिणामस्वरूप उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन का बन हुआ। २४ अगस्त १९४८ में, सम्पाद्यत सदस्यों द्वारा इस संगठन का अनुमोदन करने पर, इस संगठन की विधिरत स्थापना की गई। नाटो की निम्नलिखित कांफ्रेंस क सम्मेलन (फरवरी १९५२) तक यूनान तथा टर्की का इस संगठन में सम्मिलित कर लिया जाता है। ६ मई १९५५ की पश्चिमी जर्मनी का भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाना है। इस प्रकार नाटो की सदस्य संख्या १५ हो गई। इस संगठन का मूल मंत्र सौख्य प्राप्त करने के विचार, पारस्परिक रक्षा की प्रतिज्ञा है। इस दिशा के तौर पर संगठन विदेशशांति एवं सुरक्षा रूपों में माटे आवरण से ढालने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

उत्तर अटलांटिक संधि संगठन का चार्टर अधिक विस्तृत नहीं है। इसमें केवल दोहरे धारायें हैं। चार्टर की प्रस्तावना तथा कुछ प्रमुख धाराएँ इस प्रकार हैं —  
प्रस्तावना इस संधि में सबधित दल सयुक्तराष्ट्र संधि के चार्टर के उद्देश्यों में प्रथम विश्वास तथा सब लोगो एवं सभी सरकारों के साथ शांति पूर्वक रहने का इच्छा का दुहराव है।

ये लोग प्रजातन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा कानून के सिद्धान्तों पर आधारित प्रथम लोगों की स्वतन्त्रता सामान्य दाय भाग एवं सम्यता की सुरक्षा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा है।

ये उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में स्थायित्व एवं व्यापक की वृद्धि करना चाहते हैं।

उत्तरी सामूहिक रक्षा, तथा शांति एवं सुरक्षा को अभ्यर्थन रखने के लिए अलग-अलग का संगठित करने का हट इरादा कर लिया है।

अतएव, वे इस उत्तरी अटलांटिक संधि के विषय में सहमत हान हैं

**अनुच्छेद १—**सयुक्त राष्ट्र संधि के चार्टर में निगमित शांति के अनुसार (इन संधि से सम्बन्धित) दल, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय झगडा का, जिसमें वे पक्ष जायेंगे, शांतिपूर्ण उपायों से इस प्रकार तै करने का वचन देने हैं, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा तथा याय की किसी भी प्रभार में खतरा नहीं पहुँचे तथा अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी एक तरफ से जो सयुक्तराष्ट्र-संधि के उद्देश्यों के विरुद्ध हों, शांति की घनता अथवा उसके प्रयोग से दूर रहने का भी वचन दते हैं।

**अनुच्छेद ३—**इस संधि के उद्देश्यों का और भी अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से प्राप्त करने के लिए, दल, अलग अलग तथा मिलकर, निरन्तर एवं प्रभावपूर्ण आम निभरता तथा पारस्परिक सहायता से सशस्त्र आक्रमण का विरोध करने के लिए, व्यक्तिगत एवं सामूहिक साम्यता का विकास करेंगे।

**अनुच्छेद ४—**जब कभी, उनमें से किसी एक की भी राय में, किसी भी दल की प्रादक्षिण एकता, सामूहिक स्वतन्त्रता अथवा सुरक्षा के लिए यह

उत्पन्न हो गया हो, तो दल आस में विचार विनिमय करेंगे ।

**अनुच्छेद ५**—दल इस बात में एकमत है कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका में उनमें से किसी एक अथवा अधिक के विरुद्ध आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण माना जाएगा, तथा इसीलिए वे यह राजीनामा करते हैं कि यदि इस प्रकार का सशस्त्र आक्रमण होता है, तो उनमें से प्रत्येक, संयुक्तराष्ट्र सच के चाट र बे ५१ वें अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के अनुसार कार्य करता हुआ, शीघ्र ही, व्यक्तिगत रूप में तथा अन्य दल के साथ, इस प्रकार में आक्रांत दल अथवा दलों की सहायता करने के लिए, ऐसी कारवाह करेगा जैसा वह आवश्यक समझेगा जिसमें 'उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में सुरक्षा की पुनर्स्थापना के लिए सशस्त्र शक्ति का प्रयोग भी सम्मिलित है ।

इस प्रकार के किसी भी सशस्त्र आक्रमण तथा उसके परिणामस्वरूप जो कारवाह की जाएगी, उसकी सूचना फौरन ही 'सुरक्षा परिपद' को दी जायगी ।'

बाकी के अनुच्छेदों का अर्थ महत्व नहीं है । अनुच्छेद १० में अथवा राज्यों का सम्मिलित किये जाने की व्यवस्था है और अनुच्छेद १२ में इस सच के अधि जाकि २० वर्ष है, का उल्लेख किया गया है ।

इस सचि-संगठन का संचालन एक परिपद द्वारा होता है । इस परिपद में सबधित देशों के विदेश अथवा सुरक्षा मंत्री होते हैं । यह परिपद अपनी सहायक संस्थाओं का निर्माण करता है और सदस्य देशों से सचि की धाराओं को कार्यान्वित करवाती है । इसका प्रधान कार्यालय पेरिस में है । वैसे मात में इस परिपद की वास्तविक बैठकें होती हैं परन्तु विदेश परिस्थितियों में कभी और किसी स्थान पर परिपद अपनी बैठक कर सकती है । संगठन के कार्य का सुचारु रूप से चलाने के लिए एक महासचिव होता है और उसका एक स्थायी कार्यालय भी है । संगठन की एक सचि समिति भी है । इस समिति के सदस्य सम्बधित देशों के सेनाध्यक्ष हैं । समिति का मुख्य कार्य परिपद को सुभाव दना तथा सैनिक योजनाएँ बनाना है । १९५० में परिपद ने पश्चिमी यूरोप की रक्षा के लिये एक विशाल सेना का निर्माण किया । सेना के निर्माण के सम्बन्ध में सबधित देशों ने अपनी अपनी सेनाओं का अधिकाल भाग इस विशाल सेना का प्रतिफल दिया है । अतः यह एक संयुक्त सेना है । इस सेना को यूरोप की मित्रशक्तियों के मुख्य कार्यालय (Supreme Headquarters Allied Powers, Europe SHAPE) के अधीन रखा गया है । इस विशाल सेना के प्रधान सेनापति १९५१ में आइजनहावर थे । इस सेना के अतिरिक्त संगठन के पास दो और कमान हैं—एक अटलांटिक सागर कमान और दूसरे चैनल कमान । १९५३ में इस सेना की अमेरिकन



टुकड़ी को अणुबस्तु से सुसज्जित किया गया ।

अक्टूबर १९५६ में स्वेज संकट के समय इस संधि संगठन व सदस्य देशों में तब मतभेद उठ खड़ा हुआ क्योंकि बहुत से देशों की दृष्टि से इंग्लैंड और फ्रांस द्वारा निष्पन्न किया गया आक्रमण संगठन के सिद्धांतों के प्रतिवृत्त था । परंतु अमेरिका के दबाव से इस मतभेद का अंत हो गया । १९५७ में हंगरी के हत्याकांड से भी नाटो का प्रभावित हुआ क्योंकि इस सम्बंध में नाटो की चुप्पी ने उसकी निष्पक्षता को स्पष्ट कर दिया । तभी से नाटो की सेना को आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से अधिष्ठित सुसज्जित किया जाना प्रयत्न जारी है ।

नाटो की स्थापना का पश्चिमी देशों में भारी स्वागत किया गया परंतु साम्यवादी तथा कुछ तटस्थ देशों ने इसकी कटु आलोचना भी की है । नाटो के सम्बंध में भिन्न भिन्न राजनीतिज्ञों के विचार निम्न लिखित हैं —

‘ अटलांटिक संधि स्वतंत्रता और शांति को बनाए रखने की एक प्रत्याभूति ( guarantee ) रही है और वनी हुई है । ’

—ने मासेट । फ्रान्स के प्रधानमंत्री ( ४ अप्रैल १९५६ )

‘ सामूहिक सुरक्षा के लिये, नाटो एक संगठन के रूप में अत्यधिक महत्व का वस्तु है । विश्व समस्याओं के एक सामान्य राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण को समर्थन देने के एक माध्यम के रूप में यह महत्वपूर्ण है । ’

— लिस्टर पियसन कनाडा के विदेश सचिव ( २४ अप्रैल १९५६ )

“ अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों के क्षेत्र में निष्कपट सहयोग के विस्तार और प्रयास की स्थापना के माग में नाटो एक तोड़ फोड़ करने वाला रोड़ा प्रमाणित हुआ है । ”

— तास ( सावियत पक्ष ) ( १३ मई १९५६ )

“ निःसंदेह हम में से कोई प्रसन्न नहीं है कि हंगरी की घटनाओं का समुच्च नाटो की नज़र में, प्रभावहीन और निर्वीर्य है । ”

— गेट्सन ( ब्रिटिश मजदूर दल का नेता )

‘ संधि के दायित्व इतने अस्पष्ट हैं कि आक्रमण की स्थिति में प्रत्येक सदस्य को अपनी इच्छानुसार कदम उठाने की स्वतंत्रता प्राप्त है । ’

— चार्ल्स स्लीचर ( लेबर )

मई १९५६ में अमेरिका प्रशासन महासचिव क्षेत्र की सुरक्षा के लिये नाटो के समान किसी संगठन की स्थापना के पक्ष में नहीं था, क्योंकि उस समय उसी दृष्टि में यूरोप तथा उत्तर अटलांटिक संधि का अधिक महत्व था और

अनुअस की संधि ( ANZUS ) उसने अपना सम्पूर्ण ध्यान इस तरफ केन्द्रित कर रखा था । १८ मई १९५६ में तत्कालीन अमेरिकन विदेश सचिव एचसन

( Acheson ) ने इस सम्बंध में कहा था कि जब तक एशिया का प्राकृतिक भूगोल का निपटारा नहीं हो पाता तब तक प्रशांत समझौता अपना अस्तित्व

ग्रहण नहीं कर सकता। फिर भी, आस्ट्रेलिया ने इस प्रकार के समझौते पर अत्यधिक जोर दिया। १९५० में एशिया की घटनाओं ने नया मोड़ लिया और अमेरिका ने भी अपना विचार बदल लिया और अब उसे भी प्रशान्त क्षेत्र की सुरक्षा की आवश्यकता का भान हा गया। १८ अप्रैल १९५१ को राष्ट्रपति ट्रूमन ने आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के साथ एक त्रिदलीय तथा समझौता का सुझाव दिया। जून १९५१ में इस संधि के प्रारूप पर समझौता हो गया। जुलाई १९५१ को इसे प्रकाशित किया गया तथा १ मितम्बर १९५१ को सेन फ्रांसिस्को में इस पर हस्ताक्षर कर दिये गये। अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड की इस सन्धि का ANZUS कहते हैं। (A का तात्पर्य आस्ट्रेलिया से NZ का न्यूजीलैंड से और US का अमेरिका से है।) यह समझौता अनिश्चित काल के लिये है। इसके अनुच्छेद २ में कहा गया है—“इस संधि के उद्देश्यों का अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिए, अधिकतम दल, निरन्तर आत्मनिर्भरता एवं पारस्परिक सहायता के द्वारा, असल अलग एवं मिलकर, सशस्त्र आक्रमण का विरोध करने के लिए, अपनी व्यक्तिगत एवं सामूहिक योग्यता का विकास करेंगे।” अनुच्छेद ३ में कहा गया है कि “जब कभी किसी दल की राय में, प्रशांत में, उसके किसी भी दल का प्रादेशिक एकता, राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न हो जाएगा, तो वह आपस में मिलकर सलाह करेंगे।”

मध्यपूर्व (पश्चिमी एशिया) और दक्षिणी एशिया के देशों का सैनिक सहयोग प्राप्त करने के लिये पश्चिमी देशों ने अत्यधिक प्रयत्न किये, क्योंकि मध्यपूर्व तेल का अक्षय भंडार था और सावित्री संधि की सीमा के समीप भी पड़ता था।

बगदाद पक्ट अतः सामरिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। पश्चिमी राष्ट्रों के प्रयत्नों के फलस्वरूप बगदाद पक्ट का निमाण हुआ। बगदाद पक्ट की कहानी बहुत ही दिलचस्प है। ईराक और इंग्लैंड १९३० की संधि से मित्रता के बंधन में आबद्ध थे। इस समय ईराक का प्रधानमन्त्री नूरी अस्तस्य्यद था। उसने इंग्लैंड को सुझाव दिया कि १९३० की संधि के स्थान पर कोई नूतन संधि की जाय ता अधिक अच्छा रहेगा। इधर १९२४ में टर्की और पाकिस्तान में एक समझौता हुआ, अमेरिका और ईराक के बीच और अमेरिका तथा पाकिस्तान के बीच, इसी साल आपसी सुरक्षा तथा सहायता समझौता पर हस्ताक्षर किये गये। १९५५ में टर्की और ईराक के बीच बगदाद पक्ट सम्पन्न हुआ। अमेरिका के दबाव से इंग्लैंड, पाकिस्तान और इरान भी अक्टूबर १९५५ तक इसमें सम्मिलित हो गये। इस प्रकार द्विपक्षीय समझौता बहुपक्षीय समझौते में बदल गया। इंग्लैंड ने जोटन को भी इसमें सम्मिलित करने का अथवा प्रयत्न किया परन्तु जोटन ने अस्वीकार कर दिया। अमेरिका प्रत्यक्ष रूप से इसका सन्तुष्ट नहीं है परन्तु वह बगदाद पक्ट के दला के निमंत्रण पर प्रत्येक बैठक में भाग लेता रहा है और बगदाद पक्ट से सम्बंधित पक्षों की आर्थिक तथा सैनिक सामग्री का दृष्टि से सहायता करता रहा है। इस ने, ईरान द्वारा बगदाद पक्ट में सम्मिलित होने

पर, उसकी कटु आलोचना की तथा तीन बार चेतावनी दे चुका है। यह एक आश्चर्य की बात है कि ईराक को छोड़कर अरब राज्यों ने इस सम्मिलित हान से इन्कार कर दिया। बगदाद पेंकट में दूसरे देगा के लिये, यदि व चाह तो प्रवेग शर उभुत्त रखा गया है।

बगदाद पेंकट में सम्मिलित देशों की परिपद की प्रथम बैठक २१-२२ नवम्बर १९५५ को बगदाद में हुई। अध्यक्षपद से भाषण दते हुये नूरा प्रसम्भ ने कहा कि इस संधि या सगठन का उद्देश्य सयुक्तराष्ट्र संधि के २१ वें अनुच्छेद के अंतर्गत मध्यपूर्व के क्षेत्र में शांति और सुरक्षा को बनाये रखना है। सम्मेलन ने यथाग्राह्य सगठन की एक स्थायी परिपद तथा सैनिक समिति का गठन करने का निश्चय किया। इस बार हम ने फिर ईरान को कड़ा विरोध पत्र भेजा और उसे बगदाद पेंकट से वृथ्वा होने का सुझाव दिया। परंतु ईरान ने इसे ठुकरा दिया। सगठन की दूसरी बैठक १६-१९ अप्रैल १९५६ को तेहरान में हुई। इस बैठक में अमेरिकन सेना के उच्चाधिकारियों तथा कूटनीतिज्ञों ने भी भाग लिया। अमेरिका ने घोषणा की कि वह बगदाद पेंकट से सम्बन्धित देशों की साम्यवादी आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये यथा मभव सैनिक तथा आर्थिक सहायता देगा, बगदाद में बनने वाले स्थायी सचिवालय का भार वहन करेगा।

हम ने तीसरी बार ईरान को चेतावनी दी। क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया था कि बगदाद पेंकट का वास्तविक उद्देश्य मध्यपूर्व की शांति तथा सुरक्षा की स्थापना नहीं है बल्कि इस उद्देश्य की ओर में अमेरिका मध्यपूर्व के सैनिक तथा सामरिक महत्व के अड्डों को हथियाना चाहता है ताकि भावी युद्ध की दशा में साविधतसय के विरुद्ध उनका उपयोग किया जा सके। हम ने बगदाद पेंकट की आलोचना करते हुये ईरान का भ्रम गये अपने विरोध पत्रों में लिखा था—कि बगदाद पेंकट का मतलब निकट और मध्यपूर्व में एक सैनिक समूह का निर्माण है जो उन विभिन्न आक्रमणकारी बलों, जो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति को हट करने में रूचि नहीं रखने का एक आक्रमणकारी यह है। इस प्रकार की पक्षि की रचना का तात्पर्य इस क्षेत्र के देशों को गुलाम बनाना तथा उपनिवेशवाद के अवशेषों को कायम रखना है। सऊदी अरबिया के सम्राट् इब्न सऊद ने कहा था “बगदाद पेंकट अरब सत्तार की एकता को खतरा है।” इसी प्रकार मिथ के प्रधान बर्तल नासिर का विश्वास है कि बगदाद पेंकट ने स्वतंत्र ईराक को इंगलण्ड का गुलाम बना दिया है और इसका ध्येय अरबों की एकाता तथा राष्ट्रीयता का कुचलना है। परंतु पश्चिम के समयका न बगदाद सगठन का उमाहवृत्त स्थापन किया है।

१४ जुलाई १९५८ को इराक-बगदाद पेंकट का प्रबल समयका शांति का रगमच बन गया। ईराकी सेना ने जनरल घडुन करीम कामिम के नेतृत्व में पश्चिम समयका सरकार का तम्ना पण्ट लिया और पश्चिम के प्रबल पक्षधर ईराकी प्रघोमनी तूरी प्रस्ताप्यद का इराकी सम्राट् गतिन मोन के घाट उतार दिया। बगदाद की साम्राज्य यादियों के नियन्त्रण ने मुन कर लिया गया। इससे बगदाद सगठन मून प्राय हा गया है।

फिर भी, अभी जोयित है हावाकि नाम का मार्थक करने वाला नगर इसमें अब सम्मिलित नहीं है और इसका प्रमुख केन्द्र अब अकारा है । अब इसका नाम 'केन्द्रीय संधि संगठन' (Central Treaty Organization—CENTO) रखा गया है और अमेरिका से इसमें सम्मिलित होने की प्राथना की गई है ।

अनुग्रह संधि की चर्चा करते हुये, हम इस बात की चर्चा भी कर चुके हैं कि गुरु में अमेरिका एशिया की सुरक्षा के बारे में अधिक विवक्षित नहीं था और आस्ट्रेलिया का भील पर ही उसने उपयुक्त संधि की थी । परन्तु एशिया में दक्षिण पूर्वी एशिया साम्यवाद का प्रसार इतनी द्रुत गति से होने लगा कि अमेरिका संधि संगठन भयभीत हो गया । हिन्द चीन में साम्यवादियों की सफलता ने फिलिपाइन, आस्ट्रेलिया, थाईलैण्ड तथा यूजीलंड को अत्यधिक भयभीत कर दिया । साम्यवादी प्रसार को रोकने तथा दक्षिण पूर्वी एशिया की सुरक्षा का दृष्टि से ६ सितम्बर १९५४ को फिलिपाइन द्वीप समूह के बाग्या नामक स्थान पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ब्रिटेन, यूजीलैण्ड थाइलैण्ड फिलिपाइन्स, तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य देशों भारत, पाकिस्तान, बर्मा, ल्वा आदि देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया गया । भारत, बर्मा तथा ल्वा ने सम्मेलन में भाग लेने से अस्वीकार कर दिया । पाकिस्तान ने सम्मेलन में भाग लिया । सम्मेलन में इस संधि के प्राप्ति का स्वीकार कर लिया गया । ८ सितम्बर १९५४ को मनीला में उपरोक्त आठ राज्यों ने इस संधि संगठन पर हस्ताक्षर कर दिये । इसका पूरा नाम 'दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन' (South East Asian Treaty Organization—SEATO Or SEADO) है । इसे मनीला संधि भी कहते हैं ।

सांटा का ध्येय भी सांटा की तरह है । अन्तर केवल क्षेत्र का है । इसका क्षेत्र दक्षिण पूर्वी एशिया है । संधि के अनुसार सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये मजबूत दश व्याप्तगत तथा सामूहिक रूप से सैनिक मायता का विकास ही नहीं करके अपितु किसी एक पर होने वाले आक्रमण का सभी पर आक्रमण मानते हुये सामूहिक बंदम उठावग । सांटा संधि के साथ अमेरिका का एक पृथक व्याख्यापत्र भी है जिसमें 'आक्रमण' शब्द का व्याख्या इस प्रकार की गई है—'आक्रमण का अर्थ साम्यवादी आक्रमण है । अर्थात् अमेरिका ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि साम्यवादी आक्रमण हुआ तो वह सहायता करने चाहेगा । अन्य प्रकार के आक्रमणों से उसका कोई सरोकार नहीं रहेगा । एक आश्चर्य की बात यह है कि दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन में इस क्षेत्र के केवल तीन देश सम्मिलित हैं । बाका पांच देशों का इस क्षेत्र से कोई लेन देन नहीं है अर्थात् वे इस क्षेत्र के नहीं हैं ।

५० जवाहर लाल नेहरू ने इस संधि संगठन की आलोचना करते हुये कहा था "यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की भावना के विरुद्ध है, इससे विश्व में शांति के स्थान पर तनाव

और असुरक्षा बन्धी। यह एक प्रकार का मुनरो सिद्धांत है। जिसे दक्षिण पूर्वी में पर बल पूर्वक थोप दिया गया है।' बात सही है। इस सैनिक संगठन का निर्माण इसलिए नहीं किया गया था कि दक्षिण पूर्वी एशिया पर वस्तुतः किसी का आतंक था, बल्कि इसके बनाने का उद्देश्य यह था कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ एशियाई देशों के आंतरिक मामला में हस्तक्षेप करना चाहती थी तथा किसी प्रकार अपना काम निपटान चाहती थी। इसलिए भारत, इंडोनेशिया जमा और श्री लंका ने इसमें सम्मिलित हुए से स्पष्ट इन्कार कर लिया क्योंकि यह गुट उनकी राष्ट्रीय प्रगति और विकास के मार्ग में बाधाएं पैदा करने वाला था। एशिया की स्वतंत्रता प्रेमी जनता ने सीटा संगठन में शामिल होने से इन्कार किया है और कर रहो है। आज एशियाई जनता की यही भावना है कि साम्राज्यवाद और शीत युद्ध के इस हथियार 'सीटा' को इतिहास के कूड़े में फेंक दिया जाए।

२७ मई १९५७ का काफी बाद विवाद के उपरान्त यूरोपियन प्रति रक्षा समुदाय (The European Defence Community—E D C) की संधि पर हस्ताक्षर किये गये। इस समुदाय की स्थापना का सर्व प्रथम यूरोपियन प्रतिरक्षा विचार चांचल के मस्तिष्क में उठा था और १९५० में उहांत समुदाय निर्माण सभा (Consultative Assembly) के सामने अपने विचार रखे। इस समय फ्रांस में जर्मनी को पुन शक्तिशाली बनाने की अमेरिकन नीति में अस्तुष्टि थी। क्योंकि सशस्त्र जर्मनी से उते अपना सुरक्षा का भय था। अतः फ्रांस ने प्रातरक्षा समुदाय का स्वागत किया। क्योंकि इस अनुसार जर्मन सेनाएं समुदाय के नियंत्रण में आती थी। इसी दृष्टि से उसने समुदाय की स्थापना का पक्ष लिया और संधि के प्रारूप पर हस्ताक्षर भी कर दिए। परन्तु फ्रेंच जनमत इस संधि के विरुद्ध था और जब संधि के अनुसमर्थन का समय आया तो जबरदस्त विरोध प्रकट किया गया। नतीजा यह निकला कि फ्रेंच लोकमता ने संधि का अनुसमर्थन करने से इन्कार कर दिया और इसके साथ ही समुदाय को स्थापित करने की आशाएं भी समाप्त हो गई। यह प्रथम अवसर था जब कितना कालीन युग में हस्ताक्षर किया हुआ समझौता अनुसमर्थन पाने में असफल रहा।

जब १९५४ में पश्चिमी जर्मनी को 'नाटो' में सम्मिलित कर लिया गया तो पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों ने इस अपनी सुरक्षा के लिये एक प्रत्यक्ष भय माना। वे देशों ने यू.एस. नाटो के निर्माण का विरोध किया था परन्तु पश्चिमी देशों ने उनके विरोध का ठुकरा दिया। नाटो के उपरान्त सीटो की स्थापना की गई और इस प्रकार साक्षियता और उसके माध्यमों को चारों तरफ से एक घेरे में आलने का प्रयत्न किया गया। नी परिस्थिति में साम्यवादी देशों को भी अपना एक शक्तिशाली संगठन बनाने की तरफ इन्त उठाना पड़ा। १४ मई १९५५ को वारसा नगर में मासिकन मध्य धोर मान मध्य साम्य

वादी देशा अल्बानिया, बल्गेरिया, हंगरी, रूमानिया, पूर्वी जर्मनी, पालण्ड और चेकोस्लोवाकिया, ने अपने आपको एक संगठन में संगठित कर लिया। यह संगठन वारसा संधि या पूर्वी यूरोपियन संधि संगठन के नाम से विख्यात है। वारसा की यह संधि २० वष के लिये की गई।

वारसा संधि की प्रस्तावना में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस संधि का ध्येय यूरोप में सामूहिक सुरक्षा पद्धति को स्थापित करने की दिशा में तथा यूरोप की शान्ति और सुरक्षा को दृढ़ करने के लिये यह कदम उठाया गया है और इस कदम का उठाने का कारण पश्चिमी यूरोप के संध तथा पश्चिमी जर्मनी की पुन सैनिक शक्ति के रूप में खड़ा करने की नीति, बनलाया गया है। संधि में सम्बंधित देशों के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में घनिष्ठ सहयोग का उल्लेख किया गया है। प्रथम अनुच्छेद में आपसी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांति पण उपायों से करने की घोषणा की गई है। संधि की शक्ति का प्रयोग न करने का वचन दिया गया। इस संधि के अन्तर्गत सम्बंधित देशों की एक 'राजनीतिक परामर्शदात्री समिति' (Political Consultative Committee) की स्थापना का निश्चय किया गया। इस समिति का अपनी सहायक संस्थाओं का निर्माण करने का अधिकार दिया गया। समिति की बैठक वष में दो बार करना तय किया गया। समिति की सहायता के लिये एक महासचिव तथा एक स्थायी कार्यालय की स्थापना की व्यवस्था की गई। प्रधान कार्यालय मास्को में रखने का निश्चय किया गया। १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का अध्ययन करने तथा इस सम्बंध में सुझाव देने के लिये एक स्थायी आयोग का स्थापना की गई। नाटो की भांति इस संगठन ने भी सम्बंधित देशों की सेनाओं को अपने अधिनार में लेकर एक सर्वोच्च कमान का निर्माण किया। इस सङ्गठित सर्वोच्च कमान का प्रधान सेनापति महासचिव और रूसी जनरल स्टाफ की सहायता से सर्वोच्च कमान की सैनिक दुर्गद्वारा सम्बंधित देशों में, उनकी सुरक्षा की दृष्टि से, नियुक्त करेगा। इस सर्वोच्च कमान की चार सहायक कमानें क्रमश उत्तरी, मध्य तथा दक्षिणी यूरोप में तथा सुदूर पूर्व में स्थित है।

इस प्रकार १५ देशों का नाटो संगठन को आठ देशों के वारसा संगठन ने जगजग को का प्रयत्न किया है। अर्थात् ५० करोड़ की आबादी वाले नाटो की चुनौती का २६ करोड़ आबादी वाले वारसा संगठन ने सामना करने का निश्चय किया है। इस सम्बंध में एक बात दिलचस्प है—नाम्नवादी चीन इसमें सम्मिलित नहीं हुआ है परन्तु उसने वारसा संगठन का उत्साह के स्वागत किया है। यूगोस्लाविया इसमें दूर रहा है।

वारसा संगठन भी अपने सिद्धान्तों की कसौटी पर खरा उतरने में असफल रहा है। हंगरी का हत्याकाण्ड ने यह प्रमाणित कर दिया है कि शान्तिपूर्ण उपायों को केवल सैद्धांतिक रूप में ही स्वीकार किया गया है, व्यावहारिक रूप में उन पर अमल करने

का प्रयत्न नहीं किया गया है। फिर भी, अभी बहुत समय पड़ा है और हो सकता कि बारसा सगठन अपने नाम की अपने आदर्शों के अनुकूल प्रमाणित करने में सफल हो जाय।

उपरोक्त प्रमुख सगठनों के अनिरिक्त एक लघु सगठन और है। वह है बाल्क पन्ट। ६ अगस्त १९५४ को यूनान, टर्की और यूगोस्लाविया के बीच बनाया गया था।

द्वितीय समझौता की सख्या ता बहुत अधिक है। इन विविध समझौतों प्रमुख निम्न हैं—१४ फरवरी १९५० के दिन सम्पादित सो

रूस और साम्यवादी चीन पारस्परिक सुरक्षा और सह सन्धि। अमेरिका और फारमोसा (राष्ट्रवादी चीन) की पारस्परिक सुरक्षा और सह सन्धि। इसी प्रकार अमेरिका और पाकिस्तान की संधि, अमेरिका और फिलिप की संधि। साम्यवादी देश भी द्वितीय संधियों के जाल में उलझे हुये हैं। एकमात्र ही इस प्रकार की सैनिक संधियों के माया जाल से अछूता बचा हुआ है। बर्मा, था मिश्र, नेपाल आदि देश भी भारत का अनुसरण कर रहे हैं।

उपरोक्त सैनिक संधियों और सगठनों का तटस्थ देशों विशेष कर भारत और विरोध किया है। हालांकि संधियों ने सम्बंधित देशों ने नाना प्रकार की दलीलें

ह और अपने कदम को सही प्रमाणित करने का भी प्र सैनिक संधियों किया है। परंतु फिर भी इतना ता स्वीकार करना ही

का विरोध

वि इन संधियों से विश्व शांति और सुरक्षा हट नहीं हो है अपितु समार दो प्रमुख परस्पर विरोधी खेमों में विभाजित

गया है और प्रत्येक पक्ष को अपनी आत्म रक्षा की चिन्ता सगी हुई है। इस निष्पक्षता की समस्या जो कि विश्व शांति और विश्वास की बुनियाद है, का समा नहीं हो सका है अपितु विनाशकारी गारत्रा की दौड़ शुरू हो गई है। शीत युद्ध समाप्त करना तो दूर रहा उल्टे उसे गम युद्ध में परिवर्तित करने वाले कदम उठाये हैं। स्वेज का शकट, हंगरी का हत्या काण्ड, गोटेमाला का गडबड घटोला, हिन्दी की हिस्सेदारों यलिन का विधवा रूप, और कारिया म की गई क्रूरता क्या सिद्ध करते। शांति या अशांति। विश्वास या अविश्वास का विकास। विश्व समृद्धि या विश्व विनाश

आखिर क्या होगा? प्रत्येक सैनिक समझौता या संधि सगठन में तीन महत्त्व सन्मिलित हैं—(१) संयुक्त राष्ट्र संधि के आदर के अनुरूप विश्व शांति महाद्वी शांति या सैनिक शांति तथा सुरक्षा का बनाये रखने की घोषणा, (२) आपसी रिश्ता का शांतिपूर्ण उपायों से निपटारा तथा आपसी सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक विकास में सहयोग की घोषणा, और (३) सार्वजनिक शांति या शांति का प्रवर्तन प्रवर्तन करना। इसमें एक बात स्पष्ट हो जानी है कि पूँजीपति का साम्यवाद का भय बना हुआ है और माक्सिज्म संधि तथा उसके माधियों को पूँजीपति साम्यवाद का भय बना हुआ है। यही कारण है कि दोनों पक्षों ने

अपने प्रभाव क्षेत्रों के साथ सैनिक संधियाँ करके एक दूसरे को यह चेतावनी देने का प्रयत्न किया है कि यदि तुमने हमारे प्रभाव क्षेत्र या उस क्षेत्र के किसी दश पर प्रभुत्व जमाने का या हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया तो डटकर मुकाबला किया जायेगा। हालांकि दोनों पक्ष यह जानते हैं कि तीसरे महायुद्ध का अर्थ सत्ता की सम्यता का विनाश है फिर भी, इस प्रकार की संधियों के अन्तर्गत, राष्ट्र संध की धारामो क प्रतिकूल द्रुतगति से अस्त्र दारो का निर्माण जारी है। इससे एक बात स्पष्ट है कि इस बार का महायुद्ध अपकाल में ही समाप्त हो जायेगा परन्तु सम्यता का विनाश करने के उपरांत।

अब हम सैनिक संधियों के बारे में कुछ प्रमुख व्यक्तियों के विचारों का उल्लेख करेंगे। प० नेहरू का दृष्टिकोण विषय के प्रारम्भ में ही दिया जा चुका है। मागल टीटी ने कहा है कि "यदि लोग अपने आप कुछ सैनिक समझते या कुछ सगठनों का नहीं बनाना चाहते तो इससे किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता। यदि कोई इस या उस जनता की सहानुभूति प्राप्त करना चाहता है तो उसे इनकी मदद करनी चाहिए। दारो के द्वारा शांति हट नहीं होनी परन्तु विश्व तनाव का विकास होता है।" सीरिया के राष्ट्रपति ने १८ जनवरी १९५७ को एक भाषण में कहा था कि 'विदेशी साम्राज्यवादी संधियाँ विश्व की शांति और सुरक्षा की एक सेवा नहीं हैं क्योंकि इस प्रकार की संधियाँ इन वस्तुओं के भूल आदलों के प्रतिकूल जाती हैं। स्थायी सुरक्षा का स्थापना करने की अपेक्षा ये संधियाँ इस भूल स्थायी सुरक्षा का ही विनाश कर रही हैं।' परन्तु पश्चिम के लोगों की विचार धारा दूसरी है। पोलैंड के सम्राट ने कहा है— 'प्रादेशिक सगठनों के प्रति निष्ठा जो कि १० रा० संध चाटर के अंतर्गत स्वीकार की गई है, युद्ध के भय को कम करती है।' जनरल आइजनहावर का कथन है कि 'सैनिक संधियाँ प्रत्येक दश की स्वतंत्रता की सुरक्षा क्षति को और अधिक मजबूत बनाने का काम करेंगी।'

### (३) शीत युद्ध (Cold War)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद सत्ता की दो प्रमुख शक्तियाँ सोवियत संध और अमेरिका, में आपसी मतभेद उत्पन्न हो गये और बाद में उप मतभेद की नींव आ पहुँची। दोनों पक्षों ने एक दूसरे पर आरोप लगाने तथा युद्ध कालीन सम्मेलन में तत्पक्ष निष्ठा के प्रतिकूल कदम उठाने की शिकायत करने लगे। "शीत युद्ध" पूर्ण और पश्चिम के मतभेदों की उपज है, उनके आपसी मन मुटाव की अभिव्यक्ति है।

आखिर शीत युद्ध का अभिप्राय और स्वरूप क्या है? क्या यह केवल शक्ति के नियम, विश्व प्रभुत्व के नियम, एक संध है? या जीवन की दा बेमेल तरीकों का प्रजातंत्र तथा साम्यवाद की अभिव्यक्ति है? टायनबी द्वारा वर्णित दो ध्रुव वाली

(b) Polar) विश्व राजनीति को व्याख्यानुसार आज के

शीत युद्ध क्या है? सत्ता में दो, और केवल दो शक्तियाँ हैं। बाकी के सभी राज्य कम या अधिक अंशों में उन दोनों पर आश्रित हैं। अधिकांश राज्य अमेरिका पर और कुछ राज्य रूस पर आश्रित हैं। अर्थात् आज की अन्तर्राष्ट्रीय



राजनीति इन्हीं दानों सत्तिया द्वारा समायोजित है। इन दानों की प्रभावकारा विद्या भी कपट नीति के परिणाम स्वरूप राज्यो की स्वतन्त्र नीति का लगभग भ्रत हो गया है और राज्यो को विविध प्रकार के संधि संगठना में सम्मिलित करने तथा रखन का प्रयत्न किया जा रहा है। क्या-वि साविया सघ और अमेरिका के उद्देश्य विश्व व्यापी है और उनकी मिशन व्यापी कपट नीति तटस्थता के क्षेत्र को संकुचित करती जा रहा है। आधुनिक युद्ध का ओद्योगिकीय चरित्र, इस पर सगे परम्परागत प्रतिष्ठानों का समाप्ति तथा पदबात्तापन्न्य (Romorselessness) प्रवृत्ति, सभी राज्या का काद न कोई पक्ष ग्रहण करने के लिये विवश कर रही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षीति युद्ध का स्वरूप विश्वव्यापी है और इसका अभिप्राय विश्व प्रभुत्व की प्राप्ति है। इसका उद्भव द्वितीय महायुद्ध के बाद के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मतभेदों के कारण नहीं हुआ है अपितु साम्यवादी सिद्धान्तों की सफलता के साथ हुआ है। पूँजीवाद और साम्यवाद के कारण हुआ है। यही कारण था कि १९१८-१९ में पूँजीवादी देशों ने इस में स्थापित साम्यवादी सरकार का तत्ता पलटने के लिये एडी छोटी का पत्तीना बहाया था। परन्तु उनका परिश्रम असफल रहा। सोवियत रूस इस पूँजीवादी पड्यन को कभी नहीं भुला सका। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हिटलर, हिराहितो और मुसोलिनी को साम्यवाद के विरुद्ध टकराने की दृष्टि से पश्चिम द्वारा अपनाई गई प्रसादन नीति का भी सावियत सघ नहीं भुला सका और नही भुला सका स्तालिन आठ में जमनी द्वारा किया गया हत्याकांड। इसका अतिरिक्त प्रयुक्ति के स्वरूप से उस वंचित रखा गया। क्या ये सब जानें सहन करने वाली थी? परन्तु उस समय की परिस्थितियाँ ऐसी ही थी। सावियत सघ को बिप का कड़ुआ घूट पीना पड़ा।

समय बीता परिस्थितियाँ बदली और रूस की शक्ति का उदया हुआ। इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि यूरोपियन देशों की शक्ति क्षीण हो गई। यूरोपियन राज्या के औपनिवेशिक क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई। ऐसे समय में, जबकि यूरोपियन राज्य अपने ही अस्तित्व को सुरक्षित रखन के लिये, लड़खड़ाते हुये औपनिवेशिक साम्राज्य को बचाने के लिये, जो जान से कुं हुन थे, रूस ने अपना पुगना हिसाब चुकाने का निश्चय किया और शायद निश्चय किया पश्चिम के पूँजीवाद का कंत्र में दफनाने का और सम्पूर्ण ससार में साम्यवाद का प्रसार करने का। दूसरी तरफ अमेरिका था जिसने साम्यवाद के बढ़ते हुये वेग को रोकने का, हर समय उपाय से साम्यवादी शक्ति का कुचलने का या सीमित करने का बीड़ा उठाया। परन्तु दानों का ही पता था कि यदि विश्वव्यापी युद्ध हुआ तो उसका अर्थ हागा ससार की सभ्यता का विनाश जिनके लिये कोई पक्ष तैयार नहीं था। अतः कपट विद्या के सहारे या छोटी मोटी नाव भोज का खतरा उठात हुये दोनों ही पक्षा ने अपने-अपने प्रभाव को बढ़ाना शुरू किया। "नीत-युद्ध" इसी प्रवृत्ति का चोख है।

शीत युद्ध में हर प्रकार के अस्त्रो—राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और सैनिक, का प्रयोग किया जा रहा है। हर सम्भव तरीके का इस्तेमाल किया जा रहा है। कभी-कभी तो ऐसे तरीका पर हसी आती हैं। उदाहरण के लिये प्रजातन्त्र की रक्षा के नाम पर फारमोसा के च्यांग को, स्पेन के तानाशाह जनरल फ्रांको का अमेरिका द्वारा आर्थिक तथा सैनिक सहायता दी जा रहा है। दक्षिणी अमेरिकन लेटिन राज्यों में मुश्किल से कोई ऐसा राज्य होगा जो कि प्रजातन्त्र का दावा कर सके परन्तु फिर भी प्रत्येक राज्य का अमेरिका से आर्थिक सहायता मिल रही है। प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये प्रजातान्त्रिक विरोधी उपायों का प्रयोग किया जा रहा है। इसके अनिश्चित क्षेत्रों में टेनोविजन्, रेडियो समाचार पत्र दलीय साहित्य, विनापन, सैनिक शक्ति का प्रदर्शन आदि विविध साधनों के द्वारा शीत युद्ध का सञ्चालन किया जा रहा है। तथ्यों का आविष्कार किया जाता है, सच्चाई को ढका दिया जाता है और घटनाओं का ताड़ मरोड़ कर लोभ्यता के सामने रखा जाता है ताकि दूसरे पक्ष के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति न रहे। सोवियत संघ आधुनिक युग में विद्यमान सभी बुराइयों के लिये अमेरिका को उत्तरदायी ठहराता है ताकि अमेरिका सभी प्रकार के राजनीतिक तथा आर्थिक संकटों को सोवियत कपट नीति का देन मानता है। सच्ची बात तो यह है कि पण्य अष्ट राष्ट्रीयता, उग्र राष्ट्रीयता अधिनायकवाद तथा अन्य ऐसे तत्व जो स्वतन्त्र मर्यादाओं के लिये प्राणोपाय हैं कई गतावियों से ससार में विद्यमान हैं और इन्हें सावियत मण ने पैदा नहीं किया है बल्कि कुछ अंगों में पश्चिम ने ही पैदा किया है। है, इन प्रकार के तत्वों को पश्चिम के कारण साम्यवाद का विकसित होने का अनवरत अवश्य प्राप्त हो गया है।

गूमेन ने लिखा है कि 'सन् १९४५ ई० के उपरांत महान् शक्तियों का 'विश्व पर आधिपत्य' के लिए युद्ध' जिनके भागीदारों तथा निरीक्षकों की दृष्टि में कमलिन की विश्व को जातन का चेष्टा तथा अमेरिका द्वारा इस महावाकाश की रोकने तथा प्रतिबंधित करने, सावियत विस्तार की बाट का 'नीछे हटाने' तथा, यदि सम्भव हो सके तो, जल पट्टा के मस्कोवाइट गढ़ का ताटन तथा उसके दासों की स्वतन्त्र करने की प्रतिज्ञा चेष्टा के रूप में दिग्बाह देता था।'

शीत युद्ध के सूत्रपात का उत्तरदायित्व किमपर था, यह एक विवादास्पद विषय है, अतः इसके बारे में शृंखल न बहना ही अच्छा होगा। हा शीत युद्ध की प्रगति के कारणों का उत्पन्न किया जा सकता है, प्रथम कारण द्वितीय महायुद्ध के पूर्व, सावियत संघ और पश्चिमी राष्ट्रों के असंगत कार्य थे। सन् १९१७ में साम्यवाद के विरुद्ध पश्चिमी शीत युद्ध की प्रगति पट्टा का नहीं मूल सकता था। जबकि पश्चिमी राष्ट्र साम्य-और उसके कारण बाद के प्रमुख सिद्धान्त पूँजीवाद का सम्मूलन तथा विश्व क्रांति के निश्चय का नहीं भ्रम सकते थे। सन्, एक्कास्तामा को समुष्ट करने की पश्चिमी नीति का पार विराधी था ता पश्चिम १९४६ में रूस और जर्मनी

के अनाक्रमक समझीने के घोर विरोधी थे । दूसरा कारण महायुद्ध के समय में दोनों की नीतियों में अपारभूत अंतर था । १९४२ में जर्मनी ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ रूस पर आक्रमण कर दिया था । ऐसे समय में रूस ने पश्चिमी देशों की पश्चिम की तरफ से दूसरा मोर्चा खोलने की प्रार्थना की और दगाव भी डाता, ताकि जर्मनी की दक्षिण बंट जाये । परन्तु पश्चिम योजनानुसार बनाने में मगध व्यतीत करता रहा और बाल्कन प्रायद्वीप से उत्तर की ओर मोर्चा खोलने का निश्चय किया । रूस ने इस दरी का यह मतलब लगाया कि पश्चिमी राष्ट्र जान-बूझ कर रूसी शक्ति को दौलत करने का दृष्टि से देरी लगा रहे थे । वास्तव में बात ठीक थी । पश्चिम ने उत्तर की तरफ से दखन का निश्चय भी इस दृष्टि से किया था कि रूसी सेनाएँ पूर्वी यूरोप में अधिक मीमा तक नहीं बढ़ सके । शीत युद्ध की प्रगति का तीसरा कारण था महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी से छीने गये प्रांतों की सामान्य व्यवस्था का स्वरूप वंसा हो और इन पर किसका नियंत्रण रहे । याल्ता सम्मेलन में पूर्वी यूरोप में 'प्रजातन्त्र' की स्थापना करने का निश्चय किया गया था । पश्चिम के 'प्रजातन्त्र' की परिभाषा के अनुसार पूर्वी यूरोप के राज्य साम्यवाद प्रभाव में लगे आते थे । परन्तु मास्को ने यह मानते हुए कि वास्तविक प्रजातन्त्र साम्यवाद ही था, इन सबको सोवियत के नियंत्रण में ले लिया । इस पर भी, पश्चिम मान कर कि इटली, यूनान आदि राज्यों में रूस हस्तक्षेप नहीं करेगा, खामाग रहा । परन्तु जब इन दोनों देशों का सवाल आया तो सोवियत संघ ने हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया इसमें मतभेद अधिक उग्र हो गया । पश्चिम ने इटली में साम्यवादी दल की ताकत को तोड़ने के लिये फासिस्टो से सहयोग किया । यूगोस्लाविया में उहान राज पक्षपाती दल का समर्थन किया क्योंकि चर्चिल को साम्यवादी टाटो पसंद नहीं था । यूनान में भी साम्यवाद के विरुद्ध राज पक्षपाती दल का समर्थन किया गया । इसका प्रत्युत्तर सोवियत संघ ने कुछ अधिक उग्रता तथा क्रूरता के साथ दिया । पोलैण्ड के कटिम (Katyn) बन हत्याकांड में साल सेना न लगभग चार हजार गर-साम्यवाधियों को मौत के घाट उतार दिया । कपन विद्या के द्वारा पूर्वी यूरोपियन राज्यों के गैर साम्यवादी नेताओं का दमन किया गया, वे निवासित आज़म कारावास तथा मृत्यु दंड की सजाएँ दी गईं । बल्गारिया के कृषक नेता पेन कोव को देशद्रोह के अपराध में प्राण दंड की सजा दी गई । रूमानिया में मनिड (Maniu) को कारावास में पटक दिया गया, हंगरी के नेता बेला कोवाक का रूसी जेल में बंद कर दिया गया और पोलैण्ड के गर साम्यवादी नेता मिक्लोजजिच (Mikolajczyk) किसी प्रकार प्राण बचा कर पोलैण्ड से भाग सका । इस प्रकार के कार्यों में भयभीत होकर पश्चिम ने सोवियत संघ के साथ किमो समझौते पर पहुँचने का निश्चय किया और अक्टूबर १९४४ में कम से कम बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या पर रूस और इंग्लैंड में समझौता हो गया । इसके अनुसार रूमानिया तथा बल्गेरिया का साम्यवादी प्रभाव-क्षेत्र में तथा यूनान को मित्र राष्ट्रों के प्रभाव क्षेत्र में और हंगरी तथा यूगोस्लाविया को पिलहल दोनों के प्रभाव-क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया । परन्तु इस समझौते से भी

शीतयुद्ध की प्रगति बन्द नहीं हुई अफितु और भी बढ़ती गई। शीत युद्ध की प्रगति का चौथा कारण अमेरिका द्वारा इंग्लैण्ड को अणु रहस्य की जानकारी देना तथा सोवियत रूस को इस जानकारी के बारे में अघकार में रखना था इससे दोनों पक्षों के मध्य तनाव की वृद्धि हो गई अणुबम्ब की खोज का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि अब अमेरिका को अपनी सर्वोच्चता का अभिमान हो गया और रूसी सहायता का मूल्य लगभग समाप्त हो गया। सोवियत सघ ने अमेरिका के इस व्यवहार की अपने प्रति विश्वासघात माना और साथ ही उसके अन्तस्थ में इस गति को खोज निकालने की तीव्र जिज्ञासा भी उत्पन्न हुई। परिणाम यह निकला कि सोवियत सघ ने अणुशक्ति के क्षेत्र में अमेरिका के बराबरी का दर्जा प्राप्त कर लिया और अतिरिक्त ज्ञान के क्षेत्र में उसने अमेरिका को बहुत पीछे छोड़ दिया है। १४ सितम्बर १९५६ में उसने स्फुटतापूर्वक मानव निर्मित प्रथम स्पूतनिक को चन्द्रलोक में पहुँचा दिया और ४ अक्टूबर १९५६ का सोवियत सघ का COSMOS Station चन्द्रमा के अदृश्य भाग के समीप पहुँच गया है और यथा शीघ्र हमें चन्द्रलोक का अज्ञात स्थिति से परिचित कराने वाला है। इससे अमेरिका अत्यधिक भयभीत हो उठा है वस ऊपर से दोनों देश गति का आवरण डाले दृष्टे ह पर तु अन्दर ही अन्दर अस्त्र शस्त्रा का निर्माण और नूतन विनाशकारी अस्त्रों की खोज का काम चल रहा है।

उपरोक्त कारणों के परिणाम स्वरूप 'शीतयुद्ध' की प्रगति हुई और सत्तार दो परस्पर विरोधी सशस्त्र खेमों में विभाजित हो चुका है। अधिकांश दश किसी न किसी युद्ध से सम्बन्धित हैं। यूगोस्लाविया के मासल टीटो को रूस से प्रयत्न होने की नीति या प० नेहरू की तत्स्थ नीति, वास्तव में, स्वतन्त्र विचारों का प्रतिनिधित्व करती है, परन्तु इस प्रकार की नीतियाँ अभी तक अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ होगी, जब तक सघ का दिन नहीं आ जाता। जब यह आयेगा दोनों की विपक्ष नीति इनका अस्तित्व समाप्त कर देगी। पश्चिमी गृष्ट जिसका नेता अमेरिका है, 'नोकनत्रो' ( Democracies ) अथवा 'स्वतन्त्र सत्तार' ( Free world ) कहलाता है, जबकि पूर्वी गृष्ट को "गति का" "लोकतन्त्रीय ( Democratic ) "जनता का लोकतन्त्र" ( People's Democracy ) कहा जाता है।

शीतयुद्ध ने महायुद्धोपरांत अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलभाने के स्थान पर चलभाने का तथा समस्याओं को कम करने के स्थान पर नई नई समस्याएँ उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। शुरू में आपसी मतभेदों की सीमा अपेक्षा कृत सीमित थी। पूर्वी यूरोप और वाल्कन प्रायद्वीप के नियन्त्रण का सवाल था। चर्चित प्रारम्भ से से पूर्वी यूरोप का रूसी प्रभाव से बचाने के पक्ष में था परन्तु अमेरिका का स्तालिन के वचना में विश्वास था और यह विश्वास था कि पूर्वी यूरोप के राज्यों में निगरा चुनाव कराये जायेंगे तथा "प्रजातन्त्रों" की स्थापना की जायगी। परन्तु रूस ने यथाशीघ्र पूर्वी राज्यों की अपने सरक्षण में ले लिया। उसकी इस नीति ने पूर्वी

शीत युद्ध और  
अन्तर्राष्ट्रीय  
समस्याएँ

यूरोप की समस्या को सुलझा दिया और एक नई समस्या गढ़ा हो गई पश्चिम के लिए—साम्यवादी प्रचार को रोकने की समस्या। इसके बाद विदेश मंत्रियों की परिषद की बैठकें शुरू हुई—पराजित राष्ट्रों के साथ की जाने वाली शांति संधियों की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए। परन्तु इन बैठकों में वाद विवाद इतना उत्पन्न होता गया, एक दूसरे के दावे इतने अधिक बढ़ते गये और एक दूसरे की इतनी आलोचना की गई कि समस्याएँ बढ़ती ही नहीं रुकी और नई समस्याएँ पैदा होती गईं। ११ सितम्बर १९४५ से लेकर अब तक ( १९५६ ) १५ बैठकें हो चुकी हैं परन्तु केवल ५ बैठकें किसी प्रकार के समझौते हो सके बाकी १० बैठकें असफल रही। युद्ध समाप्त हो बाद ईरान से सोवियत सेनाएँ न हटाने से एक और समस्या पैदा हो गई थी। इसी प्रकार यूनान के गृह युद्ध में यूनानी साम्यवादियों को पड़ोसी साम्यवादी देशों—ग्रैक्सिया, यूगोस्लाविया, बल्गेरिया आदि से प्राप्त होने वाली सहायता से पश्चिम का सोवियत रुस के प्रति अविश्वास बढन लगा और इस प्रकार ससार को एक और नई समस्या ने परेशान करना शुरू कर दिया था। अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा 'सतत-त्रय देशों की सहायता की घोषणा' तथा "माधल योजना" आदि कदम इन नई समस्याओं के परिणामस्वरूप ही उठाने पड़े थे। परन्तु इन कदमों ने अब रुस का भयभात कर दिया था। उसने इसके प्रत्युत्तर में कोमिन फार्म की स्थापना की। जैसे जैसे करक जर्मनी और जापान को छोड़कर अन्य पराजित राष्ट्रों के साथ सन्धियाँ करना गई परन्तु जर्मनी के मामले में दोनों पक्षों में भयंकर तनाव पैदा हो गया। पश्चिम ने जर्मनी के तीन अधिकार क्षेत्रों को मिलाकर पश्चिमी जर्मनी की स्थापना की तो सोवियत मंच ने पूर्वी जर्मनी की। परन्तु बर्लिन का निपटारा न हो सका। वैसे बर्लिन पूर्वी जर्मनी में स्थित है परन्तु बर्लिन नगर चार अधिकार क्षेत्रों में विभाजित है।

सुदूर पूर्व की घटनाओं भी एक प्रकार से भीत युद्ध की उपज मानी जा सकती है। चीन में राष्ट्रवादी दल जिसका नेता म्यांगवाइ नेक था की पराजय और साम्यवादीयों की सफलता से जहाँ एक तरफ से सुदूर पूर्व की समस्या उत्पन्न हुई है वहाँ दूसरी तरफ अनेक नूतन समस्याएँ पैदा हो गई हैं। चीन की मांगना का प्रश्न एक ऐसी ही समस्या है क्योंकि यदि उसे समुक्त राष्ट्र सच में स्थान दिया जाता है तो माघियत सच की शक्ति बढ जाती है और नही देने के कारण ससार की स्वतंत्र आलिया की आलाचना का गिजार बनना आ रहा है। फिर भी वह फारमोसा का चीन माने हुये हैं। बारिदा के युद्ध ने एक नही, अनेक समस्याओं को पैदा कर दिया है। समुक्त राष्ट्र सच का नया इतिहास लिखना पडा पश्चिम का साम्यवादीयों से लड़ने का भार वहन करना पना, भारत आदि देशों का समझौते का द्वार खोलना पडा और सब कही जाकर युद्ध बन्द हो सके। परन्तु खतरा तो बना हुआ है। कोरिया का दूरीकरण पश्चिम समय तो नही कर सकता परन्तु सवाल है साम्यवादी कोरिया और प्रजातान्त्रिक कोरिया। अभी साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अमेरिका का सहित कोरिया का सहायता का

भारत भी उठाना पड़ रहा है। हिन्दू चान में साम्यवादों प्रसार ने भी गई साक्षात्ता का जन्म दिया। सीटो उसी की उपज है। जापान का पुनः शस्त्रीकरण ( अमेरिका की सहायता से ) भी एक नई समस्या है।

मध्य पूर्व में शीत युद्ध ने अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को जन्म दिया है। वन इस क्षेत्र के तेल और सामरिक महत्व के अद्भुत के कारण पहले से ही कई समस्याएँ उलझी हुई पड़ी थी। स्वेज का संकट सर्वविदित है। बगदाद पकट की पदायश इसी का परिणाम है। ईराक की घाति तथा बादाद पकट की समाप्ति, लेबनान का धंगेजू विवाद और अमेरिकन फौजों का लेबनान में प्रवेश, जोर्डन में ब्रिटिश सेना का प्रवेश, आइजनाहार सिद्धांत की घोषणा तथा सन्टो ( CENGO ) की रचना — ये सभी समस्याएँ शीत युद्ध का वरदान हैं। आखिर इतना ताँ सभों को मापूम है ही कि द्वितीय महायुद्ध के बाद इतनी समस्याएँ नहीं थी। फिर ये कहाँ से लाई ? निरादर ये शीत-युद्ध का उपज है।

इसी प्रकार काश्मीर की समस्या का भी शीतयुद्ध की कृपा से समाधान नहीं हो सका है। क्योंकि पिन्हाल, भारत किसी पक्ष के साथ किसी प्रकार के सैनिक समझौते में गया हुआ नहीं है भ्रात्र अमेरिका को यह बिता है कि यदि काश्मीर भारत को मिल गया तो पाकिस्तान भी हाथ से निकल जायेगा। अतः वह जानते हुए भी कि हर दृष्टि से काश्मीर भारत का अंग है वह काश्मीर समस्या को उसभाय हुए है और पूर्ण सयुक्त राष्ट्र संधि भी शीतयुद्ध का मलाला बना हुआ है, जिसमें बहुमत ही सब कुछ है और जिसके छोटे छोटे पहलवानों की बहुत बड़ी सहाय अमेरिका के साथ है, इस समस्या का समाधान नहीं हो सका है। भारत की सीमा पर चीनी आक्रमण की समस्या का भी शीत युद्ध के रंग में रंगने का प्रयत्न भी किया गया परन्तु इस बार हम समझ गये और इस समस्या को आपसी आतिशाय के द्वारा ही तय करने का निश्चय कर लिया है।

कुछ घटनाएँ ऐसी भी हैं जिनकी सच्चाई का ज्ञान अभी तक नहीं मिल सका है और शीत युद्ध के वातावरण के परिणाम स्वरूप जा कुछ समाचार मिले हैं उनकी प्रतिशोधिता की देखने हुए, उन पर विश्वास करने की इच्छा नहीं होनी। हंगरी का हत्याकांड और गोटमाला का गडबड घटोला ऐसी ही घटनाएँ हैं।

निःशस्त्रीकरण की समस्या पर भी शीत युद्ध का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। महायुद्ध के बाद इस समस्या को सुलझाने के लिए न जाने कितने सम्मेलन हुए चुके हैं। परन्तु समस्या दिन प्रतिदिन उलझती जा रही है। और इसका सुलझाना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि इसके समाधान के लिए केवल आपसी सहयोग की ही आवश्यकता नहीं पड़ना बल्कि आपसी विश्वास और श्रद्धा का होना भी अनिवार्य है। शीतयुद्ध के वातावरण में आपसी विश्वास और श्रद्धा का उत्पन्न होना असम्भव है।

यह शीतयुद्ध की तीव्रता में कुछ बर्मी आने लगी है। वन स्तालिन की मृत्यु के उपरांत, रूस की नूतन विदेश नीति के परिणाम स्वरूप कुछ समय के लिये इनमें

कमी आ गई थी। वारिया की युद्ध बन्दी, हिंद चीन की समस्या अस्थायी समाधान, कोमिन फाम की समाप्ति, पश्चिम के साथ उदार व्यवहार, शिखर सम्मेलन की मांग लोह आवरण की समाप्ति आदि घटनाएँ इस उपरोक्त कथन को पुष्ट करता है। परंतु हंगरी व उपद्रव तथा स्वेज संकट व कारण गीत युद्ध पुनः अपने पूर्व जीवन पर आ गया था। फिर भी, दोनों पक्षों ने धैर्य का परिचय दिया। इन घटनाओं का कारण तटस्थ राष्ट्रों के प्रयत्न थे। भारत आदि देशों ने शीत युद्ध का विश्वव्यापी रूप ग्रहण करने से रोका। पुनः इसमें कमी आई और यात्रा कूटनीति (Travel Diplomacy) के द्वारा शीत युद्ध को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न जारी है। बुल्गारिया और खुश्चेव की इंग्लैंड यात्रा, अमेरिकन उपराष्ट्रपति निकसन की इस यात्रा, सोवियत उपप्रधान मिखिथोन की अमेरिका यात्रा, ब्रिटेन के प्रधान मंत्री मेव मिलन की इस यात्रा और खुश्चेव की अमेरिका यात्रा, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि पूर्व और पश्चिम, परम्परागत मतभेदों की क्षान्तिपूर्ण उपायों से सुलभान की दिशा में कदम बढ़ा रहे हैं। अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर द्वारा निकट भविष्य में की जाने वाली इस यात्रा, इस दिशा का अगला महत्वपूर्ण कदम होगी। फिर भी एक बात खटकती है। क्षान्ति के ये कारणों एक दूसरे के घर जाने से पहले कुछ समस्याएँ पदा कर देते हैं ताकि व्यक्तिगत वार्तालाप में अपने पक्ष का मजबूत बनाया जा सके। खुश्चेव की अमेरिका यात्रा के पूर्व हिंद चीन में पुनः उपद्रव उठ खड़ा हुआ या उठाया गया तथा यात्रा के एक दिन पूर्व चंद्रलोक को रूसी स्तनिक छाड़ा गया। पता नहीं अमेरिकन राष्ट्रपति की रूस यात्रा के समय क्या छोड़ा जायगा। इसमें हमें अधिक सरोकार नहीं। हमारा सरोकार इसमें है कि शीतयुद्ध का जड़मूल स उखाड़ दिया जाय।

### (४) अन्तर्राष्ट्रीय नोक-झोंक

अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक का तात्पर्य उन स्थानीय झगडा स हैं जिन्हें पूर्व और पश्चिम न अपने स्वार्थों की बलिबेदी का बकरा बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया और उनकी हठधर्मी तथा अधिपत्य नीति ने इन झगडा को और भी अधिक जन्म बना दिया जिसके परिणामस्वरूप उनका समाधान एक लम्बे अर्से तक उबड़ खाबड़ किया में भटकता रहा या फिर अभी तक सही मार्ग की धार उन्मुख न हो सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक का सर्वप्रथम केन्द्र जर्मनी बना। याल्ता सम्मेलन (फरवरी १९४५) में जर्मनी के भविष्य का निर्णय कर दिया गया था। इस निर्णय के अनुसार जर्मनी को चार अधिकृत क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था।

(१) जर्मनी और धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न और उस पर २० अरब डालर क्षतिपूर्ति लादने का निर्णय किया गया। क्षतिपूर्ति की कुल राशि में से १० अरब डालर रूस को देना तय किया गया। विजेताओं द्वारा संयुक्त रूप में क्षतिपूर्ति बर्लिन के घेरावों को चार वृत्त-खण्डों में विभाजित कर दिया गया था। ५ जून सन् १९४५ को पोटरसडाम सम्मेलन (जुलाई अगस्त १९४५) के पूर्व

बर्लिन में, समस्त जर्मनी के मामलों को सङ्कुल-रूप से तय करने की दृष्टि से, मित्रराष्ट्रों की एक सैनिक नियंत्रक परिषद् की प्रथम बैठक हुई, परन्तु बैठक में किसी प्रकार का उमकौता न हो सका। अतः पोट्सडाम सम्मेलन में जर्मनी के भाग्य का निर्णय अधिकार चार राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों का परिषद् को सौंप दिया गया और परिषद् को यह निर्देश भी दिया गया कि वह जर्मनी में नाजीवाद का अन्त, सैनिक प्रवृत्ति का अन्त, व्यापारियाँ के सप का अन्त तथा प्रजातन्त्रोत्थरण का प्रयत्न करे। जर्मनी को एक आर्थिक इकाई के रूप में सङ्गठित किया जाय तथा क्षतिपूर्ति की राशि तय की जाय।

विदेश मंत्रियों की परिषद् ने अपना काय गुरु किया परन्तु शीत युद्ध की भावना से प्रभावित होने तथा याल्ता और पोट्सडाम के मध्य विद्यमान अन्तर को भरने अपने पक्ष की तरफ मोड़ने की नीति के कारण उसे सफलता नहीं मिल सकी। मित्रों के समझौते का शीघ्रता से अन्त हो गया। "पेरिस ने अपने सहयोग को, उस समय तक के लिए हटा लिया, जब तक रूस तथा राइनलैंड का जर्मन साम्राज्य से अलग न किया जाए। वाशिंगटन तथा लंदन ने इसके लिए इन्कार कर दिया। मास्को ने भी उस समय तक के लिए अपना सहयोग हटा लिया, जब तक रूस का चार शक्तियों के नियंत्रण में न रखा जाए तथा सोवियत रूस को हरजाने के रूप में १० ०००,०००,००० डालरों के लिए वचन न दिया जाए। वाशिंगटन तथा लंदन ने इसको भी अस्वीकार कर दिया।" फ्रांस झगड़ता रहा, रूस पूर्वी क्षेत्र से मशीनों का मास्को की तरफ भेजता रहा और वाशिंगटन तथा लंदन अपने अपने क्षेत्रों का सन्तुष्ट करने की योजना बनाते रहे। १ जनवरी १९४७ को उन्होंने दोनों क्षेत्रों का मिलाकर "द्वि-क्षेत्र" (Bizonia) का निर्माण किया।

जून १९४८ में पश्चिम क्षेत्र की आर्थिक स्थिति को सुधारने की दृष्टि से एक नया निष्का "ड्यूग माक" जारी किया गया। २४ जून को सोवियत अधिकारियों ने, विंगिष्ट कठिनाइयों के बहाने से, बर्लिन के चारों तरफ के रास्ते को बंद करके बर्लिन पर घेरा (Blockade) डाल दिया। इस घेरे के परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्रों के अन्तर्गत बर्लिन के तीन-चतुर्त लण्डन का बाह्य सत्कार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया क्योंकि बर्लिन पूर्वी क्षेत्र में स्थित था। इससे मित्रराष्ट्रों के बर्लिन क्षेत्रों की स्थिति घोर चिन्नीय हो गई। कुछ लागा ने सहायक बल से रास्ता बनाने का मुआवजा रखा, परन्तु इसे स्वीकार नहीं किया गया और मित्रराष्ट्रों ने हवाई जहाजों की सहायता से पश्चिम बर्लिन के नागरिकों का रसद सामग्री पहुँचानी शुरू कर दी। यह घेरा लगभग एक वर्ष तक जारी रहा परन्तु पश्चिम के परिश्रम से सोवियत संघ की नीति असफल रहो और ११ मई १९४९ ई. का बर्लिन का घेरा उठा लिया गया। सोवियत रूस की इस कायवाहों की चर्चा करते हुए "यूमेन ने लिखा है—" 'बर्लिन प्रतिरोध' वास्तव में इस बात के परीक्षण के लिए था कि पश्चिमों



शक्तियों को बर्लिन से बाहर निकाला जा सकता था या नहीं, जपवा, कम से कम, वह एक पश्चिमी जर्मन राज्य की योजनाओं को छोड़ने के लिए विवश किया जा सकता था या नहीं।" रूस ने तो पश्चिमी शक्तियों को ही बर्लिन से बाहर निकाल सता और न पश्चिमी जर्मन राज्य की स्थापना को ही रोक सका। क्योंकि रूस की इस नीति ने फ्रांस को जर्मनी के पक्ष में कर दिया और जर्मने जर्मनी को विभाजित रखने तथा उन निर्बल बनाने की नीति के स्थान पर पश्चिमी जर्मनी के निर्माण की तरफ काम करना निर्णय कर लिया और फनस्वरूप पश्चिम के तीनों अधिकार-क्षेत्रों को मिलाकर एक एक प्रिंसे (Thizonia) बनाया गया (१९४६)। इसके तुरन्त बाद ही भाव पश्चिमी जर्मनी राज्य के संविधान को बनाने के लिये एक विधान सभा का चुनाव कराया गया और २० मई १९४८ को "जर्मन संघीय प्रजातन्त्र" (German Federal Republic) अर्थात् पश्चिमी जर्मन राज्य की स्थापना की गई। इसकी राजधानी बोन (Bonn) रखी गई। सोवियत रूस ने इसके बदल में पूर्वी जर्मन क्षेत्र में, एक "जर्मन गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र" की स्थापना की। इसकी राजधानी बर्लिन रखा गई। यह कार्य ११ अक्टूबर सन् १९४८ ई. को किया गया था। २६ मई १९५३ को पश्चिमी राष्ट्रों ने पश्चिमी जर्मन गणराज्य को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की। रूस ने २५ मार्च १९५४ का पूर्वी जर्मन राज्य का पूर्ण सर्वोच्च सत्ता सौंप दी। इस प्रकार जर्मन को दो पृथक् राज्यों में, एक दूसरे से भिन्न शासन व्यवस्था वाले राज्यों में विभाजित कर दिया गया। पश्चिमी जर्मनी की कुल आबादी लगभग ५ करोड़ १० लाख और पूर्वी जर्मनी की लगभग १ करोड़ ६० लाख है। पश्चिमी जर्मनी औद्योगिक दृष्टि से काफी सम्पन्न है और पूर्वी जर्मनी कृषि प्रधान राज्य है। धीरे धीरे सोवियत रूस ने पश्चिमी जर्मनी के साथ वैय (Diplomatic) सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये। परन्तु पश्चिम पूर्वी जर्मनी का स्वीकार नहीं करता है।

परन्तु अब एक नई समस्या उत्पन्न हो गई—जर्मन एकीकरण का तथा बर्लिन का स्थिति की समस्या। पश्चिम और पूरु दोनों ही यह चाहते हैं कि जर्मनी का एकीकरण हो जाय, यदि यह सम्भव न हो तो, कम से कम, बर्लिन का पसला ही हो जाय। इन उद्देश्य से बर्लिन में विदेश मंत्रियों की एक बैठक हुई (२५ जनवरी-१८ फरवरी १९५४) परन्तु बैठक में किसी प्रकार के समझौते पर पहुँचना सम्भव न हो सका। पश्चिम का मान्य थी कि जर्मनी के दोनों भागों में (बर्लिन सहित) स्वतन्त्र मतदान द्वारा एक विधान निर्माण सभा चुनी जाय और यह सभा संयुक्त जर्मनी की केन्द्रीय सरकार का निर्माण कर और जब जर्मनी के साथ संधि करने योग्य वातावरण पैदा हो जाय तो मित्रराष्ट्र इस के साथ सरकार के साथ संधि करें। संधि में रूस और पोलैण्ड द्वारा छोड़े गये जर्मन प्रदेशों का अन्तिम व्यवस्था भी सम्मिलित की जाय तथा नवनिर्मित जर्मन राज्य को "गति संधि" की शर्तों के अन्तर्गत अपनी अंतराष्ट्रीय राजनीति की दिशा निर्धारित करने की सूरक्षा जाय। अर्थात् पश्चिम या पूर्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता दी जाय।

परंतु रूस को पश्चिम की भाग स्वीकार न थी। उसने पृथक भाग रखी कि जर्मन एकीकरण का दावित्व जर्मनी की दोनों सरकारों पर छोड़ दिया जाय और महान शक्ति का इसमें हस्तक्षेप न करें। दोनों सरकारों का अस्तित्व बना रह और सीधी वार्तालाप के द्वारा व एकीकरण का प्रयत्न करें। इस सम्बन्ध में सोवियत क्षेत्र में स्थापित साम्यवादी संस्थाओं की सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय और पश्चिमी जर्मनी नाटो से अपना सम्बन्ध विच्छेद करले। यह तभी हा सचता है जबकि पश्चिमीराष्ट्र पूर्वी जर्मन गणराज्य की प्रभुसत्ता को मान ले तथा पश्चिमी जर्मन क्षेत्र में अपनी सेनाएं हटा ले। पश्चिम सोवियत रूस की भाग को स्वीकार करने को तैयार नहीं था।

जर्मन एकीकरण के प्रश्न पर दाना पक्षों के मतभेद का मूल कारण उनके आपसी स्वार्थ थे। यदि मतदान संग्रह के आधार पर जर्मनी का एकीकरण किया जाता है तो पश्चिमी जर्मन सरकार की संपत्ति में किन्ती प्रकार का भेद नहीं बचता क्योंकि पश्चिमी जर्मनी की जनसंख्या ५ करोड़ १० लाख है जबकि पूर्व की १ करोड़ ६० लाख और तब कि पश्चिमी जर्मनी पश्चिम का अनुयायी है, अतः सोवियत संघ के प्रभाव का समाप्ति निश्चित है। हम नहीं चाहता कि पूर्वी जर्मनी उसके हाथ में निकल जाय। क्योंकि इस स्थिति में उस २०० मील पूर्व में, पाछ हटना पूर्वी जर्मनी में स्थित रूस सेना के २२ डिविजनों का हटाना तथा महत्वपूर्ण सामरिक अड्डों को खाली करना पड़ता। अर्थात् भविष्य में पश्चिम के साथ लड़ जाने वाले समय में उपयोगी प्रमाणित होने वाली रक्षा तथा आतंमणात्मक पद्धति में हाथ धाना पड़ता। अतः जर्मन एकीकरण के प्रश्न को टालने में ही अपना कल्याण समझा क्योंकि रूस के इस प्रकार जर्मनी में पाछे हटने का कारण पूर्वी यूरोप के साम्यवादी दंगा की स्थिति पर भा प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका थी। दूसरी तरफ पश्चिम का आत्मनिर्णय में अगाध विश्वास था। वे चाहते थे कि जर्मन लाग स्वतंत्रता पूर्वक अपने भाग्य का फैसला आप करले। यदि मास्का की भाग को स्वीकार कर लिया जाता तो सम्पूर्ण जर्मनी के साम्यवादी बन जाने की संभावना थी और इस स्थिति में जर्मनी मास्को की कठपुतली हो जाता और साम्यवादी प्रचार की साम्राज्य के बिनागे तक आ जाती, जहां स पश्चिमी यूरोप का बड़ी सुगमता के साथ सवनाश किया जा सकता था।

इस प्रकार के स्वायत्त प्रधान मतभेदों के कारण जर्मन एकीकरण की समस्या का समाधान आज तक नहीं हो पाया है। वर्तमान की समस्या इससे भी गई बीती है। बर्लिन जर्मन राष्ट्रपति की रीढ़ है और सहज स्वाभाविक ढंग से प्रत्येक जर्मन की दृष्टि बर्लिन की तरफ लगी हुई है। १० नवम्बर १९५८ को ख्रुश्चेव ने सम्पूर्ण बर्लिन पर पूर्वी जर्मनी के दावे का समर्थन करते हुए कहा कि बर्लिन में पश्चिमी राष्ट्रों को बने रहने का कोई वातुना अधिकार प्राप्त नहीं है। हा यदि वे चाहें तो सोवियत संघ बर्लिन की समस्या पर दखल बंद करने को तैयार है। वह बर्लिन को निस्सैन्य (Demilitarized) स्वतंत्र नगर बनाना चाहता है ताकि बर्लिन स सोवियत विराधी जासूसी के अड्डे (पश्चिमी बर्लिन) का समाप्त किया जा सके, परन्तु पश्चिम पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। १० जनवरी

१९५६ को रूस ने बर्लिन समस्या के समाधान हेतु शिखर सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। पश्चिम ने विदेश मंत्रियों के सम्मेलन को बुलाने का मुझाव दिया जिसे रूस न स्वीकार कर लिया। ११ मई १९५६ से चार राष्ट्रो-रूस, अमेरिका, इंग्लण्ड तथा फ्रान्स, व विदेश मंत्रियों का जेनोवा में सम्मेलन हुआ परन्तु कोई सतोपजनक समझौता न हो सका और सम्मेलन स्थगित कर दिया गया। जुलाई में सम्मेलन की कार्यवाही पुनः शुरू हुई परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला और हमेशा की तरह यह भी असफल रहा। वास्तविकता यह है कि दोनों पक्षा में से कोई झुकने का तैयार नहीं है कोई यह नहीं चाहता था कि जा कुछ नियंत्रण में है, वह हाथ से चला जाय। अतः निकट भविष्य में इस समस्या का समाधान होना कठिन ही दिखलाई पड़ता है।

अंतर्राष्ट्रीय नोक भोक की दूसरी प्रमुख समस्या 'साम्यवादी चान' की मान्यता है। प्रथम महायुद्ध के अंतिम समय में सम्पूर्ण ससार ने विशाल रूस देश में काल मार्क्स के सिद्धान्तों की कार्यान्वित होते देखा तो द्वितीय महायुद्ध के बाद सत्तार की धनी आबादी वाले चीन देश को साम्यवादी रूप धारण करते हुए देखा। (२) साम्यवादी चीन सन् १९४६ ५० की चीन की क्रांति का, कुछ लोग न "रूस की मान्यता" पड्यत्र" और कुछ लोग ने "वाशिंगटन के पड्यत्रकारियों का परिणाम" बताया है। परन्तु ये दोनों ही "वाक्याएँ गंभीर नहीं हैं। 'चीन की लाल विजय, बीमारी शतों में रूस की सबसे भारी विजय तथा अमेरिका की सबसे भारी पराजय होने हुए भी, न तो अमेरिका के लोगों का काय था और न रूसियों का, वरन् चीनियों का ही कार्य था।"

यह सबकुछ कैसे हो गया, इसकी एक लम्बी कहानी है जो आगे के अध्याय में बतलाई जायेगी। यहाँ पर केवल इतना कहना काफी होगा की अमेरिका का पोपक पुत्र, कमिनिस्म का सवधिकारी, चीन का राष्ट्रपति च्यांगकाईशेक का साम्यवादिया स बुर्गीतद्ध से पराजित होना पड़ा और उसे चीन की भूमि से अपना बोरिया बिस्तर समेट कर, अमेरिका के संरक्षण में, चीन के समीप स्थित फारमासा द्वीप को अपना निवास स्थान बनाया पड़ा। २१ सितम्बर १९४६ का, पेकिंग में 'चीन के जनगणतन्त्र' की घोषणा कर दी गई। दिसम्बर तक सम्पूर्ण चीन लाल शासन के अंतर्गत आ गया।

रूस ने शीघ्र ही साम्यवादी चीन का मान्यता देदी और १४ फरवरी १९५० ई को मास्को में, दोनों देशों के बीच मित्रता, समझौता एवं पारस्परिक सहायता की एक ३० वर्षीय संधि पर भी हस्ताक्षर कर दिये गये। इसमें अमेरिका को धित हो उठा और उसने साम्यवादी चीन को मान्यता देने, संयुक्त राष्ट्रसंघ में साम्यवाद को चीन को उमरान स्थान देने स अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह साम्यवादी चीन को रूस की कठपुतली मानता था रूस का सहयोगी समझता था। वैसे लालचीन की बदस्तिक नीति भी अमेरिका के विरुद्ध थी, क्योंकि अमेरिका ने च्यांग को अस्त्रशस्त्र प्रदान किये थे, उसे मान्यता देने स अस्वीकार कर दिया था, निरंतर उसे समाप्त करने की चेष्टा की थी, और फारमोसा

के व्याग को ही विनाल चीन का प्रतिनिधि सम्झे बैठा था। वास्तव में यह कितनी दिव्यगी की बात है कि ५० करोड़ चीनी जनता पर शासन करने वाली सरकार की मान्यता न देकर, अमेरिकन सरकार ने एक छोटे से टापू में मुह छिपा कर बैठे हुए व्याग को विनाल चीन का प्रतिनिधि माना जा रहा है। जबकि भारत, इंग्लण्ड, जर्मनी, रूस आदि अनेको देशों ने साम्यवादी चीन की मान्यता प्रदान कर दी है और उसके साथ दोस्त सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये हैं। भारत ने चीन को संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश दिसवाने के लिये अनक प्रयत्न किये हैं, यहाँ तक कि भारत चीन की सीमा विवाद के सम्बन्ध में चीन द्वारा आक्रामक कार्यवाहियाँ किये जाने के बाद भी सितम्बर १९५६ में भारत न अन्तिम प्रयत्न किया, परन्तु अमेरिका के प्रभाव के कारण भारत के प्रयत्न सफल नही हुए। २८ जून १९५७ को अमेरिका के विदेश सचिव स्व० डलेस ने अपने दश की नीति को स्पष्ट करत हुए कहा था, 'चीन में साम्यवाद ने हिंसा द्वारा सत्ता प्राप्त की है। वह हिंसा के सहार जावित है। उसने कोरिया में संयुक्त राष्ट्रसंघ से संघर्ष लड़ा है। हिन्दचीन में गृह युद्ध में साम्यवादियों की सहायता की है। तिब्बत पर जबरदस्ती अधिकार किया है। मान्यता एक विशेष अधिकार है जो उत्तम व्यवहार के विश्व व्यापी मापदण्ड से ही अर्जित किया जा सकता है। उसका (साम्यवादी चीन का) इतिहास सदाशत्रु आक्रमण का इतिहास है। क्या सात वर्ष में कोरिया, हिन्द चीन, तिब्बत फिलिपाइन और मलाया में पाँच गृह युद्ध लड़ने वाले को, संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा घोषित आक्रामकता को तथा उससे लड़ने वाले को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थायी स्थान और निष्पादिकार दिया जाय, जिसका प्रधान उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना करना है।' इस प्रकार चीन की मान्यता का प्रश्न आज भी उलझा हुआ पड़ा है और स्वतंत्र राष्ट्रों की जमात-संयुक्त राष्ट्रसंघ के पाँच स्थायी स्थानों में से एक पर चीन से निर्वासित व्याग का प्रतिनिधि आसन जमाये बैठा है।

अंतर्राष्ट्रीय नाक भोक की तीसरी बड़ी समस्या स्वेज का सड़क थी। स्वेज सड़क का विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में का गई है। यहाँ पर केवल नोक भोक की रूपरेखा की व्याख्या की जा सकती है। २६ जुलाई १९५२ को मिश्र में एक सैनिक क्रांति हा गई और पश्चिम के पिट्रू मिश्र ने शाह फारूक का तख्ता उल्ट दिया

(३) स्वेज सड़क गया। जनरल नगीब ने मिश्र की बागडार सभाली परन्तु वह शीघ्र ही पश्चिम की तरफ झुकने लग गया। इस पर उस परच्युत कर दिया गया और जर्नल नासिर मिश्र का सर्वे सर्वा बन गया। नासिर साम्राज्यवाद का कट्टर पक्ष था वह नील नदी पर स्थित आस्वान बांध का विनाल पैमान पर नगरनिर्माण करना चाहता था ताकि मिस्री जनता की आर्थिक दशा में सुधार हो सके। पश्चिम ने उस बांध निर्माण कार्य के लिये अपक्षित आर्थिक सहायता देने से इंकार कर दिया। इस पर नासिर ने २७ जुलाई १९५६ का मिश्र देश से गुजरनेवाली स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। इससे इंग्लण्ड जिस पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था और फ्रांस प्रोथित हो

उठे। मामला मयुक्तराष्ट्र मंत्र में ले जाया गया, परन्तु समझौता न हो सका। इनो बाद २६ अक्टूबर १९५६ को इजरायल ने, स्वेच्छा से या इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के उकसान पर मित्र पर आक्रमण कर दिया और ३१ अक्टूबर को, इजरायल को ओट में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने भी मित्र पर आक्रमण कर दिया। मयुक्तराष्ट्र सभ ने युद्ध को बन्द करने का अधिक प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अमेरिका ने भी युद्धबन्द की अपील की परन्तु उसकी अपील में अधिक बल नहीं था। ५ नवम्बर को रूस ने इंग्लैण्ड और फ्रांस का युद्ध बन्द करने की चेतावनी दी। इसका तुरन्त प्रभाव पड़ा और ६ नवम्बर की रात को युद्धबन्द हो गया। स्वेजन्हर के क्षेत्र का अंतर्राष्ट्रीय पुलिस के नियन्त्रण में रख दिया गया।

इस प्रकार स्वेज नहर की समस्या का अस्थायी समाधान हो गया। परन्तु नागरिकों की नीति ने अंतर्राष्ट्रीय नौक भोज को पुन बढावा देना शुरू कर दिया है। वह एक तरफ पश्चिम का कट्टर शत्रु, दूसरी तरफ साम्रियत सभ का मित्र, तीसरी तरफ अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक और इस नाते मित्री साम्यवाद्या का दमनकर्ता है। इन सभी बल रूस से उलझ पड़ता है तो कभी पश्चिम से आर रूस तथा पश्चिम, मोता हो उठता अपने पक्ष में करने के लिये माम, दाम, भेद के पासे फँसने में लगे हुए हैं।

चौथी समस्या कारिया की है। वैसे अपने उद्भवकाल में यह समस्या बहुत ही भयंकर दिखलाई पड़ती थी परन्तु इसका कुछ समाधान हो जाने के कारण, अब इसका महत्व थोड़ा कम पड़ गया है। इसकी विस्तृत कहानी भी आगे

( ४ ) कोरिया की समस्या १० में जापान ने चीन से कारिया छान लिया था। द्वितीय महायुद्ध में जापान पराजित हुआ और उसने मित्रराष्ट्रों का आग्रह सम्पूर्ण कर दिया। कारिया में ३८° अक्षांश उत्तर की तरफ बाँटी जापानी सेना न सोवियत मध्य का और दक्षिण की सेना ने अमेरिका को आत्म समर्पण किया। अमेरिका के मध्य बढने हुए तनावके परिणामस्वरूप कोरिया का एकीकरण हो गया और जपानी की भाँति कोरिया में भी दो राज्य स्थापित हो गये—३८° अक्षांश के उत्तर की तरफ साम्यवादी गामन व्यवस्था वाला उत्तरी कारिया और ३८° अक्षांश के दक्षिण में अमेरिकन गामन व्यवस्था वाला दक्षिणी कारिया। दोनों राज्यों में कुछ से छोटी-मोटी भड़प होती रही, परन्तु २५ जून १९५० का उत्तरी कारिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। मयुक्त राष्ट्रसभ ने उत्तरी कारिया का आश्रान्ता घोषित करने हुए ( २७ जून ) सम्मेलन में उसको विरुद्ध सैनिक सहायता में सन्धि देने का आदेश दिया। जनरल मैकाथर का मयुक्तराष्ट्र सभ का मना प्रति बनाव दिया गया। उत्तरी कारिया का पीछे खदेड़ दिया गया। परन्तु जब मैकाथर की मना ३८° अक्षांश को पार करके तेजा में उत्तर की तरफ बढ़ने लगी तो नवम्बर १९५० में चीन के स्वयं-सहा ने युद्ध में प्रवेश दिया और युद्ध का नया चरण शुरू

मैकाथर को वापस २८ अक्षांश तक खदेड़ दिया गया। एक वर्ष के निरंतर सघर्ष के बाद, भारत आदि देशों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १० जुलाई १९५१ को युद्धबंद के आसार दिखाई पड़ने लगे। परन्तु अंतिम विराम संधि पर २७ जुलाई १९५३ के पूर्व हस्ताक्षर नहीं हो सके। इस प्रकार कोरिया की समस्या का समाधान हुआ परन्तु आज भी कोरिया के एकीकरण का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय नोक भोक के कारण अधिकार में पड़ा हुआ है।

अब हम कुछ छोटी परन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की तरफ आते हैं। इस प्रकार की समस्याओं में हंगरी का हत्याकांड प्रमुख है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व हंगरी, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजवंश के आधीन था परन्तु १९१९ में

(५) हंगरी का हंगरी को पूर्ण स्वतंत्र मान लिया गया और वहां पर प्रजातंत्र की स्थापना हुई। द्वितीय महायुद्ध में हंगरी जर्मनी का शिकार बना और रूस की लाल सेनाओं द्वारा उसे जर्मन आधिपत्य से मुक्त किया गया। इस प्रकार, पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों की भांति हंगरी भी रूसी प्रभाव क्षेत्र में आ गया और वहां पर साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित की गई।

१८ अगस्त १९४९ को हंगरी में 'जनता का गणराज्य' विधिवत् स्थापित किया गया। २३ अक्टूबर १९५६ को हंगरी में स्तालिन विरोधी क्रांति हुई और स्तालिन

कालीन नेताओं का पतन हो गया तथा १ नवम्बर १९५६ को इमरे नेगी (Imre Nagy) ने एक नई संयुक्त सरकार बनाई। इस नई सरकार ने पुरानी सरकार द्वारा रूस के साथ सम्पादित 'वारसा पेक्ट' का त्याग दिया और संयुक्तराष्ट्र सच से अपनी

तटस्थता की रक्षा करने का अनुरोध किया। नूतन सरकार के इन कार्यों से रूस आशंकित हो उठा और उसकी सूझ-बूझ के अंतर्गत हंगरी के प्रधानमंत्री नेगी के एक प्रमुख सहयोगी जानास कादर ने "हंगेरियन क्रांतिकारी मजदूरों और किसानों का" एक नई सरकार की स्थापना की। इस प्रकार हंगरी में दो परस्पर विरोधी सरकारों की

स्थापना से गृह युद्ध शुरू हो गया। कान्गर ने सोवियत-सच से और नेगी ने संयुक्तराष्ट्र सच से सहायता की याचना की। ४ नवम्बर १९५६ को सोवियत सैनिकों कादर की सरकार की सहायता के लिये हंगरी पहुंच गई। रूसी सेना में मंगोल, तातार आदि सैनिकों की

प्रधानता थी और इन सैनिकों से यह कहा गया था कि वे साम्राज्यवादी तत्वों का खाने के लिये भेजे जा रहे हैं। आधुनिक अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित इस रूसी सेना ने हंगरी में नाशिराही कारनामों को भी मात कर दिया। उधर नेगी की सरकार संयुक्तराष्ट्र सच

का द्वार खटखटाती रही परन्तु सोवियत रूस के विरोधी रुख के कारण संयुक्तराष्ट्र सच परिवार कोई कदम नहीं उठा सका और इधर-उधर के वाद-विवादों में उलझा रहा। अब तक इमरेनेगी की सरकार का पतन हो गया। नेगी को गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। अन्त में हंगरी के न्यायालय के निर्णय

नुसार उसे फांसी दे दी गई। हंगरी के इस हत्याकांड में न जाने कितने हजारों व्यक्ति

को मौत के घाट उतारा गया इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। सगुमग ? हंगेरियन लोग इस हत्याकांड में भाग निवृत्तने में अवश्य सफल रहे और वे पाप विदेशों में पड़े सितक रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र सच हमारे नेगी को बचाने में असमर्थ रहा क्योंकि रूस का यह रुका था कि उसने हंगरी की वास्तविक सरकार के नियंत्रण पर वारसा पैक्ट के अन्तर्गत सरकार की सहायता के लिए हमी सेना भेजी थी। अतः संयुक्तराष्ट्र सच सैनिक रूप उठाने में असमर्थ रहा। फिर भी, उसने हंगरी को घटना की जांच के लिए एक विशेष समिति नियुक्त की। परन्तु इस समिति को हंगरी में प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। समिति ने हंगेरियन वरणाधिकारियों से पूछताछ की और अपनी रिपोर्ट (प्रतिवेदन) तैयार की। सच ने इस प्रतिवेदन के आधार पर भारी बहुमत से सोवियत रूस को हंगरी में हस्तक्षेप का दोषी ठहराया। परन्तु इस प्रकार के प्रस्तावों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। भारत के प्रधान मंत्री उन्ही दिनों यूरोप की यात्रा कर रहे थे और उन्होंने हंगरी के मामले में रूसी कदम की बहुत आलोचना की थी। अब सर्वत्र शान्ति है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय नौक भाक की दूसरी समस्याएँ पैदा हो गईं।

इस बार अन्तर्राष्ट्रीय नौक भाक पुनः मध्य पूव के क्षेत्र से शुरू हुई। इराक के राज्य प्राप्ति बगदाद पकट का अन्त, लेबनान का सफ्ट और अमेरिकन सेनाओं का प्रवेश, जाडन में अग्नेजी सेनाओं का प्रवेश आदि समस्याएँ नौक भाक का केन्द्र बनीं।

यह इन समस्याओं का प्रादुर्भाव बहुत बड़ा पूर्व, हा, बुलाई १६५

( ६ ) मध्यपूर्व की जिसका पूरा बखाना आगे किया गया है, परन्तु १४ जुलाई १९५५

समस्या इराक को इराक की सैनिक प्राप्ति तथा पश्चिम समर्थक इराक

की क्रांति प्रधानमंत्री नूरी अस्सग्यद और इराक के राजा की हत्या।

मध्यपूव की स्थिति दोषनीय हो गई। इस समस्या को समझ

के लिए मक्षेप में पूर्व इतिहास का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। मध्य

तल का भण्डार तथा यूरोप का बल कारखानों का जीवन है। प्रथम महायुद्ध के

मध्यपूर्व पर टर्की का प्रभुत्व था। प्रथम महायुद्ध में टर्की ने जर्मनी का साथ दिया

युद्ध की समाप्ति के बाद मध्यपूव टर्की के प्रभुत्व से समाप्त हो गया। मध्यपूव

के पूर्वी तट पर स्थिति लेबनान प्रदेश फ्रेंच मण्डल बना। सीरिया भी फ्रेंच मण्डल बना

पेलेस्टाइन, ईराक तथा ट्रांस जोर्डन ब्रिटिश मण्डल बने। यमन और सऊदी अरबिया स्वतंत्र

राज्य बन गये। मित्र, ईरान पहले से ही टर्की से प्रयुक्त हो चुके थे। अरबों में राष्ट्रीय

की भावना बढ़ने लगी और परिणाम स्वरूप मित्र, सीरिया, इराक, लेबनान, ईरा

आदि स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। पेलेस्टाइन क्षेत्र में इजरायल तथा जोर्डन नाम

के राज्या की स्थापना हुई। १९५६ में स्वेज सफ्ट से मध्यपूर्व की स्थिति बिगड़

और मध्यपूर्व पूर्व और पश्चिम की नौक भाक का केन्द्र बन गया।

१ फरवरी १९५८ को मिस्र तथा सीरिया ने मिलकर एक "संयुक्त अरब गणराज्य" ( United Arab Republic ) की स्थापना की। यह गणराज्य पश्चिम का विरोधी तथा रूस का सहयोगी था। इसके प्रत्युत्तर में पश्चिम समर्थक दो अरब राज्या—ईराक तथा जोर्डन ने मिलकर "संयुक्त अरब राज्य" ( United Arab States ) की नींव रखी। ईराक बगदाद पेंकट का सदस्य था और उसका प्रधान मंत्री नूरी अस्तस्यद पश्चिम का प्रबल समर्थक था परन्तु ईराकी जनता पश्चिम के साम्राज्यवादी आचरण को दूर हटाना चाहती थी। कई बार विद्रोह हुए, परन्तु सेना का सहायता से वह कुचल दिया गया। १४ जुलाई १९५८ को ईराक के राष्ट्रवादी सैनिकों ने जनरल अब्दुल करीम कासिम के नेतृत्व में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और नूरी तथा राजा को बर्तल कर दिया गया। इसी राज इस्तम्बोल में बगदाद पेंकट के प्रतिनिधियों को बैठक होने वाली थी। इस सैनिक क्रांति से सारा आश्चर्य व्यक्त हो गया। संयुक्त अरब राज्य का संगठन टूट गया, बगदाद पेंकट की मृत्यु हो गई।

परन्तु पश्चिम को ईराकी क्रांति के पीछे साम्यवादी सहायता दिखाई दिया और इस क्रांति का पड़ोसी देशों पर, विशेषकर लेबनान और जोर्डन पर जो पहले से ही उपद्रव प्रस्तुत थे, अतिप्रभाव पड़ने की आशंका हुई। फलस्वरूप १५ जुलाई १९५८ को लेबनान में अमेरिकन सेनाओं तथा १७ जुलाई को जोर्डन में ब्रिटिश फौजों, पश्चिम समर्थक इन राज्यों की सहायता करने पहुँच गई परन्तु वास्तविक उद्देश्य मध्यपश्चिम में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना था। रूस ने अमेरिका तथा ब्रिटेन द्वारा सेना भेजने का घोर विरोध किया। संयुक्त राष्ट्र सभ में भी खूब नाक भोंक हुई। अन्त में लोकमत के प्रबल प्रतिरोध के बाद अमेरिका और ब्रिटेन को अपना सेनाएं हटानी पड़ी। इस प्रकार नाक भोंक में कुछ कमी आई।

अन्तर्राष्ट्रीय नाक भोंक की एक प्रमुख समस्या है—निःशस्त्रीकरण ( Disarmament )। राष्ट्र सभ में भी इसकी व्यवस्था की गई थी और राष्ट्र सभ के बाहर विविध देशों ने भी इस सम्बन्ध में अनेक प्रयत्न किये थे परन्तु सफलता नहीं मिली और द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। महायुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र सभ की स्थापना की गई और एक बार पुनः निःशस्त्रीकरण का (७) निःशस्त्रीकरण निश्चय में आगे बढ़ाने की आवश्यकता का अनुभव किया जा सका। विविध देशों के राजनीतिज्ञों द्वारा इस समस्या का अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है क्योंकि युद्ध और शांति इस समस्या पर ही निर्भर करती है। निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता इस दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद अणुबम्ब ने भी अधिक विनाशकारी क्षमता की खोज तथा निर्माण किया जा चुका है। १९५५ में सोवियत ने और १९५६ में अमेरिका ने उद्घन बम्ब का निमाण किया जो कि अणुबम्ब से २०-२५ गुणा अधिक शक्तिशाली है। अगस्त १९५७ में रूस ने अन्तःमहाद्वीपीय प्रत्येक्षणम्ब



( Inter Continental Ballistic Missile—ICBM ) का आविष्कार करके ससार को आश्चर्य तथा भय में डाल दिया। इससे अणुशस्त्रों का प्रसारण के गोले को दुनिया के किसी भी हिस्से में पेंका जा सकता है। इसी प्रकार के अन्य बम फेंकने वाले अस्त्रों का जैसे Intermediate Range Ballistic Missile जिसके द्वारा सेनियाराह से सदन तक मार की जा सकती है, 'Short Range Rocket' जिसके द्वारा सीमांत प्रान्तों तक मार की जा सकती है। ८ दिसम्बर १९५७ को रूस ने प्रथम स्पतनिक छोड़कर पश्चिम को भयभीत कर दिया। १४ सितम्बर १९५९ को रूस ने चन्द्रलोक में स्पूतनिक भेजने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार की उन्नति से अब यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि अब कहीं अन्तरिक्ष अस्त्रों के द्वारा ही आक्रमण न किया जाय। अतः इस भय से मुक्ति पाने के लिये निःशस्त्रीकरण की समस्या का एक ऐसा समाधान, जिससे सभी को संतोष हो सके, आत्म सुरक्षा की प्रत्याभूति का अनुभव हो सके, निकालना नितान्त अनिवार्य हो जाता है।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद, इस समस्या का हल ढूँढने के लिये संयुक्त राष्ट्र सच के अंतर्गत तथा उसके बाहर अनेक प्रयत्न किए गये हैं और भार भी जारी है। सबसे प्रथम स० २१० सच के तत्वाधान में "अणुशक्ति आयोग" (Atomic Energy Commission) की स्थापना की गई। इस आयोग में सुरक्षा परिषद के पाँचो स्थायी सभ्यो के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। अमेरिका ने इस दिशा में अपना प्रथम "बरुच योजना" (Baruch Plan) नामक प्रस्ताव रखा जिसमें अणुशक्ति का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने, किसी भी देश के प्रदेश का निरीक्षण करने, अणुशस्त्रों के निर्माण को रोकने की तथा किसी भी देश को इस प्रश्न पर निपेधाधिकार न देने की व्यवस्था थी। परन्तु सोवियत सच ने इसका अभिप्राय यह बताया कि अमेरिका, जिसे फिलहाल अणुशक्ति पर एकाधिकार था, अपनी शक्ति को सर्वोच्च बनाये रखने के लिए, दूसरे देशों को नियंत्रण में बसना चाहता है। अतः उसने मांग की कि पहले विद्यमान अणुशस्त्रों का नष्ट कर दिया जाय। अमेरिका हम पर सहमत नहीं हुआ क्योंकि उसका कहना था कि अस्त्रों को नष्ट करने से इस बान की प्रत्याभूति नहीं मिलती कि कोई देश अणुशस्त्रों का निर्माण नहीं करेगा। इस प्रकार तीन चार वर्षों तक आपसी वाद विवाद चलता रहा और १९५९ तक सोवियत सच ने भी अणुशक्ति का सम्पूर्ण रहस्य खोज निकाला। अब समस्या का रूप बदल गया परन्तु पुराने वाद-विवाद जारी रहे।

१९५३ में अणु-उद्दजन परीक्षण इतने अधिक बढ़ गये कि अफ्रीका तथा एशियाई देशों ने संयुक्त रूप से संयुक्त राष्ट्र सच में कई प्रस्ताव रखे। वैसे इसी घुट के दबाव के कारण १९५२ में सच ने "अणुशक्ति आयोग" के स्थान पर एक "निःशस्त्रीकरण आयोग" की स्थापना कर दी थी। परन्तु फिर भी किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो

सन् १९५६ के मध्य तक अनेक बैठकों, सम्मेलनों तथा अधिवेशनों में इस समस्या पर नाना प्रकार के प्रस्ताव रखे गये हैं जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय नोक भोक के कारण सफलता नहीं मिल सकी।

इस दिशा में सबसे अग्रिम प्रयत्न १८ सितम्बर १९५६ में किया गया है। सोवियत संघ के प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने अपनी अमेरिका यात्रा के समय संयुक्त राष्ट्र संघ में अपना प्रथम भाषण देते हुए समस्त राष्ट्रों से चार वर्ष में निःशस्त्रीकरण करने की अपील की।

उन्होंने अपने प्रस्ताव को सार रूप से इस प्रकार रखा — सभी दुश्चेव का स्थल, जल और नभ सेनाएँ समाप्त कर दी जाए, सैन्य प्रधान प्रस्ताव कार्यालय और युद्ध मन्त्रालय खत्म कर दिए जाएँ। सैनिक शिक्षा के संस्थान बंद कर दिये जाएँ, विदेशी सैनिक भर्तु समाप्त कर दिये जाएँ, अग्गुवम्ब नष्ट कर दिये जाएँ और उनका उत्पादन आगे से निषिद्ध कर दिया जाए। श्री ख्रुश्चेव ने कहा—“जब तक हथियार मौजूद हैं, जब तक युवकों का लड़ाई छेड़ने की शिक्षा दी जा रही है, और सेनाओं के कार्यालयाध्यक्ष सैनिक आक्रमण की योजनाएँ तैयार कर रहे हैं, तब तक शांति के लिए कोई प्रत्याभूति नहीं दी जा सकती” श्री ख्रुश्चेव ने कहा कि यदि पश्चिमी राष्ट्र पूर्ण और आम निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार न हुए तो सोवियत रूस आंशिक समझौते के लिए विभिन्न गटा के साथ वार्तालाप करने का तैयार रहगा। इस समझौते की शर्तें निम्न रहनी।

(१) पश्चिमी यूरोप में एक ऐसा क्षेत्र स्थापित किया जाए, जिसमें सेनाओं पर नियंत्रण रहगा और उनका निरीक्षण होता रहगा। विदेशी सेनाओं में कमी करनी जाएगी।

(२) मध्य यूरोप में अणु वर्जन क्षेत्र स्थापित हो।

(३) तमाम विदेशी सेनाओं का हटा लिया जाय और तमाम विदेशी भर्तु खत्म कर दिए जाए।

(४) नाटो एवं वारसा-संधि के देशों में अनाक्रमण संधि का जाए।

(५) प्रचानक हा आक्रमण के प्रश्न पर समझौता।

सोवियत संघ के प्रधान ख्रुश्चेव ने इस प्रस्ताव का भारी स्वागत हुआ है। अमरीकी विदेशमंत्री श्री हट्टर ने इस पर टीका करते हुए कहा कि ख्रुश्चेव ने निःशस्त्रीकरण नया प्रस्ताव पर बड़े गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है। हालांकि यह गत १९३२ के प्रस्ताव जैसा अथवा १० जून १९५५ का किए गए विनिष्ट प्रस्ताव जैसा ही है। यह प्रस्ताव एक नया प्रस्ताव नहीं है। अमेरिका नियंत्रित निःशस्त्रीकरण की दिशा में हर

तरह के प्रयत्न कर सकता है जबकि रूस अमीनव नियमित निशस्त्रीकरण से इनाफ करता रहा है। इस प्रकार अभी से नौक भोक शुरू हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१९४५-५६) की रूप रेखा का अध्ययन करने व उपरान हम इस निष्पत्ति की तरफ बढ सकते हैं कि, आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वस्तुतः दो शक्तियाँ—सोवियत संघ और अमेरिका द्वारा समायोजित हैं। परन्तु यह दुर्भाग्य की बात

है कि दोनों के आदर्शों एवं सिद्धांतों, विश्वासों तथा मान्यताओं

**उपसंहार** और बाय करने के साधनों एवं तरीकों में परमधिक भिन्न हैं।

दोनों में एक दूसरे के प्रति विश्वास एवं निष्ठा का अभाव है

सहयोग तथा सहअस्तित्व की भावना का अभाव है। फिर भी दोनों का लक्ष्य एक समान है। वह है 'विश्व प्रभुत्व की प्राप्ति'।

संयुक्त राष्ट्रसंघ जिस उद्देश्य से स्थापित किया गया था, वह अभी तक पूरा नहीं हुआ, लोग भविष्य के लिए चिन्तानुर हैं। विश्व के अनेक हिस्सों में फौजी सन्तर्पण चल रहा है, राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन चल रहे हैं और विश्वयुद्ध का बादल मंडरा रहा है। तनाव या तो पराकाष्ठा तक पहुँच जाएगा अर्थात् विश्वयुद्ध की नौवत या पहुँचेली भयानक समय रहने सब राष्ट्र तनाव को खत्म करने में सफल हो जाएंगे। सफलता इस चीज पर निर्भर करती है कि विविध राष्ट्र विश्व का विभक्त करने के प्रयास न करके राष्ट्रा को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न करें। विचारधारा की भिन्नता के कारण विभिन्न राष्ट्रा के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व व मैत्रीपूर्ण सहयोग के सिद्धान्तों के परिपालन में किमी हिम्मत की अडचन पैदा नहीं हानी चाहिए। यदि मतभेदों व सामाजिक भिन्नताओं पर जोर दिया गया तो शांति स्थापित करने के तमाम प्रयास विफल हो जाएंगे।

अब वह समय आ गया है जबकि विश्व की प्रमुख समस्याओं का मूलभूत व निरा राजनीतिज्ञों की आपसी वार्त्ता, बैठकें व उनके सम्मेलन बुलाने का युग का मूलभूत शांति चाहिए। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों को चरितार्थ करने के लिए नीत-युद्ध समाप्त होना चाहिए। युद्ध को आह्वान करने की कोशिशें बन्द की जानी चाहिए। अब समय आ गया जब हमीफारों का अमचमाना बन्द होना चाहिए। इस सन्तरोध स्थिति का शतक करने से ही समूचा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण सुख हो मकेगा। एक मुला, समूह ६५ सम्पन्न ससार की सृष्टि हो सकेगी।

## अध्याय १३

# निकट पूर्व की समस्या

(१९१६-१९)

“यूरोप से तुर्की साम्राज्य का घर्न घर्न अट्ठश हाना और उस अभाव की पूर्ति की समस्या ही वस्तुतः निकट पूर्वी समस्या है।”—डा० मिलर

निकट पूर्व (Near East) या बाल्कन राष्ट्रीयतावा (Balkan Nationalisms) अथवा दक्षिण पूर्वी यूरोप (Southeastern Europe) की समस्या का उद्भव १७ वीं शताब्दी में हुआ था। १४ वीं और १५ वीं शताब्दी में एनियाई तुर्कों ने दक्षिण पूर्वी यूरोप पर अधिकार कर लिया था। इस क्षेत्र को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बाल्कन प्रायद्वीप या निकट पूर्व भी कहते हैं। इसमें भिन्न भिन्न जातियाँ—यूनानी, रूमानियन, अल्बानियन, बल्गेरियन एवं महान् स्लाव जाति जो अनेक, शाखावा—सर्बियन, बास्नियन, माण्टेनिग्रियन में विभक्त थी, निवास करती थी। ये जातियाँ राति रिवाजा की दृष्टि से न केवल तुर्कों से ही भिन्न थी, अपितु आपस में, एक दूसरे से भी बहुत भिन्न थी। अठारहवीं शताब्दी में तुर्की साम्राज्य का शक्ति क्षीण हो गई और यूरोप ने सामने यह समस्या आ। कि तुर्की के उपरांत उसका स्थान कौन ग्रहण करेगा? यह अनुमान था कि रूस या आस्ट्रिया उसके स्थान का पूर्ति करेगा परन्तु इस बात की वाई कल्पना भी नहीं करता था कि उस साम्राज्य में बसने वाली जातियाँ भा अपना भाग्य नियम अपने हाथ में लेने का दावा कर सकती हैं। तब प्रमुख तत्त्व इस समस्या के रूप को स्पष्ट कर देते हैं—(१) तुर्की की निरन्तर निबलता, (२) बाल्कन प्रायद्वीप में निवास करने वाली जातियों में राष्ट्रीयता का उदय, और (३) महान् शक्तियों का हस्तक्षेप।

उपरांत तत्त्वों के सामूहिक परिणाम स्वरूप १८२२ में यूनान ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करदी। मिश्र और सीरिया भी धीरे २ तुर्की के शासन से दूर दूर होत गये। रूमानिया, सर्बिया, बल्गेरिया और अल्बानिया भी स्वतन्त्र हो गये। प्रथम महायुद्ध के बाद हमें निम्नलिखित स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व देखने को मिलता है—रूमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान, बल्गेरिया और अल्बानिया।

निकट पूर्व की समस्या पर विचार करने के पूर्व, इस स्थान पर एक बात को स्पष्ट कर देना अत्यधिक आवश्यक है ताकि पाठकों को भ्रम में न भटकना पड़े।

तरह के प्रयत्न कर सकता है जबकि इस अभी तक नियन्त्रित निश्चास्त्रीकरण से इनकार करता रहा है। इस प्रकार अभी से नोक भोक गुरू हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१९४५-५६) की रूप रेखा का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्पत्ति की तरफ बढ़ सकते हैं कि, आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वस्तुतः दो शक्तियों—सोवियत संघ और अमेरिका द्वारा समायोजित है। परन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि दोनों के आदर्शों एवं सिद्धांतों, विश्वासों तथा मान्यताओं

### उपसंहार

और कार्य करने के साधनों एवं तरीका में अत्यधिक अंतर है। दोनों में एक दूसरे के प्रति विश्वास एवं निष्ठा का अभाव है। सहयोग तथा सहअस्तित्व की भावना का अभाव है। फिर भी दोनों का लक्ष्य एक समान है। वह है 'विश्व प्रभुत्व की प्राप्ति'।

समुक्त राष्ट्रसंघ जिस उद्देश्य से स्थापित किया गया था, यह अभी तक पूरा नहीं हुआ, लोग भविष्य के लिए चिन्तातुर हैं। विश्व के अनेक हिस्सों में फौजी संघर्ष चल रहे हैं, राष्ट्रीय स्वाधीनता के आंदोलन चल रहे हैं और विश्वयुद्ध का बादल मंडरा रहा है। तनाव या तो पराकाष्ठा तक पहुँच जाएगा अर्थात् विश्वयुद्ध की मौलत या पहुँचेंगी अथवा समय रहते सब राष्ट्र तनाव को खत्म करने में सफल हो जाएंगे। सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि विविध राष्ट्र विश्व को विभक्त करने के प्रयास न करके राष्ट्रा की एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न करें। विचारधारा की भिन्नता के कारण विभिन्न राष्ट्रों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व व मैत्रीपूर्ण सहयोग के सिद्धान्तों के परिपालन में किसी हिस्से की अड़चन पैदा नहीं होनी चाहिए। यदि मतभेदों व सामाजिक भिन्नताओं पर जोर दिया गया तो शांति स्थापित करने के तमाम प्रयास विफल हो जाएंगे।

अब वह समय आ गया है जबकि विश्व की प्रमुख समस्याओं को मुलभूत व निरंतर राजनीतिज्ञों की आपसी वार्ता, बैठकें व उनका सम्मेलन बुलाने के युग का सूत्रगत होना चाहिए। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व व सिद्धान्तों को चरितार्थ करने के लिए शीतयुद्ध समाप्त होना चाहिए। युद्ध को आह्वान करने की कागिने बंद की जानी चाहिए। अब समय आ गया जब हिंसाचारों का खमखमाना बंद होना चाहिए। इस खतरनाक स्थिति को खत्म करने से ही समूचा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण साफ हो मनेगा। एक मुसीबत, समूह संघर्ष सत्तार की सृष्टि हो सकेगी।

## अध्याय १३

# निकट पूर्व की समस्या

(१९१६-१७)

“यूरोप से तुर्की साम्राज्य का शून्य शून्य अदृश्य होना और उस अभाव की पूर्ति की समस्या हो वस्तुतः निकट पूर्वी समस्या है।”—डा० मिलर

निकट पूर्व (Near East) या बाल्कन राष्ट्रीयतावादी (Balkan Nationalisms) अथवा दक्षिण पूर्वी यूरोप (Southeastern Europe) की समस्या का उद्भव १७ वीं शताब्दी में हुआ था। १४ वीं और १५ वीं शताब्दी में एशियाई तुर्कों ने दक्षिण पूर्वी यूरोप पर अधिकार कर लिया था। इस क्षेत्र का

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बाल्कन प्रायद्वीप या निकट पूर्व भी कहते हैं। इसमें भिन्न भिन्न जातियाँ—यूनानी, रूमानियन, अल्बानियन, बल्गेरियन एवं महान्

स्लाव जाति जो अनेक, शाखावादी—सर्बियन, क्रोएशियन, माण्टेनिग्रियन में विभक्त थी, निवास करती थी। ये जातियाँ रीति रिवाज की दृष्टि से न केवल तुर्कों से ही भिन्न थी, अपितु आपस में, एक दूसरे से भी बहुत भिन्न थी। अटारहवीं शताब्दी में तुर्की साम्राज्य का शक्ति क्षीण हो गई और यूरोप के सामने यह समस्या आई कि तुर्की के उपरान्त उसका स्थान कौन ग्रहण करेगा? यह अनुमान था कि रूस या आस्ट्रिया उसके स्थान का पूर्ति करेगा परन्तु इस बात की कोई कल्पना भी नहीं करता था कि उस साम्राज्य में बसने वाली जातियाँ भा अपना भाग्य नियुक्त अपने हाथ में लेने का दावा कर सकती हैं। तीन प्रमुख तत्व इस समस्या के रूप का स्पष्ट कर देते हैं—(१) तुर्की की निरंतर निबलता, (२) बाल्कन प्रायद्वीप में निवास करने वाली जातियाँ में राष्ट्रीयता का उदय, और (३) महान् शक्तियों का हस्तक्षेप।

उपरान्त तत्त्वों के सामूहिक परिणाम स्वरूप १८२२ में यूनान ने अपनी स्वतन्त्रता का घोषणा कर दी। मित्र और सीरिया भी धीरे-धीरे तुर्की के शासन से दूर दूर होत गये। रूमानिया, सर्बिया, बल्गेरिया और अल्बानिया भी स्वतन्त्र हो गये। प्रथम महायुद्ध के बाद हमें निम्नलिखित स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व देखने को मिलता है—रूमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान, बल्गेरिया और अल्बानिया।

निकट पूर्व की समस्या पर विचार करने के पूर्व, इस स्थान पर एक बात को स्पष्ट कर देना अत्यधिक आवश्यक है ताकि पाठकों को भ्रम में न भटकना पड़े। ‘निकट पूर्व’

की क्षेत्रीय सीमा तथा उनमें सम्मिलित राज्या के बारे में, विद्वाना में अत्यधिक मतभेद है। कुछ लोग मध्य, तुर्की, सीरिया, इजरायल, जोर्डन आदि को भी निकट पूर्व में सम्मिलित करते हैं तो कुछ लोग इन्हें मध्यपूर्व में सम्मिलित करते हैं। तुर्की की समस्या बहुत जटिल है क्योंकि यह बाल्कन प्रायद्वीप अर्थात् दक्षिण पूर्वो यूरोप से भी घनिष्ट रूप से संबंधित है और एशिया से भी है। परन्तु बाकी के देशों को निकटपूर्व के अंतर्गत रखना कहा तक महत्त्व है, यह एक विवादास्पद विषय है। हमने अपने अध्ययन की दृष्टि में निकटपूर्व में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित किये हैं —

रूमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान, बल्गेरिया और अल्बानिया।

### रूमानिया

प्रथम महायुद्ध में रूमानिया ही एक ऐसा देश था जिसने अपना रास्ता सहा हुआ। युद्ध में पराजित हुआ परन्तु क्षति को जीता। १९१६ तक रूमानिया ने युद्ध में सक्रिय



भाग नहीं लिया था। परन्तु इसी वर्ष में जब मित्रराष्ट्रों का अविष्य उज्जवल दिखाई देने लगा तो उसने अपने तथा वधित मित्र—जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। धुरी राष्ट्रा ने बहुत दौघ्रता से रूमानिया का पराजित कर दिया और मई १९१८ में उन्होंने उसे बुगारेस्ट की संधि पर हस्ताक्षर करने को विवश किया। इस संधि

के द्वारा रूमानिया जर्मनी का एक आर्थिक उपनिवेश बन गया। नवम्बर १९१८ में जब जर्मनी की स्थिति शोचनीय हो गई तो रूमानिया ने फिर एक बार जर्मनी के विरुद्ध युद्ध गुरु कर दिया। इस प्रकार की नीति के परिणामस्वरूप परिसर अधिवेशन के समय उसे मित्रराष्ट्रों की पंक्ति में स्थान प्राप्त हुआ। पेरिस की याति व्यवस्था से रूमानिया का क्षेत्रफल तथा आबादी दुगुनी हो गई, उसका क्षेत्रफल ५२,००० वर्ग मील से ११३,००० वर्गमील हो गया तथा आबादी ६,०००,००० से बढ़कर १७,०००,००० हो गई। बाल्कन प्रायद्वीप में रूमानिया सर्वशक्तिशाली राज्य बन गया। रूमानिया को रूस से बेमारबिया, आस्ट्रिया से बुकोविना, हंगरी से ट्रांसिलवानिया प्राप्त हुआ और १९१३ में द्वितीय बाल्कन युद्ध के परिणाम स्वरूप प्राप्त डाब्रूजा प्रांत पर उसके आधिपत्य का मान्यता दी गई।

परन्तु इन उपलब्धियों के परिणामस्वरूप रूमानिया विविध जातियाँ वाला राज्य बन गया। उसकी तत्कालीन आबादी में १,३५०,००० हंगेरियन ८००,००० जर्मन, ५००,००० रूमेनियन ३५०,००० बल्गेरियन ३१०,००० रूसी तथा ८००,००० यहूदों थे। रूमानिया की यहूदी विरोधी नीति ने उसे जर्मनी की तरफ झुकने में सहयोग दिया। दूसरी बात यह थी कि रूमानिया के सीमांत सुरक्षित नहीं रहे। इसकी सीमा पांच राज्यों की सीमाओं से मिली हुई थी जिनमें से दो राज्य हंगरी तथा बल्गेरिया जर्मनी के साथ थे। फिर जर्मनी से रूसी यूक्रेन प्रदेश का मांग रूमानिया होकर जाना था। इससे भा उसे दोनों पक्षा की तरफ से भय बना रहता था।

१९१६ से १९३३ तक रूमानिया का राजनीतिक इतिहास दो प्रश्नों आर्थिक स्थिति और किसानों की प्रशासन व्यवस्था में प्रतिनिधित्व की मांग, से अधिक प्रभावित रहा है। परन्तु १९३३ के उपरांत, सघन का प्रमुख केन्द्र सम्राट् कारोल (Carol) तथा रूमानियन फासिस्टा, जिन्हें "आइरन गार्ड" (Iron Guard) कहा जाता था, के मध्य लपटें पड़ीं। १९३८ के अन्त तक सम्राट ने सभी राजनीतिक दलों की तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं का भग्न करके अपनी तानाशाही स्थापित करती जो सितम्बर १९४० तक जारी रही।

विदेश नीति के क्षेत्र में रूमानिया यथास्थिति का जबरदस्त समर्थक तथा संधि सन्तुष्टन विरोधी पक्ष का शक्तिशाली अनुयायी बना रहा। रूस के विरुद्ध मार्च १९२१ में उसने पान्ण्ड के साथ एक सुरक्षात्मक समझौता किया। संधि सन्तुष्टन विरोधी नीति के कारण रूमानिया, यूगोस्लाविया तथा चेकोस्लाविया के अधिक निकट आता गया और "लिटिल एन्टेन्ट" (Little Entente) में सम्मिलित हुआ। चूंकि फ्रांस भी यथा स्थिति को बनाये रखने का पक्षधर था अतः १९२६ में रूमानिया ने उसके साथ भा एक संधि कर ली। हिटलर के उत्थान से तथा जर्मनी और बल्गेरिया की मित्रता के भय से, १९४४ में वह "बाल्कन एन्टेन्ट" (Balkan Entente) का सदस्य बन गया। १९३८ में आस्ट्रिया के पतन ने रूमानिया को अपनी विदेशनीति का पुनर्निर्माण करने का



विवाद किया। म्यूनिख सम्झौता के बाद, रूमानिया जर्मनी की तरफ आकर्षित होता गया और १९३६ में जब द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ तो शुरू में उसने तटस्थ रहने का विचार किया था परन्तु इटली के युद्ध में कूदने तथा फ्रांस के गीघ्र पतन से स्थिति बन गई और रूमानिया में जर्मन समयब मरकार की नियुक्ति की गई। परन्तु इससे रूमा निया का अंग भग नहीं बचा और उसे मजबूरी की स्थिति में बेसेरबिया तथा उत्तरी बुको विना रूस को, दक्षिणी ट्रांसिल्वानिया को तथा ३० अगस्त १९४० को रिबेन्ट्रॉप के नियमानुसार ट्रांसिल्वानिया हंगरी को देना पड़ा। इस अंग भग से सम्राट कारोल की सत्ता का अन्त हो गया और माइकेल का राजा बनाया गया। नये राजा ने रूमानिया का भविष्य धुरीराष्ट्रों की कृपा पर छोड़ दिया और इस प्रकार रूमानिया जर्मनी का एक आश्रित राज्य बन गया। १९४१ में जर्मनी के साथ रूमानिया ने भी सौवियत सघ का आक्रमण किया। परन्तु शीघ्र ही स्थिति बदल गई और २३ अगस्त १९४४ को उसने सौवियत सघ की सहायता से आत्मसमर्पण कर दिया। १३ दिसम्बर १९४७ को साम्यवादी दबाव के कारण सम्राट् माइकेल को सिंहासन से अलग हो जाना पड़ा और रूमानियन लोग सभा ने रूमानिया की जनता का गणराज्य घोषित कर दिया। अर्थात् रूमानिया पूर्ण रूप से साम्यवादी बन गया। सौवियत सघ ने भी उपाय का व्यवहार करते हुए ट्रांसिल्वानिया का प्रांत पुनः उसे दे दिया। महायुद्ध के उपरान्त की गई संधियाँ के अनुसार उस पर ३००,०००, ००० डालर की क्षतिपूर्ति लागू हुई। उसकी सैनिक शक्ति कम कर दी गई। बाद में सौवियत रूस ने १५०,०००,००० डालर की क्षतिपूर्ति कम कर दी। तब से ही रूमानिया सौवियत सघ की वठपुतली बना हुआ है।

## यूगोस्लाविया

प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात सर्बिया के सबट से हुआ था। सर्बिया के पक्ष में मधुन मिश्राटाष्ट्र थे। शत युद्ध के बाद सर्बिया का अत्यधिक विस्तार किया गया। सर्बिया और मांटनीग्रो राज्या को मिलाकर एक विंगाल स्लाव राज्य-यूगोस्लाविया का निर्माण किया गया। यूगोस्लाविया की आदिवासी हंगरी के भूतपूर्व बाल्कन प्रांत बाल्किया तथा हर्ज गोविना प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त उस निम्न प्रांतों का साथ हुआ—डालमिया, कार निम्रला और कुछ भाग आस्ट्रिया से, क्रोएशिया, स्लोवानिया और वायवाडिना हंगरी से प्राप्त हुए। नवनिर्मित यूगोस्लाविया राज्य का क्षेत्रफल ६६,००० वर्गमील और जनसंख्या १२,०००,००० थी। १९३६ तक बाल्कन प्रायद्वीप में, रूमानिया का ट्रांसिल्वानिया सहित बड़ा राज्य था। तेनिहामिस्ट दृष्टि से यूगोस्लाविया का एक स्वतंत्र राज्य बनने में अग्रिम १९१६ में सर्बिया की संधि का घातका के अन्तर्गत आया। वर्ष १ दिसम्बर १९१८ का वेसप्रेट में सब, आट्रोलोवन आदि जानिया के प्रतिनिधियों के विंगण अधिवेशन में एक नूतन राज्य की घोषणा कर दी गई थी परन्तु इसका "यूगोस्लाविया" नाम ३ दिसम्बर १९२६ का रखा गया था।

जून १९२१ में बेलजियन संविधान के आधार पर यूगोस्लाविया की लोक सभा ने एक संविधान बनाया जिसमें एकात्मक राज्य, एक सदन वाली संसद तथा सीमित राजतंत्र की व्यवस्था की गई थी। परन्तु इससे सम्पूर्ण यूगोस्लाविया में राजनीतिक व्यवस्था उत्पन्न हो गई। ब्रीट लोग एक स्वतंत्र क्रीट गणराज्य की स्थापना या कम से कम यूगोस्लाव संघ राज्य के अन्तर्गत एक स्वायत्त शासन इकाई की स्थापना के पक्ष में थे। इस राजनीतिक व्यवस्था से लाभ उठाते हुए यूगोस्लाविया के राजा अल्वेजेंडर ने ६ जनवरी १९२९ को सर्वैधानिक सरकार का तख्ता पलट दिया और संविधान को रद्द करते हुए एकाधिकार शक्तियों को धारण किया। ३ सितम्बर १९३१ को एक नया संविधान बनाया गया जिसमें राजा के एकाधिकार सुरक्षित रखे गये। ६ अक्टूबर १९३४ को मार्सेलिन नगर में फ्रेंच विदेश मंत्री बार्थो सहित अल्वेजेंडर को कत्ल कर दिया गया और ग्यारह वर्षों में दो बार द्वितीय को यूगोस्लाविया का सम्राट घोषित कर दिया गया। राजकुमार पॉल संरक्षक नियुक्त किये गये।

विदेश नीति के क्षेत्र में, १९१९ से १९३३ तक, यूगोस्लाविया की इटली का भय बना रहा क्योंकि इटली एडियाटिक सागर का अपने प्रभुत्व में लाने का आशय था। परन्तु यूगोस्लाविया इसका विरोधी था क्योंकि उसका अस्तित्व ही एड्रियाटिक सागर की स्वतंत्रता पर टिका हुआ था। अतः इटली के लिये यूगोस्लाविया की शक्ति का सीधा करना आवश्यक हो गया। इस ध्येय से इटली ने यूगोस्लाविया के विरुद्ध बोजवा शिना (Vojvodina) में हंगरी के, मेसिडोनिया में बल्गेरिया के और क्रांट लागो की स्वतंत्रता के दाव का जबरदस्त समर्थन किया। इटली की इन हरकतों ने यूगोस्लाविया का "संघ-संग्राम विरोधी नीति" (Non revisionist Policy) का पक्षधर बना दिया और उसे फ्रांस द्वारा समर्थित 'लघु मंत्री संघ' की तरफ रुकने का विवश किया। इस संधि के द्वारा यूगोस्लाविया और फ्रांस एक दूसरे के नज़दीक आने में सफल हुए। परन्तु घटनाएँ इस तेजी से बदलती गईं कि यूगोस्लाविया का फ्रेंच मंत्रालय में विश्वास हट गया। अल्वेजेंडर की फ्रांसीसी भूमि पर हत्या, १९३३ में मुमोलिनी द्वारा फ्रांस के सामने "चार राष्ट्रों की संधि" (Four Power Pact) का प्रस्ताव रखना और फ्रांस का इसकी स्वीकार कर लेना जर्मनी में हिटलर का उत्थान और फ्रांस द्वारा इटली की मित्रता की प्राप्ति करने के प्रयत्न आदि घटनाओं ने यूगोस्लाविया को बहुत प्रभावित किया। १९३५-३६ में फासिस्ट शक्ति का द्वारा १९०९ की प्रादेशिक व्यवस्था या प्रतिप्रमाण, पश्चिमी राष्ट्रों की प्रसादन नीति और फ्रांस का इंग्लैंड पर निर्भर होना आदि घटनाओं ने यूगोस्लाविया का जनवरी १९३७ में बल्गेरिया के साथ मंत्रालय की समझौता करने की विवश किया। मार्च १९३७ में उमने इटली के साथ फ्रांसीसी संधि की। १९३७-३८ के समय में, यूगोस्लाविया घीरे घेरे, जर्मनी का शक्तिशाली मंत्रालय का भय बनना जा रहा था। अगस्त १९३९ में उसे ब्रीट लोगों का स्वायत्त शासन का अधिकार देने की विवश होना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के शुरू में

यूगोस्लाविया तत्स्थ रहने का इच्छुक था परन्तु जर्मनी के दबाव के कारण २५ मार्च १९४१ को उसे 'त्रिपुट संधि' (Tripartite Pact) पर हस्ताक्षर करने को विवश होना पड़ा। इससे सम्पूर्ण देश में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और सम्राट ने ब्रातिस्लावा, तत्कालीन सरकार को अपदस्थ करके, यूगोस्लाविया को तत्स्थ की घोषणा की। ६ अप्रैल १९४१ को जर्मनी ने यूगोस्लाविया पर आक्रमण कर दिया। १२ दिन के भीतर संगठित प्रतिरोध का अन्त हो गया। सम्राट भाग गया और सम्पूर्ण यूगोस्लाविया पर नाज़ियों का अधिकार हो गया।

पराजय के बाद ही, यूगोस्लाविया को अंग्रेजों का घोर अपमान सहन करना पड़ा। जर्मनी ने स्लाविया प्रांत पर, रूमानिया ने पूर्वी यूगोस्लाविया के अधिकांश भाग पर, बल्गेरिया ने सर्बियन मेसिडोनिया पर, इटली ने कोटार के सामुद्रिक झुंडों पर और अल्बानिया ने आस पास के सामुद्रिक तट पर अधिकार कर लिया। हंगरी ने ट्रांसानिया की संधि द्वारा यूगोस्लाविया को दिये गये अपने सभी प्रांतों का पुनः प्राप्त कर लिया। आशिया की एक स्वतंत्र राज्य बना दिया गया। इस प्रकार यूगोस्लाविया का सब नाम मात्र की बाकी रह गया। परन्तु यूगोस्लाविया के नागरिकों को देश भक्ति बना जोवित थी। उन्होंने जनरल मिहायलॉविक (Mihajlovic) के नेतृत्व में 'चेतनिक' (Chetnik) संगठन की स्थापना की और बाद में मार्शल टीटो के नेतृत्व में 'पार्टिज़ान' (Partisans) की स्थापना की। चेतनिक राजपक्षपाती और साम्यवाद विरोधी थे।

१९४५ में यूगोस्लाविया की उपराष्ट्र दाना पार्टियों में युद्धमयुक्ता नष्ट गुरु हो गया। धीरे धीरे इंग्लैंड और अमेरिका का यह आभास होने लगा कि चेतनिक संगठन जर्मनी का हिमायती है। अतः उन्होंने मार्शल टीटो का सहायता देने शुरू कर दी। उधर रूस जर्मनी का पराजित करता हुआ आगे बढ़ता आ रहा था। दूसरे टीटो ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर जर्मनी का यूगोस्लाविया से बाहर खदेड़ना शुरू कर दिया। नवम्बर १९४५ के आस पास यूगोस्लाव संविधान ने एक नूतन संविधान पारित करके, यूगोस्लाविया को 'जनतांत्रिक गणराज्य' घोषित कर दिया। इस प्रकार यूगोस्लाविया साम्यवादी बन गया और मार्शल टीटो उसका राष्ट्रपति बन गया।

यूगोस्लाविया साम्यवादी तो बन गया परन्तु साक्षरता सब की कठिनाई बनने में अस्वीकार कर दिया जिससे परिणाम स्वरूप उस का मिश्रण में निहित किया गया। साम्यवादी समाज को बहिष्कार कर दिया गया और दूसरे साम्यवादी देशों ने भी उनका ताता तोड़ दिया। यह सब २८ जून १९४८ को हुआ। उस रात मसारा इस मुकाम का कि यूगोस्लाव साम्यवादी देश का अमर व्यवहार के कारण, मार्शल टीटो का निधन बाद के प्रतिष्ठित मार्ग का अपसमय करने के लिए तथा साक्षरता सब के अर्थ में अमरीकन एवं अंग्रेजों के कारण साम्यवादी समाज में बहिष्कार किया जाना है, मुनकर स्तम्भित रह गया। इतना ही नहीं बल्कि उस पर यह आरोप लगाया गया

जि उसका संचालन अफसर शाही लोगो के द्वारा किया जा रहा है जो वग भेद को बनाये रखने के समयक ह और मार्क्स के वग सघष द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना के विरोधी हैं और जो साम्यवादी समाज की सस्था "कोमिन्फार्म" में उपस्थित होकर अपनी भूला पर विचार विमल करने को भी तैयार नहीं हैं तथा सावियत सघ के विरुद्ध साम्राज्यवादी तत्वो को प्राप्तगहन दे रहें हैं। २६ जून को यूगोस्लाव साम्यवादी दल ने इस सूचना पर दुख प्रकट करते हुए इन आगपो का खडन किया। इस प्रकार मार्शल टोटो तथा स्तालिन के मध्य शीत युद्ध का सूत्रपात हुआ। वास्तविक बात यह थी कि टाग सोवियत सघ का एक सामत बनने को तैयार नहीं था। वह उसके साथ एक स्वतंत्र तथा समान शक्ति के रूप में सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था। दूसरी बात यह थी कि यूगोस्लाविया को सोवियत सेनाया ने मुक्त नहीं किया था अपितु टोटो ने जर्मनी को अपने देश से खटा था। अतः सोवियत सघ के अहसान का कोई सवाल नहीं उठा था। पश्चिमी लेखको का कथन है कि मार्शल टोटो यूगोस्लाव चोपा की आर्थिक स्थिति का सुधारने के लिए उद्योग धंधो का विकसित करना चाहता था और रुस चाहता था कि यूगोस्लाविया उसके लिए कच्चा माल का क्षेत्र तथा उसके उत्पादन की मशीन बना रहे। चाहे जो भी कारण रहा हो, स्तालिन ने मुस्यु के समय तब ( १५ मार्च १९५१ ) दाना देगो के सम्बन्ध दिन प्रतिदिन बिगडन गये और एक दूसरे के विरुद्ध युष्माधार प्रचार किया जाता रहा।

मार्शल टोटो का सोवियत सघ के प्रति विद्राह, पश्चिमी क्षेत्र में एक शुभ घटना और पूर्वी यूरोप में व्याप्त साम्यवाद विरोधी आन्दोलन का प्रथम चरण माना गया। अमेरिका ने अवनर का लाभ उठाते हुए यूगोस्लाविया की आर्थिक सहायता करने का निश्चय कर लिया। जुलाई १९४८ में उसने युद्धकाल में जम्त किये गए ६ करोट डालर पुन यूगोस्लाविया को लौटा न्य और यूगोस्लाविया ने भी इसके बदले में अमेरिकन ढावे ५१ करोड ७० लाख डालर चुवाने का वचन दिया। इसी प्रकार अग्रे पश्चिमी देगा के साथ यूगोस्लाविया न मधिया करनी।

स्तालिन का मुस्यु के उपरांत यूगोस्लाविया और रुस सम्बन्ध में सुधार होना गुह्र हुआ। यूगोस्लाविया के विरुद्ध किया जाने वाला प्रचार गिबिल होता गया। भई दिवस पर, सावियत नेताग्री ने यूगोस्लाव साम्यवादी दल के प्रति किसी प्रकार के कटु वचना का प्रयोग नहीं किया। यह गत पाँच वर्षों में पहला अवसर था जब कि यूगोस्लाव साम्यवादी दल का बहसा गया था। २६ अप्रैल १९५३ को मांकातोव ने मास्का स्थित यूगोस्लाव चार्जदूत ( Charge d'affaires ) का, दोनो देगा के मध्य दीत्य सम्बन्ध स्थापित करन के सम्बन्ध में बातचीत के लिये बुलाया। जुलाई १९५३ में राजदूता की नियुक्त भी करदी गई। सितम्बर १९५४ में रुस तथा यूगोस्लाविया ने व्यापारिक मधि पर हस्ताक्षर किये। इसके पूर्व पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देगो—बल्गेरिया, हंगरी, रूमानिया आदि के साथ यूगोस्लाव ग्रासनने समझौते कर लिये थे। २० अक्टूबर १९५४

को बेलग्रडे की मुक्ति की दसवीं वर्षगांठ पर सोवियत संघ ने मास्को टीटा की प्रार्थना की और उन्हें यूगोस्लाविया का संपूत कहकर सम्बोधित किया। २८ नवम्बर को यूगोस्लाविया के राष्ट्रीय दिवस पर मास्को स्थित यूगोस्लाव राजदूतावास के समारोह में सोवियत नेताओं ने माधल टीटो तथा यूगोस्लाव साम्यवादी दल की गुभावाणा के नाम पर जाम पिये। ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि दोनों देश भावस तथा सैनिक बतलाये हुए रास्ते के राही हैं अतः उनमें मतभेद का उठना असम्भव है।

परन्तु टीटो सोवियत नीति के जाल में फसना नहीं चाहता था। वह साम्यवादी सिद्धांतों की घोषणा के लिए एक सयुक्त रणमंच पसंद नहीं करता था। वह चाहता था कि सोवियत संघ अन्य साम्यवादी देशों के साथ समानता का व्यवहार करे। दूसरे देशों की प्रभुसत्ता का आदर करे और उनके घरेलू मामलों हस्तक्षेप करना बन्द कर दे। इसके अतिरिक्त टीटो जिसे सोवियत संघ के वचनों में पूर्ण विश्वास नहीं था, पश्चिम के साथ स्थापित किये हुए अपने सम्बन्धों का समाप्त करना भी नहीं चाहता था क्योंकि पश्चिम को सहायता के बूते पर ही वह सोवियत संघ का सफलतापूर्वक सामना कर सका था और करने की भाशा रखता था। सोवियत संघ ने टीटो के भ्रम को दूर करते हुए उसे आश्वासन दिया कि यूगोस्लाविया अपने पूर्व सम्बन्धों का कायम रखते हुए रूस के साथ मित्रता कर सकता है। २७ मई से जून १९५५ तक सोवियत नेताओं—ख्रुश्चेव, बुल्गानिन और मिर्कीयोन का मास्को टीटो से व्यक्तिगत वार्तालाप हुई और आपसी मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। ख्रुश्चेव ने सोवियत संघ की भूतपूर्व नीति का दाप बेरिया आदि नेताओं पर डाला जिन्हें अब तक मृत्यु दण्ड दिया जा चुका था। २ जून को दोनों देशों के नेताओं ने एक संयुक्त घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसमें एक दूसरे के साथ सहयोग करने पर जोर दिया गया था।

जून १९५५ में मास्को टीटो रूस की यात्रा के लिए रवाना हुए। उनके रूस पहुँचने के पूर्व उनके विरोधी मोलोटोव को विदेश मंत्री पद से हटाकर रखा गया और गोर्बाखोव का विदेश मंत्री नियुक्त किया गया। टीटो की मास्को यात्रा सतापजनक प्रमाणित हुई और दो घोषणाएँ की गईं। प्रथम के अन्तर्गत यूगोस्लाविया ने अधिराज्य पद्धति पर सोवियत विदेश नीति का समर्थन करने का वचन दिया यदि रूस उसे और अधिक आर्थिक सहायता देता रहा और दूसरी के अन्तर्गत यूगोस्लाव साम्यवादी दल ने स्वतंत्रता, समानता एवं सम्मान के आधार पर रूसी साम्यवादी दल से समझौता कर लिया।

परन्तु यह मंत्रीपूर्ण व्यवहार अधिक समय तक नहीं चल पाया और इस वर्ष में रोडे आने लगे। ३ सितम्बर १९५६ को सोवियत साम्यवादी दल ने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी दलों को एक पत्र भेजा जिसमें राष्ट्रीय साम्यवादी प्रवृत्तियों की भूमना करने तथा साम्यवादी छुटकों को मजबूत बनाने की अपील की गई। इस पत्र से यूगोस्लाविया में घबराहट फैलने लगी। यूगोस्लाव सरकार ने दो भ्रूतपूर्व कामिषामवादीयों का सत्रा

गार सोवियत पक्ष ने उसके कार्यों की कटु आलोचना की। इससे बेलग्रेड का असंतोष और अधिक बढ़ गया। परन्तु १७ सितम्बर को खुश्चेव ने अचानक ही बेलग्रेड की यात्रा की और दोनों पक्षों के मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया परन्तु विशेष सफलता नहीं मिली। याल्ता में दोनों देशों के नेता एक बार पुनः मिले परन्तु फिर भी कोई फायदा नहीं हुआ। पोलैण्ड और हंगरी की घटनाओं से दोनों देशों ने तनाव में और अधिक वृद्धि हुई। क्योंकि पोलैण्ड में गोमुल्क की विजय टोटोवाद की विजय थी। हंगरी के मामले में टीटा ने सोवियत रुस का तथा हंगरी के तत्कालीन प्रधान कादर (Kadar) की कटु आलोचना की। परन्तु मास्को ने टीटो की आलोचना नहीं की। १९५७ के मध्य, बुनानिया में मायाल टीटो और खुश्चेव की गुप्त वार्तालाप हुई और तब से मायाल टीटो न कादर का आलोचना करनी बंद कर दी है। यूगोस्लाविया निरन्तर सोवियत संधि के प्रति प्रयत्न का समर्थन करता आ रहा है।

परन्तु १९५७ के अंत में पुनः मतभेद उठ खड़ा हुआ। सोवियत शासन की स्थापना की ४० वां वषगाठ पर मास्को में साम्यवादी देशों के प्रतिनिधि एक विशेष समारोह में सम्मिलित हुए। उस सम्मेलन में दो प्रस्ताव रखे गये एक 'आति घोषणा पत्र' और दूसरा 'सभी साम्यवादी देशों की साम्यवादी तथा श्रमिक पार्टियाँ की घोषणा' (Declaration of the Communist and Workers Parties of all Communist Countries) यूगोस्लाविया ने प्रथम पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर दिया परन्तु दूसरे पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया क्योंकि इससे उसे दूसरों की इच्छानुसार चलना पड़ता। इससे सोवियत संधि पूरा नाराज हो गया और परिणाम स्वरूप अप्रैल १९५८ में बेलग्रेड की कांग्रेस के समारोह में रुसा प्रतिनिधि मंडल को नहीं भेजा गया। १९५९ में पुनः कुछ सुधार हुआ है और दोनों देश एक दूसरे के नजदीक आने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दोनों देशों के मतभेद का मूल कारण अज्ञात है। परन्तु पश्चिमी विचारकों का अनुमान है कि मायाल टीटो स्वतंत्र रूप से काम करना पसंद करते हैं। वे साम्यवादी हैं परन्तु सोवियत वादी नहीं और हिंसा तथा प्रचार के द्वारा साम्यवाद का प्रसार करने का पक्ष में नहीं हैं। बल्कि जनता के लिये ठोस कार्यों को कार्यान्वित करके लोकमत के मानन को जात कर उन्हें साम्यवाद की दीक्षा देना चाहते हैं अर्थात् प्रमथ धान्ति के साथ लोगों की स्वीकृति में साम्यवाद का प्रचार करना चाहते हैं। परन्तु साम्यवादी विचारकों का कथन है कि मायाल टीटो विश्व की समस्याओं के समाधान लिए अपनी योजनाएँ बनाते रहते हैं और यह हठ करते रहते हैं कि उनकी योजनाओं का जिस परिमाण में मानने को तयार नहीं है, लागू किया जाय। यह सोवियतसंधि को मान्य नहीं है।

### यूनान

यूनान का इतिहास संक्षिप्त पुराना है और आधुनिक पश्चिमी सभ्यता, यूनानी सभ्यता का ही एक सहायक एवं पश्चिमादि रूप है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग

में यूनान ने तुर्की को दासता से स्वतंत्रता प्राप्त की। बाल्कन राज्या में स्वतंत्रता प्राप्त करने वाला प्रथम राज्य यूनान ही था। परन्तु यूनान में राजतन्त्र का भविष्य नाबनी ही रहा। यूनान की स्वतंत्रता के उपरान्त तीन राजाओं को सिंहासन छोड़ कर यूनान से बाहर जाना पड़ा और एक को बल्ल कर दिया गया। केवल एक राजा (पलवनेझरे) अपनी स्वाभिविन्न मृत्यु को प्राप्त हुआ (१८२०) था।

१९१० में यूनान की राजनीति दो प्रमुख मंत्रियों के बीच झटपट बदल गई। इलेफ्थेरियोस वेनिज़ेलस (Eleutherios Venizelos) के पक्ष या विपक्ष के इद गिद चक्कर लगा रही। उसका जन्म ग्रीस में हुआ था, बाद में वह यूनान में बस गया और १९१० में पहली बार यूनान का प्रधान मंत्री बना। उसमें एक महान् राजनीतिज्ञ के बहुत से गुण विद्यमान थे और वह अपने साथियों से बड़ी अधिक सूझ-बूझ वाला व्यक्ति था। इस कारण उसका साथी उसमें जलते रहते थे और जब तब उसके विरुद्ध मोर्चाबंदी करना नहीं चाहते थे।

प्रथम महायुद्ध के समय बेनिजेत्स तथा यूनान के तत्कालीन सम्राट कानस्टाइन का यूनान की विदेशनीति पर आधार भूत मत भेद था। इसका एक कारण था। कानस्टाइन की पत्नी जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय का बहन थी। अतः वह प्रमत्त व प्रति उदार सदस्यता की नीति का पालन करना चाहता था जबकि बेनिजेत्स छुन रूप से मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेना चाहता था। १९१७ में बेनिजेत्स ने सम्राट का पदच्युत करवाने का सफ़र प्रयत्न किया और मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर महायुद्ध में सम्मिलित हो गया। कानस्टाइन के पुत्र अलेक्जेंडर का सिंहासन पर बठाया गया था १९४० में मर गया।

१६२० में मरे गये।

महायुद्ध में यूनान ने सहयोग तथा परिस्र अखिलगण में बनिजनों को कूटना में परिणाम स्वरूप - यूनानी और मेथे की संधिवा द्वारा यूनान का पूर्वी धोर पश्चिम प्रस 'Thrace', एड्रियानोपल और स्मर्ना (Smyrna) प्राप्त हुआ। परन्तु यूरानियन सेनापति की वापसी तथा तुर्कों की राष्ट्रीय चेतना जिसका नेतृत्व मुस्तफा क़ामल पाशा न किया था, यूनान को स्मर्ना में खदेड़ दिया गया और एड्रियानोपल पुन तुर्कों को वापस सौंपन का विषय किया गया। इटली ने भी डाल्मेटो-ज के टापुप्रा (Dodecaneso Islands) का अधिकार का लब्ध का हट दिया। अन्त में परिस्थिति यह रही कि यूनान ने पास केवल प्रेम ब्रध गया। इसमें यूनानी प्रमनुष्ट हो गये और बनिजनों को प्रधान मन्त्रा पद में पुरष होना पड़ा। हालांकि यूनानी दूरे रहे परन्तु उन्हें तुर्कों के हाथों बुरी तरह म पराजित होना पड़ा। इसका एक कारण था यह था कि इंग्लैंड और फ्रांस ने यूनान का महायत्ना नहीं की जबकि १६२१ में तुर्कों और फ्रांस में गठित हुआ जाने से तुर्कों का फ्रांस का महायत्न भिन्न गया। दूसरी बात यह था कि प्रजातन्त्र में फ्रांसवा एका नदी थी और मुक्त राष्ट्रीय प्रेम में फ्रांस प्राय से।

यूनानियों ने अपने राजा कानस्टाइन को पुनः निवासित कर दिया और जॉर्ज द्वितीय को विहासन पर बठाया। परन्तु दिसम्बर १९२३ में उसे भी निवासित कर दिया गया और एडमिरल कोन्डोरोइट्स (Koundouriotes) को अस्थायी राष्ट्रपति घोषित कर दिया गया। इसी समय नये चुनाव हुए और जनवरी १९२४ में वेनिजेलाँग पुनः प्रधान मंत्री बना परन्तु राजा की वापसी का पक्ष धर हाने के कारण दो महीना के बाद ही उस फिर हटना पड़ा। इसके बाद यूनान में दा-तोन तानाशाह ने शासन किया और जुलाई १९२८ में वेनिजेलाँग पुनः प्रधानमंत्री बना और १९३३ तक वह इस पद पर बना रहा। बाद में पुनः अराजकता पैदा हो गई और २५ नवम्बर १९३५ का राजा द्वितीय को वापस राजा घोषित कर दिया गया। अप्रैल १९३६ में मिटक्सज (Metaxas) प्रधान मंत्री बना और १९४० तक इस पद पर बना रहा। महायुद्ध (१९३९-४५) में यूनान ने पुनः मित्र राष्ट्रों का पक्ष लिया और उसे जर्मनी से पराजित होना पड़ा। अक्टूबर १९४४ तक सम्पूर्ण यूनान जर्मन आधिपत्य में मुक्त हो गया। बाद में महाशक्तियों के हस्तक्षेप से यूनान में गृह-युद्ध जारी हो गया और २८ सितम्बर १९४६ को सम्राट पुनः यूनान लौट सवा।

विदेश नीति के क्षेत्र में जैसा कि बताया जा चुका है यूनान ने तुर्की के साथ १९२३ में समझौता कर लिया था। १९३३ में तुर्की के साथ अकारा सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये और इस प्रकार दोनों देशों के सीमा-शांति की समस्या का समाधान किया गया। इसी प्रकार बल्गेरिया के साथ भी धीरे-धीरे अच्छे सम्बन्ध स्थापित किये गये। १९२८ में इटालियन नीति-बोम्बू तथा अस्थायी को हड़ताल का नाति में यूनान की चिन्ता बढ गई। दोनों देशों में छुट-पुट भड़प भो हो गई परन्तु १९३३ अस्थायी समझौता हो गया। जर्मनी के साथ यूनान के अधिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हो गये और १९३९ में स्थिति यह थी कि जर्मनी के साथ उसका आयात निर्यात व्यवसाय अधिक था। साइप्रस की समस्या को लेकर यूनान और इंग्लैंड के मध्य तनाव बना रहा परन्तु फिर भी परस्परगत उद्धार मंत्री की भावना बनी रहो। अप्रैल १९३९ में फ्रांसियों पर इटली के अधिकार से यूनान की स्वतन्त्रता ही नहीं बल्कि पूर्वी भूमध्य सागर का गति सन्तुलन भी खतरे में पड गया और इसलिए इंग्लैंड तथा फ्रांस ने यूनान का अपनी स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति दी। अतः यूनान कुछ समय तक तटस्थ रहा और १९४० में इंग्लैंड तथा जर्मनी दोनों के साथ व्यापारिक समझौता किया। अक्टूबर १९४० को इटली ने यूनान के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। ब्रिटेन ने यूनान का सहायता की। यूनानियों ने भी आपसी मत भेदा को भुला कर गुरुभा का नामना किया और दिसम्बर के अन्त तक इटालियन सैनिकों का अलबानिया की तरफ खदेड दिया। २८ जनवरी १९४१ को मिटक्सज का देहान्त हो गया परन्तु उसके उत्तराधिकारी काराजिन (Coriza) ने गुरुभा के प्रति युद्ध को जारी रखा। ६ अप्रैल को जर्मनी ने भी यूनान पर घावा बोले दिया। १८ अप्रैल को फोरीजिम ने आत्म हत्या करली।



मार्च २० अप्रैल को यूनानी सेना को करारी पराजय हुई। सम्राट ने ग्रीक को यूनानी राजधानी बनाया। २७ अप्रैल का जर्मन सेना ने एथेन्स पर अधिकार कर लिया और एक कठपुतली सरकार की स्थापना की। धीरे २ सम्पूर्ण यूनान पर घुरी सेनाओं का अधिकार हो गया और सम्राट तथा उसकी सरकार पहले काहिरा और बाद में लन्दन भाग गई। १८४१ के मध्य में यूनान में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्र पड़ा हुआ। यूनानी नेतृत्व दो परस्पर विरोधी दलों राष्ट्रीय प्रजातांत्रिक यूनानी सेना (National Democratic Greek Army E D E S) और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन (National Liberation Movement E A M) ने किया। पहला अनुदारवादी था और दूसरा वामपक्षी। दोनों में झगडा उठ खड़ा हुआ और १९४४ जाकर दोनों में सुलह हुई और समुक्त रूप से देश को स्वतंत्र कराने की योजना बनाई गई। १५ अक्टूबर १९४४ तक सम्पूर्ण देश को स्वतंत्र कर दिया गया।

इसी समय (अक्टूबर १९४४) इंग्लैण्ड और सोवियत संघ के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार यूनान को ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र मान लिया गया। यूनान का नियंत्रण प्राप्त करने में ब्रिटन का एक विशेष हित था। वह भूमध्यसागर के उस तट स्थित ब्रिटिश साम्राज्य के मार्गों का कि भूमध्यसागर से होकर जाते थे, को सुरक्षित रखना चाहता था। क्योंकि साम्यवादी यूनान से न केवल इन मार्गों को ही खतरा था बल्कि तुर्की और इटली में भी साम्यवादी प्रभाव के बढ़ने की आशंका थी। यूनान की इस सामरिक महत्ता में पश्चिम को अपनी आत्म सुरक्षा की कुँजी दिखलाई पड़ी। जब ब्रिटन ने यूनान का दायित्व लिया तो उसने यूनान की सभी सड़क पार्टियाँ को भर कर दिया और सभी दलों के सदस्यों का मिलाकर एक सामयिक (Provisional) सरकार की स्थापना की। परन्तु वामपक्षी दल (E A M) ही इससे असहमत हुआ और यूनान में गृह युद्ध शुरू हो गया। वामपक्षी दल का साम्यवादी दलों से सहायता मिल रही थी और अनुदार दल को पश्चिमी देशों से। ब्रिटिश सेना ने साम्यवादियों का कुचलने में अथवा परित्यक्त किया। परन्तु स्थापित अथवा सोवियत पक्ष ने एक भी विरोधी शब्द का उच्चारण नहीं किया। मार्च १९४५ में नए चुनाव कराये गये और राजपक्षपाती दल (अनुदार दल) को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। सितम्बर में राजा का पुनः यूनान में निर्मात्रित किया गया।

परन्तु साम्यवादियों ने अपना सघर्ष जारी रखा और दिसम्बर १९४६ में यूनानी सरकार ने समुक्त राष्ट्र संघ से प्रार्थना की कि साम्यवादियों को युक्त रूप में किन्हीं सहायता मिल रही है। १९४७ में समुक्त राष्ट्र संघ ने इसकी जाँच के लिये एक विशेष आयोग भेजा जिसने जांच पड़ताल के बाद यह प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत किया कि यूनानी स्थापित, अल्पानुयायिता तथा बल्गेरिया से यूनानी साम्यवादियों को हर प्रकार की सहायता दी जा रही है। अतः सोवियत संघ, जो अब तक अक्टूबर समझौते के कारण सुरक्षा पक्ष था, ने अब यूनान की समस्या में विशेष रूचि लेना शुरू कर दिया। इस नई स्थिति

ने ग्रेनेन का अपनी नीति पर पुनर्विचार करने का वाद्य किया। २४ फरवरी १९४७ को ग्रेनेन ने स्वरुप कर दिया कि अपनी आर्थिक स्थिति के कारण वह अब यूनान में सना नहीं रख सकेगा और न ही उस किसी प्रकार की सहायता दे सकेगा। इससे अमेरिका भयभीत हो गया। क्योंकि यदि यूनान हाथ से चला जाता है तो साम्यवादी सात की अन्तिम चोरी-चुरी का बचाना अमम्वन हो जाता है। अतः अमेरिका न यूनान का हर प्रकार की सहायता देने का निश्चय कर लिया। ट्रूमन ने घोषणा की कि अमेरिका स्वतंत्र देशों को बिना सहायता के देना न पसन्द कर सकता है और न ही करना चाहिए। १२ मार्च का काफी वाद विवाद के बाद ट्रूमन ने अपना अन्तिम निष्पत्ति घोषित कर दिया। वह था—ट्रूमन सिद्धान्त जिसका अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। अमेरिकन सहायता, यूनानिया के पराक्रम तथा यूगोस्लाविया और रूस के मन भेद जिसके परिणाम स्वरूप यूगोस्लाविया ने साम्यवादियों को सहायता देने से इन्कार कर दिया था, के सामूहिक कारणों से यूनान के गृह युद्ध का अन्त हुआ जिसमें साम्यवादियों के प्रभुत्व का हमका के लिये भय हो गया।

### बल्गेरिया

बल्गेरिया प्रायद्वीप के उत्तर में बल्गेरिया ही एक देश था जिसने दुर्भाग्यवश प्रथम महायुद्ध में गुरोराष्ट्रा जर्मनी और आस्ट्रिया हंगरी का साथ दिया था। उसे इसकी मजदूरी भुगतना पड़ा और पोलो की संधि के द्वारा उसके बहुत से प्रदेश छीन लिये गये, क्षतिपूर्ति की रकम पायी नहीं और उसको सैनिक क्षति को बिल्कुल ममात कर दिया गया। युद्ध काल में फर्गनोन्ड को मिहामन का परित्याग करना पड़ा और उसका पुत्र वारिस तृतीय मिहामन पर बठाया गया जिसने अपनी मृत्यु के समय तक (२३ अगस्त १९४४) शासन किया।

विदेश नीति के क्षेत्र में, १९१९ से ही बल्गेरिया संधि सङ्गठन पक्ष का समर्थन रहा था। वह मेसिडोनिया, दक्षिणी डोब्रूजा और एजियन सागर की तरफ जाने के लिये गलियारा प्राप्त करने का उत्सुक था। उसकी इस मांग का इटली ने समर्थन दिया परन्तु इंग्लण्ड और फ्रांस ने डटकर विरोध किया। मेसिडोनिया की मांग के कारण उसके यूगोस्लाविया से सम्बन्ध बिगड़ गये और एजियन सागर की तरफ रास्ते की मांग से यूनान उसका विरोधी हो गया। डोब्रूजा की मांग तथा रूमानिया में बने बल्गेर लोगों के प्रति रूमानियन सरकार के गुरे व्यवहार की आलोचना करने से रूमानिया भी उसका शत्रु बन गया। तुर्की के साथ उसने अवश्य सम्बन्ध सुधार लिये और १९२५ में उसके साथ एक मैत्री संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। परन्तु १९३४ में बाल्कन राज्यों द्वारा रचित एक सम्पत्ति “बाल्कन राज्यों के समझौते” पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। १९३७ में उसने यूगोस्लाविया के साथ भी अपने सम्बन्ध सुधार लिये। इसके पीछे उसका उद्देश्य नपुंसकी संधि को कमजोर बनाना था।

द्वितीय महायुद्ध के शुरु में बल्गेरिया ने तटस्थ रहने का प्रयत्न किया परन्तु धन में उसे जमनी की कठपुतली बन जाना पड़ा और १ मार्च १९४१ को उसे जमनी के साथ 'त्रिपार्टीट संधि' (Tripartite Treaty) पर हस्ताक्षर करना पड़ा। जब जर्मन सैन्य ने यूगोस्लाविया तथा ग्रीस पर आक्रमण किया तो बल्गेरिया ने उस सहयोग दिया। इसी प्रकार २५ नवम्बर १९४१ को बल्गेरिया ने साम्यवादी विरोधी संधि (Anti Comintern Pact) में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। इसी सन्धि के अन्तर्गत बल्गेरिया ने बल्गेरिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। युद्ध काल में बल्गेरिया के राजा सोफिया की मृत्यु हो गई और उसके ६ वर्षीय पुत्र सीमेन को राजा बनाया गया। फिनलैंड १९४४ में बल्गेरिया युद्ध बंदी की दुहाई देने लग गया और २८ अक्टूबर को उसका प्राधान्य स्वीकार करली गई। बल्गेरिया में रूसी नेतृत्व के अन्तर्गत एक नियंत्रण आयोग स्थापित किया गया और घोर २ बल्गेरिया साम्यवादी चक्र में फँसता गया। ८ सितम्बर १९४६ को राजतन्त्र का अन्त्य करने के लिये लोकमत लिया गया जिसके परिणामस्वरूप राजा का अपन सिंहासन से और बल्गेरिया का अपने राजा से मुक्ति मिली और बल्गेरिया में प्रजातान्त्रिक गणराज्य की स्थापना की गई।

बल्गेरिया साम्यवादी कैसे बन गया ? इसकी कहानी बहुत दिलचस्प है। ६ सितम्बर १९४४ को 'फिदुश्रीम फ्रन्ट' (Fatherland Front) ने अपनी सरकार बनाई और २८ अक्टूबर को युद्ध बंदी भी हो गई। इस दल पर साम्यवादियों का प्रभाव अधिक था। फिर भो जॉर्जोव (Georgiev) प्रधानमंत्री बना और साम्यवादियों को शुरु तथा वाय विभाग का मन्त्रित्व दिया गया। गांधी ही साम्यवादियों ने युद्ध करण में युद्ध किया और अपने विरोधियों का कारावास अथवा निवासन या मौत के घाट की तरफ भजना शुरू कर दिया। इस फिदुश्रीम फ्रन्ट में दरार पड़ गई और पेटकोव (Petrov) मार्च से पृथक् हो गया और जर्मन साम्यवादियों के विरोधी दल का निर्माण किया। विरोधी दल ने पश्चिम में सहायता की अपील की और साम्यवादियों ने सावधानता का तर्क हाथ फँलाया। १८ नवम्बर १९४५ को नये चुनाव हुए। विरोधी दल ने इसमें भाग नहीं लिया और साम्यवादियों की जीत हुई। परन्तु पश्चिम के दबाव के कारण अन्तर्गत के नेता पेटकोव तथा लुनचेव आदि का मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया परन्तु उन्होंने मन्त्रोत्तर कर दिया। २७ अक्टूबर को संविधान सभा के नियुक्त चुनाव हुए और साम्यवादी भारी बहुमत में जीते। जॉर्जो दिमित्रोव प्रधानमंत्री बना। अगस्त १९४७ में पेटकोव पर अभियोग चनाया गया और उसे गिरा दिया गया। १९४७ में बल्गेरिया ने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों के साथ पारस्परिक सहायता संधि की। इस के साथ ही इसी तरह की संधि की गई। तब से इस तरह के संधि के अन्तर्गत संधि के आदेशानुसार चल रहा है और विदेशीय के क्षेत्र में योग्यता संधि का अवरोधन समर्थन करना आ रहा है।

## अल्बानिया

तुर्की मत्ता में सन्त्रसे अन्न में मुक्ति पाने वाला बाल्कन प्रदेश अल्बानिया था । १९१२ में अल्बानियन लोगो ने इटली तथा आस्ट्रिया हंगरी की सहायता से तुर्की शासन के प्रति विद्रोह कर दिया और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । १७ दिसम्बर १९१२ में लन्दन राजदूता के अधिवेशन में अल्बानिया की स्वतन्त्रता की स्वीकार कर लिया गया, इसकी सीमाएँ निर्धारित की गईं और एक यूरोपियन राजकुमार को अल्बानिया पर शासन करने को चुना गया । परवरी १९१४ में राजकुमार विलियम अल्बानिया का राजा बन कर अल्बानिया में आये परन्तु मितम्बर १९१४ में उन्हें वापस लौटने को विवश कर दिया गया । उस समय प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हो चुका था और आस्ट्रियन तथा बल्गेरियन सेनाओं ने इस छाटे से नवनिर्मित निचल राज्य को अपने अधिकार में कर लिया । जून १९१७ में इटली ने अल्बानिया को गन्धुओं से मुक्त करके पुन उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा की । १९१८ में मित्रराष्ट्रों ने अल्बानिया में सामयिक सरकार की स्थापना की परन्तु इसके विरुद्ध जनतादालन बढ़ता गया और १९२० में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की गई ।

पेरिस शांति अधिवेशन में इटली ने अल्बानिया को अपने संरक्षण में रखने की माग की परन्तु रूसन तथा लायन्जार्ज ने उसकी माग को ठुकरा दिया और उधर अल्बानियन लोग न इटली की सलाह को अपने दम से खदेड़ दिया । परन्तु अल्बानिया की सीमाओं का निर्माण काफी नाकाम के बाद १९२३ में ही हो सका । इटली ने अल्बानिया की राष्ट्रीय सरकार को मायना प्रदान करदी । इस राष्ट्रीय सरकार में अहमद बे जागू (Ahmed Bey Zogu) का अत्याधिक महत्वपूर्ण प्रभाव था । फिर भी १९२४ में यह राजा के पादरी फान नोली (Fan Noli) के नेतृत्व में, मोझवा प्रशासन के विरुद्ध एक आतंककारी आन्दोलन शुरू हो गया । अहमद जागू यूगोस्लाविया भाग गया और वहाँ पर अपना शक्ति को समर्थन करके पुन अल्बानिया में प्रवेश किया और पुन सत्ता पर अधिकार कर लिया । शासक जागू को यूगोस्लाविया से सहायता मिली थी क्योंकि जनवरी १९२४ में जागू के अल्बानियन गणराज्य का राष्ट्रपति बन जाने के अतिरिक्त बाद स्वेतीनोम और बर्गोसा के विद्रोहग्रस्त क्षेत्र यूगोस्लाविया का दे दिये गये । १ सितम्बर १९२८ को अल्बानिया को एक राजतन्त्र घोषित कर दिया गया और जागू उसका प्रथम सुल्तान बन गया ।

यस जागू ने यूगोस्लाविया की सहायता से फान नोली की सरकार का अपदस्थ करके सत्ता हाथियाई थी । परन्तु १९२५ से उसका झुकाव इटली की तरफ बढ़ता गया । इसका प्रमुख कारण अल्बानिया की आर्थिक स्थिति था । जागू अपने देश की आर्थिक

गणों के हार्थ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सन्निहित इतिहास ।

स्थिति को उन्नत करना चाहता था और यूगोस्लाविया व्यापक पैमाने पर सहायता वर में असमर्थ था। अतः जोगू इटली के, जोकि हर प्रकार की सहायता देने में समर्थ था, जाल में उलझता गया। इटालिया विरोधियों के निर्देशानुसार अल्बानियन सना का समर्थन किया गया। इटालियन पूँजी से अल्बानिया की राष्ट्रीय बैंक का विस्तार किया गया, उद्योग बंधों को विकसित किया गया और कई नूतन परिवर्तन किये गये। इटालियन सहायता के फलस्वरूप यूनान और यूगोस्लाविया अल्बानिया के अग्र भग की योजना का कार्यान्वित करने में असफल रहे। परन्तु अल्बानिया का भी अपने साम्राज्य प्रसार को महत्वाकांक्षा को छोड़ना पड़ा। १९२६ में जोगू के शासन के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। जोगू ने मुसोलिनी को सहायता से इस विद्रोह को कुचल दिया और इटली के साथ तिराना की संधि (Treaty of Tirana) को जिसमें यह व्यवस्था का पई कि अल्बानिया की भाग पर इटली का अल्बानिया के आंतरिक तथा वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार रहेगा। १९२७ में इटली के साथ एक सुरक्षा संधि भी की गई। १९३१ के बाद जोगू ने इटली के प्रभाव से मुक्त होने का अमफन प्रयत्न करना शुरू कर दिया। इससे मुसोलिनी नाराज हो गया और ७ अप्रैल १९३६ को इटालियन सनाओं ने अल्बानिया पर आक्रमण कर दिया। १४ अप्रैल को अल्बानिया इटली साम्राज्य में मिला लिया गया। जोगू भाग गया। १९४४ तक अल्बानिया इटली के अधिकार में रहा। १९४४ के अन्त में इटली और अल्बानियन संधि की तोड़ दिया गया और अल्बानिया में एक नई सरकार स्थापित करने का निश्चय लिया गया। जनरल इबरहोवसा (Enver Hoxha) ने एक लोकप्रिय सरकार की स्थापना की। १० नवम्बर १९४५ का इंग्लैंड अमेरिका और रूस ने इस सामयिक सरकार को इन बात पर कि वह यथा शीघ्र स्वतंत्र चुनाव करायेगी, माया द दी, दिसम्बर १९४५ में चुनाव हुआ और साम्यवाद्या का भारी बहुमत प्राप्त हुआ। १-२ जनवरी १९४६ को अल्बानिया जनताधिक गणराज्य घोषित कर दिया गया और जोगू के अधिकारों का समाप्त कर दिया गया।

नूतन अल्बानियन गणतन्त्र शुरू में यूगोस्लाविया के साथ अधिक सम्पर्क में रहा और मास्को के प्रति उसकी निष्ठा कम रही। क्योंकि महायुद्ध के समय उस रूप से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली थी और न ही बाद में कोई विशेष सहायता प्राप्त हो सकी। इसके अतिरिक्त १९५५ तक रूस के साथ उसकी कोई पारस्परिक सहायता संधि भी नहीं हुई। हालांकि यूनान के गृहयुद्ध तथा घट घटा सामाजिक घटनाओं के कारण उसका रूस से सम्बन्ध बना रहा। परन्तु यूगोस्लाविया से उसे बहुत अधिक सहायता मिली। फिर यूगोस्लाविया पहला देश था जिसने स्वतंत्र अल्बानियन गणराज्य का आनन्दता दी थी और उसने भाषा दौलत सम्बन्ध स्थापित किये थे। यद्यपि स्वाभाविक था कि अल्बानिया यूगोस्लाविया की तरफ आकर्षित होता। परन्तु कुछ अल्बानियन अपने देश पर यूगोस्लाव प्रभाव को ठीक नहीं मानते थे और उन्हें भय था कि वह अल्बानिया यूगोस्लाविया की वशतुनता मान न रह जाय। यह जब १९४८ में मास्को

टोटी का साम्यवादी समाज से वृद्धिप्राप्त कर दिया गया तो अल्बानिया ने यूगोस्लाविया  
 में सम्बंध विच्छेद कर लिये और मास्को की तरफ बढ़ने लगा। १९५५ में उसने वारसा  
 पैक पर हस्ताक्षर किये और तब से अल्बानिया निरंतर मास्को का समर्थन करता आ  
 रहा है।

### अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निकट पूर्व

निकट पूर्व को, पूर्व और पश्चिम का संगम क्षेत्र माना जाता है। प्रायः इसे पूर्व  
 और पश्चिम रूपी बोतल की गदन की जगह भी कहा जाता है परन्तु फिर भी यह क्षेत्र न तो  
 घनिष्ठ रूप से एकता के सूत्र में बंधा हुआ न स्वयं में पूर्ण ही है। यह क्षेत्र न तो  
 आधुनिकता के मापन की दृष्टि से और न कृषि तथा उद्योग बंधा की दृष्टि से विकसित  
 है बल्कि निर्धनता और आपसी घृणा का बोल बाला है। सराए

**पृष्ठ भूमि** जातीयता का गढ़ है। इस क्षेत्र में विविध जातियाँ—आर्मेनियन  
 यहूदी, अल्बानियन, सब, बल्गेरियन, तुर्क आदि बसी हुई है

जिनका एक मात्र काम एक दूसरे से घृणा करना है। इन सब तत्वों की प्रधानता के  
 कारण, शताब्दियों से विदेशी शक्तियों का अपना प्रभुत्व स्थापित करने तथा बाल्कन में  
 हस्तक्षेप करने की प्रेरणा प्राप्त होती रही है जिसके परिणाम स्वरूप बाल्कन  
 प्रायद्वीप "यूरोप के बारूद का ढेर" तथा "यूरोपियन कूट नीति का अखाड़ा" बन  
 गया है।

यदि हम इसके इतिहास का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि प्रथम महायुद्ध  
 के पूर्व इस क्षेत्र पर तुर्की का आधिपत्य था जो लगभग चार पांच सौ वर्षों से चला आ  
 रहा था। परन्तु दक्षिण पूर्वी यूरोप का अधीश्वर एनियाई तुर्की राग ग्रस्त हो गया

और बाल्कन जातियों के राष्ट्रीय आन्दोलन, यूरोप की महान्  
 शक्तियों के स्वार्थों के कारण बाल्कन प्रायद्वीप विभाजित  
 की रंग भूमि के रूप में बन गया। वास्तव में यह विविध शक्तियों की रंगभूमि बन

गया और इस रंगभूमि पर जर्मन, रूसी, आस्ट्रो-हंगेरियन तथा  
 तुर्कों ने अपना अपना अभिनय प्रदर्शित किया और इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने अपने व्यक्तिगत  
 लाभ की दृष्टि से उनके अभिनय का निर्देशन भी किया। परन्तु प्रथम महायुद्ध और  
 बाल्कन जातियों की स्वतन्त्रता के लिए उठसाने तथा महान् शक्तियों की युक्त  
 शक्तियों, रूस आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी की शक्ति के पतन, विल्सन के आत्म निर्णय के  
 निदान और साम्यवादी रूस की आपनिवेशिक साम्राज्य के अन्त की दलोल और  
 १९१९ में शक्ति-मन्तुन निदान की हत्या के फलस्वरूप निकट पूर्व की समस्या में  
 एक शान्तिकार माड़ आया। पांच नये स्वतन्त्र राज्यों का नये सिरे से निर्माण  
 किया गया।

सन् १९२२ में, महायुद्ध के उपरान्त से लेकर १९३३ तक इटली ने निकट पूर्व में अपने  
 प्रभुत्व का स्थापित करने का प्रयत्न किया क्योंकि इस क्षेत्र के अतिरिक्त उसे अन्य कोई

क्षेत्र दिसलाई नहीं पड़ा जिस पर वह सुगमता पूर्वक अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। इटली के प्रयत्न से इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का प्रभुत्व काफी क्षीण हो गया परन्तु उन्हीं इटली के विरुद्ध बाल्बन देशों का बाल्बन मंत्री सत्र बनाने का प्रस्तावित किया और सहयोग भी दिया। १६-६ से १६४४ तक जर्मनी और इटली ने इस सत्र पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया और इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का यहाँ से हटना पड़ा। १६४५ से इस पर सोवियत सत्र और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच प्रतिपादित हुए हो गई और यूनाइटेड किंगडम को छाड़कर बाकी सब बाल्बन देशों पर साम्यवादी रूप का प्रभाव स्थापित हो गया। काफी समय और परिश्रम के बाद पश्चिमी देश वेबल यूनाइटेड का भार तर्क कर सके।

युद्धापरान्त सबप्रथम और साथ ही शांति युद्धों में से एक स्थायी युद्ध का जो उद्देश्य हुआ, उसे अनधिकृत रूप से "लघु मंत्री सत्र" ( 'The Little Entente' ) का नाम से पुकारा जाता है। इस मंत्रीसत्र का निर्माण तीन द्विपक्षीय संधियाँ (Bilateral

Treaties) से हुआ था—( १ ) चेकोस्लावकिया और लघु मैत्री सत्र यूगोस्लोवाकिया के बीच ( १४ अगस्त १९२० ) ( २ ) चेकोस्लावकिया और रूमानिया के बीच ( २३ अप्रैल १९२१ ), और ( ३ ) रूमानिया तथा यूगोस्लाविया के बीच ( ७ फ़रवरी १९२१ )। संधियों का प्रमुख उद्देश्य तीनों राज्यों का, हमरी द्वारा बिना किसी विचार के किये जाने वाले आक्रमण से बचाना था। अर्थात् शक्ति के द्वारा टापनेन का सबि में सहायन करने वाले किसी प्रयत्न का या हैप्सबर्ग के पुनर्होण को रोकना था। इस अतिरिक्त रूमानिया और यूगोस्लाविया ने एक आपसी समझौता कर लिया कि रूसी क्रोएशिया की तरफ से दानो देशों में से किसी एक पर आक्रमण होने की स्थिति में दूसरा सहायता को पहुँच जायगा। लघु मंत्री सत्र की सीमा सीमित थी और महान् शक्तियों के आक्रमण के विरुद्ध किसी प्रकार का सहायता की प्रत्याभूति की व्यवस्था इसमें सम्मिलित नहीं की गई थी।

आपसी कृपानुता के अतिरिक्त इन संधियों ने सन्तुष्ट देशों का मंत्री बचन में आबद्ध कर दिया। मंत्री का यह भाव, विदेश नीति के क्षेत्र में, हमरी के सहायनवादी भय की सीमा का लॉचकर और आगे बढ़ गया। हालांकि लघु मैत्री सत्र मुख्यतः एक राजनातिक सत्र था परन्तु फिर भी विशेषकर १९२७ के उपरान्त ताना देशों के व्यापारिक सहयोगों आदि के माध्यम से आर्थिक उन्नति की दृष्टि से एक सामान्य मार्ग को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ तथा विविध यूरोपियन समितियों की बैठक में एक सामान्य दृष्टिकोण का अपनाये का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु इस प्रकार का प्रदर्शन यदाकदा ही किया जा सका। क्योंकि प्रत्येक देश की व्यक्तिगत समस्याएँ इतनी अधिक थीं कि दूसरे भागी देश उसमें रुचि लेने के इच्छुक नहीं थे। फिर इस सत्र ने अपने सदस्यों को दूसरे देशों के साथ समझौता करने की भी छूट

रखा था। उसे एक सामान्य विदेश नीति का अनुसरण कठिन हो गया।

सबु मंत्री सभ में सम्मिलित होने वाले देशों के प्रेरक भाव भिन्न भिन्न थे। भयावह प्रत्येक देश को अपनी कुछ आंतरिक और विदेशी समस्याओं के कारण सभ में सम्मिलित होना पड़ा था। पहले चेकोस्लोवाकिया को ही लीजिये। इसका निर्माण से १९१८ जर्मन का संधि के द्वारा हुआ। इसका नाम भी इसी समय गड़ा गया क्योंकि इससे पूर्व इस राज्य का इतिहास में कभी अस्तित्व नहीं था। वैसे चेक राष्ट्रीयता का आधार पर चेकोस्लोवाकिया का निर्माण किया गया था परन्तु इसमें अल्पसंख्यक को भी सम्मिलित कर लिया गया। महान् रत्नाव जाति की दोनो साम्राज्यवादी और स्लोवाक जिनके पीछे इसका नाम पड़ा, आपस में लड़ती भगड़ता रही। अतः चेक सरकार को यह भय उत्पन्न हो गया कि भावी सन्ध के समय यह अल्पसंख्यक जातियाँ सहयोग देगी या नहीं। भय का दूसरा कारण उसकी प्राकृतिक स्थिति थी। उसकी राजधानी प्रेग सीमांत पर स्थित थी और जर्मनी की तरफ से होने वाले आक्रमण से उसकी रक्षा करना अत्यधिक कठिन था। इसी प्रकार हंगरी के साथ होने वाले संघर्ष में लम्बे और सख्त युद्धों का सुरक्षा भी अमाध्य थी। यही कारण था कि चेकोस्लोवाकिया यथा स्थिति का समर्थक और संधि-संशोधन चाहिये था और इस दृष्टि से उसे जर्मनी, हंगरी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया से हमेशा भय बना रहा।

रुमानिया को चेकोस्लोवाकिया की तरह अल्पसंख्यकों का अधिक भय नहीं था परन्तु उसके तेल के क्षेत्रों की तरफ महाशक्तियों की सतर्क दृष्टि लगी हुई थी। इससे प्रतिरिक्त उस रूस और बल्गेरिया का भय बना हुआ था क्योंकि महायुद्ध के बाद उगलने वाला देशों के प्रांत प्राप्त हुये थे और वे कभी भी अपने प्रांतों को पुनः वापस लेने का प्रयत्न कर सकते थे। क्योंकि जहाँ तक रूसी प्रदेशों का प्रश्न था रूमन उन स्वीकार नहीं किया था। अतः रुमानिया की मित्रों की सतत आवश्यकता थी और इसी कारण उसकी नीति व्यापक प्रति रक्षात्मक संधि की ओर मुड़ी।

यूगोस्लाविया को एक तरफ घरेलू मामलों की चिंता लगी हुई थी ता दूसरी तरफ विदेशी मामलों का भय। परलू मामलों में सबसे अधिक भय अल्पसंख्यकों का था। विदेशी मामलों में उसके हित सर्वाधिक विविधतापूर्ण और विस्तृत थे। क्योंकि यूगोस्लाविया मध्य यूरोप का भी देश था और बाल्कन प्रायद्वीप का भी। रुमानिया और चेकोस्लोवाकिया की भाँति उसे हंगरी से अधिक भय नहीं था क्योंकि उसे हंगरी से विशेष भूभाग नहीं मिला था। उस इटली से अधिक भय था। इटली एट्रियाटिक सागर में अपनी स्थिति मजबूत बनाने में लगा हुआ था। यूगोस्लाविया का अनुमान था कि इटली उसका राज्य को दिग्ग मित्र बनने पर तैयार न होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों राज्यों को उन देशों का भय था जिनके शत्रु उन्हें मिले थे। अर्थात् रुमानिया का रूस, हंगरी और बल्गेरिया का, यूगोस्लाविया को हंगरी का और चेकोस्लोवाकिया को हंगरी का। चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया



किसी रूस विरोधी गुट में शामिल न होने को हृदय से क्योंकि एक तो दोना और का  
स्लाव जनता में भावनात्मक सम्बन्ध था और दूसरे उन्हें रूस के स्वस्थ हो जान का  
विश्वास था और परिणामतः वे रूस के साथ वाले सीमांत को, चाहे वह पोलैंड हो  
या कही अयंग, अस्थिर और खतरनाक मानते थे ।

घटनाओं के प्रकाश की दृष्टि में देखा जाय तो लघु मंत्री सच में बहुत सी कमियाँ  
दिखलाई पड़ती हैं । यह हंगरी के विरुद्ध निर्देशन की गई थी परन्तु विविध प्रश्नों  
के उपरान्त भी, लघुमन्त्री सच और हंगरी के सहोपनवात् के मध्य की खाई को पाटा  
नहीं जा सका । हंगरी के ऊपर बहुत अधिक ध्यान केंद्रित किया गया जोकि वास्तव में  
इस वर्षों में एक निम्न शक्ति थी और जिसकी सैनिक शक्ति लघुमन्त्री सच के प्रत्येक  
सन्देश देश से काफी कम थी । जिन महान् शक्तियों से वास्तव में भय था, उस भय से  
मुक्त होने की कोई व्यवस्था नहीं की गई । क्योंकि इस सम्बन्ध में तीनों सन्धियों में से  
प्रत्येक देश को भिन्न महान् शक्ति से भय था, अतः एक सामान्य नीति निर्धारित नहीं की  
जा सकी । चेकोस्लावाकिया का जर्मनी से, रूमानिया का रूस से, और यूगोस्लाविया का  
इटली से भय था । चेकोस्लोवाकिया को प्रत्यक्ष रूप से रूस से कोई निवारण नहीं था,  
रूमानिया का भी जर्मनी से कोई भय नहीं था और न ही इटली के प्रति उस निवारण  
था । इसका अर्थ यह हुआ कि लघुमन्त्री सच में आंतरिक सुरक्षा को अधिक महत्व दिया  
गया था और विदेशी भय से कम सुरक्षित था । यह बात १९३० में बिल्कुल सत्य  
हो गई ।

फ्रांस के द्वारा लघुमन्त्री सच के राज्यों से राजनीतिक संधियाँ करने से, लघुमन्त्री सच  
की शक्ति काफी मजबूत हो गई । क्योंकि फ्रांस ने लघुमन्त्री सच की सेनाओं को युद्ध सामग्री  
देना हंगरी से उनकी रक्षा करना तथा यूगोस्लाविया को इटली से विरोध रूप से बचाना  
स्वीकार कर लिया था । फ्रांस की नीति का आधार "एक युक्त सौदा था जिसके अनुसार  
वर्माय की संधि को कार्यान्वित करने में फ्रांस की सहायता करना लघुमन्त्री सच के तीनों  
राष्ट्रों का कर्तव्य था जब कि इस संधि में स्वयं उनका अपना हित नगण्य था ।"<sup>१</sup>  
इस युक्त सौदे ने तीनों देशों को फ्रांस के विश्वासपात्र पिछलग्गू ( Satellites )  
राज्य बना दिये ।

युद्ध भय तथ्यों में भी लघुमन्त्री सच काफी प्रभावित हुआ । १९२० में राष्ट्रों  
की संधि के द्वारा इटली और यूगोस्लाविया ने आपसी मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न  
किया । लासेन की संधि के द्वारा तुर्की की सीमाओं के निर्णय से भी बाल्कन राज्यों  
का भय काफी कम हो गया । इसी प्रकार, गुरु में इंग्लैंड, फ्रांस और इटली के इन  
दृढ़ निश्चय थे कि आस्ट्रिया को जर्मनी का घट्टा नहीं बनने दिया जायेगा, बाल्कन राज्यों  
को भय से मुक्ति मिली । फिर भी, इटली में फासिस्ट सत्ता के उद्घाटन तथा उनका

साम्राज्यवादी भ्रातृमण्डल नीति से बाल्कन राज्य काफी भयभीत हो उठे । १८२६-२७ में इटली का अल्बानिया की तरफ भ्रुताव तथा बल्गेरिया की तरफ प्रसार ने यूगोस्लाविया में भयकर सङ्कट उत्पन्न कर दिया और इससे रोम तथा पेरिस के सम्बन्ध भी बिगड़ने लग गये ।

परन्तु सत्य तो यह है कि सभी प्रमुख यूरोपियन शक्तियों का बाल्कनक्षेत्र में किसी न किसी प्रकार का विशेष हित निहित था । इटली और फ्रांस के हितों का हम उल्लेख कर चुके हैं । फ्रांस का, बाल्कन प्रायद्वीप में यथा स्थिति महान शक्तियों के हितों का बनाये रखने तथा जर्मनी और इटली के प्रसार को रोकने विशेष हित एक आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को कायम रखने में विशेष हित था ।

इस योजना की सफलता बाल्कन राज्यों की प्रादेशिक असफलता पर निर्भर करती थी । अतः फ्रांस का लघुमित्रों सघ की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाना स्वाभाविक था । इटली अपनी उन आकांक्षाओं को जिन्हें वह आपसी वार्तालाप के द्वारा पेरिस शान्ति अधिवेशन में प्राप्त करने में असफल रहा था, अब बाल्कनक्षेत्र में बुद्धिमत्ता के द्वारा प्राप्त करने का योजना बनाने में लगा हुआ था । इटली यूगोस्लाविया का पक्ष था क्योंकि जिन प्रांतों पर इटली ने अपनी आगाए बाध रखी थी वे प्रांत यूगोस्लाविया का मिले थे । वही फ्रांस की भाँति इटली भी आस्ट्रियन स्वतन्त्रता का पक्षधर था, परन्तु यूरोपियन मामलों में फ्रांस के साथ उभरी प्रतिद्वन्द्विता ने उसे हंगरी और बल्गेरिया का मित्र बना दिया और यूरोपियन सङ्कट के समय जर्मन सहायता के बदले में उसने आस्ट्रियन स्वतन्त्रता के प्रति अपनी पुरानी नीति का भी परित्याग कर दिया । जर्मनी का बाल्कन प्रायद्वीप में, १८३३ तक विशेष हित नहीं था । इंग्लण्ड का हित प्रत्यक्ष तः प्रकार अप्रत्यक्ष था, अर्थात् जिब्राल्टर, माल्टा, और स्वेज नहर के कारण भूमध्य सागर में उसके प्रभुत्व का चुनौती देने वाला का प्रतिरोध करना या चुनौती का रोकना था । तुर्की का प्रमुख हित, जलडमरूमध्य ( Straits ) के सरदर के रूप में अपनी स्थिति को बनाये रखना था । इसके लिए यह आवश्यक था कि बाल्कन राज्यों पर किसी एक शक्ति के प्रभुत्व का विरोध किया जाय तथा बाल्कन राज्यों को ब्रिटेन तथा रूस के साथ घनिष्ठ मित्रता स्थापित करने में रोका जाय । उसने बाल्कनक्षेत्र में इटली की कार्यवाहियों को सदेह का दृष्टि से देखा और बाल्कन सघ की स्थापना के निम्ने अथवा प्रयत्न किया । सोवियत सघ अब भी पुरानी लकीर का अनुसरण कर रहा था और जलडमरूमध्य के रास्ते से भूमध्यसागर तक पहुँचने की खिडकी प्राप्त करने का प्रयत्न हीन था । १८१६ से १८३३ तक सोवियत विवेक नीति का ध्येय बाल्कन राज्यों के साथ 'द्विपक्षीय तटस्थता की संधियाँ' करने का रहा और १८३३ के बाद सामूहिक सुरक्षा की नीति का पालन किया गया । परन्तु १८१६ में १८३३ के समय में फ्रांस और इटली, बाल्कन राज्यों में, एक दूसरे के प्रभुत्व को समाप्त करने में लगे हुए थे ।

१८३२ में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता, विश्व आर्थिक सम्मेलन

(१९३३) का अमपन्नता तथा जमनी में हिटलर के उपाय में नवीन समस्या उत्पन्न हो गई अपने साथ नवीन संकट भी समेट कर लेती आई। इसका तत्काल प्रभाव यूरोप और तुर्की पर पड़ा और उठाने सितम्बर १९३३ में एक संधि पर हस्ताक्षर किए जिसके द्वारा आपसी सीमाओं की सुरक्षा की प्रत्याभूति दी गई। अक्टूबर १९३४ में फ्रांसीसी भूमि पर यूगोस्लाव नासब अर्जेंटोण्डर की हत्या से बाल्कन राजनीति में नया पूरा परिवर्तन हुआ। यूगोस्लाविया का इटली के प्रति मदेह बह गया और फ्रांस के साथ भी उसकी घनिष्ठता हो गई। परंतु इस घटना से फ्रांस और इटली एक दूसरे के सम्मुख आ गये, सधुमैत्री संधि में भी फूट पड़ गई। चेकोस्लावाकिया आस्ट्रिया का मित्र बन चुका था और यूगोस्लाविया जमनी की तरफ लिखा जा रहा था। चेकोस्लावाकिया ने सार्वभौम संधि के साथ भी संधि कर ली परंतु रूमानिया ने सोवियत संधि के साथ संधि कर दिया। इस प्रकार सधुमैत्रीसंधि के सम्स्या में फूट बढ़ती गई और फ्रांस की साथवता भी मर्यादित हो गई।

इस प्रकार की उथल पुथल राजनीतिक दृष्टि भूमि में, बाल्कन प्रभाव से युक्त एक बाल्कन संधि बनाने का प्रयत्न शुरू हुआ और ६ फरवरी १९३४ का, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका और तुर्की ने बाल्कन मैत्री संधि (Balkan Pact) पर हस्ताक्षर किये। इसके अन्तर्गत सन्तान राज्याने बल्गेरिया, हंगरी या अल्बानिया के सम्भावित उपद्रवों का विरोध व्यवस्थापित का बनाय रखने की चेष्टा व्यक्त की। अल्बानिया का इस संधि में सम्मिलित होने का निमन्त्रण नहीं दिया गया क्योंकि यह एक तरह से इटली का मर्यादित राज बन चुका था। बल्गेरिया को निमन्त्रित किया गया था परंतु उसने सम्मिलित होने से इंकार कर दिया क्योंकि वह सगायनवादी राज्य था और मौजूदा सीमाओं के स्वीकार करने का तैयार नहीं था। कारण बाल्कन संधि के बारे में लिखा है कि "किन्तु इस सम्मेलन द्वारा स्थापित" "बाल्कन मैत्री संधि" बहुत कमजोर बांधा बना हुआ। यूगोस्लाविया के लिए इस सम्मेलन का प्रमुख लक्ष्य बाल्कन मामलों में इटली के हस्तक्षेप के विरुद्ध अपनी सुरक्षा प्राप्त करना था। इसके विपरीत, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका ने संधि करने की हिम्मत नहीं होने के कारण सम्मेलन के अनुगमन का माप ही कर यह घोषणा भी की कि इस सम्मेलन का स्वीकार करने में वह किसी और बाल्कन राज्य को मुक्त करना या अपना कोई वक्तव्य नहीं मानता।" अर्थात् शुरू से ही सदस्य राज्यों के बीच एक बाल्कन छात्राता के विरुद्ध युगों की व्यवस्था की गई थी, न कि किसी संधि के विरुद्ध।



द्रुतगति से प्रसार। पश्चिम के पूजोवाद ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने का तप  
 साम्यवाद ने पूजोवाद के उन्मूलन का दृढ़ निश्चय कर लिए  
 द्वितीय महायुद्ध जिसके परिणामस्वरूप पूर्व और पश्चिम में भयंकर तनाव पै  
 के उपरांत हो गया और इस तनाव की अभिव्यक्ति हुई शीतयुद्ध के द्वारा।

शीतयुद्ध का शिकार बना पूर्वीयूरोप तथा निकट पूर्व। बसे यान्त  
 सम्मेलन में पश्चिम ने पूर्वी यूरोप पर रूसी प्रभाव स्वीकार कर लिया था। परन्तु अब  
 समय शायद उन्हें इस बात का अनुमान नहीं था कि सोवियतसंघ इस क्षेत्र की पुण्यो  
 वासन-व्यवस्था को जड़मूल से उखाड़ फेंकेगा और इन क्षेत्र के राज्यों का साम्यवाद की  
 कट्टर समर्थक बनाने का अथक प्रयत्न करेगा और उसे इस प्रयत्न में अत्यधिक सफलता  
 भी मिलेगी। परन्तु जब रूस ने याल्ता तथा पोर्टस्मथ में युद्ध के अन्त में  
 स्वतंत्र चुनावों का नाटक खेलते हुए, साम्यवादी शासन व्यवस्था का स्थापित करने का  
 प्रयत्न किया तो पश्चिम की आँखें खुली। परन्तु उसने बहुत देरी कर दी थी क्योंकि इस  
 समय तक चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, हंगरी, पोलैण्ड आदि पूर्वी यूरोपीय देश तो पूर्ण  
 रूप से सोवियत संघ की कठपुतली बन ही चुके थे परन्तु निकट पूर्व के-यूगोस्लाविया,  
 रूमानिया, बल्गेरिया और अल्बानिया भी रूसी शिकार में पस गये थे। केवल ग्रीस  
 अभी तक साम्यवाद के विरुद्ध अपनी अन्तिम लड़ाई लड़ रहा था। अतः पश्चिम अपनी पूर्ण  
 शक्ति के साथ ग्रीस की सहायता को जा पहुँचा और यू.एन. साम्यवादी हाते होने लगे  
 गया। १९४८ में यूगोस्लाविया सोवियत रूस से वृथक हा गया। हालाँकि वह साम्यवादी  
 बना रहा। इन सब घटनाओं का पिछले पुच्छा में विस्तार के साथ उल्लेख किया जा  
 चुका है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों की दृष्टि से, द्वितीय महायुद्ध के उपरांत निकट पूर्व में दो ही  
 महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई हैं। एक आल्बान समझौता और दूसरा बारसा समझौता  
 जिसमें निकट पूर्व के अधिकांश राज्य सम्मिलित हुए। आल्बान समझौते का उद्भव १९६१  
 में ग्रीस और तुर्की के मध्य की गई संधि से हुआ है। ६ अगस्त १९६४ को यूगोस्ला  
 विया के इस संधि में सम्मिलित हो जाने से इसका निर्माण पूर्ण हो गया। यह समझौता  
 २० वर्षों के लिये किया गया। समझौते के अनुसार सदस्य देशों पर होने वाले आक्रमण  
 को दूसरे सदस्यों पर भी आक्रमण माना गया और हमारे सदस्य आक्रान्त सदस्य की  
 व्यक्तिगत अथवा सार्वभौमिक रूप से सहायता करेंगे। आक्रमण की स्थिति में, सदस्य देशों  
 द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियाँ आपसी सलाह से की जायेंगी परन्तु इस सम्बंध में  
 यह ध्यान रखा जायेगा कि इन कार्यवाहियों के परिणामस्वरूप नाटो के प्रति ग्रीस और  
 तुर्की के दायित्व पर किसी प्रकार का आपात न पड़े।

बारसा समझौता का विस्तृत अध्ययन हम बारहवें अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ  
 पर इतना कहना समष्टि होगा कि पश्चिम द्वारा निर्मित विविध सैनिक संधियों एवं सैन्य  
 टर्कों के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ ने साम्यवादी देशों का एक संगठन बनाया जिसका



# पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका

## ( मध्य पूर्व की समस्या )

एशिया, अफ्रीका और यूरोप के संगम स्थल “मध्य पूर्व” (Middle East) को भौगोलिक स्थिति का नहीं सीमांकन करना बहुत ही कठिन काम है और इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में भी अत्यधिक भिन्नता है। सामान्य मध्य के पश्चिमी भाग में लेकर अफगानिस्तान के पूर्वी भाग तक के क्षेत्र का ‘मध्य पूर्व’ के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कुछ लोग उत्तरी अफ्रीका के अरब राज्यों को भी इसमें सम्मिलित कर लेते हैं। सुप्रसिद्ध लेखक गार्डि विण्ट<sup>१</sup> के अनुसार, सीमित अर्थ में मध्यपूर्व का अर्थ सिर्फ तथा एशिया के अरब राज्य और व्यापक अर्थ में इनके साथ ईरान, तुर्की, लीबिया, अल्जीरिया, अल्जीरिया तथा मोरक्को को भी सम्मिलित किया जा सकता है। हम व्यापक अर्थ को लेकर मध्यपूर्व की चर्चा करेंगे क्योंकि ‘मध्यपूर्व’ अथवा ‘पश्चिमी एशिया’ शब्द अरब राष्ट्रों की भौगोलिक स्थिति के पूरव प्रतीक नहीं है। सिन, मूल, और लीबिया अरब सभ में सम्मिलित हान हुए भी भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमी एशिया में नहीं हैं। ये अफ्रीका के उत्तरी भाग में स्थित हैं। परन्तु उनमें पचास हई राष्ट्रों की आकांक्षा, उनके स्वतंत्रता संग्राम, उनकी सफलता और उनमें प्रजातन्त्र की स्थापना आदि जो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी हैं, उनका अरब राष्ट्रों के घटना क्षेत्र से अलग नहीं किया जा सकता। सोना प्रदेशों में घटने वाली घटनाएँ एक ही घटना क्षेत्र की लम्बी श्रृंखला की अद्भुत बढ़ियाँ हैं। उनका अध्ययन इतिहास के एक ही महत्वपूर्ण अध्याय के रूप में किया जाना चाहिये। इसी दृष्टि से हम अध्याय का शीर्षक ‘पश्चिमी एशिया और अफ्रीका’ दिया गया है।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर, मध्यपूर्व में सम्मिलित राज्यों की सूची निम्न प्रकार से तैयार की जा सकती है।<sup>२</sup>

1 Guy Wint—Middle East Crisis

2 Statesman's Year Book—1955

क्र० सं०	राज्य का नाम	क्षेत्रफल वर्ग मील में	जनसंख्या	राजनीतिक स्थिति
१	अफगानिस्तान	१८५,०००	६५०,०००	ब्रिटिश का संरक्षित प्रदेश
२	अफगानिस्तान	२५०,६६६	१,३०,००,०००	स्वतंत्र (राजतंत्र)
३	बहरीन	२३१	१२०,०००	स्वतंत्र राजतन्त्र (ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में)
४	बाइप्रम	३५८४	४६२,०००	ब्रिटेन का संरक्षित प्रदेश
५	मिश्र	३,८६,१६८	२,३२,४००,०००	स्वतंत्र (प्रजातंत्र राज्य)
६	सौराया	६६,०००	३२,६१,०००	स्वतन्त्र (प्रजातंत्र राज्य)
७	ईराक	६२८,०००	२,००,८१,५१०	स्वतंत्र (राजतंत्र)
८	इराक	१७१,५६६	५६,३६,१०६	स्वतंत्र (सैनिक शासन)
९	इजरायल	८०४८	१६,७६,०००	स्वतंत्र (प्रजातंत्र राज्य)
१०	जार्जिया	३७,२६४	१४,७१,०००	स्वतंत्र (राजतंत्र)
११	कुत	८०००	१,७०,०००	स्वतंत्र देश राज्य (ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में)
१२	कतर	८४६४	१७,०००	" " ( " " " " )
१३	घामन तथा मरकत	८२,०००	५,५०,०००	स्वतन्त्र (राजतंत्र)
१४	सौदा अरब	८७०,०००	१,१०,००,०००	स्वतंत्र (राजतंत्र)
१५	सबानान	४००	१४,१५,६५६	स्वतंत्र (प्रजातन्त्र राज्य)
१६	तुर्की	२६६,५०३	२४१,११,७७८	स्वतन्त्र (प्रजातंत्र राज्य)
१७	यमन	७५,२६०	५०,००,०००	स्वतंत्र (राजतंत्र)
१८	यूनिक्सिया	४८,१६५	३०,००,०००	स्वतंत्र (प्रजातंत्र राज्य)
१९	मौरव्वा	१७२,८०२	६१,८३,०२३	स्वतंत्र (राजतंत्र)
२०	लाबिया	६७६,७५८	८८८,४०१	स्वतंत्र (प्रजातंत्र राज्य)
२१	प्रल्हारिया	३२६६४६	८६८,८००	फ्रेंच उपनिवेश

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में, उपरोक्त राज्यों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, उपरोक्त राज्यों में से अधिकांश राज्य, पश्चिमी साम्राज्यवाद के वशुल में पड़ गये थे। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद, पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध, राष्ट्रवादी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसके परिणामरूप साम्राज्यवादिया की अपना धारिया बिन्दु उठाकर, मध्यपूर्व से खाना होना पड़ा। परन्तु सीधे ही मध्यपूर्व का आर्थिक साम्राज्यवाद का शिकार बनना पड़ा और आजकल रूस तथा अमेरिका में, मध्यपूर्व का बल प्रभाव में खाने तथा बनाये रखने के लिये भयंकर प्रतिद्वन्द्विता चल रही है और अरब अन्तः एक संयुक्त अरब राज्य की स्थापना का स्वप्न देख रही है।

पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका की घटनाओं की चर्चा करने के पूर्व, उन



तत्वों का, जिन्होंने इस क्षेत्र की घटनाओं को पँदा करने में योगदान दिया है अथवा मध्यपूर्व के महत्व को विकसित करने में सहयोग दिया है, मध्यपूर्व के प्रभाव अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। इतिहास तथा आज कारी तत्त्व का अंतर्राष्ट्रीय वातावरण इस बात को स्वीकार करता है कि मध्यपूर्व, विश्व राजनीति और सामरिक महत्व का एक महत्व

पूर्ण, केन्द्र बिन्दु बना हुआ है और स्वतंत्र संसार के लिये मध्यपूर्व की सामरिक स्थिति बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहाँ पर हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि महाशक्तियों के स्वायत्त इस क्षेत्र में सक्रिय नहीं होते तो, इस क्षेत्र का महत्व बहुत कम हो जाता। मानव जाति के इतिहास में मध्यपूर्व के सघन की कहानी अद्वितीय है। प्रारम्भ से लेकर आज तक, मध्यपूर्व विदेशी शक्तियों के द्वारा पदान्तरित होता रहा है। हिती, यूनानी, रोमन अथवा मगोल और तुर्क सेनाये मध्यपूर्व पर अपना कुछ न कुछ प्रभाव अवित करने में सफल रही थी। आटोमन साम्राज्य के अतगन, पहली बार, कई शताब्दियों के बाद, कई शताब्दियों तक, सम्पूर्ण मध्यपूर्व, एक ही शासन-तन्त्र के अधीन रहा था परन्तु यूरोप के रोगी 'तुर्कों' की निवृत्तता तथा पड़ोसी रूस की मध्यपूर्व की तरफ प्रसरण होने की जिज्ञासा से मध्यपूर्व पुनः विक्षोभ केन्द्र बन गया। प्रथम महायुद्ध ने आत्मन साम्राज्य का अन्त कर दिया और मध्यपूर्व का अंग भग हो गया। द्वितीय महायुद्ध के समय मध्यपूर्व पुनः महान् शक्तियों का अखाड़ा बन गया और द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस और अमेरिका की वि-वनीति के सघन में मध्यपूर्व दुरी तरह से उलझा हुआ है।

मध्यपूर्व के महत्व का प्रथम कारण उसकी भौगोलिक सीमा या स्थिति है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण मध्यपूर्व, एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप को एक दूसरे से मिलाने वाला स्थान है—संयम स्थल है। एशिया

( १ ) भौगोलिक स्थिति टिब्ब महासागर और भूमध्यसागर तथा स्वेज के उत्तरा मार्गों और खाडिया का मिलाने वाली कड़ी है, इन प्रायद्वीपों और महासागरों के बीच एक भित्ति का काम भी करता है। यूराल से एशिया अफ्रीका, आस्ट्रेलिया के मध्य यातायात के मार्गों का प्रहरी है। स्वेज नहर का महत्व बहुत अधिक है। इसके माध्यम से ही पूर्व और पश्चिम के मध्य की दूरी का कम से कम समय में तय किया जाता है। परन्तु यह सब कुछ तभी तक सत्य है, जब तक कि मध्य पूर्व सुरक्षित है। यदि मध्यपूर्व सोवियत प्रभाव के अतर्गत बन जाता है तो पश्चिमी राष्ट्रों का पूर्वी देशों के साथ सम्पर्क टूट सकता है। इसी प्रकार भूमध्यसागर का भी अपना महत्व है। यह प्रत्यक्ष रूप से यूरोप एशिया और अफ्रीका तीनों प्राय द्वीपों की सेवा करता है और अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिका, दक्षिणी एशिया, सुदूरपूर्व आदि की सेवा करता है। अतः भूमध्य सागर का नियन्त्रण, अफ्रीका की सुरक्षा, नेत्रों की वामपक्ष तथा यूरोप की बचाव पक्ष की सुरक्षा की दृष्टि से, अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। भूमध्यसागर और कृष्ण सागर का मिलाने वाले दर्रे दानिमान

और वास्कोरम जलडमरूमध्या का सामरिक महत्व भी किसी से कम नहीं है। आजकल इन पर तुर्की का अधिकार है। रुम, इन पर अधिकार करने की ताक में है। पश्चिम रूस को दूर रखने के प्रयत्न में लगा हुआ है और यही कारण है कि वह तुर्की का हर प्रकार की सहायता प्रदान कर रहा है और यूनान को भी साम्यवादी आतंक से दूर रखने की कोशिश में लगा हुआ है। मध्यपूर्व की भौगोलिक स्थिति का महत्व इस कारण से और भी अधिक बढ़ जाता है कि अफगानिस्तान से लेकर तुर्की तक के देश सोवियत संघ की दक्षिणी सीमा पर स्थित हैं। भावी युद्ध में, सावियत संघ बहुत सुगमता के साथ इन देशों पर अधिकार करके अफ्रीका तथा एशिया पर अधिकार कर सकता है और पश्चिमी देशों के यातायात मार्गों को बंद करके उन्हें चारों तरफ से घेर सकता है। यदि मध्यपूर्व पश्चिम के प्रभाव में बना रहे तो पश्चिम देश, इस क्षेत्र से बहुत सफलता के साथ सोवियत संघ पर आक्रमण कर सकते हैं या सावियत आक्रमण का प्रतिरोध किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यपूर्व की भौगोलिक स्थिति तथा सामरिक महत्व के कारण, वह दो महान् शक्तियों बीच मुर्गे लड़ाने का प्रलाढ्य बना हुआ है।

मध्यपूर्व के महत्व का एक प्रमुख तत्व, इस क्षेत्र में उपलब्ध तेल भंडार है। तेल प्राधुनिक औद्योगिक जीवन का कलेवर है। औद्योगिक राष्ट्रा के विकास तथा अस्तित्व का एकमात्र सहारा है। सम्पूर्ण संसार में उपलब्ध होने वाले

(२) तेल का महद्व तेल का लगभग ६६% भाग अर्थात् दो तिहाई भाग मध्यपूर्व के देशों से प्राप्त होता है। परन्तु इसमें यह नहीं समझना चाहिए कि मध्यपूर्व के सभी देश तेल की दृष्टि से सम्पन्न हैं। तेल मुख्यतः ईरान की खाड़ी के पास-पास वाले देशों—कुवैत, ईरान, इराक, सीदीयरब, कतर, बहरीन आदि में पाया जाता है। अन्य देशों में भी तेन के विशाल भंडारों की खोज जारी है और ऐसा है कि अधिक तेल क्षेत्रों का पता अभी ही लग जायेगा। तेन के इन विशाल भंडारों की वजह से पश्चिम के देश मध्यपूर्व को अपने प्रभाव क्षेत्र में बनाये रखना चाहते हैं। रूस इस तरफ ललचाई नजर से देखता रहता है और मध्यपूर्व के निधन देशों का तो यह एकमात्र सहारा है। प्रथम और विशेषकर द्वितीय महायुद्ध में मित्रराष्ट्रा का जो सफलता मिली है, यूरोप का जो औद्योगिक विकास हुआ है उसका प्रधान कारण मध्यपूर्व का तेल ही है। तेल की करामात से ही वायुयान, सांयुद्धिक जहाज, मोटरें गाड़ियाँ और असंख्य कल-कारखाने अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। यदि पश्चिम को तेल मिलना बंद हो जाय तो उसकी सैनिक शक्ति का, उसके औद्योगिक जीवन का अन्त हो जायेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। स्वेज नहर सकट से यह बात स्पष्ट हो गई थी।

मध्यपूर्व के तेल क्षेत्रों को खोजने तथा तेल कम्पनियों का स्थापित करने में पश्चिमी देशों ने, विशेषकर इंग्लैंड, फ्रांस और अमेरिका ने अथवा प्रयत्न किया है और

यही कारण है कि मध्यपूर्व में स्थित तेल कम्पनियां उपरोक्त तीनों देशों के आधीन हैं। १९३८-३९ में मध्यपूर्व में उत्पन्न होने वाला तेल का लगभग ८० प्रतिशत ब्रिटिश तेल कम्पनियां उत्पन्न करती थीं जब कि अमेरिकन तेल कम्पनियां केवल १२ प्रतिशत ही उत्पन्न करती थीं। परन्तु १९४६-५७ में स्थिति बदल गई और अमेरिकन कम्पनियां लगभग ६० प्रतिशत तेल उत्पन्न करने लगीं और ब्रिटिश तेल कम्पनियां केवल ३० प्रतिशत तेल ही तैयार कर पा रही हैं। १९३८-३९ में ब्रिटिश तेल कम्पनियां लगभग १ करोड़ २५ लाख टन (वॉपिन) तेल उत्पन्न करती थीं जबकि अमेरिकन कम्पनियां केवल २० लाख टन तेल उत्पन्न करती थीं। १९४६-५७ में अमेरिकन तेल कम्पनियां का उत्पादन लगभग ३ करोड़ ५० लाख टन तक पहुँच गया जबकि ब्रिटिश कम्पनियां का उत्पादन १ करोड़ ८० लाख टन से अधिक नहीं बढ़ पाया। इस समय अमेरिकन तेल कम्पनियां में, अमेरिका की लगभग १ अरब डॉलर पूंजी लगी हुई है। कुवत, बहरीन तथा रास अलुनतूर (सौदी अरब) अमेरिका के प्रमुख केन्द्र हैं। उसने सौदी अरब से लेकर लेबनान के समुद्रतट पर स्थित सैदा नामक स्थान तक एक पाइप लाइन भी बना ली है। ईराक पेट्रोलियम कम्पनी, इंग्लो ईरानियन कम्पनी आदि, प्रमुख तेल कम्पनियां हैं। तेल की उपलब्धि तथा अक्षय भंडार ने मध्यपूर्व के महत्व का बहुत अधिक बढ़ा दिया है।

मध्यपूर्व का प्रभावित करने वाला एक तत्व, यहाँ के लोगों का आर्थिक जीवन है। तेल कम्पनियों से अत्यधिक मुनाफा हाता है। परन्तु यह मुनाफा शेखों, सुल्तानों तथा उच्चाधिकारियों के बीच ही बँट जाता है और जनसाधारण को (३) आर्थिक जीवन हमसे कोई विशेष लाभ नहीं हाता और उन्हें अपनी जीविका जन के लिये कठिन थम करना पड़ता है। मध्यपूर्व का अधिकांश भाग मरुस्थल है और इस मरुभूमि के कारण यहाँ के लोगों की आर्थिक स्थिति और भी अधिक दयनीय हो गई है। संबंधित सरकारों की सुधारों के प्रति अक्षय तथा सामंतवाणी भावनाएँ एवं सामाजिक अवस्था के परिणामस्वरूप यहाँ के लोग आज भी दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसे लोगों का, चांदी की चमक से बहुत तलब खरीदा जा सकता है।

मध्यपूर्व की जनता की स्थिति भी एक महत्वपूर्ण प्रभावकारी तत्व है। सीमित मध्यपूर्व में लगभग ५ करोड़ व्यक्ति निवास करते हैं और व्यापक मध्यपूर्व में लगभग साठे तेरह करोड़ व्यक्ति निवास करते हैं। इस विशाल जनसंख्या का (५) यहाँ के लोग ६०% भाग इस्लाम धर्म का, ४% ईसाई धर्म का तथा २% यहूदी धर्म का अनुयायी हैं। मुस्लिम जनता का अधिकांश भाग अरबों का है जो कि अपने आपको एक जाति, एक प्रजाति या नस्ल तथा एक राष्ट्रीयता से संबंधित मानते हैं। परन्तु फिर भी इस्लाम के अनुयायियों में आपसी सहयोग की कमी है। वैसे साइप्रस, इजरायल और लेबनान को छाड़कर बाकी समस्त देशों में मुस्लिम लोगों की प्रधानता है परन्तु वे जातिगत तथा धार्मिक भावनाओं के कारण एक

दूम्रे से दूर जा पड़े है। अरबों और तुर्कों में जबरदस्त शत्रुता है। इसके अतिरिक्त सिया और सुन्नी वर्गों में भी काफी तनातनी है। ईरान में शियावादी की प्रधानता है और इराक में भी शियावादी का काफी जोर है परन्तु अरब देशों में सुन्नी मुसलमानों का प्रभाव है। आक्सो भगडों के अनिच्छित दूसरी जातियाँ के साथ विशेषकर यहूदियों के साथ उनका सम्पर्क काफी पुराना है और अभी तक जारी है।

मध्यपूर्व के अधिकांश लोग अधिस्थित हैं। अधि विश्वास का भ्रमजाल में उलझे हुए हैं तथा राजनीतिक अधिचारों से घबराते हैं। उन्हें अपने विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं है। इस कारण अधिचारों का गणान के अन्तर्गत में भटक रहे हैं और अक्सर बाहरी तात्वा के हाथों में पड़कर मध्यपूर्व की शांति तथा व्यवस्था को उपद्रवों तथा विद्रोहों का माध्यम से यदा-कदा भंग करते रहते हैं। इससे प्रतिस्पर्धावादी शक्तियाँ का अपना स्वार्थ निष्ठ करने का स्वार्थ अवसर प्राप्त होता रहता है।

मध्यपूर्व की समस्या को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व अरब राष्ट्रीयता (Arab Nationalism) है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व इस क्षेत्र पर तुर्क साम्राज्य का अधिकार था। प्रथम महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया और इंग्लैंड ने तुर्की का पराजित करने के लिये मध्यपूर्व का अरबों का उद्वेगना शुरू किया। अरब राष्ट्रीयता और युद्धसमाप्ति के बाद अरबों का एक संयुक्त अरब साम्राज्य की स्थापना का वचन भी दिया। अरबों ने ठाक ही लिखा है कि "एक संयुक्त अरब साम्राज्य पहली बार उन दावा में सामने आया जो मक्का के शेरिफ ने युद्ध के आरम्भिक काल में ब्रिटेन के साथ हा रही बातचीत में रखे थे।" युद्ध के बाद इस समझौते का लागू करने के लिए काफी प्रयत्न किया गया परन्तु स्वार्थी महामुद्राओं ने जनता की इच्छा का सम्मान करने का नाम तो नहीं लिया और तुर्क साम्राज्य का ईराक, फिलिस्तीन तथा ट्रांसजार्डन प्रदेश ब्रिटेन के संरक्षण में तथा सीरिया और लबनान फ्रांस के संरक्षण में रख दिये। मित्रराष्ट्रों के इस कृत्य ने युद्ध कालीन अरब राष्ट्रीयता का पुन जाग्रत कर दिया। इस नूतन अरब राष्ट्रीयता की प्रथम विशेषता पश्चिमी साम्राज्यवाद का उग्रविराध तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का प्राप्ति थी। इसकी दूसरी विशेषता पश्चिम के आर्थिक शोषण से मुक्ति थी। क्योंकि पश्चिम के देशों ने मध्यपूर्व उद्योग धंधा का विकसित करने की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया था। वे तो अपने देश के उद्योग धंधा के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन का बढ़ाने की कोशिश में लग रहे।

अरब राष्ट्रीयता की भक्तक अनेक रूपों में देखने को मिलती है। पश्चिम के दश जिन साधनों के द्वारा अरबों का आर्थिक शोषण कर रहे थे, उन साधनों का राष्ट्रीयकरण अरब राष्ट्रीयता का एक महत्वपूर्ण स्वरूप था। मध्यप्रथम एंग्लो ईरानियन तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण और तदुत्तरांत स्वेजिनहर का राष्ट्रीयकरण अरब राष्ट्रीयता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। अरब राष्ट्रीयता का दूसरा रूप अपने देशों से विदेशी सेनाओं का

हटाने तथा विदेशी अहुओं की समाप्ति की माग में देखने को मिलता है। विदेशी सेनाओं की उपस्थिति तथा विदेशी अहुओं का अस्तित्व सावभौम सत्ता की राह में रोड़े थे, राजा यता का बलक था और इस बलक को घोने का निश्चय, अरब जनता का मूल मंत्र बन गया। मिश्र और ईरान के प्रयत्न इस ध्येय की प्राप्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। तीसरा रूप पराधीन अरब राज्यों के स्वतंत्रता सघष का समर्थन है। आज भी साइप्रस तथा अल्जीरिया परतंत्रता की बेहियों में जकड़े हुए हैं। यहूदियों को मध्यपूर्व से बहिष्कृत करना अरब राष्ट्रीयता का एक महत्वपूर्ण रूप है और इसके कारण मध्यपूर्व की गति सतरे में पड़ी हुई है। पश्चिमी देश यहूदियों के समर्थक हैं और उनकी कृपा से ही उन्हें इजरायल राज्य की स्थापना करने में सफलता मिली थी। पश्चिम के इस विश्वासघात ने अरबों को आधित कर दिया और अरब राष्ट्रीयता का एक नया रूप पश्चिम के समर्थकों का सफाया निखर उठा। अभी हाल ही में इराक की राज्यक्रांति तथा पश्चिम के समर्थक इराक राजा और इराकी प्रधानमंत्री की हत्या इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अरबों ने पश्चिम के पक्षपातियों का अन्त करने को तुले हुए हैं।

अरब राष्ट्रीयता तथा समस्त अरब देशों की एकता (Pan Arabism) का आन्दोलन का इतिहास बहुत ही दिलचस्प है। इस आन्दोलन का सूत्रपात १६ वीं शताब्दी में शुरू हुआ उस समय जबकि अरबों में जाग्रति का रूपपात हुआ था। इसका मूल ध्येय विविध अरब भाषाभाषी देशों को संयुक्त करना था। सन्धि -

(६) अखिल अरब आरोपित तुर्कों के आधिपत्य का अन्त करना था। एक भाष की भावना एक नस्ल और एक धर्म तथा एक राज्य और राष्ट्रादता -

आधार पर एक संयुक्त अरब राज्य का नवनिर्माण करना था। अरबों की इस महत्वाकांक्षा को जाग्रत करने में ग्रेट ब्रिटेन ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। परन्तु युद्धोपरांत गति समझौतों ने अरब एकता के स्वप्न का समाप्त कर दिया। परन्तु अरब जनता इससे हतोत्साहित नहीं हुई और अपने ध्येय की प्राप्ति में जुनी रही। सब प्रथम इराक, जोर्डन, सीरिया और लेबनान में स्वतंत्रता सघष का सूत्रपात हुआ और १९४१ तक इन चारों राज्यों ने बहुत कुछ अंशों में स्वाधीनता प्राप्त करली। ईरान, मिश्र, यमन, सौदी अरब पहिले से ही स्वतंत्र राज्य बन चुके थे। १९४४ में, अरब एकता को स्थापित करने की दृष्टि से सिकन्दरिया में, अरब राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें मिश्र, इराक, जोर्डन, सीरिया, लेबनान, सौदी अरब, यमन तथा फिलिस्तीन के अरब प्रतिनिधियों ने भाग लिया। काफी वाद विवाद के बाद अरब सघ (Arab League) की स्थापना का स्वीकार किया गया। २२ मार्च १९४५ को उपरोक्त राज्यों ने (फिलिस्तीन को छोड़कर) सघ के प्रतिनाम पर हस्ताक्षर कर दिए। मार्च १९४२ में लीबिया तथा जून १९५६ में म्रदान भी अरब सघ में सम्मिलित हो गये। अरब तीनों का संगठन बहुत सरल है। सघ एक बौंसिल, ६ स्थायी समितियों और एक स्थायी सचिवालय जिसका प्रधान केन्द्र काहिरा में है विभाजित है।

अरब लोग का मुख्य ध्येय बाह्य सुरक्षा है न कि एक शक्तिशाली सघ राज्य की स्थापना करना है। मिश्र और लीग के छाटे सदस्य राज्यों के बीच शुरू से ही तनाव बना रहा है। इराक ने कई वर्षों से अपना बिल अदा नहीं किया और जाडन ने हमेशा लीग को विभाजित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार सौदी अरब का रुख प्रतिभूल रहा है और लेबनान जिसमें ईसाई लोगों की सरया अरबों के बराबर ही है, लीग का एक निबल मन्स्य साबित हुआ है। अरब लीग का एकता के सूत्र में पिरोने वाली कड़ी विदेशी सत्ता का भय है। सभी सदस्य विदेशी सत्ता का दूर रखने, परतत्र अरब राज्यों को स्वतंत्र बनाने में तथा फिलस्तीन से यहूदियों को मार भगाने के मामलों पर एकमत हैं। इसी समान दृष्टि के कारण उन्होंने पास्परिक विवादा का शांतिपूर्ण निपटारा करना स्वीकार किया है। परन्तु अरब लीग के इतिहास से पता चलता है कि लीग कोई ठोस कार्य करने अथवा सक्रिय कदम उठाने में असफल रही है। यह ठीक है कि लेबनान की पुक्ति में अरब लीग का महत्वपूर्ण सहयोग रहा परन्तु स्वेज संकट तथा एंग्लो यमन विवाद के समय अरब लीग कोई विशेष कदम नहीं उठा सकी। इसी प्रकार अलजीरिया को स्वतंत्र बनाने में भी अरब लीग असफल रही है। फिलस्तीन के सम्बन्ध में अरब लीग को बहुत अधिक अपमानित होना पड़ा है।

अरब राज्यों की एकता का स्थापित करने में अरब लीग पूर्ण रूप में असफल रही। १ फरवरी १९५८ को मिश्र तथा सीरिया दोनों ने मिलकर एक संयुक्त अरब गणराज्य (UAR) की स्थापना की और इसके साथ ही अरब लीग का प्रभाव भी समाप्त हो गया क्योंकि इसके प्रत्युत्तर में जोडन तथा इराक ने मिलकर संयुक्त अरब राज्य की स्थापना की। ६ मार्च १९५८ का यमन, अपनी स्वतंत्र सत्ता का सुरक्षित रखना हुआ संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार अरब राज्य दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो गए। जुलाई १९५८ में इराक की राज्यक्रांति ने जोडन तथा इराक के बीच का अंत कर दिया और अब पता नहीं उसका अगला कदम क्या होगा।

संक्षेप में, मध्यपूर्व की महत्ता तथा मध्यपूर्व की समस्या को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं—(१) भौगोलिक स्थिति, (२) विशाल तेल भंडार (३) शीघ्र नीय आर्थिक जीवन (४) परस्पर विरोधी जातियों का निवास, (५) अरब राष्ट्रीयता, (६) अरब एकता का प्रयत्न और (७) आपसी झगड़े तथा महाशक्तियों के परस्पर विरोधी स्वार्थ। इन सभी कारणों के संयुक्त परिणामस्वरूप मध्यपूर्व में महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। अब हम मध्यपूर्व के प्रमुख देशों की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करेंगे ताकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से परिचित होने में सुविधा मिल सके।

### (१) तुर्की (Turkey)

आठमन तुर्क साम्राज्य के उत्थान और पतन की कहानी बहुत अधिक रोमांचकारी है। पुरुष में, यह एक घुमक्कड़ जाति थी जो गाबी रेगिस्तान के बिनारे बिनार अपने खेम में लगाता फिरती थी। तातार जाति के आक्रमणों से तंग आकर अनातोलिया प्रदेश में

आकर बस गई। यही पर इस जाति ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया और एक नव राज की स्थापना की। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में क्रोमन ओटोमन साम्राज्य साम्राज्य अपनी उत्पत्ति की चरम सीमा पर पहुंच गया। उस का अवसान समय सम्पूर्ण बाल्कन प्रदेश, उत्तरी अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया का अधिकांश भाग उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।

उत्तीसवीं शताब्दी के साथ ही साथ तुर्कों के मुसलमानी साम्राज्य का अवसान शुरू हो गया। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्टरर ने इसके बारे में कह सकता था कि यह तो मुस्लिम ही और न साम्राज्य और न तुर्कों है। मुस्लिम इसलिये नहीं कि करोड़ों मुसलमान इसकी सीमा के बाहर निवास करते थे और इसका सीमा में लाखों गैर मुसलमान बसे हुए थे। साम्राज्य इस दृष्टि से नहीं कि इसमें निवास करने वाली ईसाई जानिया अपने स्थान राजकीय गिरजाघरों में संगठित थी और विदेशी यूरोपियनों को तुक साम्राज्य में विशेष अधिकार मिले हुए थे और उन पर तुर्कों नियम लागू नहीं किये जा सकते थे। तुर्कों इसलिए नहीं कि साम्राज्य की भाषा और माहिज अरबी में था और इसके कानून का निर्माण शासन करने वाली तुक जाति के द्वारा नहीं बल्कि उलेमाओं के द्वारा, जो धर्म पुरुष के नाम से विख्यात थे किया जाता था।

क्रोमन लोगो ने अपने साम्राज्य के पुनरुत्थान के लिये शुरू में मुस्लिम पद्धति के सहारे प्रयत्न किया और तत्कालीन सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय (१८७६—१९०८) ने अपने आपको सुल्तान और खलीफा घोषित करने हुए, सम्राट के पद के सम्मान को बढ़ाने तथा मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करने का अथक प्रयत्न किया। परन्तु क्रोमन साम्राज्य को मुस्लिम केन्द्र बनाने का यह प्रयत्न असफल रहा। १९०८ में युद्ध तुर्कों ने क्रोमन साम्राज्य के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। परन्तु यह प्रयत्न भी विफल रहा। युद्ध तुर्कों के समय में बल्गेरिया ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, ग्रीस ने क्रीट पर अधिकार कर लिया, आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जोगोविना के प्रान्तों का हड्डा लिया और इटली ने त्रिपोली पर अधिकार कर लिया। यूरोपियन लोगो ने अरब लोगो का भी उत्साहित किया जिसके परिणामस्वरूप अरबों के विरोध उठ खड़े हुए हैं। इराकी कमचारियों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिये एक गुप्त मर्यादा की स्थापना की। इसी प्रकार मौरिया की स्वतन्त्रता के लिये एक गुप्त सत्ता स्थापित की गई। मर्यादा का गेरिफ हुसैन अपने आपको एक विभूत अरब का अधिपति बनने का स्वप्न देखने लगा और नज़्म का नेता इब्न अहाबी नामक की स्थापना की नैपारी में उठा गया। इस प्रकार, प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही तुर्कों साम्राज्य घेरे घारे पतन का और अभ्यन्तर हा रहा था। प्रथम महायुद्ध में तुर्कों ने जर्मनी के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होकर अपने नविष्य को और भी अधिकार में बना लिया। ३० अक्टूबर १९१८ का तुर्कों ने मुद्रोग स्थान पर मित्र राष्ट्रों को आत्म समर्पण कर दिया।

'यूरोप में यह तथ्य एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है कि प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की शार म लड़ने वाले सब राष्ट्रों में से पराजय से सबसे पहले स्वस्थ होने वाला, शान्ति संधि सबसे पीछे करने वाला और पराजित सेत्रे और लासेन पक्ष का एक मात्र ऐसा राष्ट्र जिसके साथ संधि की शर्तें बात की सन्धियों चीत द्वारा तय हुई और उस पर लादी नहीं गई-तुर्की हा था ।<sup>१</sup> परंतु ऐसा ही हुआ । सुल्तान अब्दुल हमीद न साम्राज्य को मुस्लिम बनाने का प्रयत्न किया था परंतु वह असफल रहा युवक तुर्कों ने इसे साम्राज्यवादी बनाने का प्रयत्न किया था परंतु महायुद्ध में तुर्की की पराजय के कारण वे भी असफल रह । अब इसे तुर्की बनाना किसी और व लिय बाकी था । यह काम मुस्तफा कमाल अथवा कमाल अतानुर्क ने पूरा कर दिखाया ।

मुस्तफा कमाल तुर्की सेना का एक सेनापति था और ब्रिटिश अधिकारों को पकड़ कर माल्टा में निर्वासित करने की योजना बना चुके थे । परंतु कमाल कुम्तन तुनिया के एक निज्जन स्थान में छिपा हुआ, तुर्की के नव निर्माण की रूप रेखा तयार कर रहा था । उसे कमाल जन्म से तुर्क नहीं था । १९०८ में वह तुर्की सेना में सम्मिलित हुआ था और तब से उसने तुर्की के प्रत्येक युद्ध में भाग लिया था । मिनिको में, वह अपने पराक्रम तथा न्याय के लिये अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था परंतु राजनीतिज्ञ उस अनिश्वास तथा दुगा का दृष्टि से देखने थे । अतः युद्ध शब्द के समय मुस्तफा कमाल विलुप्त प्रकृत रह गया । फिर भी, किसी तरह से उस उत्तरी अनातोलिया में निशस्त्री करण की दखल देख के लिये भेजा गया । मुस्तफा कमाल ने अनातोलिया के मिनिका और नागरिकों का निशस्त्र करने की



चित्र—मुस्तफा कमाल

प्रणाली शस्त्र धारण करने का आवाहान किया । अपने घोषणा को कि जब तक न्याय अपना स्वामीनता का प्राप्ति नहीं कर लेगा तब तक वह शस्त्र नहीं रखेगा ।

कमाल की घोषणा एक वक्तावस दिखाई पड़ती थी । क्योंकि सुल्तान और

१—ग्यान हार्डी—अंतराष्ट्रीय राजनीति का सक्षित इतिहास ।



सरकार उनके विरुद्ध थी और मित्रराष्ट्रा को भा उससे कोई सहानुभूति नहीं थी। परन्तु जब मई १९१६ में मित्रराष्ट्रा के आशीर्वाद के साथ यूनानी नाविका न स्मर्ना में प्रवेश किया तो तुर्क जनता कमाल के पक्ष में होती गई। इसी समय मुस्तफा क्माल ने तुर्की जनता के प्रतिनिधियों का आमंत्रित किया और उन्होंने मुस्तफा क्माल को अपना अध्यक्ष चुन लिया। सितम्बर में दूसरा अधिवेशन हुआ और एक राष्ट्रीय घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें आधुनिक तुर्की राज्य की रूप रेखा का उल्लेख किया गया। इसमें अरब भाषा भाषी प्रदेशों की प्रभुता का दावा छोड़ दिया गया परन्तु इन समस्त प्रदेशों पर, जो तर्क राष्ट्रीयता से सम्बन्धित थे, दावा किया गया।

ऐसे समय में मित्र राष्ट्रों ने सेब्रे की संधि करके एक भयंकर भूल का। संधि की चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ पर केवल इतना कहना काफी होगा कि सन्धे की संधि ने तुर्की साम्राज्य के आकार को बिल्कुल कम कर दिया था और एक स्वाभिमानो राष्ट्र इसे कदापि सहन नहीं कर सकता था। संधि ने तुर्की को एक एशियाई देश बना दिया और तुर्की के प्रांतों को विजिता प्राप्त किसी न किसी बचाने से हटप लिया। मुस्तफा क्माल ने सेब्रे की संधि को अस्वीकार कर दिया।

जून १९२० में यूनान ने सेब्रे की संधि द्वारा प्रदत्त तुर्की प्रांतों को अपने अधिकार में लेने के लिये सेनाएं भेज दी। मित्रराष्ट्रों ने यूनान का सहयोग देकर भाग भूल की। मित्रराष्ट्रों का उद्देश्य यूनानी आक्रमण से मुस्तफा क्माल व राष्ट्रवादियों का भयभीत करना था ताकि वे सन्धे की संधि का स्वीकार कर लें। शुरू में यूनानियों का काफी सफलता मिली और उन्होंने अपना म स्मर्ना तथा उस्हाक तक अधिकार कर लिया और राष्ट्रवादियों का भार भगाया। परन्तु नवम्बर १९२० में यूनान के प्रधान मंत्री वनीजिलीस का त्याग पत्र देना पड़ा और सम्राट कानस्टाइन पुन यूनान लौट आया। वनीजिलीस के कारण ही मित्रराष्ट्र यूनान के साथ थे। अब वे तटस्थ हो गये। १९२२ में स्थिति बदल गई। अगस्त १९२२ में मुस्तफा क्माल ने यूनानियों पर भयंकर आक्रमण किया और उन्हें तुर्क प्रांतों से खदेड़ना शुरू कर दिया। यूनानियों की भयंकर पराजय ने ससार का तुर्की राष्ट्रीयता का परिचय दे दिया। श्रेष्ठ तब यूनान प्रांतों मुस्तफा क्माल व सागने एक नई समस्या आ गई। श्रेष्ठ ब्रिटिश सना के सरक्षण में था और मुस्तफा उस पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु भाग्यवश इस समस्या का शीघ्र ही समाधान हो गया और ब्रिटेन ने पूर्वी यूनान पर मुस्तफा क्माल को अधिकार करने की स्वीकृति दे दी। इससे राष्ट्रवादियों उनके घोषणा पत्र या करार द्वारा निर्धारित तुर्की राज्य का सम्पूर्ण भाग प्राप्त हो गया। ब्रिटेन के साथ मुलह करके मुस्तफा क्माल ने मावी शांति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

तुर्की के साथ नई संधि करना आवश्यक हो गया था। परन्तु एक कठिनाई थी। तुर्की में इस समय एक प्रकार से नो सरकार थी—एक कुस्तुननुनिया में स्थित मुलान का

सरकार और दूसरी सरकारों में स्थित मुस्तफा कमाल की सरकार। मित्रराष्ट्रों ने वैधानिक सरकार को अपना प्रतिनिधिमंडल भेजने को लिखा। तुर्की के अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, प्रमेरिका इटली, रूमानिया, यूगोस्लाविया, रूस, जापान और ग्रीस को भी निमंत्रित किया गया। लासेन की संधि वार्ता का केन्द्र चुना गया और नवम्बर १९२२ में सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। संधि सम्मेलन के कुछ दिनांक पूर्व नाटकीय ढंग से तुर्की के मुलान को अपदस्थ कर दिया गया और तुर्की के सर्वोच्च अधिकार मुस्तफा कमाल के हाथ में आ गये। हालांकि वैधानिक दृष्टि से अक्टूबर १९२३ में ही तुर्की का गणराज्य घोषित किया जा सका था। मुस्तफा कमाल ने अपने विश्वस्त साथी इजमत पाशा को तुर्की का प्रतिनिधि बनाकर लासेन सम्मेलन में भेजा। इजमत पाशा ऐसी किसी संधि पर जिससे तुर्की की आर्थिक अथवा कानूनन स्वतंत्रता पर आघात होना हो, हस्ताक्षर करने को तयार नहीं था। अंत फरवरी १९२३ में सम्मेलन बिना किसी नियम पर पहुँचे ही समाप्त कर दिया गया। परन्तु अप्रैल में पुन अधिवेशन हुआ जुलाई १९२३ में लासेन की संधि पर हस्ताक्षर कर दिये गये।

लासेन की संधि की प्रमुख बातें इस प्रकार थी (१) तुर्की को ऐड्रियानोपल नगर सहित पूर्वी थ्रेस का अधिकार दिया गया। (२) कुस्तुनतुनिया का तुर्की का भाग स्वीकार कर लिया गया। (३) ग्रेस सीमा तक्षेत्र और जलडमरूमध्य क्षेत्र का अर्ध-योद्धा कर दिया गया और जलडमरूमध्य की सीमा के समस्त देशों के लिये तथा युद्धकाल में यदि तुर्की तटस्थ हो तो भी सभी देशों के लिये, परन्तु यदि तुर्की युद्धरत हो तो शत्रु देशों के अतिरिक्त सभी देशों के जहाजों के लिये खोल दिया गया। (४) नेत्रे की संधि द्वारा घोषित युद्ध का समस्त हर्जा राह कर दिया गया। सभी मध्यम एवं पत्रो (Capitulations) का समाप्त कर दिया गया। तुर्की ने इसके प्रत्युत्तर में कानून सम्बन्धी सुधारों को कार्यान्वित करने तथा राष्ट्रीय अर्थसंस्थाओं की व्यवस्था करने का वचन दिया। (५) तुर्की पर विदेशी नियंत्रण समाप्त कर दिया गया। (६) तुर्की की जल, धातु और नमक पर आरोपित प्रतिबंधों को हटा लिया गया। (७) इम्बरोस, टेनेडोस और रॉडोस द्वीपों पर तुर्की के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। (८) तुर्की ने सीबिया, सूडान, मिस्र, इराक, सीरिया और फिनिसतीन पर अपने सभी दावा को समाप्त कर दिया और साइप्रस पर ब्रिटेन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त ग्रीस और तुर्की में एक पृथक समझौता हुआ जिसके अनुसार तुर्की ने दस लाख ग्रीकों को नागरिकता का गौरव भेजने तथा ग्रीस ने चार लाख तुर्कों को तुर्की भेजने का निश्चय किया।

आगामी तेरह वर्षों तक, लासेन संधि, अपने मूल रूप में कायम रही और हस्ताक्षरकर्ता देश इसका पालन करते रहे। १९३६ में इसमें कुछ संशोधन किये गये परन्तु ये संशोधन भी संबंधित देशों की सर्वमान्य इच्छानुसार ही किये गये थे। मेथोन हाई ने लिखा है कि "इस संधि ने युद्ध के बाद वाली अथ किसी संधि की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि की गुरुआन की। यह सदी नहीं गई थी, बल्कि वातचीत सत्य हुई था और

मी तथ्य से इसकी स्थायित्व की सम्भावनाओं की आशा थी । वास्तव में लामन सवि  
का सफलता के लिये कई तत्त्व उत्तरदायी थे । प्रथम तब यह था कि यह संधि युद्ध समाप्त  
के पाँच वर्षों के बाद की गई थी—अर्थात् ऐसे समय में की गई था जबकि युद्धनाश  
प्रतिशोधार्थक एवं घृणापूर्ण वातावरण का अन्त हो चुका था । दूसरा बात यह थी कि  
यह संधि अन्य संधियों की भाँति आरंभित नहीं की गई थी अपितु लम्बी वार्ता के परि  
णाम थी । तीसरी बात यह कि यह संधि एक तटस्थ और शांत स्थान पर की गई थी ।  
इन सब बातों के संयोग से लामन संधि एक सफल संधि बन गई ।

फिर भी, हमारे सामने एक प्रश्न उठ खड़ा होना है । मित्रराष्ट्रों ने अपने आप  
आरंभित संधि की माँघ का अतिश्रम सहन करके उसके स्थान पर एक नूतन संधि  
स्वीकार क्यों की ? इसका मूल कारण यह हो सकता है कि मित्रराष्ट्र प्रथम महायुद्ध के  
परिश्रम के कारण काफी थक चुके थे और उनके सैनिकों में भी अब वापस अपने घर  
घरों को लौटने की इच्छा प्रबल हो उठी थी । फिर इस समय यूनान के प्रपात तथा  
बेनीजिलाम अपने पद से अलग हो चुके थे और सम्राट वान्सटाइन को मित्रराष्ट्रों का  
सहाय प्राप्त नहीं था । फ्रांस का तो उससे बहुत दूर हो चुका था । अतः मित्रराष्ट्रों में भाषाणा  
विराध उत्पन्न हो गया था । फ्रांस ने तुर्की के साथ गुप्त समझौता कर लिया था और  
इटली अपनी साम्राज्यवादी नीति की नद आधारांगला रखने में लगा हुआ था । अतः  
साम्यवाद की उलहर तुर्की की तरफ बढ़ती चली आ रही थी और इस बात का आशय  
था कि कहीं तुर्की इस लहर में डूब न जाय । फिर इंग्लैंड और फ्रांस की जिमा प्रकार  
का दक्षिण सहन नहीं करनी पड़ रही थी । इन सब परिस्थितियों के कारण मित्रराष्ट्रों ने  
तुर्की के साथ नवान संधि करने का निश्चय किया था ।

मुस्तफा कمال ने मृतत्व में, तुर्की ने न केवल अपने लार्थे सम्मान को ही प्राप्त  
किया परन्तु अपना आधुनिक रूप भी प्राप्त किया । १ नवम्बर १९२२ का राजनयिक  
अन्त कर दिया गया । २६ अक्टूबर १९२३ को तुर्की का गण  
तुर्की का आधुनिकी राज्य घोषित किया गया और मुस्तफा कمال का प्रथम राष्ट्रपति  
निर्वाचित किया गया । ३ मार्च १९२४ को खलीफा के पद का  
समाप्त कर दिया गया और २० अप्रैल को एक नया मजलिस

लागू किया गया । धार्मिक कानूनों तथा आदेशों का रद्द कर दिया गया और धार्मिक  
मठों का समाप्त कर दिया गया । पदा प्रथा का अन्त हुआ और बहुविवाह का रोक लगा  
गया । १९२६ में यूरोपियन तिथिक्रम को लागू किया गया तथा शुक्रवार के स्थान पर  
रविवार को छुट्टी का दिन घोषित किया गया । राजनीति के क्षेत्र में राजधानी का  
परिवर्तन किया गया (कुस्तुनतुनिया से अकारा) । नागरिक व्यवस्था का संगठित किया गया  
और दीवानों तथा फौजदारी निकायों का आधुनिकीकरण किया गया । स्त्रियों को नागरिक  
तथा राजनीतिक अधिकार दिये गये । नावजनिक प्रशासन को संगठित किया गया तथा  
प्रति शिक्षा बढ़ी तत्वों का दमन किया गया । शिक्षा की तरफ विशेष ध्यान दिया गया

श्रीर प्रीट योगा को शिक्षा का समुचित प्रवचन किया गया। विज्ञान तथा औद्योगिक शिक्षा पर विशेष ज़ोर दिया गया। आर्थिक क्षेत्र में भी महत्पूर्ण सुधार किये गये। पुराने क़ानून का स्थान पर नये क़ानून लगाये गये। उद्योग धंधा को विकसित किया गया। यातायात के साधनों का सुधार किया गया तथा नवीन मड़का का निर्माण किया गया। भारतीय क़ानून की स्थापना को गई तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित किया गया। इन सब सुधारों के कारण तुर्की बहुत शीघ्र एक उन्नत देश बन गया।

इस प्रकार कमाल के नेतृत्व में साम्राज्य की मज्दूरी और एक राष्ट्र का उद्भव हुआ। तुर्की ग़ैरराज्य ने अपने पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार के द्वारा अपनी स्थिति को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया। क्योंकि तुर्की में यह भावना अतर्कनीय क्षेत्र प्रचलित थी कि यदि तुर्की को उन्नत बनाना है तो शांति की मै तुर्की स्थापना अनिवार्य है। यही कारण है कि तुर्की का उद्देश्य न तो किसी देश की भूमि का हड़पना और न अपने देश की भूमि पर किसी का अधिकार करने देना बन गया। सबप्रथम, तुर्की ने अपने शक्तिशाली पड़ोसी रूस के साथ मित्रता की। रूस भी तुर्की की भांति यूरॉपियन शक्तियों से नाराज़ था। इन दोनों में शीघ्र ही संधि हो गई। इस संधि का सूत्रपात १९२१ की मास्को संधि से हुआ था और १९२५ की मंत्रीग़ार संधि से दोनों देशों के सम्बंध और अधिक मजबूत हो गये। द्वितीय महायुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व तक दोनों देशों की मित्रता बनी रही परन्तु द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात से कुछ तनाव पैदा हो गया हालांकि पूर्ण और स्पष्ट रूप से परस्पर संधि की नींवत कभी नहीं आई।

१९१० में तुर्की ने शताब्दियों प्राचीन यूनानी शत्रुता का घन करत हुए यूनान के साथ मित्रता स्थापित की। १९३४ में यूनान और तुर्की ने रूमानिया तथा यूगोस्लाविया के साथ मिलकर आत्मरक्षण संधि का निर्माण किया और मदरस देशों की प्रादेशिक अल्पजनाओं की प्रजाभूति दी। १९३७ में तुर्की ने अफ़ग़ानिस्तान, इरान, ईराक़ के साथ निरपेक्ष पूर्वी करार (Near Eastern Pact) पर हस्ताक्षर किये। इस करार का उद्देश्य अन्तरिम तथा मदरस देशों के घससू मामलों में हस्तक्षेप न करना और आपसी विचारणा का गानि पूर्ण ढंग से हल करना था। १९२८ में तुर्की ने इटली के साथ भी मित्रता की संधि का पर तुर्कानो देशों के बीच तनाव बना रहा।

१९३२ में, यथास्थिति को बनाये रखने तथा सामूहिक सुरक्षा का दृढ़ करने की दृष्टि से तुर्की ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण की। राष्ट्र संधि की मदरसता की प्राप्ति में तुर्की का सम्मान बढ़ गया। १९३६ में मॉन्ट्रियल (Montreal) सम्मेलन में तुर्की का अल्पसंख्यक प्रवेश द्वार की विलेखन करने का अधिकार मिल गया। इसमें तुर्की के सुरक्षा अधिक दृढ़ हो गई। १९३६—३८ में जब एंग्लो-फ़्रांसीसी आक्रमणकारी बाल्कन प्रायद्वीप पर अधिकार करने लगे तो तुर्की ने फ़्रांस और इंग्लैंड के साथ धन का दाना का और अधिक दृढ़ करने का निश्चय किया। इससे पूर्व उनके साथ उमर

सम्बन्ध अधिग्रह नहीं थे। मौमुल विवाद को लेकर इंग्लैंड व साथ उसका मित्र हो गया था और अर्लैण्ड स्ट्रेट्स प्रांत को, जो फ्रेंच मरिशस सीरिया में स्थित था व क साथ उसका तनाव बना हुआ था जुलाई १९१६ में तुर्की और फ्रांस में एक सन्धि आता हो गया जिसके अनुसार उपरांत प्रांत तुर्की को प्राप्त हो गया। अक्टूबर १९१६ में तुर्की ने इंग्लैंड और फ्रांस व साथ मघि करती जिसके अनुसार बाकन प्रायद्वीप व तुर्की न इटालियन या जर्मन आक्रमण का निरास करने का वचन दिया और इंग्लैंड तथा फ्रांस ने तुर्की पर किये जान वाले आक्रमण का सामना करने का वचन दिया। तुर्की ने रूसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता देने में अस्वीकार कर दिया था।

द्वितीय महायुद्ध के समय में तुर्की ने तटस्थ रहने का निणय किया और फ्रांस व उसने २० लाख सैनिकों की एक सत्तिचाली सेना को तैयार किया परन्तु युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ। १९४० में फ्रांस के पतन से जर्मनी तटस्थता और भी अधिक स्पष्ट हो गई और उसने जर्मनी तथा मित्र राष्ट्रों दोनों ही व साथ समान व्यवहार वाली नीति का पालन किया। परवरी १९४४ में तुर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। परन्तु इस घोषणा का अभिप्राय सेनसिद्धि सम्मेलन में, जिसमें संयुक्त राष्ट्र सत्र का रूप देखा तैयार की जाने वाली थी, सम्मिलित होने की योग्यता प्राप्त करना था।

इस बीच में, तुर्की और रूस के सम्बन्ध बिगड़ते गये। मास्का तुर्की की तटस्थ नीति के कारण चौकला उठा था और जून १९२५ में तुर्की के साथ किया गये अनाबमक करार का रद्द कर दिया तथा तुर्की के सामन आक्रामक मागे प्रस्तुत की। १९४५ में रूस द्वारा प्रस्तुत मागा में बाल्कन सागर के कुछ तटीय क्षेत्र और बाल्कन प्रांत सम्मिलित थे जिन पर तुर्की का अधिकार था। अग १९४५ में जलडमरूमध्य प्रणाली का रूप द्वारा सैनिक चौकिया स्थापित करने का अधिकार भी सम्मिलित था। तुर्की ने इन मागा का ठुकरा दिया और १९४६ तथा १९४७ में रूस ने तुर्की के विरुद्ध ग्वनिदात्मक प्रचार किया इसी समय पर ट्रूमैन सिद्धांत के अन्तर्गत अमेरिका न तुर्की का आर्थिक मदद देने शुरू कर दी जिसके परिणामस्वरूप रूसी मागा के प्रति तुर्की रुख अत्यधिक कड़ा हुआ गया। १९४० में तुर्की न स्पष्ट रूप से रूसी मागा का अस्वीकार कर लिया और कोरिया युद्ध के समय उसने संयुक्त राष्ट्र सत्र का साम्यवादी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए ४५०० सैनिकों की सहायता दी। १९४२ में तुर्की उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (Nato) में सम्मिलित हो गया और १९४५ में बगदाद संधि का सन्देश बन गया। इसी शक्ति के कारण बगदाद संधि नष्ट हो गई और १९४६ में एक नवन गठन "सेन्टा (Conto) का निर्माण किया गया जिसका मुख्य कार्यालय तुर्की की राजधानी अंगारा में रखा गया। इस प्रकार, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तुर्की धीरे धीरे पश्चिम की तरफ झुकता गया और प्रायः मध्यपूर्व में वह पश्चिम का एक प्रबल पक्ष है।

## (२) इजरायल

फिलिस्तीन की भूमि पर स्थित इजरायल राज्य की स्थापना बीसवीं सदी की एक आवश्यक जनक महत्वपूर्ण घटना है। इजरायल यहूदियों का राज्य है। उनका राष्ट्रीय घर है। ऐतिहासिक दृष्टि से पिछले दो हजार वर्षों से फिलिस्तीन का एक विशेष एवं प्राकट्यक स्थान रहा। विश्व के तीन प्रमुख धर्मों यहूदी, ईसाई और इस्लाम तिहासिक भूमिका का उद्गम स्थान होने का श्रेय फिलिस्तीन को प्राप्त है। इसका इतिहास हजारत मूसा से गुरु होता है जिन्होंने अपने अनुयायियों का मिथी अत्याचारों से दूर, फिलिस्तीन की पवित्र भूमि पर बसने की प्रेरणा दी थी। १५ ई० पू० में फिलिस्तीन पर रोमन लोगों का अधिकार हो गया और ६३४ ई० तक फिलिस्तीन रोमन साम्राज्य का अंग बना रहा। इसके बाद प्रथम महायुद्ध तक यह देश तुर्की साम्राज्य का प्रांत बना रहा।

फ्रेंच क्रांति ने जिस राष्ट्रवादी भावना का जन्म दिया, उसका प्रभाव यहूदियों पर भी पड़ा। इस समय यहूदियों का कोई राज्य नहीं था। परंतु उनमें आपसी सहयोग भी रहा था। यूरोप के सभी राज्यों ने समय-समय पर उन पर अमानवीय अत्याचार किये थे। इन अत्याचारों से परेशान होकर उनमें आपसी सहयोग की भावना का विकास हुआ और १८६७ में बियाडार हेर्त्सल (Heizl) के नेतृत्व में एक जायनवादी कांग्रेस (Zionist Congress) की स्थापना की गई और बासल (Basel) नामक स्थान पर इस कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बुलाया गया। जायनवाद (Zionism) का नाम बाइबल में वर्णित जायन पहाड़ी के नाम पर रखा गया। ऐसा अनुमान है कि ज़कमलम का यह पहाड़ी एक समय यहूदियों के प्रसिद्ध राजा दाऊद का राजकीय निवास स्थान था। जायनवादी कांग्रेस का अभिप्राय इस पहाड़ी तथा पहाड़ी वाले देश को पुनः प्राप्त करना था ताकि यहूदियों का अथवा देश का अत्याचार सहन न करना पड़े। इसी को यहूदीवाद या जिद्योनिज़्म कहा जाता है। इस आन्दोलन ने यहूदियों को फिलिस्तीन में बसने की प्रेरणा दी और प्रथम महायुद्ध तक लगभग एक लाख यहूदी फिलिस्तीन में बस गए।

प्रथम महायुद्ध के समय तुर्की ने ज़मनी का साथ दिया था। ब्रिटन ने तुर्की के विरुद्ध अरबों का सहयोग प्राप्त करने के लिये युद्ध समाप्ति के बाद तुर्की साम्राज्य के शेष भागों को प्राप्ति का स्वतंत्रता देने का प्रस्ताव दिया और अरबों ने तुर्की से सहारा दिया। १९१५-१६ में ब्रिटन के सामने एक कठिनाई आ खड़ी हुई। विस्फोटक पदार्थों के काम में जानेवाली मद्यसार (alcohol) का अभाव पड़ गया और इसके अभाव में माधुनिक सेना की शक्ति कमजोर पड़ गई। ब्रिटन को इस कठिनाई का यहूदी रसायन शास्त्रज्ञ डा० वीजमान (Dr. Weizmann) ने दूर कर दी और उसने लकड़ी के मद्यसार निकालने का नुस्खा ढूँढ़ निकाला। ब्रिटिश सरकार ने डा० वीजमान का इस प्रकार का जिहास प्रकट की और वीजमान ने अपने सजातियों का सेवा को ही

अपनी सेवा बतलाया। अर्थात् फिलस्तीन में यहूदियों का राज्य स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की। वैसे ब्रिटिश सरकार धुरुस ही इस सबब में सोच रही थी और अपने यूरोप प्रदेग यहूदियों का सोपने का निश्चय भी कर रखा था परन्तु डा० बीबमान ने यूरोप प्रदेग को उपयुक्त नहीं समझा। ब्रिटिश प्रधान मंत्री लामड जार्ज न, वाजमान की बात का स्वीकार कर लिया और २ नवम्बर १९१७ को ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड जर्मेन बालफोर ने फिलस्तीन में यहूदियों का 'राष्ट्रीय निवास' (National) देने की घोषणा की। ब्रिटेन की इस नीति के पाछे अमेरिका का महापुरुष मेडिसन पक्ष में घसीटना भी था क्योंकि लाखा यहूदी अमेरिका के नागरिक तथा मतदाता हैं। एक अन्य ध्येय यहूदियों से आर्थिक सहायता प्राप्त करना भी था। कुछ समर्थक का फिलस्तीन एक अधिदेश (Mandate) के रूप में इंग्लैण्ड को प्रदान किया गया।

१९१६ के उपरान्त, फिलस्तीन की समस्या का उत्प्रेक्ष करने व पूर्व इस समस्या की पृष्ठभूमि में निहित महत्वपूर्व सघपकारी तत्वों का उत्प्रेक्ष करना उपयुक्त रहा। क्योंकि इन तत्वों के कारण ही फिलस्तीन की समस्या उत्पन्न हुई।

**कलहकारी तत्व** उत्पन्नकारी रूप धारण मध्यपूर्व का यह छोटासा राज्य परस्पर विरोधी राष्ट्रीयताया—अरब राष्ट्रवाद और राजनीतिक जायनवाद जिनका उद्भव एक ही समय और एक ही क्षेत्र को लेकर हुआ था—का कलहकारी के द्र बना हुआ है। दूसरा प्रमुख तत्व जिन का स्थापना था। मध्यपूर्व में इंग्लैण्ड के विरोध स्वायत्त थे। स्वेज नहर के द्वारा ब्रिटिश गवियार साम्राज्य की सुरक्षा का बवाल था क्योंकि मिश्र में राष्ट्रवादी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और सिरिया फॉच नियन्त्रण में था। अतः ब्रिटेन फिलस्तीन को अपने अधिकार में रखना चाहता था। तीसरी बात यह थी कि इनके पोछे तीन मनुष्यों की थी। यहूदी मुसलमान और ईसाई—इन तीनों धर्मों के अनुयायी यहाँ पर बसे हुए थे और तीनों के पवित्र स्थान फिलस्तीन में थे। चौथी बात यह थी अमेरिका में बसे १० लाख यहूदी मतदाता अमेरिकन राष्ट्रपति के निवाचन का काफी प्रभावित कर सकते थे अतः अमेरिका भी यहूदियों का समर्थक बन गया। इसी प्रकार जिन को अपने उपनिवेशों में बसे मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये अरबों को सन्तुष्ट करना भी आवश्यक था। सच्ची बात तो यह थी कि इस सम्बन्ध में ब्रिटिश नीति अस्थिर थी—एक तरफ उसे अपने स्वार्थों का चिन्ता था, दूसरी तरफ उसे यहूदियों से सहानुभूति थी और तीसरी तरफ वह अरबों की भावना को भी ठेस नहीं पहुँचाना चाहता था। १९२३ के बीच जर्मनी, रूसिया और पोलैण्ड में यहूदियों पर जो अत्याचार किये गये, उन्हें देखते हुए फिलस्तीन में यहूदियों को बसने में राहना अमानवीय बराम हो सकता था। हिस्तर यहूदियों ने प्रति नीति दुहरी थी—प्रथम, उनकी सम्पत्ति को हड़पना तथा यह प्रमाणित करना कि वह कठोर नियन्त्रण रख सकता है और दूसरी मध्यपूर्व में यहूदियों और अरबों के भावना भंगना खडा करने ब्रिटेन के लिये नई ब्रिटाइनों उत्पन्न करना ताकि

जमनी के प्रति अपना पूर्ण अधिकार का प्रयोग न कर सके। अतः म, फिलिस्तीन का एक विशेष आर्थिक महत्व था। इराक और अरबिया का तेल फिलिस्तीन के रास्ते से एक बहुत बड़ी पाइप लाइन के द्वारा बह रहा है। तब पड़ना जाता था। पाइप लाइन के कारण फिलिस्तीन की समस्या और भी अधिक जटिल हो गई।

बालफोर घोषणा (१९१७) ने फिलिस्तीन में, यहूदियों के लिये "एक राष्ट्रीय निवास" की स्थापना का आश्वासन दिया था। १९२२ में राष्ट्रमन्त्र ने फिलिस्तीन पर ब्रिटिश आधिपत्य की स्वीकृति प्रदान कर दी। इससे अरबों का अरबों और यहूदियों ने भगड़े फिलिस्तीन में यहूदियों का राष्ट्रीय घर स्थापित करने का मनसूबा ऐसा कोई कदम नहीं उठायेगी जिससे अरबों की जनता के नागरिक तथा धार्मिक अधिकारों की किसी प्रकार की ठेस लगे। अरबों की समस्या में नहीं आ रहा था कि बालफोर घोषणा अपनी दो परस्पर विरोधी प्रतिज्ञाओं को कैसे पूरा करेगी। स्वयं बालफोर ने इस विरोधाभास का स्वीकार करते हुए कहा था कि—'मरी समस्या में यह कभी नहीं आया कि घोषणा तथा प्रतिज्ञा (Covenant) में समन्वय कैसे लाया जा सकता है। हम यहूदी राज्य की स्थापना के लिये वचन दते हैं, चाहे यह गलत हो या ठीक, चाहे इसका अन्तिम अर्थ हा या बुरा।' अर्थात् ब्रिटिश सरकार ने यहूदी राज्य की स्थापना के पक्ष में था। अमेरिका व राष्ट्रपति विल्सन भी इस बात पर ब्रिटिश के साथ थे।

इस प्रकार की परिस्थिति में संसार के भिन्न भिन्न भागों में हजारों यहूदी फिलिस्तीन में बसने लगे। अमेरिका के प्रेसिडेंट यहूदियों ने उन्हें आर्थिक सहायता दी जिससे अरबों यहूदियों ने निघन अरबों से भूमि खरीदना शुरू कर दिया। फिलिस्तीन के यहूदों ने बाग़ सगठित थे और उन्होंने अपनी भूमि पर अरबों का काम पर लगाया बंद कर दिया। अरबों के बीच भी इसी नीति का सहारा लिया गया। परिणाम यह निकला कि अरबों की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी और वे फिलिस्तीन छोड़कर पड़ोसी देशों में बसने लगे और यहूदों उनका स्थान लेने लगे। इससे अरबों की चिन्ता और अधिक बढ़ गई और उन्होंने विद्रोह कर दिया। १९२६ में यहूदी विद्रोही कार्यवाही में बहुत से यहूदियों का बलि कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने किसी तरह में विद्रोह का दमन किया और अशांति तथा उपद्रव का सारा बोझ अरबों लागा पर लादा। परन्तु राष्ट्रमन्त्र के आदेश पर कोई भी इसका उत्तरदायित्व अरबों तथा ब्रिटिश सरकार—दोनों पर डाला और ब्रिटिश को अविवेक में अधिक सावधानी रखने का आदेश दिया गया।

परन्तु यह तो गुरुमात्र मात्र थी। १९३० में अरबों की माँग पर यहूदी विस्थापितों के नियंत्रण व सम्बन्ध में शांतिपूर्ण नीति की निर्णय की गई जिससे यहूदी विस्थापितों के नियंत्रण का मुकाबला किया। परन्तु डॉ॰ बीजमान ने इस निर्णय का मुकाबला किया और ब्रिटिश सरकार ने भी इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। १९३० में यहूदी विस्थापितों की समस्या और भी अधिक बढ़ गई।



इसी समय एक नवीन समस्या का लेकर अरबों और यहूदियों में भगडा उठ गया हुआ। इसका सूत्रगत एक प्राचीन दीवार (wailing wall) से गुरु हुआ। दादा पक्ष इसे अपनी अपनी पवित्र धाती मानते थे। यहूदियों का कहना था कि यह प्राचीन दीवार उनके मंदिर का अंतिम अवशिष्ट चिह्न थी और अरबों का कथन था कि यह बुराव पशु, जिस पर चढ़ कर हजारत मुहम्मद बहिस्त गये थे—का अस्तित्व पाश्चिमें शिला का शुभवद तथा घावमा की मसजिद भी है। दीर्घकाल से यहूनी इस दावार को पूजा करते चले आ रहे थे परन्तु तब शासन तक उन्होंने कभी दावा नहीं किया था। वम स्वयं दीवार और उसके नीचे का चक्करा मुसलमानों की सम्पत्ति थी। भग्न का कारण यह था कि जिस दिन यहूदियों की पूजा का दिन या उमा दिन हजारत मुहम्मद का जन्म जिस भी आ पड़ा। अतः दोनों पक्षों की भीड़ में कुछ कहा—सुनी हो गई और बढ़ने बढ़ते दंगों की मोहत आ पहुँची। इसमें १३३ यहूदों और ११६ अरब मारे गए और हजारों घायल हुए। ब्रिटिश सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया। उधर राष्ट्र सभा परिषद् ने भी एक सदस्य आयाग नियुक्त किया तथा ब्रिटिश सरकार ने सर जान हार्ड सम्पत्ति को यहूदी अन्तः प्रवास (Immigration) और भूमि बंदोबस्त की समस्या पर प्रतिवेदन देने के लिये भेजा।

ब्रिटेन की इस नीति का कारण विश्व जायनवादी सगठन के साथ उसका मतभेद था। इसी मतभेद या विवाद के कारण २००० यहूदियों को दिये गये पासपोर्ट रद्द कर दिए गए थे। अक्टूबर १९३० में सम्पत्ति रिपोर्ट के साथ ही साथ ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया जा यहूदियों के विनाश में था। यहूदी क्षेत्रों में इतको धोर दिना की गई और इसे बालफोर घोषणा तथा भूतपूर्व प्रतिज्ञाओं से हटाना माना गया। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री रम्से मैकडोनाल्ड ने इस अशान्त वातावरण को दूर करने का प्रयत्न किया और उन्होंने डॉ॰ बीजमान को आश्वासन पूर्ण पत्र भी लिखा। इससे यहूनी तो गाँत हो गये परन्तु अरबों में विद्रोह की ज्वाला सुलगने लग गई।

१९३५ के अंत में अरब नेताओं ने अपनी मांगों की एक सूची ब्रिटिश सरकार के सामने रखी। उनकी कुछ मांगें इस प्रकार थी—प्रजातांत्रिक सरकार का स्थापना, यहूदियों की भूमि बेचने का निषेध आदि किसानों को कज के कारण भूमि से बेदखल न करने के सम्बन्ध में एक कानून का निर्माण तथा यहूनी विस्थापितों को फिलस्तीन में आने से रोकना तथा इस बात का सख्ती के साथ पालन किया जाना। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने अरब मांगों को ठुकरा दिया। इसका परिणाम बहुत बुरा हुआ और १९३६ में अरबों और यहूदियों में अनक दंगे हुए तथा सैकड़ों लोग मार डाले गये। इस पर ब्रिटिश सरकार ने लाड पील की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्त की। जुलाई १९३७ में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा कि अरबों और यहूदियों के द्वितीय अभिलाषाएँ, एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि उनमें समझौता होना असम्भव है। अतः फिलस्तीन में गाँत और व्यवस्था की स्थापना के लिये तथा ब्रिटेन द्वारा दावा पत्रों का

दो गई प्रतिज्ञाओं को पूर्ति के लिये, फिलस्तीन का अरब राज्य तथा यहूी राज्य में विभाजन कर दिया जाय। इस योजना ने सभी पक्षों को क्रोधित कर दिया। यहूियों ने एक बार पुन विश्वासघात का आरोप लगाया। अरबों ने दावा किया कि “समृद्धि शाली क्षेत्र यहूदिया को दिया जा रहा है, धार्मिक ब्रिटन को (योजना में जेरुसलेम, बायलहेम गाँव धार्मिक नगरों का ब्रिटिश प्रशासन में रखने की व्यवस्था थी) और सबसे बजर क्षेत्र अरबों को दिया जा रहा है।” इसी समय, इटली अरबों की उकसा रहा था जिसके फलस्वरूप कई दमेशुर और बहुत कठिनाता से शांति स्थापित की जा सकी। इस समय तक (१९३७) फिलस्तीन में लगभग ४ लाख यहूदी बस चुके थे।

ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन की समस्या राष्ट्र सभ को सौंप दी जिसने १९३८ में सर जॉन बुडहेड के नेतृत्व में एक आयोग स्थापित किया। बुडहेड आयोग ने फिलस्तीन विभाजन योजना को अस्वीकार कर दिया क्योंकि दोनों देशों की सीमाओं को निर्धारित करना अत्यधिक कठिन काम था। अतः ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन की शांति को बनाय रखने के लिये गर-फिलस्तीन अरब नेताओं, फिलस्तीन अरब नेताओं तथा यहूी नेताओं का एक सम्मेलन फरवरी १९३९ में, लन्दन में बुलाया। सम्मेलन में अरबों ने यहूदियों के साथ बैठना अस्वीकार कर दिया। अतः प्रधान मंत्री चेम्बरलेन का दोनों प्रतिनिधियों से अलग अलग वार्तालाप करना पड़ी। अरबों ने फिलस्तीन में एक स्वतंत्र अरब राज्य की स्थापना की मांग की और यहूदियों ने अरब राज्य की। दोनों पक्षों में किसी प्रकार का समझौता न हो सका और इसी अवसर पर द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया। अतः फिलस्तीन का मामला खटाई में पड़ गया।

द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका में स्थित यहूदियों ने अपने आन्दोलन को जारी रखा और किसी न किसी प्रकार से अमेरिकन राष्ट्रपतियां रूजवेल्ट तथा ट्रुमैन को प्रभावित करने में सफलता प्राप्त करली। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद फिलस्तीन की समस्या पुन अपना विकराल रूप धारण करके उठ खड़ी हुई। क्योंकि यहूदियों को अमेरिका का गुप्त सहयोग प्राप्त था और अरबों को नव निर्मित अरब लीग का। अतः जून २, २ अप्रैल १९४७ को फिलस्तीन की समस्या को संयुक्त राष्ट्र सभ की महासभा में प्रस्तुत कर दिया और इस बात का संकेत भी किया कि ब्रिटन यथाशीघ्र अपने दायित्व को सौंप देना पसन्द करेगा। २३ मई १९४७ को संयुक्त राष्ट्र सभ की महासभा के प्रथम अधिवेशन में फिलस्तीन की समस्या का अध्ययन करने के लिये एक विशिष्ट समिति (UNSCOP) की स्थापना की गई। समिति में ११ देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे और स्वीडन के मुख्य-यायाधीश अल्फ्रेड एमिल सेण्डस्ट्रोम का समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। अगस्त १९४७ के अन्त तक समिति ने अपना प्रति-

संयुक्त राष्ट्र संघ वेदन प्रस्तुत कर दिया। समिति का प्रतिवेदन सत्र सम्मन नं० और फिलस्तीन था। बहुमत ने फिलस्तीन के विभाजन का समर्थन किया। बिना

जा योजना इस प्रकार थी— (१) अरब राज्य (२) यहूदी राज्य और (३) जेरुसलेम शहर को अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास प्रणाली के अंतर्गत रखना। इन तीनों क्षेत्रों का एक आर्थिक संघ होना चाहिए। अल्पमत ने एक संघीय राज्य की स्थापना का सुझाव दिया जिसके अन्तर्गत अरबी तथा यहूदी राज्यों का स्वायत्त शासनाधिकार दिया जाय। प्रतिवेदन पर महासभा में गर्मा गरम बहस हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने आदिष्ट प्रथा की समप्ति पर अपनी स्वीकृति दे दी। यहूदियों ने एक स्वतंत्र यहूदी राज्य की स्थापना पर प्रमत्तता प्रकट की। परंतु अरबों ने इसका डटकर विरोध किया। अरब उन्नाव समिति के हस्तियों ने इस एक अनतिक, अनुचित तथा गर-कानूनी निर्णय बतलाया। रूस और अमेरिका ने विभाजन का समर्थन किया। २६ नवम्बर १९४७ को महासभा ने फिलस्तीन का विभाजन स्वीकार कर लिया। महासभा ने सिफारिश की कि फिलस्तीन को अरब तथा यहूदी राज्यों में विभाजित कर दिया जाय तथा जेरुसलेम का अरब राज्य में रखा जाय। दोनों राज्यों का एक चुंगी संघ हो और यातायात तथा आवागमन की सुविधाओं के लिये दोनों मिलकर काम करें तथा दाना दाना का बरेसी एक समान हो।

महासभा के इस निर्णय की यहूदी और अरब दोनों क्षेत्रों में बहुत आलोचना की गई। सौरी अरब के अमीर फजल अल सादद ने घोषणा की कि विभाजन योजना सम्बंध में महान् शक्तियाँ ने संघ के सदस्यों पर अनुचित दबाव डालकर इस पास कराया है। इसमें कुछ सच्चाई अवश्य है। क्योंकि विभाजन का निर्णय अंतिम समय पर अमेरिका के दबाव के कारण ही सम्भव हो सका था। चाह जो हो, विभाजन योजना को वा्याचित करने का भार, महासभा ने बालिविया, चेकोस्लावाकिया डेमाक पनाया तथा फिनीपीस के प्रतिनिधियों की एक समिति को सौंप दिया। परंतु फ्रान्स ने इन समितिक सदस्यों का फिलस्तीन में जान की अनुमति नहीं दी। मई १९४८ में इस समिति का भंग कर दिया गया।

इसी बीच, ११ नवम्बर १९४७ का ब्रिटेन ने घोषणा की कि १। मई १९४८ को फिलस्तीन में आदिष्ट प्रथा की समाप्ति कर दिया जायगा। इस घोषणा का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा और अरबों ने यहूदियों पर आक्रमण कर दिया। यहूदों ने अपने विरुद्ध सही तथा ठीक था। इस आपसी भय में ३००० अरब तथा २८०० यहूदी मारे गए। मुराना परिषद की सिफारिश पर १० अप्रैल १९४८ का महासभा का दूसरा विशेष अधिवेशन बुलाया गया परन्तु यह विरोध की तीव्रता के कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका।

अमेरिका द्वारा प्रभाव के कारण फिलस्तीन विभाजन का प्रस्ताव गारि हो रहा था। विभाजन योजना का वा्याचित करना कठिन था। फ्रान्स का प्रयास करना है

न नहीं था। हाँ, गाँति की स्थापना के लिये वह ऐसा कदम उठाने को तैयार था। ब्रिटेन फिलिस्तीन की समस्या के समाधान के लिये अपने नागरिकों का खून बहाने को तैयार नहीं था। मास्को और वॉशिंगटन आपसी मतभेद के कारण अपनी अपनी सेना को भेजने को तैयार नहीं थे। संयुक्त राष्ट्र संघ की तरफ से सेना भेजन पर भी यही कठि-

नाह जाती और रूस माने सैनिकों का भी सम्मिलित करने का हठ करता। यह अमेरिका को पसन्द नहीं था। इस प्रकार की विषम परिस्थिति को १४ मई १९४८ को तेल अवोष (Tel Aviv) की घापणा—“इजरायल की स्थापना की घोषणा” ने और अधिक विषम बना लिया। यहूदियों ने अपने नेता रब्बी सिलवर के नेतृत्व में इस दिन स्वतन्त्र इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा की और यहूदी सेना ने अपने प्राचीन प्रदेशों का प्रशासन भी सभाल लिया। ब्रिटेन ने तत्काल ही आर्दिष्ट प्रणाली की समाप्ति को घोषणा कर दी। दस मिनट के बाद ही अमेरिका ने इजरायल राज्य को मान्यता प्रदान कर दी। मित्रा प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में भाषण करते हुए कहा— ‘जो भी कार्यविधि इस संधि में अपनाई गई, वह तो महज मजाक बन कर रह गई। यह कार्य संयुक्त राष्ट्र सभ पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी एक घातक प्रहार है। महासभा के मन्त्रियों के साथ घाला किया गया है।’

इजरायल राज्य का स्थापना की घोषणा ने अरब राज्यों को क्षाधित कर दिया और उन्होंने चारों तरफ से इजरायल पर आक्रमण कर दिया। दुर्भाग्यवश अरबों में आपसी सहयोग की कमी थी जिसके कारण उन्हें अनेक बार पराजित होना पड़ा। फिलिस्तीन में अरबों की स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। हजारों अरब मारे गये तथा लाखों घरबार हो गये। मित्र ने किसी प्रकार यहूदियों को पराजित करके गाजा पट्टी पर अधिकार कर लिया। अरबों और यहूदियों के इस संघर्ष से महासभा बहुत अधिक विवर्तित हो गयी। २६ मई को सुरक्षा परिषद ने युद्ध विराम का आदेश दिया तथा सत्यसम्मति से आसन के बाउट बर्नडोट (Bernadotte) को मध्यस्थ नियुक्त किया गया। बर्नडोट का सहायता के लिये अमेरिकी, बेल्जियन तथा फ्रेंच प्रेक्षकों की नियुक्ति की गई। सुरक्षा परिषद द्वारा जारी गाँति का आदेश एक मास के बाद प्रभावहीन हो गया और पुन लड़ाई शुरू हो गई क्योंकि अरब लोग फिलिस्तीन में किसी कीमत पर यहूदी राज्य की स्थापना के पक्ष में नहीं थे। जुलाई में सुरक्षा परिषद ने पुन युद्ध विराम आज्ञा जारी की जिसके पक्षधर अरबों तक शांति रही। उसके बाद पुन भारी संघर्ष शुरू हो गया। इसी बीच १८ सितम्बर १९४८ का जेरुसलम में मध्यस्थ बर्नडोट की हत्या कर दी गई। इस स्थिति और अधिक विषम बन गई। परन्तु सुरक्षा परिषद ने सावधानी से काम लिया और बर्नडोट के स्थान पर उसके सहयोगी डा० राफ़ बुच को स्थानापन्न मध्यस्थ नियुक्त किया गया। परन्तु स्थिति में अधिक सुधार नहीं हो सका और १ दिसम्बर १९४८ का आदेश ने अरबों फिलिस्तीन पर अधिकार कर लिया और अपने अधिकार की

संयुक्त राष्ट्र संघ वेत्न प्रस्तुत कर दिया। समिति का प्रतिवेदन संघ सम्मत नहीं और फिलिस्तीन था। बहुमत ने फिलिस्तीन के विभाजन का समर्थन किया। विभा

जन योजना इस प्रकार थी— (१) अरब जग (२) यहूदी राज्य और (३) जेरुसलेम शहर का अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन प्रणाली के अंतर्गत रखना। इन तीनों क्षेत्रों का एक आधिक संघ होना चाहिए। अल्पमत ने एक संघीय राज्य की स्थापना का सुझाव दिया जिसके अन्तर्गत अरबी तथा यहूदी राज्यों का स्वायत्त शासनाधिकार दिया जाय। प्रतिवेदन पर महासभा में गर्मा गरम बहस हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने आदिष्ट प्रथा की समाप्ति पर अपनी स्वीकृति दे दी। यहूदियों ने एक स्वतंत्र यहूदी राज्य की स्थापना पर प्रसन्नता प्रकट की। परन्तु अरबों ने इसका डटकर विरोध किया। अरब उच्चतर समिति के हुसैनी ने इस एक अनैतिक, अनुचित तथा गैर-मानवी निर्णय बतलाया। रूस और अमेरिका ने विभाजन का समर्थन किया। २६ नवम्बर १९४७ को महासभा ने फिलिस्तीन का विभाजन स्वीकार कर लिया। महासभा ने सिफारिश की कि फिलिस्तीन को अरब तथा यहूदी राज्यों में विभाजित कर दिया जाय तथा जेरुसलेम का अरब राज्य में रखा जाय। दोनों राज्यों का एक चुंगी संघ हो और यातायात तथा आवागमन की सुविधाओं के लिये दोनों मिलकर काम करें तथा दोनों दंगा का करैसा एक समान हो।

महासभा के इस निर्णय की यहूदी और अरब दोनों क्षेत्रों में क्रुद्ध प्रतिक्रिया की गई। सौदी अरब के अमीर फैजल अल साउद ने घोषणा की कि विभाजन योजना के सम्बन्ध में महान् शक्तियाँ ने संघ के सदस्यों पर अनुचित दबाव डालकर इस पास कराया है। इसमें कुछ सच्चाई अवश्य है। क्योंकि विभाजन का निर्णय अंतिम समय पर अमेरिका के दबाव के कारण हो सम्भव हो सका था। चाह जो हो, विभाजन योजना को कार्यान्वित करने का भार, महासभा ने बोलिविया, चक्रान्तावाकिया डेमाक पनामा तथा फिलीपीन्स के प्रतिनिधियों की एक समिति को सौंप दिया। परन्तु ब्रिटेन ने इस समिति के सदस्यों को फिलिस्तीन में जाने का अनुमति नहीं दी। मई १९४८ में इस समिति को भग कर दिया गया।

इसी बीच, ११ दिसम्बर १९४७ का ब्रिटेन ने घोषणा की कि १५ मई १९४८ को फिलिस्तीन में आदिष्ट प्रथा को समाप्त कर दिया जायेगा। इस घोषणा का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और अरबों ने यहूदियों पर आक्रमण कर दिया। यहूदी इसके लिए पहिले से ही तैयार बैठ थे। इस आपसी भ्रमण में ३००० अरब तथा २८०० यहूदी कत्ल कर दिये गये। मृत्यु परिपद की सिफारिश पर १६ अप्रैल १९४८ का महासभा का दूसरा विचार अधिवेशन बुलाया गया परन्तु गान विधान की तीव्रता के कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका।

अमेरिका जिसके प्रभाव के कारण फिलिस्तीन विभाजन का प्रस्ताव पारित हो चुका था विभाजन योजना का कार्यान्वित करने के नियमों का अन्तिम निर्णय करने के लिए

न नहीं था। हाँ, गार्नि की स्थापना के लिये वह ऐसा कदम उठाने को तैयार था। ब्रिटेन फिनलैंड की समस्या के समाधान के लिये अपने नागरिकों का इजरायल राज्य की घोषणा करने का तैयार नहीं था। मास्को और वाशिंगटन अपनी मतभेद के कारण अपनी अपनी सेना को भेजने को तैयार नहीं थे। मधुक्त राष्ट्र सभ की तरफ से सेना भेजने पर भी यही कठिनाई आती और उस अपने सैनिकों को भी सम्मिलित करने का हठ करता। यह अमेरिका का पक्ष नहीं था। इस प्रकार की विषम परिस्थिति का १४ मई १९४८ को तेन अबीव (Tel Aviv) की घोषणा—“इजरायल की स्थापना की घोषणा” ने और अधिक गहन बना दिया। यहूदियों ने अपने नेता रब्बी सिलवर के नेतृत्व में इस दिन स्वतंत्र इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा की और यहूरी सेना ने अपने आधीन प्रदेशों का प्रशासन भी सहाल लिया। ब्रिटेन ने तत्काल ही आदिष्ट प्रणाली की समाप्ति का गपरा करी। दस मिनट के बाद ही अमेरिका ने इजरायल राज्य का मान्यता प्रदान कर दी। मित्री प्रतिनिधि ने मधुक्त राष्ट्र महासभा में भाषण करत हुए कहा— ‘जा भी कायात्रिधि इस सभ्य में आताई गई, वह तो महज मजाक बन कर रह गई। यह काय मधुक्त राष्ट्र सभ पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी एक घातक प्रहार है। महासभा सम्मेलन के साथ धक्का किया गया है।’

इजरायल राज्य का स्थापना की घोषणा न अरब राज्यों को क्षान्नित कर दिया और उन्होंने चारों तरफ से इजरायल पर आक्रमण कर दिया। दुर्भाग्यवश अरबों में आपसी सहयोग की कमी थी जिसके कारण वह अनेक बार पराजित होना पड़ा। फिनलैंड मध्य अरबों की स्थिति बहुत गोचनीय हो गई। हजारों अरब मारे गये तथा लाखों बेरबार हो गये। मित्र ने किसी प्रकार यहूदियों का पराजित करके गाजा पट्टी पर अधिकार कर लिया। अरबों और यहूदियों के इन सभ्य से महासभा बहुत अधिक चिन्तित हो उठी। २६ मई की सुरक्षा परिषद ने मुद्र विराम का आदेश दिया तथा सवन्मति से स्थापन के वाउट बनडाट (Bernadotte) का मध्यस्थ नियुक्त किया गया। बनडाट का स्थापना के लिये अमेरिकी बैन्जमिन तथा फ्रैंच प्रेक्षका की नियुक्ति की गई। सुरक्षा परिषद द्वारा शांति का आदेश एक मास के बाद प्रभावहीन हो गया और पुन सदाई मुद्र हो गई क्योंकि अरब लोग फिनलैंड में किली कीमत पर यहूरी राज्य की स्थापना के पक्ष में नहीं थे। जुलाई में सुरक्षा परिषद ने पुन मुद्र विराम आदेश जारी की जिसके फलस्वरूप अक्टूबर तक गार्नि रहो। उसके बाद पुन चारों सभ्य मुद्र हो गया। इसी बीच १८ सितम्बर १९४८ का जेरुसलम में मध्यस्थ बनडाट की हत्या कर दी गई। इससे स्थिति और अधिक विषम बन गई। परन्तु सुरक्षा परिषद ने सावधानी से काम लिया और बनडाट के म्यान पर उसके यहूरी हाथों शस्त्रों के स्थानांतरण मध्यस्थ नियुक्त किया गया। परन्तु स्थिति में अधिक सुधार नहीं हो सका और १ सितम्बर १९४८ का आदेश न अरब फिनलैंड पर अधिकार कर लिया और अपने अधिकार की

घोषणा भी करदी। डा० राल्पबुच के प्रयत्ना के फलस्वरूप अंत में युद्ध विराम हो सका और २० जुलाई १९४६ तक चार युद्धविराम समझौते किये गये। मित्र सीरिया, लेबनान, जोर्डन तथा इजरायल ने सैनिक शक्ति का प्रयोग न करने का वायदा किया। परन्तु लीसान म्यान पर वार्तानाप में पुन तनाव उत्पन्न हो गया और आज भी समस्या का उचित समाधान नहीं हो सका है। इसी बीच मई १९४६ में अरब राज्यों व विरोध के उपरान्त इजरायल को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया।

अरबों की असफलता और यहूदियों की सफलता के पीछे अनेक तत्व कार्य कर रहे थे। वर्षा ८००० वर्गमील भूमि तथा ६५०००० आबादी वाले इजरायल राज्य की २० लाख वर्गमील क्षेत्र तथा ४ करोड़ आबादी वाले अरब राज्यों पर सफलता कदापि सम्भव नहीं हो सकती थी। अरब राज्यों में केवल एक बान पर यहूदियों के प्रति घृणा, पर ऐक्य था। बाकी के प्रस्ताव पर उनमें काफी मनमैद था और वे आपसी सहयोग तथा पूर्ण शक्ति के साथ काम करने में असमर्थ रह। इसके विपरीत यहूदियों में आपसी सहयोग तथा संगठन था और उन्हें विशेषी यहूदियों से हर प्रकार की सहायता मिल रही थी। अमेरिका जैसे महान् राष्ट्र का आशीर्वाद भी उनके साथ था। अरब राज्यों की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी और मोवियन सघ के साथ उनके सम्बन्ध अधिक अच्छे नहीं थे। अतः उन्हें अमेरिकन डालरो की आवश्यकता थी। अमेरिकन डालरो को प्राप्त करने के लिये इजरायल के प्रति नम्र नाति का पालन करना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त फिलिस्तीन के अरब शरणार्थियों का बसाने के लिये भी अधिक सहायता की आवश्यकता थी। फिर फिलिस्तीन के क्षेत्र पर सभी अरब राज्यों को हिस्सा मिलने की सभावना भी नहीं थी। इन सब तथ्यों की पृष्ठभूमि में, इजरायल का अस्तित्व कायम रह सका।

अरबों और यहूदियों के आपसी भगड़े के महत्वपूर्ण परिणाम निकले। सबसे प्रथम परिणाम इजरायल राज्य का जन्म था। इजरायल राज्य की घोषणा व बाद लड़े गये युद्ध के परिणामस्वरूप इजरायल का क्षेत्रफल २००० वर्ग मील बन गया। दूसरा परिणाम अरबों का लाभ था। इस संघर्ष में मित्र को मात्र अरब इजरायल पट्टी का अधिकार तथा जोर्डन को फिलिस्तीन अरब क्षेत्र प्राप्त हो संघर्ष के परिणाम गये। तीसरा परिणाम जेरुसलम नगर का विभाजन था। ३ अप्रैल १९४९ को इजरायल जोर्डन युद्ध विराम समझौते के अनुसार जेरुसलम नगर का विभाजन किया गया। जेरुसलम का नवीन नगर जिसकी आबादी लगभग एक लाख थी, इजरायल के अधिकार में रखा गया तथा प्राचीन नगर काजिमरी आबादी लगभग १० हजार थी, जोर्डन को सौंप दिया गया। दोनों नगरों के बीच यात्री रहित एक क्षेत्र की स्थापना की गई। चौथा परिणाम अरब शरणार्थियों की समस्या थी। फिलिस्तीन से भागे या खदेड़े गये अरबों को फिर से बसाने की समस्या अत्यधिक दुष्कर प्रमाणित हुई और यदि अमेरिका तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ महायत्ना नहीं करते तो लाखों अरबों की गिंकार बन जाते। एक महत्वपूर्ण परिणाम अरब राज्यों में आपसी मनभ

का उठ खड़ा होना था। जोडन और मिश्र तथा जोडन और सौदी अरब के सम्बन्ध बिगड़ने लग गया। इसका एक परिणाम यह निकला कि अरब लीग का प्रभाव क्षीण पड़ गया। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि अरब राज्यों की सैनिक शक्ति बहुत कमजोर है तथा उसमें सुधार करने की आवश्यकता है। इस मध्य के कारण सीमा विवाद उठ खड़ा हुआ जिसके परिणाम स्वरूप आये दिन छोटी मोटी झड़पें होती रहती हैं और जिससे मध्यपूर्व की शांति और व्यवस्था किसी भी दिन खतरे में पड़ सकती है।

अंतिम और महत्वपूर्ण परिणाम मिश्र इजरायल का तनाव था। मिश्र ने इजरायली सामरिक जहाजा को स्वज नहर से गुजरने पर पाबंदी लगानी। इससे इजरायली व्यापार-वाणिज्य को काफी क्षति सहन करनी पड़ रही है। दोनों देशों के बीच तनावों इतनी अधिक बढ़ गई कि १९५६ में इजरायल ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया और इजरायल को ग्राट में इंगलण्ड तथा फ्रांस ने स्वज नहर के राष्ट्रीयकरण का बदला चुकाने के लिये मिश्र पर आक्रमण कर दिया। इस घटना की चर्चा अगले पृष्ठों में की जायेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, काफी शताब्दियों के बाद यहूदियों को अपने राष्ट्रीय घर प्राप्त करने में सफलता मिली। इजरायल राज्य की स्थापना करने में सफलता मिली। इसका कुछ अर्थ तो यहूदियों की लम्ब, सहयोग तथा संगठन का दिया जा सकता है और बाकी परिस्थितियों को। अरबों की असफलता का मुख्य कारण उनके राष्ट्रीय राज्यों के परस्पर विरोधी स्वार्थ थे—एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना तथा आपसी सहयोग की कमी थी। फिर भी, फिलस्तीन की समस्या का समुचित हल अभी बाकी है ?

### (३) मिश्र

मिश्र का इतिहास हमारे इतिहास की भांति अति प्राचीन है और राष्ट्रवादी आदों लन से भी परिपूर्ण है। मध्य युग में मिश्र दश पर ओटोमन साम्राज्य का आधिपत्य था और इसका शासन प्रबन्ध तुर्क सुल्तान तथा खलीफा द्वारा नियुक्त ख़ादिब (वायसराय) करता था। अठारहवीं शताब्दी में ख़ादिब लगभग स्वतन्त्र शासक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि हा गया और सुल्तान का प्रभुत्व नाम मात्र की बाकी रह गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में यह नाम मात्र आधिपत्य भी कम होता गया। इसी मदी के शुरु में फ्रेंच क्रांति के प्रमुख सनानी नेपोलियन ने ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्वी मार्गों को नील डेल्टा के मार्ग से बंद करने का असफल प्रयत्न किया था। परन्तु इससे ब्रिटेन समल गया और तब से मिश्री मामलों में उसकी रुचि बढ़ती गई। १८६६ में स्वेज नहर के चालू हो जाने से ब्रिटेन की रुचि और अधिक बढ़ गई। १८७६ में ब्रिटेन ने स्वेज नहर के हिस्से का एक बड़ा भाग खरीद कर, मिश्र में अपने हिस्से का और अधिक मजबूत बना लिया। १८८१-८२ में मिश्री नेता अरबी पाशा ने “मिश्र मिश्रवाला का है” नारा लगाया और मौजूदा सरकार का तन्त्रा उलटने का प्रयत्न किया परन्तु तत्कालीन मिश्री शासन ने ब्रिटिश सहायता से उसके विद्रोह को कुचल दिया। अरबी पाशा का



विद्रोह तो दबा दिया गया परन्तु सहायता को आये हुए अंग्रेजों का मित्र से बाहर निकाला मुश्किल हो गया। १८८२ ई० से लेकर १९१४ तक ब्रिटेन ने, सर्वोन्वसता का प्रभुसत्ता का प्रदर्शन किये बिना, मित्र पर गामन किया और इस अवधि में ब्रिटेन मित्र का ओटोमन साम्राज्य का अंग मानता रहा और दिखावे के तौर पर ब्रिटिश कमान्डरिया और सर्निको को मित्र के खादिव तथा उनके मुल्तान खत्रीफा के कर्मचारी तथा वैतनिक मानता रहा।

प्रथम महायुद्ध से स्थिति बदल गई। तुर्कों ने ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनों का माय दिया। ऐसी स्थिति में मित्र को तुर्कों साम्राज्य का अंग मानना ठीक नहीं था, उस समय मित्र को खादिव भी युद्ध चार्ता के लिये बुर्क गया हुआ था। अतः ब्रिटेन को उसके प्रति सन्तुष्ट उत्पन्न हो गया और १८ दिसम्बर १९१४ को ब्रिटेन ने मित्र का अपना सरक्षित राज्य घोषित कर दिया और इस घोषणा के साथ ही, मित्र पर तुर्कों प्रभुत्व का भी अंग हो गया। मित्र के तत्कालीन शासक अब्दुल हिल्मी द्वितीय को अपदस्थ कर दिया गया और उसके भतीजे हुसैन कामिल का मित्र का शासक बनाया गया। १९१७ में कामिल का मृत्यु पर, उसके भाई फुआद को मित्र का राजा बनाया गया।

प्रथम महायुद्ध के शुरू में इंग्लैण्ड ने घोषणा की थी कि मित्र की सुरक्षा का व्यय वह स्वयं वहन करेगा और इसके लिये मित्री नागरिका को सहयोग देने के लिये विवश नहीं किया जायेगा। परन्तु यह घोषणा अभिन्न समय तक अमल में नहीं लाई जा सकी और ब्रिटेन को भी इस ही मित्री जनता का सवाये प्राप्त करने का विवश होना पड़ा। शुरू शुरू में मित्रियों को अच्छा बेतन दिया गया। उनकी वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ा दी गईं। पिलस्तीन तथा सीरिया स्थित ब्रिटिश सेनाओं के गमनगमन की सहायता के लिये मित्री थमिको तथा ऊँट सवारों का संगठन बनाया गया। परन्तु जो ज़्यादा युद्ध की जवाबदाह बढ़ती गई ब्रिटिश उदारता समाप्त होती गई और मित्री लोगों को जबरनस्ती सेना में भर्ती किया जाने लगा। उनके सामान को हड़प लिया गया तथा उन पर माना प्रकार के अत्याचार किये गये। इसमें मित्रियों में अग्रजा के प्रति घृणा बढनी गई परन्तु युद्ध के अन्तिम में उन्होंने इस घृणा का प्रदर्शन नहीं किया। साथ ही इस वय से कि उन दिनों ब्रिटेन का सेना मित्री भूमि पर क़ायम कर रही था।

युद्ध बंदी के बाद, मित्री नेताओं को उस समय अधधिक आश्चर्य हुआ जबकि भारतीय राजाया तथा अरबियन लोगों की शांति सम्मेलन में सम्मिलित होने की निमन्त्रित किया गया, परन्तु उन्हें इस योग्य नहीं समझा गया या मित्र की समस्या को गानि सम्मनन के समुक्त प्रस्तुत करने का अवसर नहीं दिया गया। उनका साथ राष्ट्रवादी आन्दोलन इमलिय भी बढ गया या कि बिल्लिन के शासन निगुम सिद्धान्त

की घोषणा से उन्हें जो नय जावन मिला था, वह अब उनका होता जा रहा था। मित्र की राष्ट्रवादी पार्टी (यफद पार्टी) के नेता जुगचुन पागा न अपने साथियों सहित पेरिस जान का निश्चय किया ताकि मित्र की क़ायमती की जा सके।

परन्तु ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें उनके साथियों सहित गिरफ्तार करके माल्टा द्वीप भेज दिया। इससे सम्पूर्ण मित्र में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। भयंकर दमन के उपरान्त विद्रोह शांत किया जा सका। ब्रिटिश सरकार ने जुगजुल पाशा को भी मुक्त कर दिया और लाडें मिलनर की अध्यक्षता में मित्री समस्या पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिये एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने सिफारिश की कि मित्र का कुछ प्रतिबन्धों के साथ स्वाधीनता प्रदान कर दी जाय। समिति के सुझावानुसार १९२१ में एक संधि का मसविदा तैयार किया गया और मित्र को प्रस्तुत किया गया। परन्तु राष्ट्रवादियों ने इस संधि को अस्वीकार कर दिया।

पुनः राष्ट्रवादी आंदोलन उठ खड़ा हुआ। जुगजुल पाशा को इस बार जिमाल्टर भेज दिया गया। जनरल अलैनबी ने विद्रोह को तो दबा दिया परन्तु ब्रिटिश सरकार ने भी चेतावनी दे दी कि मित्र को यथा शीघ्र स्वाधीनता देने में ही इंग्लैण्ड का कल्याण है। फरवरी २८ फरवरी १९२२ को इंग्लैण्ड ने मित्र की स्वाधीनता को स्वीकार करते हुए उसके साथ एक संधि कर ली। इस संधि के द्वारा निम्न बातों पर ब्रिटेन का पूर्ण-धिकार स्थापित किया गया—(१) स्वेज नहर की सुरक्षा, (२) मित्र की सुरक्षा (३) मित्र में विदेशी हिता तथा विदेशी नागरिकों की रक्षा तथा (४) सूडान का नियंत्रण। अर्थात् इंग्लैण्ड ने स्वयं तथा मित्र की सुरक्षा के वहाने स्वेज क्षेत्र तथा अन्य सामरिक स्थानों पर अपनी सन्तुष्टि की रखने एवं मित्र की विदेश नीति को निर्देशित करने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रख लिया। इस संधि ने राष्ट्रवादियों का बहुत भ्रोक्षित कर दिया परन्तु वे शक्तिहीन थे। संधि का यथाशीघ्र लागू किया गया। सुल्तान फाउद न बादशाह की उपाधि धारण की। १९२३ में एक नया संविधान लागू किया गया तथा संसद के लिये चुनाव कराये गये। इस चुनाव में वफददन की भारी बहुमत प्राप्त हुआ और जुगजुल पाशा प्रधान मंत्री बने।

१९२४ में, सूडान के गवर्नर जनरल सरली स्टेक तथा मित्रा सेना के प्रधान सलाहकार की बाहिरा में हत्या कर दी गई। इससे ब्रिटेन और मित्र के सम्बन्ध बिगड़ गये और परिणाम स्वरूप जुगजुल पाशा को त्याग पत्र देना पड़ा। इसने बाद मित्र की राजनीति में उतार चढ़ाव आता रहा। क्योंकि राष्ट्रवादी दल पूर्ण स्वाधीनता की पूर्ण स्वाधीनता की माँग कर रहा था और बादशाह तथा उमर-प्राप्ति सामन्त ब्रिटेन का पक्ष ले रहे थे। १९२७ में जुगजुल पाशा की मृत्यु से राष्ट्रवादी दल की शक्ति भी कुछ कम हो गई। हालांकि मुस्तफा नहस पाशा ने किसी न किसी तरह से राष्ट्रवादियों के जोग को बनाये रखा। १९२९ में ब्रिटेन में मजदूर भविष्यदल बना और उसने मित्र के साथ एक नई संधि का प्रस्ताव रखा। परन्तु नहस पाशा पूर्ण स्वाधीनता के अतिरिक्त अन्य किसी संधि के पक्ष में नहीं थे। १९३० में बादशाह ने लोबसमा को भग कर दिया और इस्माइल सिद्दी की प्रधान मंत्री बनाया जिसने एक नये संविधान को लागू किया। सिद्दी ने आगामा

तीन वर्षों तक तानाशाह की भाँति शासन किया। परन्तु उसके बाद मित्र क राजनीतिक जीवन में पुन विभोभ उत्पन्न हो गया। १९३५ के बाद इटली की अफ्रीकन नीति के कारण स्थिति और भी गंभीर हो गई। इथोपिया पर इटली के आधिपत्य ने ब्रिटेन और मित्र दोनों को ही एक दूसरे के समोप लाने में योगदान दिया जिसके फलस्वरूप १९३६ में मित्र और इंग्लैण्ड के बीच एक नवीन संधि हो गई। संधि वार्ता २ मार्च १९३६ में शुरू हुई थी परन्तु आपसी बात विवाद की उग्रता के कारण रुक रह कर गया वरिध उत्पन्न हो जाता था। २६ अगस्त का संधि पर हस्ताक्षर कर दिये गये। इस नवीन संधि के अनुसार युद्ध स्थिति में पारस्परिक आपसी सहायता तथा ब्रिटेन का सम्पूर्ण मित्र में उपलब्ध सभा मुविधाओं का लाभ उठाने का अधिकार सूडान पर सयुक्त निष्क्रमण, स्वेज नहर क्षेत्र में ब्रिटिश सेना का उपस्थिति, शांति काल में ब्रिटिश सेना की संख्या १०,००० सैनिक तथा ४०० चानक (Pilots) तय हुई थी। तथा पोट स्मैल्ड सिक्न्दरिया पर ब्रिटिश सेना का नियंत्रण एक युद्ध काल में मित्र की भूमि से अफ्रीकी सेना की गुजरने का अधिकार दिया गया। इस संधि की विशेषता यह थी कि इंग्लैण्ड ने प्रथम बार मित्र को एक स्वतंत्र राष्ट्र मानने हुये संधि सम्पन्न की थी। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड ने, अन्य यूरोपियन राज्यों का, जिन्हें मित्र में विशेषाधिकार तथा अतिरिक्त प्रादेशिकाधिकार (Extra Territorial Rights) प्राप्त थे, इन अधिकारों को छोड़ने के लिये तैयार करेगा और मित्र में स्थित विदेशी नागरिकों की जान माल की सुरक्षा का दायित्व मित्री सरकारों लान का वचन दिया। इसी समय पाउण्ड की मृदु हो गई और उसका सोलह वर्षों पुन पारक मिहासन पर बैठा। मित्र को राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बना लिया गया और ब्रिटिश प्रयत्न के फलस्वरूप मित्र में विशेषाधिकार प्राप्त राष्ट्रों का १९३७ में माटिमाक्स में एक सम्मेलन हुआ जिसमें सब सम्मति से १९४८ तक, मभा सन्निधित राष्ट्रों में विशेषाधिकारों का त्यागने का वचन दिया।

द्वितीय महायुद्ध के समय, स्वेज नहर की सुरक्षा तथा नाजी जर्मनी का प्रसार रोकने की दृष्टि से सम्पूर्ण मित्र में ब्रिटिश सेना तनात कर दी गई थी। युद्ध समाप्ति के बाद मित्री नेताओं ने, ब्रिटिश सेना को मित्र से हटाने की माग की। इसके साथ ही १९३९ की संधि की सन्तोषन माग भी जोर पकड़ने लगी। ब्रिटिश सरकार द्वारा मौन धारण करने से स्थिति गंभीर हो गई। १९४५ में, ब्रिटिश निर्वाचन में मजदूर दल विजयी रहा। इससे मित्रियों को कुछ आशा बधी। परन्तु मजदूर सरकार का नीति में भी नवीनता नहीं आई। इस पर मित्र में अफ्रीकी के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। १९४६ में सिक्न्दरिया तथा काहिरा में ब्रिटिश सैनिकों पर, मित्री भीड़ ने आक्रमण भी किया। इस प्रकार की परिस्थिति में संधि सन्तोषन की वार्ता जारी हुई परन्तु उसका कोई लाभकारी परिणाम नहीं निकला क्योंकि मित्र सभी ब्रिटिश सैनिकों की वापसी चाहता था परन्तु इंग्लैण्ड अपने यातायात की सुरक्षा की दृष्टि से मित्र से सभी सैनिकों का हटाने के लिये तैयार नहीं था। १९४७ में मित्र ने सयुक्त राष्ट्रसंघ से भी अफ्रीका की परन्तु नहीं

पर भी उसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। १९४८ में इजरायल राज्य की स्थापना में स्थिति और भी अधिक जोखनीय हो गई क्योंकि मिश्र, अरब लीग का सदस्य था और इस नाते वह यहूदी राज्य की स्थापना के विरुद्ध था। अक्टूबर १९४९ में, नहम पागा की सरकार ने मिश्री लोकसभा द्वारा इस सम्बन्ध में एक आदेश (Decree) को पास करवाने में सफलता प्राप्त करली। इस आदेश के द्वारा फारूक को मिश्र तथा सूडान का शासक घोषित किया गया तथा स्वेज नहर के क्षेत्र में ब्रिटिश सैनिकों के अधिकारों की समाप्ति का घोषणा की गई।

घोषणा के द्वारा किसी संधि को रद्द करना सुगम है परन्तु अपने देश से किसी के सैनिक आधिपत्य को हटाना एक कठिन काम होता है। मिश्र की इस कायवाही को इंग्लैण्ड ने गौरवान्नी बताया। क्योंकि ब्रिटिश सेना १९३६ की संधि के आधार पर मिश्र में ठहरी हुई थी और संधि को एक पक्षीय अस्वीकरण के मिश्र की राज्याति कारण समाप्त नहीं माना जा सकता था। ब्रिटेन उस समय तक हटने का तैयार नहीं था जब तक कि १९३६ की संधि के स्थान पर दोनों देशों में आपसी वार्तालाप के द्वारा कोई नया समझौता नहीं हो जाता। सूडान के सम्बन्ध में, सूडानी जनता की इच्छा जाने बिना, सूडान के भाग्य का निर्णय भी इंग्लैण्ड को स्वाकार नहीं था। ब्रिटेन के इस हल से मिश्र में विश्रोह उठ खड़ा हुआ। मिश्री सरकार ने भी ब्रिटिश सेना के साथ असहयोग शुरू कर दिया और जनता ने ब्रिटिश सेना के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। जनवरी १९५२ में काहिरा में विदेशी सम्पत्ति को नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार की स्थिति में मन्त्रिमंडल बनने बिगड़ते रह और सम्पूर्ण देश अशांति तथा अराजकता का भ्रमावृत्त बन गया। २६ जुलाई १९५२ को, मिश्र की सैनिक शक्ति ने सम्पूर्ण सत्तार को आश्चर्य चकित कर दिया। काहिरा में सेना के प्रधान जनरल नगीब तथा बनल नासर के नेतृत्व में राजशाही हो गई और मिश्र के शासक फारूक को अपने गिण्टु पुत्र अहमद फाउद तृतीय के पक्ष में तिहासन त्यागने को विवग किया गया और उसे मिश्र से खदेड़ दिया गया। जनरल नगीब प्रधानमंत्री बन गया। जून १९५३ में मिश्र का गणराज्य घोषित कर दिया गया और जनरल नगीब राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री-दोनों बन गया। इस प्रकार बिना रक्तपात के, मिश्र की राजशाही सफल हो गई।

नूतन सरकार ने ब्रिटेन का स्वेज नहर क्षेत्र से सेना हटाने को कहा। मिश्र और ब्रिटेन में वार्तालाप शुरू हुआ। मिश्री सरकार, अरब लीग के किसी सदस्य देश पर आक्रमण होने की स्थिति में ब्रिटिश सेना को पुन प्रवेश देने को तैयार थी, परन्तु इंग्लैण्ड अरबलीग के देशों के साथ तुर्की तथा ईरान को भी सम्मिलित करना चाहता था अर्थात् यदि तुर्की और ईरान पर भी आक्रमण हो तो ब्रिटिश सेना को पुन प्रवेश का अधिकार दिया जाय। मिश्री सरकार इसे स्वीकार करने का तैयार नहीं था। अतः मुल्ह वार्ता भंग हो गई। फरवरी १९५४ में मिश्र में दूसरी राजशाही हो गई और नगीब के स्थान पर बनल गाबेल अब्दुल नासर मिश्र का तानाशाह बन बैठा। उसकी सरकार

ने साम्प्रदायिकों के विरुद्ध सख्त क़ानून उठाये तथा ब्रिटेन के साथ पुनः सुलह बाताफ़ूर की गई । काफी वाद विवाद के बाद २७ जुलाई १९५४ को मित्र और ब्रिटेन में एक संधि पर हस्ताक्षर किए गये । इस संधि के अनुसार ब्रिटेन ने २० जून १९५६ तक धीरे धीरे अपने समस्त सैनिकों का हटाना स्वीकार कर लिया और मित्र ने, भरपूर लोग क़ानूनो सदस्य तथा तुर्की पर आक्रमण होने की स्थिति में ब्रिटिश सेना को मित्र में प्रवेश करने तथा सभी सुविधाएँ देने का आश्वासन दिया । परंतु यह स्पष्ट कर दिया गया कि युद्ध की समाप्ति अथवा आक्रमण के सफट के दूर होने ही ब्रिटिश सेना यथाग्राह्य वापस चला जायेगी । मित्र न स्वेज नहर में जहाजरानी की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति दी तथा संधि में स्वेज की मित्र का अग्रिभाज्य अंग और अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग स्वीकार किया गया । इन संधि की प्रवधि ७ वर्ष रखी गई तथा इसकी समाप्ति के १२ मास पूर्व, नवीन व्यवस्था के सम्बन्ध में दोनों देशों में सलाह करना तय हुआ । इस संधि के कारण १९३६ की एगो मित्री संधि का अंत हो गया । मार्च १९५६ तक ब्रिटिश सेना का आधिपत्य दस्ता मित्र से खाना हो गया । २३ जून १९५६ को नवीन सविधान के अनुसार मित्र एक सर्व प्रमुख सम्पन्न राष्ट्रीय राष्ट्र बन गया । २६ जुलाई १९५६ को मित्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बहुत घातक प्रभाव पड़ा । स्वेज सफट की समस्या के लिये स्वेज नहर के इतिहास का अध्ययन आवश्यक हो जाता है ।

स्वेज नहर का इतिहास सन् १८५४ से शुरू होता है । इसी साल फ्रांस के एक इंजीनियर फ़र्डिनैंड डी लेमार्स ने मित्र के बादिक का खारी भौल और तिमार्गिक में एक हुए स्वेज की छाया से भूमध्यसागर तक सीधा नहरों रास्ता निकालने का सुझाव दिया ।

### स्वेज नहर का इतिहास

अबतक पश्चिम से पूर्व का सामुद्रिक मार्ग गुडहोप अंतरीप का चक्कर लगाता हुआ जाता था । इस नए प्रस्तावित रास्ते से पश्चिम और पूर्व के सामुद्रिक मार्ग में ५००० मील का दूरी कम हो जाती थी । ३० नवम्बर १८५४ को काहिरा में नहर निर्माण

तथा व्यापार की स्वीकृति पर हस्ताक्षर कर दिये गये जिसके अनुसार स्वेज नहर पर नहर निर्माण कम्पनी (कम्पनी यूनिवर्सल डे कनाल मेरी टाइम डी स्वेज) का ६६ वर्ष के लिये अधिकार स्वीकार कर लिया गया । नहर निर्माण का सम्पूर्ण व्यय कम्पनी ने उठाया स्वीकार कर लिया और कुल मुनाफे का १५% हिस्सा मित्री सरकार द्वारा नहर निर्माण में लगाई जाने वाली पूँजी का व्याज तथा उम पूँजी का लाभान मित्री सरकार का देना स्वीकार किया । ७५% मुनाफा कम्पनी के गेयर होल्डरों में विभाजित करना तथा १०% मुनाफा कम्पनी का स्थापना के लिये उत्तरायी सदस्यों को देना भी तय किया गया । कम्पनी के संगठन पर भी प्रभाव डाला गया किन्तु अनुसार बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स की स्थापना की गई जो नहर कम्पनी का नियंत्रण रखता । कम्पनी के हिस्सेदारों में से, मित्र की सरकार को, बोर्ड के सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया । यह भी तय किया गया कि नहर से सभी देशों का जहाजों का, गुल्फ़ कर

ग्रन्थ करने के बाद, गुजरने दिया जायेगा तथा सभी देशों के जहाजों से समान गुल्म लिया जायेगा और किसी देश को किसी प्रकार की विशेष सुविधा नहीं दी जायेगी। अन्त में, यह तय किया गया कि कम्पनी के नियंत्रण की अवधि ( ६६ वर्ष ) के समाप्त होने के बाद, नहर पर मिथ का अधिकार हो जायेगा परन्तु मिथ का, कम्पनी की मशीनों तथा भवनो आदि का मूद्रावजा चुकाना पड़ेगा।

१८५६ ई० में स्वेज नहर का निर्माण कार्य शुरू हुआ और दस वर्षों के अथवा प्रयत्न के बाद, पोर्ट सैड में स्वेज तक १०३ मील लम्बा नहर बनकर तैयार हो गई। ऐसा अनुमान है कि नहर निर्माण के कठिन कार्य में, लगभग १२०,००० मिथी मजदूरों को अपने प्रणों से हाथ धोना पड़ा। १७ नवम्बर १८६६ को नहर का यातायात शुरू हो गया। स्वेज नहर कम्पनी के कुल ८०० ००० शेयर थे। १७६,६०० शेयर मिथ के खादिव के पास तथा शेष शेयर फ्रेंच, ब्रिटिश, डच आदि यूरोपियन सरकारों तथा नागरिकों के पास थे। मिथ का खादिव बहुत ही अप्रसन्न था और उसने ब्रिटेन से काफी कर्जा ले ली। इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री डिजरायली ने स्वेज नहर के महत्व का रत्न हुए, ब्रिटिश कर्जों के ब ले में, मिथी खादिव से ३,६७६,५८२ पाउंड में १७६६०० शेयर खरीद लिए। १८५६ में ब्रिटिश सरकार के पास ३५३,५०८ शेयर थे। अर्थात् ४४% शेयरों पर ब्रिटेन का अधिकार था। इससे स्वेज नहर के सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रभाव का महत्व बढ़ गया। १८८० में मिथ के खादिव ने दूसरी भयंकर भूल की। उसने कम्पनी से प्राप्त होने वाले १५% मुनाफा का, हमेशा के लिये फाम को हस्तांतरित कर दिया। इस प्रकार मिथ, स्वेज नहर, जिसका निर्माण मिथी साधना के सहयोग से ही सम्भव हो सका था, के मुनाफा से वंचित हो गया।

२६ अक्टूबर १८८८ का, ब्रिटेन फ्रांस जर्मनी, आस्ट्रिया, स्पेन इत्यादी नीदरलैंड, रूस और तुर्की ( क्योंकि मिथ तुर्की का भाग था ) के प्रतिनिधियों का कन्वन्शुनियामें एक सम्मेलन हुआ और एक सम्झौते पर हस्ताक्षर किये गये। इसके अनुसार बिना किसी भेदभाव के, स्वेज नहर मार्ग को, सभी देशों के व्यापारिक तथा लड़ाकू जहाजों के लिए उन्मुक्त रखना स्वीकार किया गया तथा स्वेज नहर क्षेत्र में युद्ध छेड़ने का निषेध किया गया। मिथ का अपनी सुरक्षा तथा अनिच्छित व्यवस्था के लिए नहर क्षेत्र में सेनापना का प्रमाण करने की स्वीकृति दी गई। इस अधिकार से मिथ और कम्पनी का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। फिर भी न तो कम्पनी के द्वारा और न ही अथ किसी देश द्वारा यह सवाल उठाया गया कि स्वेज नहर मिथ का अविभाज्य अंग है या नहीं। इस सम्बन्ध में एक लेखन में लिखा है कि मिथ पिछले कई वर्षों से सब प्रमुख सम्पन्न देश नहीं था और कुछ वर्षों पूर्व तक, राजनीतिक दृष्टि से, नहर सम्बन्धी मामलों में स्वतन्त्र कदम उठाने की स्वतन्त्र नहीं था। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठा। वैसे, कम्पनी के संगठन एवं संविधान से यह मान्य हो जाता है कि कम्पनी का वास्तविक स्वरूप जानबूझ कर

पैवोदे ढग मे अभियन्त किया गया था और एक अंतर्राष्ट्रीय सगठन होने के वां भी, कम्पनी का स्वामित्व तथा प्रशासन फ्रांस द्वारा प्रभावित था ।

२८ फरवरी १९२२ को मिश्र और ब्रिटेन के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार मिश्र की स्वतंत्रता को स्वाकार कर लिया गया । स्वेज का मिश्र का एक अविभाज्य अंग मानते हुए भी ब्रिटेन ने नहर क्षेत्र में अपने अधिकारों का सुरक्षित रखा । १९३६ की संधि के द्वारा आगामी बीस वर्षों के लिये इंग्लैण्ड स्वेज नहर का नियंत्रण बना बन गया । ७ मार्च १९४६ को मिश्र और स्वेज कम्पनी के बीच एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार नहर के व्यापारिक नियंत्रण तथा संचालन में मिश्र एक विशेष सुविधा प्राप्त हिस्सेदार बन गया । लगभग ७० वर्षों के बाद मिश्र को स्वेज नहर के मुनाफे का कुछ हिस्सा प्राप्त होने लगा । २७ जुलाई १९५४ की एगो मिश्री संधि के द्वारा ब्रिटेन ने स्वेज क्षेत्र से अपने समस्त सैनिकों को हटाना स्वीकार कर लिया और मार्च १९५६ तक उसने अपने वचन को पूरा कर दिया । २६ जुलाई १९५६ को मिश्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी ।

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण यकायक ही नहीं हुआ था । इसकी पृष्ठ भूमि में अनेक तत्व सन्निभ थे और परिस्थितियों ने इस प्रकार कदम उठाने की प्रेरणा प्रदान की थी । राष्ट्रीयकरण की पृष्ठ भूमि में मुख्य रूप से तीन तत्व काम कर रहे थे—(१) मध्य

पूर्व सुरक्षा के प्रति पश्चिमी देशों की चिन्ता, (२) मिश्र द्वारा स्वेज राष्ट्रीयकरण साम्यवादी दशा से अस्त्रों की खरीद तथा (३) आतङ्कवादी

यही पृष्ठभूमि योजना । जसा कि शुरू में बतलाया जा चुका है कि मध्य पूर्व का एक विनिष्ट सामरिक महत्व है । द्वितीय महायुद्ध के बाद

साम्यवादी हस्त की बढ़ती हुई शक्ति से पश्चिमी देश चिन्तित हो उठे थे क्योंकि पूर्वी यूरोप साम्यवादी प्रभाव के चपुन में फँस चुका था और अब मध्य पूर्व की बारी थी ।

मध्य पूर्व में, साम्यवादी प्रसार का रोकने के लिये पश्चिमी देश, मध्य पूर्व के देशों का एक सगठन बनाना चाहते थे । इस सगठन में मिश्र को सम्मिलित करना आवश्यक था ।

परन्तु मिश्र की पश्चिम समर्थक इजरायल राज्य से शत्रुता थी और मिश्र का अपनी भूमि पर विदेशी शत्रु की उपस्थिति का कटु अनुभव भी था ।

अतः उसने मध्य पूर्व सुरक्षा सगठन में सम्मिलित होने से अस्वीकार कर लिया । अमेरिका ने मिश्री प्रस्ताव के बन्ने में, उस आर्थिक सहायता का प्रयोजन भी लिया परन्तु मिश्र ने सगठन में शामिल होना अस्वीकार कर दिया ।

मिश्र की इस नीति के कारण पश्चिमी देश उसने नाराज हो गये । १९५३ में ब्रिटेन में पुनः मन्त्रि मन्त्रिमण्डल संधि वार्तालाप की जारी किया परन्तु मिश्र ने इस में किसी प्रकार का अंतर नहीं आया ।

मिश्र का अस्वीकृति के उपरान्त, अमेरिका ने यूनाई राज् इजरायल की सन्धि शक्ति का मजबूत बनाने में योगदान दिया । हालांकि, अमेरिका का हित साम्यवाद के विरुद्ध इजरायल को सहायता बनाना था परन्तु इजरायल का अपनी शक्ति में मिश्र का

विरोध इजरायल को सहायता बनाना था परन्तु इजरायल का अपनी शक्ति में मिश्र का

हो उठा और उसने अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने का सकल्प किया। परन्तु इसके लिये आधुनिक अस्त्रों की आवश्यकता थी। अतः मित्र ने पश्चिमी दशा के साथ वार्तालाप शुरू किया। पश्चिमी देश अस्त्र देने को भी तयार थे परन्तु साथ ही वे मित्र का सहयोग भी चाहते थे—साम्यवाद के विरुद्ध मित्र का सहयोग। मित्र का राष्ट्रपति कनल नासर, स्वतंत्र नीति का उपासक था। उस सशक्त अस्त्रों की आवश्यकता नहीं थी। अतः पश्चिम द्वारा इनकार करने के बाद उसने साम्यवादी देशों से बान्धन की और २७ सितम्बर १९५५ को मित्र तथा चेकोस्लोवाकिया में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार मित्र के कपास और चावल के बदले २५०० लाख पौं के मूल्य के अस्त्र अस्त्र देना, चेकोस्लोवाकिया ने स्वीकार कर लिया। मित्र के इस कृत्य से पश्चिमी देश बहुत क्रोधित हो उठे और उन्होंने उसे समझौते को रद्द करने का कहा। मित्र ने ऐसा करने से अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप मित्र और पश्चिम के सम्बन्ध बिगड़ गये।

परन्तु राष्ट्रीयकरण का मूल कारण आसवान बांध योजना था। ब्रिटन ने, अपने मित्री आग्निपय काल में अपनी सूनी मिलों के लिये कपास प्राप्त करने की दृष्टि से, सर्व प्रथम, नील नदी के ऊपर आसवान बांध का निर्माण किया था। आसवान बांध विद्युत के आश्चर्यों में से एक है। १९३०-१ में ब्रिटिश इंजीनियरों ने दूसरी बार, इस बांध में महत्वपूर्ण सुधार किये। १९ मील दूरी तब, नील नदी के दोनों किनारों को पथर एवं सामट की ठोस दीवार से मजबूत बनाया गया और मुख्य भाग को १६०' ऊँचा किया गया। १९५३ में आसवान बांध को और ऊँचा उठाने तथा बांध का निस्तृत करने की कल्पना की गई। १९५५ में जर्मन इंजीनियरों ने कनल नासर का आसवान बांध योजना प्रस्तुत की। नासर दो प्रमुख कारणों से बांध को बनाने के पक्ष में था—एक तो यह कि बांध के निर्माण से मित्र के नागरिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा और इससे मित्री जनता नासर शासन की समर्थक बन जायेगी। दूसरा कारण था—इस योजना के माध्यम से पश्चिम और पूर्व को आपस में टकराने का अवसर प्राप्त करना।

आसवान बांध के पुनर्निर्माण के लिये १,०००,०००,००० डालर की पूँजी की आवश्यकता थी जो मित्र के द्वारा अपने राष्ट्रीय व्यय से जुटाना असम्भव था। अतः उसने पश्चिमी देशों से सहायता की याचना की। शुरू में इंग्लैंड ने ४५० लाख पौं, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने २००० लाख डालर तथा अमेरिका ने ७०० लाख डालर की सहायता का आश्वासन दिया था। परन्तु मित्र द्वारा पश्चिम विराधी कायबाहिया करने के कारण पश्चिम का सटह हो गया और उन्होंने सत्त सहायता देने का प्रस्ताव रखा। नासर ने इस ठुकरा लिया। उधर नासर सोवियत संघ से भी वार्तालाप चला रहा था। वास्तव में नासर दोहरी चांचल रहा था। एक तरफ वह पश्चिम से वार्तालाप कर रहा था और दूसरी तरफ सोवियत संघ से। पश्चिम के सामने एक और सकट आ चुका था। मुडान न, जिस आसवान-बांध से काफी क्षति पहुँचने वाली थी पश्चिम



को सुझाव दिया कि, वे मूडानी जल सफ्ट का भी ध्यान रखें। अतः पश्चिम ने मित्र को कहा कि वह पहले अपने पड़ोसी से सम्झौता करले, बाद में हम सहायता देंगे। परन्तु नासर को रूसी महायुद्ध का विश्वास था। अतः उसने कोई उचित जवाब नहीं दिया। इस पर अमेरिका और इंग्लैण्ड ने सहायता देने में अस्वीकार कर दिया।

अमेरिका और इंग्लैण्ड की अस्वीकृति को घोषणा ईदुलफितर के दिन का गई थी। इसमें मित्रियों में घोर निराशा तथा नासर के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। बनन नासर ब्रियोनी ( Brioni ) द्वीप में १० नेहरू तथा माक्स टीटो के साथ युक्त वार्ता करके लौटा ही था। उसने बहुत वीरतापूर्वक मित्रियों की आलोचना का सामना किया और २६ जुलाई १९५६ को एक नया बंदम स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण, उठाकर मित्रा जनता के हृदय में उसने पुनः अपना स्थान बना लिया।

परन्तु सवाल यह उठता है कि जय नासर को रूसी सहायता का विश्वास था तो उसने राष्ट्रीयकरण क्यों किया? आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विचार्यों को तत्सत्य होकर एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि पश्चिम की गतिशास्त्रीयकरण क्यों साम्यवाद के प्रसार को रोकना चाहती है और उस देश को किया गया? जिसमें साम्यवादी प्रभाव के बढ़ने की आशंका हो, सैन्य आर्थिक सहायता देने को तैयार रहती है। परन्तु यदि वह राष्ट्र गत सहायता नहीं लेता तो वे अधिक खर्च नहीं लेते। इस प्रकार सोवियत रूस उस देश का हर प्रकार का प्रभाव देना है। परन्तु जब वह दबता है कि अमुक देश पश्चिम से घृयक हो गया तो वह भी अपने आश्वासनों में हाथ खींच लेता है। कम से कम मित्र के साथ ऐसा ही घटित हुआ होगा। रूस द्वारा सहायता देने से इन्कार करने पर या रूस द्वारा मित्र का नवीन राय सुझाने पर नासर ने राष्ट्रीयकरण को धार बना लिया। इसमें रूस की निम्न फायदे थे—(१) मित्र को सहायता देने से मुक्ति, (२) मित्र का पूर्ण रूप से पश्चिम से घृयक करना, (३) साम्यवादी प्रसार की दृष्टभूमि को तयार करना तथा (४) मित्र समस्या का तेज़ अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पश्चिम को बर्नाम करना। सत्य बात तो सर्वविध ध्वनियाँ को ही माफूम है, यह तो हमारा अनुमान मात्र है, जो कि गत भी हो सकता है।

राष्ट्रायकरण नियम के अनुसार स्वेज बम्पना को मित्री जमाइ ट बम्पनी में बन दिया गया और इसके साथ तथा पूजा पर मित्र सरकार का अधिकार माना गया। बम्पनी के गेयर ज़ाब्डरा को जय ममय व गेयर भाव में मुद्राबन्धना देना तय किया गया। बम्पनी की मित्र तथा मित्र न बाहर की गतों सम्बन्धित पर मित्र का अधिकार माना गया।

स्वज नहर का एक पक्षीय राष्ट्रीयकरण नियमागुमार अवधि के १२ वष पूर्व किया गया। एक पक्षीय इसलिये कि संबंधित पक्षों से किसी प्रकार का विचार विमर्श नहीं किया गया था और न ही उनकी स्वीकृति ली गई। इससे इंग्लंड और राष्ट्रीयकरण की फ्रांस में एक तहलका मच गया क्योंकि इन दोनों देशों को स्वेज कम्पनी से अत्यधिक आय प्राप्त होती थी। शीघ्र ही पश्चिमी

प्रतिक्रिया देशों में विचार विमर्श शुरू हुआ। २७ जुलाई को ब्रिटेन ने मिश्र को एक विरोध पत्र भेजा जिसमें कहा गया था कि मिश्र के इन कार्य न अन्तर्राष्ट्रीय महत्व व जल मार्ग की स्वतंत्रता के लिये गंभीर खतरा उत्पन्न कर दिया है तथा इसका भी परिणाम होगा उनका पूरी जिम्मेदारी मिश्री सरकार पर हागी। मिश्र ने विरोध पत्र को स्वीकार नहीं किया क्योंकि स्वेज का राष्ट्रीयकरण वह अपना सार्वभौम अधिकार समझता था। २८ जुलाई को ब्रिटेन ने एक नियम द्वारा स्वेज कम्पनी की रकम तथा मिश्र के स्टॉक को रोक दिया। मिश्र को भेजा जाने वाली युद्ध सामग्री पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। इंग्लंड के तत्कालीन प्रधान मंत्री एथोनी ईडन ने बड़ा कदम उठाया था सुझा दिया। फ्रांस के विदेश मंत्री पीएने ने गामर को हिटलर की उपाधि से विभूषित किया। ३१ जुलाई को अमेरिका, उस समय तक के लिये, जब तक कि स्वेज कम्पनी के वास्तविक उत्तराधिकारी का फैसला नहीं हो जाता, अमेरिका स्थित स्वेज कम्पनी की रकम पर रोक लगा दी। अन्य पश्चिमी देशों की प्रतिक्रिया भी इसी प्रकार रही। रूस ने राष्ट्रीयकरण को मिश्री सत्ता का अन्तर्गत माना।

२ अगस्त १९५६ को इंग्लंड, फ्रांस तथा अमेरिका के विदेश मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें १६ अगस्त को २४ राष्ट्यों का अधिवेशन बुलाना का विचार तय किया गया। मिश्र ने इस सम्मेलन में सम्मिलित हान से इन्कार कर दिया क्योंकि उसका कहना था कि जब ४५ राष्ट्र स्वेज का उपयोग कर रहे थे तो २४ राष्ट्राओं ही निमंत्रित किया जाय और दूसरी बात यह कि सम्मेलन को मिश्र की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। यूनान ने भी भाग लेने से इन्कार कर दिया। अतः १६ अगस्त को २२ राष्ट्रा का सम्मेलन हुआ। २६ अगस्त को १७ राष्ट्रा ने डलेस योजना को स्वीकार कर लिया। डलेस योजना का एक महत्वपूर्ण तत्व आस्ट्रेलिया के प्रधान मंत्री डब्ल्यू मेन्जीज के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल काहिरा भेजना था जो नासर को सम्मेलन को वायवही से सूचित करे और उसके विचारों को जाने। मेन्जीज ने ३ सितम्बर से ६ सितम्बर तक नासर से वार्ता की। परंतु इसका कोई परिणाम नहीं निम्ता। नासर ने डलेस योजना को ठुकरा दिया। इस प्रकार मेन्जीज गिफ्ट मण्डल अयफल रहा।

१६ सितम्बर का लंदन में १८ राष्ट्रा की बैठक हुई जिसमें स्वेज नहर प्रयोक्ता संघ (Suez Canal Users' Association—SCUA) की स्थापना की चर्चा की गई। १ अक्टूबर १९५६ को लंदन में SCUA का उद्घाटन किया गया। इस

सब में १२ राष्ट्र सम्मिलित हुए। सब के मन में दो विचार थे— (१) ऐसी स्थिति आ जाये कि मिथ्री सरकार स्वेज संचालन के कार्य को नियमित ढंग से संचालित करने में असमर्थ हो जाय ता प्रयोक्ता राष्ट्र अपने २ जहाज स्वेज नहर में से भेजे और (२) यदि मिथ्री सरकार उन जहाजों को प्रवेश न करने दे, तो सभी प्रयोक्ता राष्ट्र स्वेज नहर का बहिष्कार करें। मिथ्र ने प्रयोक्ता सभ को किसी प्रकार की मान्यता नहीं दी।

२६ सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने सुरक्षा परिषद के सामने इस समस्या का रास्ता। मिथ्र ७ मी इसके दसरे दिन एम्नोर्फेच प्रस्ताव के विरुद्ध भील की। सयुक्त राष्ट्र सभ में स्वेज नहर की समस्या को लेकर काफी वाद विवाद हुआ। अन्त में १३ अक्टूबर १९५६ को सुरक्षा परिषद के प्रयत्नों में ६ सूत्री तत्वों पर आधारित प्रस्ताव पर मिथ्र ने अपनी सहमति प्रदान कर दी। प्रस्ताव के ६ सूत्र इस प्रकार थे—(१) बिना किसी भेद भाव के, स्वेज नहर, सभी राष्ट्रों के जहाजों के लिये खुली रहनी। (२) मिथ्र का सर्वोच्च सत्ता का सम्मान अनिवार्य है। (३) स्वेज संचालन की नीति अलग राजनीति से पृथक् रहे। (४) शुल्क का निणय मिथ्र तथा प्रयोक्ता सभ मिल कर करे। (५) शुल्क राशि का एक भाग स्वेज नहर के विकास कार्यों पर व्यय किया जाये और (६) स्वेज कम्पनी तथा मिथ्र के आपसी झगड़े का फैसला पंच निणय द्वारा हो।

इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र सभ ७ आठवीं वार्तालाप का द्वार पुन खोल दिया और आधार भूत तत्वों पर समझौता आ हा गया। पर ३ २६ अक्टूबर १९५६ का बिना किसी सूचना या ठोस आधार के इजरायल ने मिथ्र पर आक्रमण कर दिया। अगले दिन इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने मिथ्र और इजरायल को युद्ध बंदी के सम्बन्ध में वारह घण्टे की चर्चावनी दी। इजरायल ने इसे स्वीकार कर लिया परन्तु मिथ्र ने इसे ठुकरा दिया क्योंकि सहाइ के सम्बन्ध में वह बिल्कुल निर्दोष था। इस पर

इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने मिथ्र पर आक्रमण कर दिया। कुछ

मिथ्र पर लागू का कथन है कि मिथ्र पर किया गया आक्रमण एक आक्रमण सुनिश्चित योजना का परिणाम था। इस आक्रमण के लिये मिथ्र तैयार नहीं था। फिर भी उसने कड़ा प्रतिरोध किया।

२० अक्टूबर को अमेरिका की प्रार्थना पर सुरक्षा परिषद का अधिवेशन बुलाया गया जिसमें अमेरिकन प्रतिनिधि ने इंग्लैण्ड तथा फ्रांस पर जल्दबाजी का तथा गलत कदम उठाने का आरोप लगाया और युद्ध विराम का प्रस्ताव रखा। इंग्लैण्ड और फ्रांस के निषेधाधिकार के कारण अमेरिकन प्रस्ताव स्वीकार न हो सका। १ नवम्बर को महासभा के सामने पुन प्रस्ताव रखा गया जो २ के विरुद्ध ६२ मतों के बहुमत से पास हो गया। परन्तु इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने सगर्न युद्ध विराम की घोषणा करने पर बल दिया। इससे मिथ्र की स्थिति काफी कमजोर हो चुकी थी। ६ नवम्बर १९५६ का रुम न इंग्लैण्ड तथा फ्रांस को युद्ध बन्दी की चेतावनी दी। ७ नवम्बर को युद्ध बन्द हो

गया। १५ नवम्बर १९५६ का संयुक्त राष्ट्र सभ की मना युद्ध बंदी शर्त में जा पहुँची। धीरे २ इंग्लैण्ड, फ्रांस और इजरायल की सेनाओं को सम्पूर्ण मित्र से हट जाना पड़ा। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र सभ के प्रयत्नों के फलस्वरूप स्वेज संकट को हल करने का प्रयत्न किया गया।

स्वेज संकट तथा मित्र पर किये गये आक्रमण के परिणाम बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। स्वेज नहर के बन्द हो जाने से मध्य पूर्व से यूरोप को भेजे जाने वाले तेल में भारी कमी आ गई जिसके कारण यूरोप के सामने तेल की समस्या खड़ा हो गई। आक्रमण के परिणाम स्वरूप इंग्लैण्ड और फ्रांस के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान का बहुत धक्का लगा और छोटे छोटे राष्ट्रों का विश्वास कम हो गया। इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री एंथोनी ईडन को त्याग पत्र देने पर विवश होना पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मित्री आक्रमण एंथोनी फ्रेंच नीति की एक भारी पराजय सिद्ध हुआ और इसने एक बात स्पष्ट कर दी कि एंथोनी फ्रेंच के प्रभुत्व का जमाना अब लट चुका है क्योंकि इंग्लैण्ड और फ्रांस स्वेज नहर पर अपना अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित करने में असफल रहे। ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल में भी फूट पड़ गई। भारत और पाकिस्तान ने ब्रिटिश नीति का विरोध किया। कनाडा ने भी उसकी नीति की आलोचना की। यहाँ तक कि उसका जबरदस्त समर्थक देश दक्षिणी अफ्रीका भी, इन अवसर पर तटस्थ रहा। आक्रमण ने एशिया तथा अफ्रीका के देशों के आपसी सहयोग का और अधिक मजबूत बनाया। अरब राष्ट्रों ने भी एकता का परिचय दिया। सीरिया तथा सोवियत अरब ने इंग्लैण्ड तथा फ्रांस की बहुत आलोचना की तथा अपने देशों में से तेल के प्रवाह को रोक दिया। मित्र कश्मिरी जाड़न ने भी इंग्लैण्ड का अपने अड़्डा का प्रयोग करने की स्वीकृति नहीं दी। इसी प्रकार मध्य अरब राष्ट्रों ने इस अभियान को निंदा की। इससे रूप का प्रभाव बढ़ गया। रूसी चेतावनी के फलस्वरूप युद्ध बंद हो सका था। अतः मध्य पूर्व के देशों में रूस की लोक प्रियता का विकास हुआ और अब उसे एक मित्र तथा शुभ चिन्तक की दृष्टि में देखा जाने लगा। स्वेज संकट का हल करने में संयुक्त राष्ट्र सभ ने जो अथवा प्रयत्न किया और उसमें सफलता प्राप्त की, उसके कारण उसके सम्मान तथा गौरव की भी वृद्धि हुई और छोटे राष्ट्रों का संयुक्त राष्ट्र सभ में विश्वास बढ़ गया। अमेरिका द्वारा मित्र का साथ देने अथवा इंग्लैण्ड और फ्रांस की सहायता न करने के कारण इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ उसके सम्बन्धों में कुछ कटुता आ गई। मित्र का भी इस आक्रमण के परिणाम स्वरूप भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। हालांकि इसमें मित्र का सम्मान अवश्य बढ़ा और मित्र एशियाई तथा अफ्रीकी देशों की स्वाधीनता का अनुयायी बन गया। इस सम्बन्ध में, भारत सरकार ने जो प्रयत्न किया उससे भारत के सम्मान में भी वृद्धि हुई।

मिश्र अग्निपत्र में एग्लो फ्रेंच नीति को असफलता के अप्रत्यक्ष परिणाम भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इससे तेल के नवीन क्षेत्रों को खूँदने की आवश्यकता प्रतीत हुई और फनस्वरूप कनाडा तथा अमेरिका में इंग नरफ अत्यधिक ध्यान अप्रत्यक्ष परिणाम दिया जा रहा है ताकि तेल के लिये स्वेज क्षेत्र के मांग तथा मध्य पूर्व की कम्पनियाँ पर निर्भर न रहना पड़े। इसके साथ

हा, मध्य पूर्व के पश्चिम समथक देशों में अतिरिक्त तेल पाइपों के लगाने की योजना पर भी विचार किया गया। दस हजार टनेज के जहाजों के निमाण का योजना बनाया जा रही है ताकि इन हल्के जहाजों के द्वारा स्वेज माग का वहिधार करन तथा उसी भाव से तेल का यूरोप तक लाया सम्भव हो सक। अस्तुति के अधिकाधिक प्रयाग करने की दिशा में परीक्षण करना ताकि तेल की आवश्यकता ही न रहे। इससे स्वेज नहर का विकास भी रुक गया। क्योकि मिश्र अपनी ही पूँजी तथा सीमित साधनों से उसका विकास करने में असफल है। पश्चिम का निवास वह खा चुका है और नासर का साम्यवादी विरोधी नीति के कारण रूस से भी अधिक सहायता की आशा निरपेक्ष है। मध्य पूर्व में यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त हो गया। बँस युवत राष्त्र सध युद्ध विराम तथा समझौता पराने में सफल अभय रहा परन्तु आग्रा ताओ के विरुद्ध किसी प्रकार की कायबाहा न करन तथा छोड्न कदम न उठान के कारण उसके आत्म सम्मान को भी भारी टस पट्टी है। इससे इकार गही निमा जा सकता। इजरायल की सैनिक व्येठता तथा मरय दशों द्वारा मिश्र की सहायता न करने से अरब सध की निबलता स्पष्ट हो गई।

मिश्री आश्रमण का एक अप्रत्यक्ष महत्वपूर्ण परिणाम समुक्त अरब गणराज्य (UAR) की स्थापना है। मिश्र की सैनिक असफलता तथा इजरायल को सैनिक सफलता और उसके पीछे एग्लो फ्रेंच समर्थन ने मध्य पूर्व की समुक्त अरब गण राज्य सारिया दोना दगा न मिलकर, १ फरवरी १९५८ को समुक्त अरब गणराज्य की स्थापना की। गोनो दगा ने मविध्य में एग नासनाध्यक्ष, एन लोक सभा, एक समुक्त सभा तथा एक राष्ट्रीय स्वेज का रखने का निदलन किया। कनल नासर समुक्त अरब गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति चुने गये। यह प्रयत्न अरब एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना जाता है। ६ मार्च १९५८ को, अपनी स्वतंत्र सत्ता का सुरक्षित रखना हुआ, यमन भा इस सध में सम्मिलित हो गया। पश्चिम व समथक देशों द्वारा तथा जोडन ने इसका प्रत्युत्तर में अरब सध की स्थापना को परन्तु जुलाई १९५८ में इराकी आति के परिणाम स्वरूप अरब सध का अस्तित्व समाप्त हो गया।

### (४) सीरिया

प्रथम महायुद्ध के पूर्व मिश्र की भौति सीरिया भा, चाटामन मन्त्राय का मग

था। महायुद्ध के बाद सीरिया को आदिष्ट प्रथा (Mandate System) के अन्तर्गत फ्रांसीसी प्रशासन को सौंप दिया गया। सीरिया देश में वस्त्रो को तैयार करने वाला एक प्रमुख देश था। परन्तु फ्रांस को अपने आदिष्ट दायित्व को पूरा करने में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। क्योंकि सीरिया के निवासी एक दूसरे से भिन्न भाषा बोलते थे तथा जाति की दृष्टि से भी अलग-अलग उपजातियों में विभाजित थे। यातायात तथा गमनागमन का भी विशेष प्रबंध नहीं था। फ्रांस ने "विभाजन और शासन करो" की नीति का प्रयोग किया तथा सीरिया का पांच प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया। ये क्षेत्र थे—लेजान, लेटाकिया, अलक्वेष्ट्रेटा, ड्रूस तथा दमिश्क या सीरिया। इन पाँचों क्षेत्रों में पृथक् पृथक् ढंग का प्रशासन लागू किया गया तथा पृथक् पृथक् ध्वज रखे गये। पाँचों के ऊपर एक हाई कमिश्नर को नियुक्त किया गया। इस प्रकार, फ्रांस ने शुरू से ही सीरिया को विभाजित करके प्रशासन करने का निश्चय कर लिया।

परन्तु सीरियन जनता का यह विभाजन प्रच्छन्न नहीं लगा। मुस्लिम जनता को इस बात की भी शिकायत थी कि अल्प संख्यक ईसाई लोगों के साथ पक्षपात किया जाता है। ड्रूस के लोगो ने विद्रोह का भण्डा खड़ा कर दिया। १९२५ में फ्रेंच अधिकारियों ने विद्रोही नेताओं को सुलह वार्तालाप के लिये दमिश्क बुलाया। दमिश्क में विद्रोही नेताओं के साथ विश्वासघात किया गया और उन्हें जेल में ठूस दिया गया। इस पर सीरिया में जन विद्रोह की आग सुलग उठी। फ्रेंच सेना तथा पुलिस ने बबरता के साथ विद्रोह का दमन किया। दमिश्क शहर पर वायुयानों के द्वारा बम वर्षा की गई। कई गाँवों को जला कर राख कर दिया गया। फिर भी कई महीनों तक विद्रोह ही आग सुलगती रही। काफी हत्याकांड के बाद विद्रोह कुछ शान्त हुआ। १९२६ में लेजान को सीरिया से पृथक् कर दिया गया और वहाँ पर बिल्कुल अलग ढंग का शासन स्थापित किया गया।

१९२५ में सीरिया के हाई कमिश्नर सारेल (Sarrail) को वापस बुला लिया गया तथा एक योग्य राजनीतिज्ञ सीनेटर जूनरी डी जावेन (Jouvenel) को हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया। नये हाई कमिश्नर के आने के पूर्व ही सीरिया स्थित फ्रेंच अधिकारियों ने ईसाई जनता को अल्प संख्यक रखने की स्वीकृति देकर समस्या को खतरनाक बना दिया। नये शासक ने ड्रूस लोगों के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया परन्तु उनकी "शान्ति सम्मेलन" की मांग को ठुकरा दिया। अतः १९२६ के शुरू में पुनः भगडा उठ खड़ा हुआ। दमिश्क पर पुनः बम वर्षा की गई। राष्ट्र सभ के आदिष्ट आयोग ने फ्रेंच नीति की कटु आलोचना की। फलस्वरूप जावेन के स्थान पर पोंसो (Ponsot) की नियुक्ति की गई जिसने विद्रोह का दमन किया। परन्तु विद्रोह को आग भोतर ही भोतर सुलगती रही।

१९२८ में पोनसो ने मरवार के सगठन की रूपरेखा तैयार करने का दृष्टि से एक सीरियन सविधान सभा को ग्राहून किया। इस सविधान सभा में राष्ट्रवादिओं का बहुमत था जिन्होंने स्वतंत्र गणराज्य की स्थापना पर जोर दिया। इस पर सविधान सभा ने अधिवेशन को स्थगित कर दिया गया। १९३० में हाई कमिश्नर ने एक सविधान प्रस्तुत किया जिसने अनुसार सीरिया में गणराज्य की स्थापना की व्याख्या थी परन्तु साथ ही फ्रेंच आदिष्ट सत्ता का अकुल तथा सीरियन विदेश नीति पर फ्रेंच नियंत्रण भी घोषा गया। प्रारम्भ सन्धान के अनुसार एक लोक सभा तथा एक राष्ट्रपति जा कि हमें मुस्लिम हो होगा का व्यवस्था की गई। राष्ट्रपति का चुनाव लोकसभा द्वारा होने तथा राष्ट्रपति को अत्रि पांच वर्षों तक रखने की व्यवस्था की गई थी। १९३२ में इस सविधान के अनुसार अन्तर्व्यवस्था वातावरण में प्रथम चुनाव हुये। फ्रेंच हस्तक्षेप के कारण राष्ट्रवादियों को केवल १५ स्थान ही मिल सक और ५४ स्थान पर प्रगतिशील या फ्रेंच समर्थन दल का अधिकार हो गया। लोक सभा ने सीरिया के एक पूर्णजीपान महमद अली बे एल आबेद को गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति चुना।

१९३३ में मार्टेल सीरिया का नया हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया। उसने सीरियन प्रधान मंत्री के साथ एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये जिसमें यह व्यवस्था की गई कि चार वर्षों के बाद फ्रान्स राष्ट्रसंघ से सीरिया को धरना सदस्य बनाने की सिफारिश करेगा। आगामी २५ वर्षों तक, फ्रान्स सीरियन विदेश, सैनिक तथा आर्थिक मामलों पर अपना नियंत्रण जारी रखेगा। परन्तु जब मार्टेल को यह मालूम हुआ कि लोक सभा इस दस्तावेज को स्वीकार नहीं करेगी तो उसने दस्तावेज वापस कर दिया तथा सविधान सभा को भी भंग कर दिया गया। लोकसभा का विरोध केवल राजनीतिक कारणों से ही नहीं था बल्कि आर्थिक कारणों का भी प्रधानता थी क्योंकि फ्रेंच शोषण के कारण सीरिया की आर्थिक स्थिति काफी दयनीय हो चुकी थी।

नितम्बर १९३६ में फ्रान्स और सीरिया के बीच दूसरी संधि हुई जिसमें तीन वर्षों के बाद सीरिया की पूर्ण स्वतंत्रता देने का आश्वासन दिया गया। इस पर तुर्की ने प्राथमिकता की कि नये सीरिया में अल्लेक्जेण्डेट क्षेत्र में जिनमें एटियोक नगर भी सम्मिलित है, एक अलग स्वतंत्र राज्य की स्थापना की जाय क्योंकि इस क्षेत्र के अधिकांश निवासी तुर्क थे। फ्रान्स ने इस प्रश्न को राष्ट्रसंघ की कोसिन के संमुख रखा जिसने इस स्वीकार नहीं किया। इस पर अल्लेक्जेण्डेट क्षेत्र में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। १९३८ में यूरोप की राजनीतिक स्थिति खतरनाक होती जा रही थी, अतः परिस और अकारा (तुर्की) के मध्य इस सम्बन्ध में शीघ्र ही एक समझौता हो गया जिसके अनुसार फ्रान्स-तुर्की नियंत्रण के अन्तर्गत अल्लेक्जेण्डेट को एक स्वायत्त शासन राज्य बनाने का निश्चय किया गया। इस समझौते को शीघ्र ही कार्यान्वित भी कर दिया गया। तुर्की सेना भी इस क्षेत्र में पहुँच गई। नये चुनाव कराये गये और सितम्बर १९३८ में प्रथम विधान सभा

का अधिपेशन गुरु हुआ। नवीन राज्य का नाम हत्ती गणराज्य (Republic of Hatay) रखा गया।

नवीन गणराज्य का जीवन बहुत अल्पायु साबित हुआ। १९३६ में, जब मूरप का राजनीतिक स्थिति बहुत नाजुक हो गई, तो इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों ही तुर्की के सहायता का प्राप्त करने के आकांक्षी थे। इंग्लैण्ड ने तुर्की के साथ एक पारस्परिक सहायता संधि करली। फ्रांस ने भी ऐसा ही किया। परन्तु उसे संधि की कीमत खुफानी पड़ी। हत्ती गणराज्य का अधिपति भाग तुर्की को देने पर विवश होना पड़ा। अवशिष्ट भाग पुनः सीरिया को दे दिया गया। इस प्रकार हत्ती गणराज्य का अन्त हो गया।

सीरिया ने इस संधि का विरोध किया। क्योंकि फ्रांस का आदिष्ट क्षेत्र का भूभाग किसी दूसरे देश को हस्तांतरित करने का अधिकार नहीं था। इटली और जर्मनी ने सीरिया का पक्ष लिया। आदिष्ट आयोग ने भी फ्रांस की भत्सना की परन्तु फ्रांस डटा रहा। उसने १९३६ की फ्रांको सीरियन संधि का अनुसमर्थन भी नहीं किया क्योंकि फ्रांस ऐसी सकटपूर्ण स्थिति में भूमध्यसागर के क्षेत्र का खाली करने के पक्ष में नहीं था। इस पर सीरिया में विद्रोह ठठ खड़ा हुआ। फ्रांस ने सविवान को रद्द कर दिया और तानाशाही शासन की स्थापना की। इसी समय द्वितीय महायुद्ध का मूलपात हुआ।

जून १९४० में फ्रांस के पतन के उपरान्त सीरिया में घुरीराष्ट्रो का प्रभाव बढ़ने लगा। मई १९४१ में सीरियन अधिकारियों ने घुरी राष्ट्रों का करने हवाई अड्डा का प्रयोग करने का अधिकार दे दिया। वास्तव में इन अड्डों का प्रयोग ईराक के विद्रोही नेता रगीद अली की सहायता के लिये किया गया था। ब्रिटेन पूरा स्वाधीनता इसे सहन नहीं कर सकता था। अतः जून १९४१ की ब्रिटिश

फौजाने सीरिया पर आक्रमण किया और १४ जुलाई तक सम्पूर्ण सीरिया उनके अधिकार में आ गया। ब्रिटिश फौजों के साथ फ्रैंच जनरल कैटो (Catroux) भी था। उसने घोषणा की कि स्वतंत्र फ्रांस सीरिया को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर देगा। २८ मितम्बर १९४१ को उसने सीरिया की स्वतंत्रता की घोषणा की परन्तु कुछ फ्रांसीसी नवागामी ने प्राचीन साम्राज्यवाद की स्थापना का प्रयत्न किया। सीरिया में इन प्रयत्नों के विरुद्ध, फ्रैंच विरोधी प्रदर्शन किये गये। मई १९४५ में राष्ट्र ध्यापी विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री चर्चिल ने तत्कालीन फ्रैंच सरकार के अध्यक्ष जनरल डोगाल से शांति स्थापित करने का कहा। २१ जून को सीरिया ने समस्त फ्रैंच नागरिकों को अपनी सेवा से मुक्त कर दिया। मार्च १९४५ में सीरिया ने जर्मनी तथा जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की तथा अप्रैल में सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार १९४५ में मध्य तक सीरिया को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। राष्ट्रवादी दल के नेता कुर्वतमनी ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।



फिर भी एक समस्या बच गई। सीरिया की भूमि से निदे ११ गेना को हटाया। ११  
परिस तथा लन्दन ने १३ दिसम्बर १९४५ को एक मधुका घोषणा में कहा कि वे मध्य  
पश्चिम अपनी अपनी मजिद दुखदियों का हटा लेंगे। परन्तु सीरिया को इसमें माराप नग  
हृष्टा और ८ फरवरी १९४६ को उमरी इम मामने का मधुका राष्ट्रसंघ की मुखा परि  
षद के सामने रखा। हालांकि कम के निगपापितार के कारण मुखा परिषद की  
स्थिति पर पहुँचने में असफल रहो परन्तु इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने २० अप्रैल १९४६ तक  
अपना सेनाएं हटा ली।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त मध्यपूर्व का प्रमुखा के लिय कम और अमेरिका का जो  
प्रतिपोगिता शुरू हुई उसके बार म सीरिया भी अछूना नहीं रहा परन्तु इसी समय  
इजरायल राज्य की स्थापना में अरब राष्ट्रवाद की भावना भी अधिन बनयती हो गई  
और सीरिया अरब लोग का मदक्ष बन गया। १९४६ म मिश्रवर इजरायल के आक्रमण  
तथा इंग्लैण्ड और फ्रांस के द्वारा इजरायल का पन लेकर युद्ध में सम्मिलित हान, मिश्र  
की पराजय परन्तु पराक्रम के प्रदर्शन आदि घटनाओं ने सीरिया का जनता तथा नेताओं को  
बाफी प्रभावित किया और उन्होंने अखिल अरब राज्य की स्थापना का स्वप्न दखना  
शुरू कर दिया। मिश्र के साथ सीरिया का मिलानर एक मधुका अरब गणराज्य का  
स्थापना करके उन्होंने अपने स्वप्न को भूत रूप देने का प्रयत्न किया है। भागा है कि  
सभी अरब राज्य सीरिया का अनुसरण करन हुए एक अरब संघ में सम्मिलित हाकर  
अरब गवित के उन्धान में अक्षय योगदान देंगे।

## (५) लेबनान

प्रथम महायुद्ध के पूर्व लेबनान सीरिया का एक प्रांत था। महायुद्ध के उपरान्त  
सीरिया को आदिष्ट प्रणाली के अन्तगत फ्रांसीसी प्रशासन को सौंप दिया गया। फ्रांस  
ने लेबनान को सीरिया में पृथक कर दिया और एक पृथक शासन प्रणाली लागू की।

लेबनान मध्य मागर के पूर्वी तट पर स्थिति एक छोटा सा

फ्रेंच प्रशासन राज्य है परन्तु अपनी भौगोलिक तथा सामरिक स्थिति के कारण  
मध्यपूर्व म एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अरुत पूर्वी मध्य

मागर के तट पर एक विंगल व्यापारिक बंदरगाह है। निकट पूर्व का विंगल आधुनिक  
हवाई अड्डा भी लेबनान की भूमि पर ही है। इसके अतिरिक्त इराक ( किरकुव ) तथा  
सौदी अरब से तेल की पाइप लाइन्स लेबनान के मिडोन तथा ट्रिपोली बंदरगाह तक  
आनी ह अर्थात् इराक और सौदी अरब का तेल लेबनान के बन्दरगाहों से विदेशों  
का भेजा जाता है। लेबनान निकट पूर्व तथा मध्यपूर्व के देशों का प्रवेश द्वार है। इस

रण क्षेत्रफल तथा आबादी म छोटा होता हुआ भी इसका स्थान महत्वपूर्ण है।

३० नवम्बर १९५६ को फ्रांस ने लेबनान के साथ एक संधि की जिसके अनुसार तीन वर्षों के उपरांत फ्रांस ने लेबनान को स्वतंत्रता देने तथा उसे राष्ट्र सभ की मददगारता दिलवाने का आश्वासन दिया और बन्ने में लेबनान के सामरिक मुद्दा का उद्धार करने का अधिकार सुरक्षित रखा। लेबनान के राष्ट्रवादियों ने इस संधि का विरोध किया और फ्रांस ने भी इस संधि का अनुसमर्थन नहीं किया। द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने ही लेबनान में प्रत्यक्ष रूप से फ्रेंच शासन की पुनर्स्थापना की गई तथा सविधान सभा का भंग कर दिया गया। इस पर लेबनान में विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसे बर्बरता के साथ दबा दिया गया।

जून १९४० में फ्रांस के पतन से लेबनान में फ्रांस का प्रभाव क्षीण पड़ने लगा गया और घुरी राष्ट्रीय का प्रभाव बढ़ गया। ब्रिटेन इस बर्दाश्त नहीं कर सका और ८ जून को उसने सीरिया तथा लेबनान पर आक्रमण कर दिया पूर्ण स्वाधीनता और १४ जुलाई १९४१ तक सम्पूर्ण लेबनान पर उसका अधिकार हो गया। २६ नवम्बर १९४१ को फ्रेंच जनरल फाट्रू या बेट्रो ने लेबनान की स्वतंत्रता की घोषणा की।

१९४२ में ब्रिटेन तथा अमेरिका ने लेबनान को भा यता दे दी और उसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये परन्तु फ्रांस की घुरी नीयत से लेबनान में राष्ट्रवादी विद्रोह उठ खड़ा हुआ। लेबनान सरकार ने समस्त फ्रेंच नागरिकों को अपनी सेवा में मुक्त कर दिया। १ मार्च १९४५ को लेबनान ने जर्मनी तथा जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की तथा अप्रैल १९४५ के सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया तथा संयुक्त राष्ट्र सभ के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर भी किये। सीरिया की भाँति लेबनान में भी विद्रोही सेनाएँ जमी हुई थी। अतः सीरिया और लेबनान ने मिलकर सुरक्षा परिषद में अपनी की अर अन्त में ३० अप्रैल १९४६ को विदेशी सेनाएँ हटानी गई।

जुलाई १९५२ की मिथी राजप्राप्ति ने लेबनान को काफी प्रभावित किया। लेबनान में ईसाई तथा अरब बसे हुए हैं। ईसाईया तथा कुछ अरबों का झुकाव पश्चिम की तरफ है तथा अधिकांश अरबों का झुकाव राष्ट्रवाद की तरफ है। १९५६ में राज सभ ने राष्ट्रवाद का धोर अधिक भड़का दिया और १ ५ लेबनान में सभ के लेबनान गृह-युद्ध की लपटों में तथा विद्रोही राजनीति की चालों में पँस गया। उस समय लेबनान के राष्ट्रपति चामों (Chamoun) और प्रधान मंत्री सामी सोलह थे और उनका झुकाव पश्चिम की तरफ था और उन्होंने आइज़न हावर सिद्धान्त का स्वीकार कर लिया था। लेबनान के राष्ट्रवादी दल के नेता अब्दुला याफ्नी तथा सामन सालम न सरकार की नीति की बहुत आलोचना की क्योंकि उनका झुकाव मिथ्य तथा सीरिया की तरफ था—जो तत्स्थ नीति का पालन कर रहे थे।

८ मई १९५८ का रात्रि को सरकार विरोधी अखबार 'टेनीफाफ' क प्रधान सम्पादक नासिब मतानी को बैस्ल में बल्ल कर दिया गया। सरकार विरोधी दलों ने इस बल्ल के पीछे सरकार का हाथ बतलाया और उहान विराध प्रदर्शन किया, हडताल की तथा सरकारी नीति की कटु आलोचना की। इसका परिणाम बहुत बुरा निकला और लेबनान में गृह युद्ध शुरू हो गया। अमेरिका के सूचना विभाग को जला दिया गया। तेन की पाइप लाइनो का काट दिया गया। विद्रोहियो न चारों से त्याग पत्र देने का माँग की। लेबनान के विद्वान मन्त्री डा० चाल्स मलिक ने इस विद्रोह में मिश्र तथा सीरिया का हाथ बताया तथा उन्होंने कहा कि इन देशों से विद्रोहियों का सहायता मिल रही है। इससे विद्रोहो और अधिक क्राधित हो उठे और संपूर्ण लेबनान गृह युद्ध का रंगमंच बन गया। २२ मई को लेबनान ने सुरक्षा परिषद के सामने इस समस्या को प्रस्तुत किया तथा मिश्र और सीरिया पर विद्रोह को उकसाने एवं विद्रोहियों की अस्त्र शस्त्र से सहायता देने का आरोप लगाया। सुरक्षा परिषद काफी खोज बिन से इस रिण्य पर पहुँची कि लेबनान के आरोप सही नहीं ह। परन्तु लेबनान अपनी बात पर डटा रहा और उसकी मान्यता थी कि विद्रोहियों ने काफी लोग मिश्र तथा सीरिया से आये हुये ह और वे शक्ति के बल पर सरकार का हल्ला उठटना चाहते ह। इसके बाद लेबनान सरकार ने अमेरिका से सहायता की अपील की। अमेरिका ने यथा शीघ्र अपनी सेना को भेजने का आश्वासन दिया और १५ जुलाई १९५८ को अमेरिकन जहाजी बेडे के १५०० ना सैनिक बैस्ल पहुँच गये। २० जुलाई तक १०,००० अमेरिकन सैनिक लेबनान में पहुँच गये और इनकी सहायता में विद्रोह को दबा दिया गया।

लेबनान में अमेरिकन सेना को भेजने का मुख्य कारण जुलाई १९५८ का ईराक आति तथा साम्यवाद का तथा मिश्र राष्ट्रवाद का भय था। परन्तु लेबनान के विनाही नेता तथा लोकसभा के अध्यक्ष बदल आसरीरा ने विदेशी सेना के आगमन का घोर विराध किया तथा इसे अपने देश की सर्वोच्च सत्ता पर एक घातक प्रहार माना। १५ जुलाई को रूप ने सुरक्षा परिषद के सामने लेबनान से अमेरिकन सेना की वापसी का प्रस्ताव रखा परन्तु प्रस्ताव पास नहीं हो सका। १३ अगस्त १९५८ को इस समस्या के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र सभ की महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। राष्ट्रपति आइजा हाबर ने अमेरिका की नीति को स्पष्ट करते हुए कहा कि अमेरिका अपना सना हटाने को तयार है यदि लेबनान की वैधानिक सरकार उसे ऐसा करने को बहे या संयुक्त राष्ट्र सभ लेबनान सफ्ट का दूर कर सके। रूसी प्रतिनिधि ने अमेरिका पर आरोप लगाया कि वह तेल के प्रतापन में लेबनान में डटा हुआ है। २३ अगस्त को महासभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें महामन्त्री को अधिकार दिया गया कि वे इस सफ्ट को सुलझाने तथा अमेरिकन सनाओं की वापसी के सम्बन्ध में प्रयत्न करे।

संयुक्त राष्ट्र सभ में लेबनान की समस्या पर वाद विवाद हो रहा था और लेबनान की भूमि पर गृह युद्ध जारी था। राष्ट्रपति चामौ का कार्यकाल समाप्त होने वाला था। २१ जुलाई को लेबानीज लोकसभा ने प्रधान सेनापति चेहब को अपना नया राष्ट्रपति चुन लिया। इससे गृह युद्ध समाप्त हो गया क्योंकि चेहब तटस्थ लेबनान सकट व्यक्ति है। २४ सितम्बर को राष्ट्रपति चेहब ने करामी को का अन्त प्रधान मंत्री नियुक्त किया। करामी का नई सरकार ने अमेरिका से अपील की कि वह यथा शीघ्र अपनी सेना हटा ले। अब अमेरिकन सेना का वहाँ रहना बठिन हो गया क्योंकि वैधानिक सरकार ने यह माग रखी था। अतः अमेरिकन सेनाओं को लेबनान से हटना पड़ा और २६ अक्टूबर १९५८ तक समस्त अमेरिकन सैनिक वापस चले गये। इस प्रकार लेबनान की समस्या का समाधान हुआ।

### (६) जोर्डन

प्रथम महायुद्ध के पूर्व जोर्डन ओटोमन साम्राज्य के सीरिया प्रान्त का एक अंग था। १९१८-२० तक उसकी स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। सेब्रे की संधि से फिनिसीन का क्षेत्र ब्रिटेन को, आदिष्ट देश के रूप में सौंप दिया गया। इसी आदिष्ट क्षेत्र से ट्रांस जोर्डन के प्रथम क्षेत्र का अभ्युदय हुआ। जेरिक हुसैन, जिसने प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की सहायता दी थी, के पुत्र अब्दुल्ला को १ ट्रांस जोर्डन का अभ्युदय अप्रैल १९२१ को, ब्रिटिश सहायता से जोर्डन का सिंहासन प्राप्त हो गया। अंग्रेजों के इस कृत्य ने अरब के इब्न साउद को प्रोत्तिन कर दिया और वह अब्दुल्ला को अग्रहरण वर्त्ता ही मानता रहा। १९२७ में जिदा की संधि से दोनों के सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ और यथा स्थिति को बनाये रखने का आश्वासन दिया गया। २० फरवरी १९२८ का पार्म जोर्डन संधि के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने जोर्डन को नाम मात्र के लिये कुछ प्रशासनिक अधिकार दिये। परन्तु १९१६-४५ तक वास्तविक दृष्टि से ट्रांस जोर्डन ब्रिटेन का उपनिवेश बना रहा। द्वितीय महायुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने जोर्डन का स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया और १९४६ में ब्रिटेन ने जोर्डन को प्रत्याम प्रयास प्रस्तुत करने का विरोध किया। २२ मार्च १९४६ को आम्स जोर्डन संधि पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार ट्रांस जोर्डन की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया तथा जोर्डन ने ब्रिटेन को अकाबा तथा मालफाक के अर्द्धों पर अधिकार तथा ब्रिटिश सेना को रखने की बात स्वीकार कर ली। ब्रिटेन ने इसके बदले में जोर्डन को १६ करोड़ रुपये वार्षिक की सहायता देना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार जोर्डन स्वतन्त्र हो गया और ब्रिटिश सरकार की सहायता से उसका पुनरावस्थापन लग गया। ब्रिटेन के लिये जोर्डन का सहयोग बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि जोर्डन अरब राज्यों के केन्द्र में स्थित था। अतः सामरिक दृष्टि से बहुत

महत्वपूर्ण था। मित्र की शक्ति से जाउन को जनता काफी प्रभावित हुई परन्तु जौन क पासज हुमैन और प्रधान मंत्री नुन्सी ने मित्र की तरफ झुकना ठीक नहीं समझा। ये दोनों पश्चिम व समर्थक थे। जब मित्र, सारिया तथा सीरी भरव न जोर्डन पर बहुत जोर डाला ता जोर्डन ने अपनी घाघिर् स्थिति का राग झलपना शुरू कर दिया। १६१७ के प्रारम्भ में, उपरोक्त तीनों ने जोर्डन को इस गाने पर निम्न यह पश्चिम का साथ छोड़ दे ता, १६ कराइ रूप घाघिर् की सहायता देना स्वीकार कर लिया। नाबुन्सी पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। उमर भाइजनहावर मिदान का अस्वीकार कर दिया तथा मित्र सारिया और सीरी भरव के साथ समझौता कर लिया। इतना ही नहीं बल्कि १२ फरवरी १९४७ का उमने १५८ की घाग्ल जाउन शक्ति का भा र्द करने तथा ब्रिटिश सना को जोर्डन खाली करने की घोषणा की। अप्रैल १९४९ में जार्डन ने सीरियन सघ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का विचार किया। नाबुन्सी सरकार की इन कार्यवाहियों में इंग्लैंड तथा अमेरिका दानी चिन्तित हो उठ। उन्होंने जाउन के दासन हुसैन का घाघिर् सहायता का प्रलोभा दिया जिसके परिणाम स्वरुप नाबुन्सी की प्रगान मंत्री पद से हटा दिया गया। इन पर जाउन में उपद्रव उठ खड़ा हुआ परन्तु सेना की सहायता से इन विद्रोह को दबा दिया गया। हुसन ने इस गिहा व पीछे साम्यवादो रुस का हाथ बतलाया।

मित्र और सीरिया के द्वारा सङ्गठित भरव गणराज्य की स्थापना से जाउन का राजनीति पर काफी प्रभाव पड़ा और अमेरिकन प्रभाव व कारण जाउन ने इराक के साथ मिलकर भरव सपीद राज्य (Arab Federal) जोर्डन में सन्ट State की स्थापना की। यह १४ फरवरी १९५८ को का गई थी। १४ जुलाई १९५८ का इराक में सैनिक क्रांति हा गई और इराक के राजा तथा प्रधान मंत्री दूनों का, जो पश्चिम क वफादार मन्त्र थे, मौत के घाट उतार दिया गया। इससे जाउन की चिन्ता बढ गई और यह भय भा उपनम हो गया कि कहीं इराक मना जोउन पर आक्रमण न कर दें। इराक की भाति जाउन में भी सैनिक क्रांति हान की सम्भावना थी। अत १७ जुलाई को जार्डन क पासक ने इंग्लैंड तथा अमेरिका से यथा सीघ्र सैनिक सहायता देने की अर्जी का। ब्रिटेन ने तत्काल सहायता भेजी और १८ जुलाई तक २००० सैनिक जाउन की राजधानी अम्मान पहुँच गये। सन्ध्या की बात थी कि १५ जुलाई से लबलान में अमेरिकन सना भी उतर रही थी। इससे मध्यपूर्व में विनाश उत्पन्न स्वाभाविक था।

पहले बतलाया जा चुका है कि १३ अगस्त १९५८ का सङ्घुक्त राष्ट्र सघ की महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया गया था—लेबान की समस्या पर विचार करने के लिये। इसी सम्मेलन में जाउन में ब्रिटिश सना की उपस्थिति से उत्पन्न विक्षोभ की भी चर्चा की गई और जाउन से ब्रिटिश सना हटाने की माग की गई। महासभा ने सङ्घुक्त राष्ट्र सघ के महामंत्री को इस सम्बन्ध में अधिकार दे दिया था।

उनके प्रयत्न के परिणाम स्वरूप तथा लबनान की समस्या के समाधान के कारण स्थिति में सुधार हा गया और २ नवम्बर १९५८ तक ब्रिटिश सेनाओं ने जाड़न खाली कर दिया। परन्तु आपसी भय अभी तक बना हुआ है।

### (७) इराक

इराक का प्राचीन नाम मेसोपोटेमिया था। प्रथम महायुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने तुर्की व तान प्रान्तों, बसरा, बगदाद और मौसुल पर अधिकार कर लिया था। मौसुल क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तेल तथा इराक के रास्ते ब्रिटिश भारत की सुरक्षा को दृष्टि से इंग्लण्ड को इस दृष्टि में अत्यधिक रुचि थी। सन् १९२० में उसने इस क्षेत्र का आदिष्ट अधिकार प्राप्त कर लिया। परन्तु इराक की जनता का आदिष्ट प्रथा का पूर्ण ज्ञान नहीं था। वह इसे भी एक प्रकार में आधिपत्य समझती थी और तुर्की आधिपत्य से मुक्त होकर ब्रिटिश आधिपत्य का स्वीकार करने की तैयार नहीं थी। सन् इराक में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसको काफी कठिनाई के बाद दबाया जा सका। इस प्रकार इराक, शुरू से ही ब्रिटेन के लिये सिर दब बन गया।

इराकी भावना को पहचान लेने के बाद, ब्रिटेन ने दूसरा तरीका अपनाया। २ अगस्त १९२१ को ब्रिटेन ने गेरिफ हसन के पुत्र फैजल का इराक का राजा घोषित कर दिया परन्तु वास्तविक शासनसूत्र अपने हाथ में रखा। इससे इराकी जनता का राष्ट्रीय प्रेम पुनः भड़क उठा और लाचार होकर १९२४ में, इराक में लोकमतात्मक शासन स्थापित करना पड़ा। परन्तु इससे राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव कम नहीं हुआ क्योंकि राष्ट्रीयता पूर्ण स्वतन्त्रता की माग कर रहे थे। ३० जनवरी १९१६ तथा १४ दिसम्बर १९२७ को इंग्लैण्ड ने इराक के साथ संधि की और इराक की स्वतन्त्रता देने का आश्वासन भी दिया परन्तु इससे भी स्थिति में अन्तर नहीं पड़ा। वास्तव में, इंग्लैण्ड इराक में अधिक समय तक रुकना नहीं चाहता था परन्तु काम के कारण उस रुका पड़ा। क्योंकि फ्रांस को भय था कि इंग्लैण्ड द्वारा इराक खाली करने में उसके आदिष्ट क्षेत्र सीरिया पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। ३० जून १९३० को इंग्लैण्ड ने इराक के साथ एक और नूतन संधि की। इस संधि के अनुसार इंग्लैण्ड ने इराक की राष्ट्र सभ की सदस्यता दिलवाने तथा सदस्यता मिलने पर आदिष्ट प्रथा का समाप्त करने का आश्वासन दिया। इसके बदले में इराक न ह्वाजिया आदि हवाई अड्डों पर ब्रिटिश अधिकार तथा इराकी भूमि से ब्रिटिश सैनिकों का गुजरने का अधिकार प्रदान किया।

३ फरवरी १९३२ को इराक को राष्ट्र सभ का सदस्य बना लिया गया। इराक ने गैर इराकी अल्प संख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा तथा विदेशी नागरिकों के अधिकारों के सम्मान का वचन दिया। इस प्रकार ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त हुआ

परन्तु ब्रिटिश प्रभाव जारी रहा। इराक अपने चक्का को निभाने में असमर्थ रहा और अल्प संस्थान असौरियनों का इराकी अत्याचार का गिनार बनना पड़ा। मामला बहुत अधिक सगौन हो जाता परन्तु इराकी सरकार ने शीघ्र ही अपने कृत्या की क्षमा याचना करली। १९३३ के मध्य में फैजल की मृत्यु हो गई और उसका अनुमव हीन २१ वर्षीय युव राजा इराक का नामक बना जा इराक की राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति को सभालने में असमर्थ रहा। ४ अप्रैल १९३६ को बगदाद के समीप एक दुपटना में राजा की मृत्यु हो गई। इराकी जनता को इसमें ब्रिटिश नीति का हाथ दिखलाई दिया जिसके परिणाम स्वरूप ब्रिटिश विरोधी उपद्रव हुए। इन उपद्रवों के पास इटली और जर्मनी का हाथ था।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद इराक की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लव पच के कारण अमदिग्र हो गई। तेल का बहुमूल्य स्रोत होने के कारण इराक के सहयोग की मित्रराष्ट्रों को अत्याधिक आवश्यकता थी और फासिस्ट शक्तियाँ भी उनकी तरफ ललचाई नज़रों से देख रही थी। मितम्बर १९३६ में इराक ने जर्मनी के साथ अपने राजनीतिक सम्बन्धों को समाप्त कर दिया परन्तु अप्रैल १९४१ में रशीदमली ने मौजूदा सरकार का तख्ता पलट लिया और स्वयं प्रधानमंत्री बन गया। रशीदमली जर्मनी का समर्थक था। अतः ब्रिटिश सेना ने इराक में प्रवेश किया और १ मई में रशीदमली के साथ युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध में रशीदमली पराजित हुआ और अक्टूबर १९४१ में पश्चिम समर्थक नूरी अस सय्यद के नेतृत्व में मन्वीन सरकार का गठन किया गया। नूरी १९४४ तक अपने पद पर कायम रहा। १६ जनवरी १९४३ को इराक ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। १९४२ में इराक और रूस के बीच राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त इराक में साम्यवादीयों का प्रवृत्तियाँ बढ़ी लगी। इससे पश्चिमी राष्ट्र चिन्तित हो गये। १६ जनवरी १९४८ को इंग्लण्ड ने इराक के साथ एक नई संधि का जिसके अनुसार ब्रिटेन ने राजकीय रेलवे तथा बसरा बंदरगाह का आर्थिक नियंत्रण इराक को सौंप दिया। हवाई याता तथा धुआबा के हवाई अड्डे भी इराक को लौटा दिये गये हालांकि इनका नियंत्रण ब्रिटिश हवाई सेना के अन्तर्गत रखा गया। इराकी जनता का यह संधि पसंद नही आई और बगदाद में भयंकर उपद्रव उठ खड़ा हुआ जिसमें २० लोग मारे गये। जनमत के विरोध के भय से इराक ने इस संधि का अनुसमर्थन नही किया।

मध्यपूर्व में साम्यवाद के बढ़त हुए प्रसार को रोकने के लिये पश्चिमी गुट ने बगदाद संधि का निर्माण किया। इसका उद्भव २४ फरवरी १९५५ की तुर्की-इराकी रण संधि से हुआ था। बगदाद संधि का उल्लेख वागहूँ अध्याय में किया जा चुका है। इराक बगदाद संधि में सम्मिलित हो गया, पश्चिम का पक्षधर बन गया परन्तु जर्मन मित्र तथा सीरिया की तरफ मुँह हुआ था। १९५८ में मिन और सीरिया द्वारा मरुत

अरब गणराज्य की स्थापना ने इराकी जनता के राष्ट्रवाद का उत्तेजित कर दिया परन्तु इराकी सरकार ने जोहन के साथ मिलकर अरब सघीय राज्य की स्थापना करते जनता का आगा पर पायी पेर लिया। सनिको में भी विद्रोह की भावना बढ़ने लगी। १४ जुलाई १९५८ को जबकि इराकी राजा फ़ैज़ल द्वितीय तथा उसका प्रधानमंत्री नूरी अस्सय्यि बगदाद संधि के सम्मेलन में भाग लेने के लिये तुर्की के इस्तम्बूल नगर की यात्रा की तयारी में लगे हुये थे, इराकी सेना ने विद्रोह का विग्रह बना दिया और इन दोनों का मोन क घाट उतार दिया गया। सैनिक क्रांति का नेतृत्व ब्रिगेडियर कामिम ने किया। क्रांति का मूल ध्येय इराक को पश्चिम के प्रभुत्व से मुक्त करना, अरब राज्यों के साथ एकरता एक सहानुभूति बढ़ाने वाले गणराज्य की स्थापना करना था। २७ जुलाई को कामिम ने इराकी शासन संचालन के लिये एक अस्थायी संविधान की घोषणा की। इराक को बगदाद संधि से मुक्त करने की घोषणा भी कर दी गई। इससे पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा निमित्त मध्यपूर्व संगठन ड्रिन्न भिन्न हो गया और उन्होंने कामिम को सरकार का तत्त्वा पलटन का अध्यक्ष प्रयत्न शुरू कर दिया। ८ मार्च १९५९ का उत्तरी इराक में स्थित मौमुल में कर्नल अब्दुल वहाब ने कामिम सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर लिया परन्तु इस विद्रोह को शीघ्र ही कुचल दिया गया। यत्न में आकाशवाणी का विश्वास है कि इस विद्रोह के पीछे पश्चिमी शक्तियों का हाथ था।

इराकी क्रांति संयुक्त अरब गणराज्य की बहुत सी आशाएँ थी। इराक के संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित होने की भी आशा थी परन्तु कामिम राष्ट्रवाद का कट्टर उपासक निकला। इसीलिए कुछ लोगों की यह धारणा है कि मौमुल विद्रोह के पीछे कर्नल नासर का हाथ था और यही कारण है कि संयुक्त अरब गणराज्य के इराक स्थित राजदूतावास के अनेक अधिकारियों को यथाशीघ्र इराक छोड़ने का आदेश दिया गया था। इसी प्रकार साम्यवादियों का भी क्रांति संयुक्त की आशाएँ थी। परन्तु कामिम साम्यवाद तथा साम्राज्यवादी तत्त्वा से पृथक् रहने हुए इराक की उन्नति के पक्ष में है। कामिम की इस राष्ट्रीय नीति के कारण इराक की स्थिति अधिक गौबनीय बन गई है और वह चारों तरफ से घिर गया है। बगदाद पेट्र से पृथक् हो जाने के कारण पश्चिमी दशा के साथ उसके सम्बन्ध बिगड़ गये हैं। संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित न होने के कारण मिस्र तथा सीरिया से भी उसके सम्बन्ध बिगड़े हुए हैं और साम्यवादियों का अपनी आवश्यकियों का उचित अवसर न देने के कारण वह साम्यवादियों के सहयोग से भी बचिन हो गया है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि इराक के अन्दर ही कामिम का भयव शत्रु पैदा हो गये और उसके शत्रु प्रतिदिन उसकी हत्या करवाने का ताक में लगे हुए हैं।

## (८) सोदी अरब

पचासवां शताब्दी में अरब राष्ट्रवाद को स्फूर्तता का एक प्रत्यक्ष परिणाम-सोदी



अरब राज्य का स्थापना है। बीसवीं सदी के प्रथम दशक के बाद हा बहावा (Wahabi) सम्प्रदाय ने एक पराक्रमी पुरुष इब्न साउद ने सौदी अरब राज्य मौली अरब में अपनी स्थिति को काफी मृदु बना लिया था। २६ दिसम्बर १९१५ को इंग्लैण्ड ने उसका साथ एक संधि की जिससे अनुसार इब्न ने प्रथम महायुद्ध में तत्पर रहने तथा हजाज पर आक्रमण करने का वचन दिया। जसा कि पहले बताया जा चुका है कि तुर्की के विरुद्ध अरबों की सहायता प्राप्त करने की दृष्टि में ब्रिटेन ने मक्का के गेरिफ हुसैन से संधि करली थी और उसे समुक्त अरब का गामक बनाने का वचन दिया था। युद्धकाल में हुसैन ने हजाज के बादशाह की उपाधि धारण कर ली थी। युद्ध समाप्ति के बाद ब्रिटेन अपने वचन का पालन करने में असमर्थ रहा। इससे हुसैन क्रोधित हो उठा। हालांकि हुसैन का हजाज का मुल्तान, उसके एक पुत्र अब्दुल्ला का जॉर्डन का गामक तथा दूसरे पुत्र फजल का इराक का गामक बना दिया गया था परन्तु हमसे उसे मन्तोष नहीं हुआ और उसने बर्माय संधि का अनुममर्शन करने से इनकार कर दिया और आखिरी प्रयास का भी घोर विरोध किया। सामन की संधि में भी उसने सम्मिलित होने से अस्वीकार कर दिया।

७ मार्च १९२६ को हुसैन ने अपने जीवन की भयंकर झूल की। जसा कि पहले बताया जा चुका है कि मुम्ताज क़माल ने खलीफा पद का अन्त कर दिया था। हुसैन ने अपने आपको खलीफा घोषित कर दिया। इस कारण इब्न साउद क्रोधित हो उठा और उसने मक्का पर आक्रमण कर लिया। ३ अक्टूबर १९२४ को हुसैन ने अपने पुत्र अली के पक्ष में अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया परन्तु अली भी इब्न का पराजित करने में असमर्थ रहा। २२ दिसम्बर को जिदा पर इब्न का अधिकार हो गया। ८ जनवरी १९२६ को इब्न हजाज का बादशाह तथा नज्द का मुल्तान बन गया और उसने इन दोनों प्रदेशों को एक करके अपने राज्य का नया नाम 'सौदी अरब' रखा। ७ जून १९२६ को मक्का में इम्नामी कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और बहुत से मुस्लिम राज्या ने इब्न के सौदी अरब राज्य का भाग्यता प्रमाण कर दी।

इंग्लैण्ड और सौदी अरब के मध्य जोड़न और सौदी अरब का सीमा के कारण सम्बन्ध स्थापित न हो सके। इसका प्रमुख कारण यह था कि इब्न को जॉर्डन के गामक अब्दुल्ला न, जिसे इंग्लैण्ड ने शासक बनाया था घृणा थी। परन्तु फिर भी २० मई १९२७ को जिदा की संधि से जॉर्डन और सौदी अरब के मध्य समझौता हो गया और इसके परिणाम स्वरूप इंग्लैण्ड तथा सौदी अरब के सम्बन्धों में भी सुधार हो गया। १९३४ में यमन और मौली अरब के मध्य विवाद उठ खड़ा हुआ परन्तु लोग दोनों के बीच एक अनाक्रमक समझौता हो जाने से विवाद समाप्त हो गया।

सौदी अरब के इतिहास की एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटना तेल की खोज है।

२६ मई १९३३ को अमेरिका को ६० वर्ष के नये उत्तरी सौदी अरब में तेल नि्वालन की मुविधारें प्रदान की गईं जिसके परिणाम स्वरूप वेसीफोर्निया ऑयल कम्पनी की स्थानता की गई जो १९३४ में टेक्सेज कम्पनी में विलीन हो गई और उसका नाम अरेबियन अमेरिकन ऑयल कम्पनी (ARAMCO) पड़ गया ।

द्वितीय महायुद्ध के सूत्रबान स सौदी अरब की स्थिति गम्भीर हो गई परन्तु इन् न तटस्थता की घोषणा की । इसके उपरान्त भी उसने मित्र राष्ट्रों की हर तरह की मुविधारें प्रदान की । युद्धकाल में अमेरिका ने इन् का अत्यधिक आर्थिक सहायता प्रदान की । सौदी अरब ने इस सहायता व बदले में अमेरिका को तेल कम्पनी के पास ही हवाई अड्डे बनाने की स्वीकृति प्रदान की । यास्ता सम्मेलन के बाद, राष्ट्रपति

रूजवेल्ट के व्यक्तिगत मार्गलाप करने के बाद १ मार्च १९४५ को सौदी अरब न जर्मनी के विरुद्ध युद्ध पापणा कर दी । अप्रैल १९४५ में उसने सनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया तथा सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य बन गया ।

१९५२ में मिथ्री क्रान्ति ने सौदी अरब की काफी प्रभावित किया । बने अन्य अरब राज्या की भांति यह भी फिलस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना का विरोधी था और अरब सघ का सक्रिय सदस्य भी बन गया था । परन्तु मिथ्री क्रान्ति द्वारा प्रतिपादित अरब एकाता का कारण सौदी अरब के राजनीतिज्ञ न मतभेद उत्पन्न हो गया । बर्नल नासर की व्यक्तिगत युवराज (मोदा अरब के) का मन भाह लिया और वे मिथ के साथ कदम मिला कर बल्ले की बात पर विचार करने लग गये । इन् इस प्रकार की नीति के पक्ष में नहीं है । हालांकि उन्हें बर्नल नासर से कोई विशेष शिकायत भी नहीं है । इराक की क्रान्ति का भी सौदी अरब पर काफी असर पड़ा है । साम्यवाद के प्रसार से भी उस चिन्ता है क्योंकि सौदी अरब में इन् की तानाशाही हकूमत है । इस समय उसकी नीति अरब राज्या की एकाता, एशिया तथा अफ्रीका के देशों के साथ सहयोग परिचय तथा सोवियत सघ—दोनों के साथ मैत्री पूर्ण व्यवहार, अल्जीरिया के स्वतन्त्रता सघप का समर्थन आदि है । एक तरह से उसकी नीति भारत की विदेश नीति के काफी निकट है । इतना हाते हुए भी उसमें अरब राष्ट्रवाद के तत्व सक्रिय है ।

## (६) ईरान

मध्य पूर्व की राजनीति में ईरान का एक महत्वपूर्ण स्थान है । इस्लाम धर्म का अनुयायी होते हुये भी ईरान अरब राज्या से भिन्न है । क्योंकि अरब लोग कट्टर सुन्ने हैं जबकि ईरानी लोग शिया हैं । इसके अतिरिक्त ईरान तेल का भंडार है । भौगोलिक दृष्टि से भी ईरान का काफी महत्व है क्योंकि यह रूस की सीमा पर स्थित है । १९०७ की एन्ग्लो रशियन संधि के द्वारा इंग्लंड तथा रूस ने ईरान को अपने अपने प्रभाव क्षेत्र में बांट लिया था ।

प्रथम महायुद्ध के घन में मशूम ईरान ब्रिटिश मना के परिहार में या मोरिटान की दृष्टि इग अफगा मरगित प्रग्न बनान की थी । इसी कारण परिस गति सम्मेलन में ईरानी प्रतिनिधि मदन का कोई स्थान नहीं मिया गया । इसके बाद एक कारण यह भी था कि १९१६ में ही ब्रिटेन ने बाजर बंग के ईरानी सामक स एर गति कर ती थी जिनके द्वारा ईरान ब्रिटिश साम्राज्य का एक गति प्रान्त बन गया ।

ईरान मोर ब्रिटेन की इस संधि म ईरानी सा मोघिन हो उडे मोर दुबल सनान गिता री के नैतुत्व में विद्रोह का विग्न बज रहा । रिजा री ने इस संधि का मानने म इकार कर दिया । ईरानी मजालिम साबसमा ) न मो इस संधि का दुक्ता मिया । फरवरी १९२१ म रिजा री ने राष्ट्रीय मरवार की स्थापना का घोषणा का मोर यह स्वयं इस मरवार का प्रधान मंत्री बन गया । इसी सा न राष्ट्रीय सभा म साविजन रुस के साथ एक मंत्री संधि की जिनके अनुमति रुस ने १९२७ की संधि म प्राप्त ईरानी अधिकार का पोषण कर दिया । इस परिस्थिति में ब्रिटेन न ईरान के साथ संपर्क करना उचित नहीं समझा मोर उसने सताप कारण कर लिया ।

रिजा री एक महानायकी व्यक्ति था । १९२५ में ईरान की विधान मभा ने फारस ( ईरान ) के प्राचीन बाजर बंग के गान का अपदस्थ कर दिया तथा रिजा री का शाह घोषित किया । इस प्रकार रिजा री ईरान का शासक बन गया । फारस का नाम ईरान इसी सा म रखा गया था । रिजा री के नैतुत्व में ईरान की अत्यधिक उन्नति हुई तथा विदेशी शक्ति का प्रभुत्व समाप्त हो गया मोर ईरान सही अर्थों म एक स्वतंत्र राज्य बन गया । राजनीतिक क्षेत्र में ईरान अरब राज्या स पृथक हो रहा । हालांकि १९२६ म उसने तुर्की तथा अफगानिस्तान के साथ मंत्री संधि मम्पादिन की ।

तेल की समस्या का लहर इग १९०३ के साथ ईरान के सम्बन्ध में सुधार नही हो सका । १९२७ में दोन देश ने बाच इस सम्बन्ध म एक संधि भी हुई परन्तु १९१२ में पुन सम्बन्ध विगड गये । ईरान ने एग्लो ईरानियन आयल कम्पनी का दो गड सुविधाओं का रद्द कर दिया । इस पर ब्रिटेन ने इरान की खाडी म अपन युद्ध पाव भेज दिये तथा राष्ट्र सभ में भी इस समस्या को रखा गया । परन्तु दोन देश की आपसी बातलाप के कारण विवाद का अन्त हो गया मोर आपस में समझौता हो गया जिसके अनुसार ईरान को तेल कम्पनी से प्राप्त होने वाले लाभ की बग दिया गया तथा ईरान न कम्पनी को दो जाने वाली सुविधाओं की अधिक को ६० बष तक बढ़ा दिया ।

नाजी जर्मनी के साथ ईरान के सम्बन्ध घनिष्ट होने लगे । जर्मनी ने ईरान की आर्थिक स्थिति सुधारने, उद्योग घणों को विवसित करने तथा कृषि में सुधार करने के सम्बन्ध में बहुत सहायता दी । द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में ईरान ने अपनी तटस्थता की घोषणा की परन्तु रिजा री का भुवाव जर्मनी की तरफ था । जब जर्मनी न रुस पर आक्रमण किया तो ईरान ने ब्रिटेन तथा रुस का ईरानी यातायात तथा अर्थ

मार्गों का उपयोग करने का अधिकार देने से स्पष्ट मना कर दिया। इस पर मित्र राष्ट्रों ने ईरान पर आक्रमण कर लिया। युद्धकाल में ईरान एंग्लो अमेरिकन क्षेत्र तथा रूसों के क्षेत्र में बँटा रहा। मित्र राष्ट्रों ने रिजा खाँ को पदत्याग करने का विवश किया और उसके पुत्र मोहम्मद रिजा को सितम्बर १९४१ में सिंहासन पर बैठाया जिसने २६ जनवरी १९४२ को ब्रिटेन तथा रूस के साथ संधि कर ली। संधि के अनुसार ईरान का स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया गया तथा यह आश्वासन दिया गया कि युद्ध समाप्ति के बाद ६ महीनों के अन्दर अन्दर ईरान से विदेशी सेनाएँ हटा ली जायेंगी। ब्रिटेन ने अपना वचन पूरा कर दिया परन्तु सोवियत रूस ने सनाएँ हटाने से अस्वीकार कर दिया। मामला समुक्त राष्ट्र संधि में रखा गया। परन्तु रूस अपनी बात पर डटा रहा। आखिर काफी वाद विवाद के उपरान्त मई १९४६ में रूस ने अपनी सेना ईरान से हटाई।

ईरान के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण है। कुछ लोगों की धारणा है कि कनल नासर का इससे प्रेरणा प्राप्त हुई और स्वेज कम्पनी का राष्ट्रीयकरण किया गया। १५ मार्च १९५१ को ईरानी लोकसभा ने डा० मुसद्दिक को प्रधान मंत्री बनाया जिसने तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया। इससे एंग्लो ईरानियन ऑयल कम्पनी ईरान की सम्पत्ति बन गई। डा० मुसद्दिक को साम्यवादी सत्ता तद्वत् अथवा कामगार दल से सम्बन्ध रखने के संदेह के कारण अपदस्थ कर दिया गया अथवा यह कहना अधिक ठीक रहेगा कि शाह के प्रधान सेनापति जनरल जहदी ने १९५० में डा० मुसद्दिक की सरकार, जो कि पूर्ण रूप से तानाशाह बनती जा रही थी और जिसके द्वारा ईरानी राजतन्त्र का अस्तित्व खतरे में था, का तख्ता उलट दिया गया और उस पर अभियोग चलाया गया तथा ३ वर्ष के कारावास की सजा दी गई। इसके बाद ईरान अमेरिका के आर्थिक चंगुल में उलझता गया।

आधुनिक ईरान की नीति के प्रमुख सिद्धांत है—पश्चिम का अनुकरण, बगदाद संधि (जो अब समाप्त हो चुकी है) की सन्नयन सदस्यता तथा ईरानी राष्ट्र की आर्थिक प्रगति। १९५६ में डा० मुसद्दिक को मुक्त कर दिया गया परन्तु अब उनका प्रभाव नष्ट हो गया है फिर भी कुछ लेखकों का विचार है कि ईरान का राष्ट्रवाद धर्मात्मा काफ़ी सगठित है और मुसद्दिक की शक्ति काफ़ी सबल है जो भी हो, ईरान सोवियत संधि का विरोधी तथा पश्चिम का एक वफादार साथी प्रमाणित हो चुका है। मध्य पूर्व में होते हुए भी, मध्यपूर्व की राजनीति, विशेषकर अरब इजरायल संघर्ष के प्रति वह उन्मत्त है।

मध्यपूर्व के प्रमुख राज्यों की घटनाओं का अध्ययन करने के बाद हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी कुछ विशेषताओं के कारण मध्यपूर्व को साम्राज्यवाद का शिकार बनना पड़ा था और आज मध्य पूर्व तीन पृथक् पृथक् शक्तियाँ निष्कर्ष के बीच उलझा हुआ है। ये शक्तियाँ निम्न हैं—(१) पश्चिम

का साम्राज्यवाद ( २ ) साम्यवाद का आर्थिक समानवाद और ( ३ ) मित्र का अखंडवाद । इससे अतिरिक्त पृथक् पृथक् राज्यों के परस्पर विरोधा राष्ट्रीय हिंनों तथा आपसी भगदा के कारण भी मध्यपूर्व की स्थिति शोचनीय होता जा रही है । इसका परिणाम क्या निकलेगा—इस सम्बन्ध में भविष्यवाणी तो नहीं की जा सकती परन्तु मित्र तथा इराक की ज़ातियाँ एवं इन ज़ातियों के परिणाम स्वरूप स्थापित शासनो की सफलता से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह निश्चय ही दूर नहीं जबकि विदेशी शक्तियों को—चाहे वह रूस या अमेरिका, का खबरदस्त निकलना पड़ेगी और मध्य पूर्व के देश यदि एकता व बंधन में नहीं भी बंध सके तो भा सहा अर्थों में स्वतंत्र अब यही हो जायेंगे ।

उत्तरी अफ्रीका के ट्यूनिशिया, मारोक़ा तथा सीरिया का विदेशी साम्राज्यवाद के जाल में उलझाया रहने के लिये कौनसा प्रयत्न नहीं किया गया था परन्तु समा प्रयत्न असफल सिद्ध हुए । इन देशों का स्वाधीनता दनी ही पड़ी । इसी प्रकार अल्जीरिया को परतंत्रता की बैटियों में जकड़ने के लिये हर सम्भव साधन तथा प्रलोभन का सहारा लिया जा रहा है परन्तु हमारा अनुमान विश्वास है कि एक दिन विदेशी शक्तियों का अल्जीरिया के राष्ट्रवादी आन्दोलन के सामने घुटने टेकने ही पड़ेंगे ।

मध्यपूर्व अर्थात् पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के देशों का, सम्यता और सङ्गति के प्रसार की आट में घोपण करना अब सम्भव नहीं है क्योंकि वह जमाना लद चुका है जबकि एशिया और अफ्रीका के जनमत में राजनीतिक चेतना जाग्रत नहीं हुई थी । आज एशिया जाग उठा है । अफ्रीका जाग उठा है । पश्चिम की शक्तियाँ अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए हमारा घोपण करने में कदापि सफल नहीं हो सकती । केवल आपसी सहयोग तथा सामूहिक कल्याण की नीति के द्वारा वे अपनी आवश्यक वस्तुओं का प्राप्त कर सकती हैं ।

# पन्द्रहवाँ अध्याय

## पूर्वी एशिया का जागरण

( सुदूर पूर्व की समस्या )

पूर्वी एशिया का जागरण बीसवीं सदी के बिन्दु इतिहास का एक क्रांतिकारी अध्याय, एक महत्वपूर्ण मोड़ तथा सामाजिक चिह्न है। पश्चिमी साम्राज्यवाद के राजनीतिक अत्याचार तथा आर्थिक शोषण के भार से दबे हुए पिछड़े तथा कमजोर एशियाई देशों की जनता का राष्ट्रीय स्वाधीनता सघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में एक विनिष्ट स्थान रखता है। 'एशिया एशियावासियों का है' की जापानी हुंकार ने साम्राज्यवादी श्वेतांगों के काले हृदयों को आनकित कर दिया था। जापानी पराजय के बाद भारत, ब्रह्मा, श्री लंका, हिन्दुशिया तथा हिन्द चीन और मलाया की स्वाधीनता ने पश्चिमी साम्राज्यवाद को छिन्न भिन्न कर दिया है। एक महान शक्ति के रूप में साम्यवादी चीन का उत्थान पश्चिमी युद्ध के प्रभाव पर एक प्राणघातक प्रहार है जिसके बचाव का साधन ठूठने में उसकी सम्पूर्ण सम्पदा और सामर्थ्य लगी हुई है। इन सब बातों को समझने के लिये पूर्वी एशिया का, विशेष कर चीन और जापान के इतिहास का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

१९१९-१९५९ तक, पूर्वी एशिया के इतिहास की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) जापान का अप्रत्याशित उत्थान—जापानी साम्राज्य का विकास तथा प्रसार और १९४५ में नाटकीय ढंग से उसका अन्तर्धान। (२) साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध चीनी जनता का राष्ट्रीय आन्दोलन तथा धीरे धीरे अपने ध्येय पूर्वी एशिया के इति की प्राप्ति में सफलता प्राप्त करना। दीर्घकालीन गृह-युद्ध के शास की विशेषताएँ उपरांत १९४९ में साम्यवादी दल के नेतृत्व में सर्वप्रमुख सम्पन्न जनतांत्रिक गणराज्य की स्थापना। (३) पश्चिमी राष्ट्रों ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और हाल्लैण्ड के विरुद्ध एशियाई देशों भारत, इण्डोनेशिया, श्री लंका, हिन्द चीन, बर्मा तथा मलाया का राष्ट्रीय आन्दोलन—साम्राज्यवादियों द्वारा स्वाधीनता सघर्ष का दमन और एशियाई जनता की विजय। (४) प्रथम महायुद्ध के उपरांत, पूर्वी एशिया में जापान, अमेरिका, रूस और ब्रिटेन के आनखों के हिना में सघर्ष—जापान का

जमनी की तरफ झुकाव और एशिया के चिये नूतन व्यवस्था की जापाना घापणा । और पश्चिमी देशों द्वारा जापानी युद्धाधिकारिया का अनुष्ठ करने का अमफल प्रयत्न । अन्तिम विशेषता है द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त साम्यवादी प्रभाव की वृद्धि और पूजा वादी अमेरिका द्वारा उनके अवरोध का प्रयत्न ।

## (१) चीन की कहानी

उन्नीसवीं सदी के प्रथम अर्द्धांश तक, चान "रमणीय एवान्तवास" (Splendid Isolation) का, गतिपूर्वक उपभोग करता रहा और पश्चिम के राष्ट्रों साम्राज्यवादी तत्वा के सम्पर्क से दूर रहा । परन्तु यूरोप के सम्य राष्ट्रों ने अकारण ही शक्ति प्रदर्शन द्वारा चीन के विशाल एवं व्यापक सामुद्रिक तट का द्वार उन्मुख चीन में साम्राज्य करने की विश्राम लिया । वम १६ वीं शताब्दी में, पुतगालियो वादियों का प्रवेश ने मकाओ द्वीप में अपनी व्यापारिक बोटिया स्थापित करके चान से व्यापार करना शुरू कर दिया था और कैंटन में अंग्रेज, डच तथा स्पनिश भी वम गये थे परन्तु इन लोगों की स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी । इन्हें चीनी भूमि पर नहीं रहन दिया जाता था और किसी प्रकार की व्यापारिक सुविधाएं भी नहीं दी गईं । इतना ही नहीं, बल्कि इन्हें वृत्ति तट से अपमानित भी किया जाता था । यूरोपियनों की भांति रूस ने भी चीन के साथ व्यापारिक सम्बंध बढ़ाने का प्रयत्न किया था और वह एक संधि करने में भी सफल रहा परन्तु संधि की शर्तें इतनी कठोर थी कि रूसी व्यापार का बड़ा जम नहीं सका ।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक नई योजना तैयार की । चीन के लागू का अफीम का नंगा करना सिखाया और भारत में चीन को अफीम निर्यात किया जाने लगा । चीनी सरकार मादक अफीम के बुरे परिणामों ने विनिर्णय उठा और उसने अफीम के व्यापार का निषेध कर दिया तथा इस नियम का उल्लंघन करने वालों को कठोर सजा देने की घोषणा की । इसमें ब्रिटिश सरकार को चीन से युद्ध छेड़ने का बहाना मिल गया और फलस्वरूप अफीम युद्ध (१८३९-४२) लड़ा गया । मध्य कालीन अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित चीनी सेना आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित ब्रिटिश सेना का सामना न कर सकी और लावार होकर २६ अगस्त १८४२ को चीन ने इंग्लैंड के साथ नानकिंग की संधि पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार पांच चीनी बंदरगाहों—कैंटन, अमोय, फूचा निंगपो और शशाई, का अंग्रेजों को व्यापारिक अधिकार अनुमति दे दिया गया तथा हांग कांग का द्वीप इंग्लैंड को सौंप दिया गया । इस प्रकार सर्व प्रथम इंग्लैंड ने चीन के साथ सम्बंध स्थापित किया । धीरे धीरे अन्य यूरोपियन राज्यों ने भी चीन के साथ व्यापारिक संधियाँ कीं । १८४४ में अमेरिका ने भी संधि कर ली । इस संधि में एक नवीनता थी—अतिरिक्त अधिकार (Extra-territorial Jurisdiction) अर्थात् विदेशी अमेरिकन नागरिकों के अभियोगों की सुनवाई का अधिकार चान का न

होकर अमेरिका को होगा। यह चीन की सार्वभौम सत्ता पर एक प्रहार था। पर तु फिर भी चीन अपनी उन्नति की तरफ ध्यान न दे सका, अपनी सन्निव क्षमति का आधुनिकरण नहीं कर सका।

१८५६ में, एक फ्रेंच रोमन कॅथोलिक पादरी को चीनी सरकार ने प्राण दण्ड का सजा दी। इंग्लैण्ड और फ्रांस को युद्ध का बहाना मिल गया और उन्होंने युद्ध छेड़ दिया। चीन पुन पराजित हुआ और १८६० में उसे दूसरा बार लोचर होकर संधि करनी पड़ा। इस संधि के अनुसार चीन के ११ बंदरगाहों को (पहल पाव के अतिरिक्त) विदेशियों के लिय खोल दिया गया तथा यांगत्सी नदी को भी विदेश व्यापार के लिये उन्मुक्त कर दिया गया। गंगातीर अधिकार को और अधिक उदार बना लिया गया। युद्ध के समय में रूस ने आमूर नदी के उत्तर के चाना प्रांत और उपरी क पूव के प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये। चीन को इन प्रांता पर रूसी अधिकार को मायता देना पड़ा। १८७६ में मार्गरी हत्याकांड को घाट में यूरासियन देशों ने चान से और अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

चान में विदेशी साम्राज्यवाद के प्रसार में जापान भी अपने प्रलाभन को न रोक सका। १८६४ ई५ में चीन जापान का युद्ध हुआ जिसमें चान पराजित हुआ और उसे गिमानसिको की संधि पर हस्ताक्षर करना पड़ा। इसके अनुसार लिम्पोतो गु का प्रदेश फारमोसा का द्वीप, पस्कागरस द्वीप समूह पर जापान का अधिकार मान लिया गया तथा कारिया का जापाना प्रभाव के अन्तर्गत एक स्वतंत्र राज्य मान लिया गया। इसके पूव कोरिया चीन का एक भग था। जापान के 'पील साम्राज्यवाद' से घबड़ा कर रूस, जर्मनी और फ्रांस ने जापान को चेतावनी दी कि वह लिम्पोतो गु (मचूरिया का प्रदेश) पुन चान का लोटा दे। जापान ने स्थिति की गम्भारता को देखते हुए सुभान मान लिया।

रूस ने चीन का लिम्पोतो गु दिलवाकर चीनी मित्रता प्राप्त कर ली। जिसके परिणाम स्वरूप मचूरिया में रूस को रेलवे लाइन बनाने का अधिकार मिल गया। धीरे धीरे पकिंग सरकार रूसी प्रभाव में आता गई। १८६७ में दो जर्मन पादरियों की हत्या की घोट में जर्मनी ने चीन से बल पूवक सिंग ताओ बंदरगाह तथा बियाऊ घाऊ की खाड़ी पर अपना अधिकार कर लिया और लिम्पोतो (शातुग) प्रदेश में रेलवे बनाने तथा खनिज पदार्थों के उपयोग का एकाधिकार भी प्राप्त कर लिया।

चीन में विदेशी साम्राज्यवाद के प्रसार के विरुद्ध विद्रोह छठ खड़ा हुआ जिसे मुष्टि विद्रोह (Boxer—Rising) कहा जाता है। इस विद्रोह में चीनी जनता ने विदेशियों का मोन के घाट उतारना शुरू कर दिया। जर्मन और जापानी राजदूतों को भी हत्या कर दा गई। इस पर विदेशी गन्तियों ने संयुक्त रूप से कार्यवाही की और विद्रोह का दमन किया गया तथा चीन से अनेक नूतन सुविधाएँ प्राप्त की गई। परंतु इस घटना ने चान का इतिहास बदल गया। चीन का नव जागरण हुआ और १९११ में क्रान्ति हो गई।



२ नवम्बर १९११ को चीन के मच्छू वंग के अन्तिम सम्राट ने राजसिंहासन त्याग दिया। पकिंग में चीनी जनतन्त्र की स्थापना की गई और सेनापति युआन गी-काई प्रधान मंत्री चुने गये। युआन गी-काई एक महत्ताकांक्षी व्यक्ति था। उसने विद्रोहियों का दमन शुरू कर दिया जिसके प्रत्युत्तर में नानकिंग में डा० सन यात मेन के नेतृत्व में एक सामयिक सरकार की स्थापना की गई। डा० मेन चीन की एक्ता के समर्थक थे। अंत फरवरी १९१२ में पकिंग और नानकिंग में मंचि हो गई। युआन गी-काई सम्पूर्ण चीन के राष्ट्रपति मनोनीत किये गये।

प्रथम महायुद्ध में चीन तटस्थ ही रहा। इसका एक कारण चीन की घातक स्थिति थी। १९१३ में राष्ट्रपति युआन गी-काई ने कीमितांग अथवा राष्ट्रीय दल (डा० सन का दल) को अर्थपानिक करार दे दिया और अपने स्वायत्त के प्रथम महायुद्ध हेतु राजतन्त्र की स्थापना का तथा स्वयं को सम्राट घोषित करने के प्रयत्न में लग गया। इससे चीन में विद्रोह उठ खड़ा हुआ।

दूसरा कारण जापान की नीति थी। जापान न चाहता था कि चीन युद्ध में सम्मिलित हो क्योंकि ऐसा करने से चीन का शान्ति सम्मेलन में अपना भागला रखने का अवसर मिल जाता। यह जापान के हित के विरुद्ध था क्योंकि जापान चीन को अपने प्रभाव क्षेत्र में रखना चाहता था। उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया था और चीन में स्थित जर्मन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। १९१५ में जापान ने चीन के सामने "इक्कीस मांगें" रखीं। इन मांगों को लेकर दोनों राष्ट्रों के बीच भगडा उत्पन्न हो गया परन्तु जापान की शक्ति के आगे चीन को झुकना पड़ा और उसने उपरांत मांगों पर आधारित दो संधियों पर हस्ताक्षर करके अपना पीछा छुड़ाया। १९१६ में राष्ट्रपति युआन गी-काई की मृत्यु हो गई और ली युआन हुंग राष्ट्रपति बन। कीमितांग के प्रति उसका नीति भी ठीक नहीं रही जिसके परिणाम स्वरूप कटन में डा० सनयात सेन की अध्यक्षता में मसदीय सरकार की स्थापना की गई। एक बार पुन चीन, उत्तर और दक्षिण की सरकारों में विभाजित हो गया। इसी समय (१९१७) मित्र राष्ट्रों ने चीन पर दबाव डाला कि वह जर्मनों और आस्ट्रिया हंगरी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करे। अमेरिका ने जापान को भी कहा कि वह चीन का युद्ध घोषणा करने के लिये कह। परिणाम स्वरूप अगस्त १९१७ में पकिंग सरकार ने युद्ध घोषणा कर दी। कटन सरकार ने भी युद्ध घोषणा कर दी।

महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त, चीन को भी पेरिस शांति सम्मेलन में अपना प्रतिनिधि मंडल भेजने का निमन्त्रण मिला। इस सम्बन्ध में चीन की दोनों सरकारों के बीच झूलह हो गई और एक मिलाजुला प्रतिनिधि मंडल पेरिस सम्मेलन में भेजा गया। चीनी प्रतिनिधित्व ने न केवल जापानिया के बल्कि उन सभी पेरिस सम्मेलन विदगी शक्तियों के विरुद्ध जो चीन का गायब रह थे प्रपोन और चीन की ओर उह चाल स हट जाने की प्रार्थना की। इससे विदगी

गत्तिया सतक हो गई । जापान ने चीन के जमन प्रभाव वर्ती क्षेत्र शानुा पर अपना दावा प्रस्तुत किया । इस पर चान जापान का वाद विवाद उठ खड़ा हुआ । राष्ट्रपति विल्सन ने कुछ समय तक चीन का समर्थन किया परन्तु लॉयड जॉज और कनाम गा ने जार देने हुए उससे कहा कि युष्न मधिया के कारण वे जापान का समर्थन करने को मजबूर है । अतः विल्सन को मुक्त जाना पड़ा और चीनी विरोध के उपरान्त जापान को चीन स्थित भूतपूर्व जर्मन क्षेत्रों का अधिकार प्राप्त हो गया । चीन न सधि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर लिया । उसने सेंट जर्मेन की सधि पर हस्ताक्षर करके अपने लिये राष्ट्र सध की सदस्यता अवश्य प्राप्त कर ली ।

शांति सम्मेलन में चीन की असफलता की सूचना पाते ही सम्पूर्ण चीन में जापान क प्रति तीव्र विद्रोह उठ खड़ा हुआ । छात्रागो ने इस विद्रोह में प्रमुख भाग लिया । व्यापारिया और बकरा ने भी इसमें सक्रिय भाग लिया । जापानी माल का बहिष्कार करने की घोषणा की गई । विद्रोहियों ने पेकिंग सरकार के जापान समर्थक मंत्रियों तथा कर्मचारियों पर घातक हमले किये । इससे जापान चिन्तित हो उठा क्योंकि उसके विदेशी व्यापार पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा । अतः उसने शांत प्रदेश पुन चीन को लौटाने के निय कारालाप शुरू किया परन्तु पेकिंग सरकार ने जापानी प्रस्ताव को ठुकरा दिया और विदेशी शक्तियों से आधिक सहायता की अपील की जिसमें उस सफलता नहीं मिली । एस समय पर (१९२१) अमेरिका के राष्ट्रपति ने वाशिंगटन सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया । इस सम्मेलन का वास्तविक उद्देश्य नौसैन्य का नि गस्त्रीकरण तथा सुदूर पूर्व की समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय समाधान करना था ।

नवम्बर १९२१ में शुरू होने वाले वाशिंगटन सम्मेलन की बुलाने के कई प्रयत्न एवं प्रत्यक्ष कारण थे । पेरिस शांति व्यवस्था द्वारा सुदूर पूर्व का जो हल किया गया था वनक कारण जापान और अमेरिका के मध्य तनाव उत्पन्न हो गया था । वसे १९०५

से ही जब जापान ने रूस को पराजित किया था, वाशिंगटन वाशिंगटन सम्मेलन प्रशासन टोकियो की गतिविधिया का मदह को दृष्टि से देखना बुलाने के कारण था रहा था । १९२० में अमेरिका और कनाडा को यह विज्ञान होने लग गया था कि जमन साम्राज्यवाद को पराजित करने में जापान ने अपसावृत नगण्य सहयोग ही दिया और वह एशिया में अपने व्यापार-आणिज्य तथा प्रभाव को बढ़ाने तथा चीन का जापानीकरण करने में ही लगा रहा । यही कारण था कि अमेरिका ने जापान की इक्कीस मांगों तथा शांतुण आधिपत्य का विरोध किया था । परन्तु अमेरिका और जापान के मध्य तनाव का वास्तविक कारण शांतुण नहीं था बल्कि याप (Yap) द्वीपों का । यह पश्चिमी पैरोलिन के पास एक छोटा सा द्वीप था और जापान ने अभी हाल ही इस पर अधिकार किया था । इसके पूर्व यह जमन आनि पय में था । इन द्वीप का महत्व इसके सबमरीन केबल (Submarine Cable) के होने में था । जर्मन दूध पदति ने द्वारा यह नादरलैण्ड टापूछा तथा गार्ड का

मिलाने का काम करता था। दूसरी तरफ यह समुद्री तार पद्धति के द्वारा ट्रान्सपैसिफिक अमेरिकन केवल जो कि गाम (Guam) से मनोला को मिलाता था संबंधित था। विल्सन ने इस द्वीप के अंतर्राष्ट्रीयकरण पर जोर दिया था परंतु पेरिस सम्मेलन ने इस आदिष्ट द्वीप के रूप में जापान को सौंप दिया।

वार्शिंगटन सम्मेलन को बुलाने का दूसरा प्रमुख कारण नाविक शक्ति का सीमित करना था। महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटिश, जापान और अमेरिका अपनी-अपनी शक्ति का एक बड़ा हिस्सा नाविक शक्ति के विकास पर व्यय कर रहे थे। ब्रिटेन और जापान इस व्यय का सहन करने में असमर्थ थे। अतः वे नाविक शक्ति के सीमन अथवा निशस्त्रीकरण के पक्ष में थे। अमेरिका, यद्यपि व्यय को सहन करने में समर्थ था परंतु वह भी नाविक प्रतियोगिता को समाप्त करना चाहता था क्योंकि वह युद्ध के पक्ष में नहीं था और शांति की स्थापना के लिये निशस्त्रीकरण आवश्यक था।

तासरा कारण अमेरिका की एंग्लो-जापानी संधि (१९०२) के प्रति अश्वि थी। युद्ध काल में एंग्लो जापानी सहयोग तथा पेरिस सम्मेलन में ब्रिटेन द्वारा जापान के समर्थन, ने अमेरिका का विश्वास दिला दिया कि इस संधि का उद्देश्य एशिया में जापानी नीति को बल प्रदान करना है। १९२१ में यह संधि समाप्त होने वाली थी परन्तु १९२० में संधि की पुनर्स्थापना के लिये दोनों देशों में वातावरण शुरू हो चुका था। अमेरिका को यह बात पसंद नहीं थी। हालांकि ब्रिटेन ने यह आश्वासन दिया था कि अमेरिका और जापान के मध्य यदि युद्ध छिड़ा तो संधि प्रभावकारी नहीं होगी। ब्रिटेन भी इस समय इस प्रश्न पर उलझन में पड़ा हुआ था। उसे यह तय करना था कि नई संधि के द्वारा प्रशांत महासागर में वह जापानी हितों का समर्थन कर या चीन के प्रति 'उद्घुत द्वार' (Open Door) का नीति तथा चीन की अखण्डता का समर्थन कर।

सम्मेलन बुलाने का एक महत्वपूर्ण कारण चीन और जापान के आपसी विवाद का निपटारा तथा सुदूरपूर्व की अन्य समस्याओं का समाधान करना था। अतः ११ अगस्त १९२१ का अमेरिकन राष्ट्रपति ने ब्रिटिश, फ्रांस, इटली, जापान, चीन, बेलजियम, नीदरलैंड और पुर्तगाल का, ११ नवम्बर १९२१ को वार्शिंगटन में एक सम्मेलन में भाग लेने के लिये निमन्त्रित किया।<sup>१</sup> रूप का निमन्त्रित नहीं किया गया।

नवम्बर १९२१ में वार्शिंगटन सम्मेलन शुरू हुआ और ६ फरवरी १९२२ को समाप्त हुआ। सम्मेलन में सात संधियाँ पर हस्ताक्षर किये गये। दो संधियाँ तो शक्ति के निशस्त्रीकरण से सम्बंधित थी और पाँच संधियाँ प्रशांत तथा सुदूर पूर्व की समस्या से सम्बंधित थी। इसके अतिरिक्त, सम्मेलन के बाहर परन्तु

वार्शिंगटन सम्मेलन उपस्थित राष्ट्रों के द्वारा दो और संधियाँ पर हस्ताक्षर किये गये।  
 वे परिणाम प्रथम गान्गु व सम्बंध में थी और दूसरी याप द्वीप के

१—बेलजियम, नीदरलैंड तथा पुर्तगाल का ३ अक्टूबर का निमन्त्रण भेजा गया था।

सम्बन्ध में । निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित संधियाँ का उल्लेख पष्ठ अध्याय में किया जा चुका है ।

१३ दिसम्बर १९२१ को, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जापान और अमेरिका ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसे चार राष्ट्रों की प्रगति संधि कहा जाता है । हस्ताक्षरकर्ताओं ने वचन दिया कि प्रशान्त महासागर में स्थित उनके उगमदेश द्वीपों के सम्बन्ध में वे एक-दूसरे

के अधिकारों का सम्मान करेंगे । प्रशान्त क्षेत्र में उठने वाले ऐसे

चार राष्ट्रों की किसी विमान जिससे उनके अधिकारों पर प्रभाव पड़ने की प्रशान्त संधि

प्राप्त हो तो सभी सम्बन्धित देशों का एक संयुक्त सम्मेलन किया

जायेगा । सम्बन्धित देशों के अतिरिक्त किसी अन्य देश द्वारा प्रशान्त क्षेत्र में आक्रमणकारी कार्यवाही करने पर, जिसके कारण उनके अधिकारों पर प्रभाव पड़ने की संभावना हो, तो सभी देश मिलकर विचार करेंगे । संधि की अवधि १० वर्षों की है । इसके साथ ही आमतौर पर जापानी संधि (१९११) रद्द कर दी गई । इस संधि के अनुरूप चार राष्ट्रों के बीच एक दूसरी संधि भी की गई जिसमें बहुत से शब्दों की व्याख्या मात्र है ।

६ फरवरी १९२२ को सम्मेलन में सम्मिलित सभी देशों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसे 'नौ राष्ट्रों की संधि' (Nine Power Treaty) कहा जाता है । इसका मुख्य ध्येय चीन में उक्त द्वार की नीति का पालन करना था । हस्ताक्षरकर्ताओं ने वचन दिया कि (१) वे चीन की प्रभुता, स्वाधीनता, प्रादेशिक तथा प्रशासनिक

नौ राष्ट्रों की  
संधि

निष्पक्षता का आदर करेंगे, (२) चीन में समान व्यापारिक सुविधाओं के सिद्धान्त को बनाये रखेंगे तथा उसे प्रोत्साहित करेंगे, (३) ऐसा कोई कदम नहीं उठाना या ऐसी कार्यवाही जिसका ध्येय हित सम्बन्धी क्षेत्रों की स्थापना हो, का समर्थन न

करना तथा चीनी भूमि के प्रदत्त भागों में आपसी सुविधाओं की व्यवस्था करना, (४) चीनी रेलों तथा तटों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के अनुचित भेदभाव को प्रोत्साहित नहीं करना, (५) भावी युद्ध में यदि चीन तटस्थ रहे तो उसकी तटस्थता के अधिकारों का सम्मान करना और (६) संधि की शर्तों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में हस्ताक्षरकर्ताओं के मध्य स्पष्ट पत्र व्यवहार करना ।

नौ राष्ट्रों के बीच एक और संधि भी की गई जिसके द्वारा चीन का तटवर बंदरों की स्वीकृति दे दी गई तथा विदेशी व्यापार की पूँजी का २% मुनाफा चीन का निवासी को व्यवस्था की गई । इस संधि का 'नौ राष्ट्रों की तटवर संधि' कहा जाता है ।

अमेरिकन लोगों की दृष्टि में नौ राष्ट्रों की संधि, उक्त द्वार नीति (Open Door Policy) की विजय थी जब कि आवागमन की दृष्टि में यह संधि 'वान चार्टर' (Magna Charter for China) थी । परन्तु इसका

मपनी सीमाये थी। सधि में किसी प्रकारकी अनुशास्तिया या समावेग नही किया गया था और इसका अस्तित्व मुख्य रूप से सन्निहित शक्तियो व सद्व्यवहार तथा श्रद्धा पर आधारित था। युस ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है ।<sup>१</sup> कि यह एक आत्म निगम का उदघोषणा मात्र थी न कि सापूहित सुरक्षा के लिये एक सधि थी। क्योंकि यह पूर्ण रूप से श्रद्धा पर निर्भर थी और कोई शक्ति विनी प्रकार की कार्यवाही करने को बाध्य नही था। इसी प्रकार अन्य संवका ने भी इस सधि की आलोचना की है।

४ फरवरी १९२२ को सम्मेलन के बाहर चीन और जापान के मध्य एक सधि हुई जिस पर अ य दगो ने भी हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार जापान ने गातुग प्रन्ग का पुन चीन को लौटाना स्वीकार कर लिया परन्तु इस गव चीन जापानी सधि के साथ कि सिंगताओ स्थित जापानी दूतावास, जापानी स्कूलों तथा मन्दिरों पर जापान का स्वामित्व रहेगा। सिंगताओ सिनान रेलवे की कीमत मिल जान के बाद जापान रेलवे का भी लौग दगा। गातुग क्षेत्र स समस्त जापानी अनिको को हटा लिया जायगा। इस प्रकार गातुग प्रदग पर चीन का अधिकार हा गया।

११ फरवरी १९२२ को याप द्वीप के सम्बन्ध में जापान और अमेरिका के मध्य एक सधि की गई। इसके अनुसार याप द्वीप में अमेरिका को प्रवेग सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त हो गई तथा उम याप द्वीप का ग्रामम स जोड़ने के लिये समुद्री तार की लाईनें तथा आवाशवाणा केन्द्र स्थापित करने का अधिकार मिल गया। अमेरिका-जापानी सधि के परिणाम स्वरूप अमेरिका और जापान के मध्य याप द्वीप की समस्या को लेकर जो तनाव उत्पन्न हो गया था, वह समाप्त हो गया जिसका सुदूरपूर्व की शांति पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

वाशिंगटन सम्मेलन के निणयो का अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया। पूर्वी एशिया के इतिहास मे प्रथम महायुद्ध के उपरान्त यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। पूर्वी एशिया में शांतिपन्ग सम्बन्धी की स्थापना मे पेरिस शांति सम्मेलन अमफल रहा था। वाशिंगटन सम्मेलन इस निशा म सफल रहा और पूर्वी वाशिंगटन सम्मेलन एशिया में शांति तथा व्यवस्था की स्थापना हा गई। इसके का मूल्यांकन अतिरिक्त चीन की प्रादेशिक अखण्डता का कायम रखने तथा जापान के अत्यधिक बढ़ते हुए प्रभाव को सीमित करने में भी सम्मेलन सफल रहा। इसके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड और अमेरिका तथा जापान और अमेरिका के मध्य उत्पन्न सदह और तनाव का समाप्त करने में भी वाशिंगटन सफल रहा। सधिया से एक बात स्पष्ट हो गई कि यदि भविष्य म जापान ने एशियाई भूमि पर

आन्नामक कायवाहिया जारी रखी तो इंग्लैण्ड केवल एक दर्शक मात्र नहीं रह जायेगा ।

सम्मेलन से चीन को बहुत अधिक लाभ हुआ । चीन को अपनी स्थिति सुधारन के लिये एक और अवसर प्रदान किया गया । सम्मेलन से सर्वोच्च सदस्य देगो ने चीन का आश्वासन दिया कि वे चीन की स्वतन्त्र कायवाहियों में किसी प्रकार का अड़बट डालने की दृष्टि से चीन को तत्कालीन हालतों का लाभ नहीं उठावेंगे । इस प्रकार चीन का एक प्रमुख सम्पन्न राष्ट्र की हैसियत से विश्व की गतिविधियों में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो गया । श्री विनाके ने निष्ठा है कि इससे चीन का लाभ ही हुआ क्योंकि चीन जो कुछ पहले को चुका था उससे और अधिक खोने का भय नहीं रहा ।

परन्तु वार्निगटन सम्मेलन में कुछ कमजोरियाँ भी थी । वैसे आर्थिक सुप्रबन्धन की अमानता की नीति का पालन किया गया था और जापानी सद्भावनाओं सहित इसका व्यापक परिभाषा भी प्रस्तुत की गई परन्तु फिर भी, अमेरिका और ब्रिटेन ने सनकता के साथ अपने विरोध हितों की सुरक्षा की । अर्थात् महान शक्तियों ने गतान्तरिकों पूर्व नाजायज तराफों से भी गई संधियों से उपसन्ध विरोधाधिकारों का परित्याग करने को चूँटा नहीं की । सम्मेलन ने चीन की वयाम्बिति को बनाय रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया । चीन के विदेशी शक्तियों द्वारा प्राप्त क्षेत्रों को पुन चीन का लौटाने के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चर्चा नहीं की गई । सम्मेलन के सभी निरुद्ध सदस्य राष्ट्रों का सद्भावनाओं पर निर्भर करते थे क्योंकि ऐसा कोई तन्त्र नहीं था, जिसकी ओर सगरे लागू की जा सके और गतों का उत्सर्जन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध किसी प्रकार का कदम उठाया जा सके ।

कुछ क्षेत्रों में यह विचार प्रगट किया गया कि वार्निगटन सम्मेलन जापान के लिये एक दूतनीतिक तथा राजनीतिक पगजय था क्योंकि इंग्लैण्ड और अमेरिका के दबाव के कारण ही उसे गतान्तरिक प्रदेश चीन को लौटाना पड़ा और इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के मुकाबले में कम अनुशात वाली नीति योजना स्वीकार करनी पड़ी । परन्तु यह अनिश्चिततापूर्ण है । जापान ने इस न तो किसी विदेशी दबाव के कारण और न स्वेच्छा से स्वीकार किया था । वास्तविक कारण यह था कि जापानी जनता युद्ध तथा सामरिक वातावरण से उन्नता चुकी थी और गति तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की तरफदार बन चुकी थी । हाँ युद्ध प्रिय लोग अवश्य ही असन्तुष्ट हो गये और वे वार्निगटन सम्मेलन की घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे थे क्योंकि उनकी धारणा थी कि इससे जापान का सम्मान का ठस पट्टाचढ़ गई है । चीन में जापानी हितों का समाप्त करने की साजिश का गई है । इन व गति एवं उत्सुकता के साथ उस अवसर की प्रतिष्ठा करने लगे जबकि सम्मेलन के निरुद्धों को तब पर रखकर जापानी साम्राज्यवाद की नीति को लागू किया जा सके ।

फिर भी, सम्मेलन की सफलता से इनकार नहीं किया जा सकता । यह इसी का परिणाम था कि पूर्वोक्त एशिया में आगामी दस वर्षों तक शान्ति कायम रही । एवं लेखक न लिखता है — 'मुद्ररूप में मयाहृत विरासन में प्राप्त विराथा तत्वों के उपरान्त भी इन

सधियों ने उस हद तक गति बनाए रखी जिस हद तक किसी भी लिखित पुर्जे द्वारा सम्भव हो सकती है।" ई० एच० कार ने सम्मेलन के परिणामों की चर्चा करते हुए लिखा है— 'यह सम्मेलन अत्यधिक सफल रहा क्योंकि इससे प्रशान्त क्षेत्र में युद्ध पूर्व जैसा मतुलन वापस हो गया।' निगमनीकरण के सम्बन्ध में सम्मेलन द्वारा किये गये प्रयत्नों का मूल्यांकन पष्ठ अध्याय में किया जा चुका है। इन सब विचारों से परिचित होने के बाद हम यही कह सकते हैं कि इससे चीन की स्थिति में सुधार अवश्य हुआ और यह चीन पर निम्न था कि वह अपनी स्थिति को सुधार।

अब हमें यह देखना है कि क्या चीन ने वार्गिंगटन सम्मेलन द्वारा प्राप्त अवसर का लाभ उठाया या नहीं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि १९१६ में युमान की बाई की मृत्यु पर ली युमान हुग चान का राष्ट्रपति बना था।

**चीन का उत्तरी गृह युद्ध** परन्तु उसे शीघ्र ही इस पद से अलग हो जाना पड़ा क्योंकि उत्तरी चीन के विविध सैनिक गणना (तुचनो) के मध्य पकिंग सरकार को अपने अपने प्रमुख में लाने के लिए सफल हुए थे। उधर वॉटन में डा० सेन को प्रमुख सरकार की भी स्थापना हो चुकी थी। पेरिस शांति सम्मेलन के निर्णयों का चीन की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा और चीनी जनता का झुकाव वॉटन की कामितांग सरकार की तरफ बढ़ता गया क्योंकि पकिंग सरकार ने युद्ध काल में जापान की २१ मांगों को स्वीकार करके अपनी निबन्धना का प्रदर्शन कर दिया था। इन सब घटनाओं के परिणाम स्वरूप चीन में गृह युद्ध-मुक्त हो गया। मचूरिया के सैनिक नेता चांग त्साओलिन और डा० मेन ने गठबंधन कर लिया परन्तु इस गठबंधन की सफलता नहीं मिली। चांग को एक दूसरे सैनिक नेता लू पेई—फू ने पराजित कर दिया और कन्ट्रॉल पर जनरल चेनचिउगमिंग ने अधिकार कर लिया। डा० मेन शर्षाई चले गये। लू पेई—फू ने ली युमान हुग को पुनः राष्ट्रपति बनाया। ली शांति पूरा तथा वैधानिक प्रणाली से चान में एकीकरण के पथ में था परन्तु उसके समर्थक सैनिक नेता गक्ति के द्वारा ऐसा करना चाहते थे, फलस्वरूप ली को राष्ट्रपति पद छोड़ना पड़ा और एक सैनिक नेता ल्माओ चुन का राष्ट्रपति बनाया गया। १९२४ में व ने गक्ति के सहारे चीन का एकीकरण शुरू किया परन्तु चांगत्सोलीन ने अपनी विद्युत्ती पराजय का बल्ला लेते हुए उसे पराजित कर दिया।

उधर वॉटन सरकार की स्थिति भी बदल गई थी। १९२३ में डा० सेन पुनः बज्ज लोट आये थे। इस बार उनके साथ मावियन सरकार का सलाहकार माइनेल बाराडिन भी था। मार्च १९२१ को अपने एक अतिरिक्त भाषण में डा०

**कुश्रोमितांग की प्रगति**

संगीत न अपने दल के तान प्रमुख सिद्धान्तों का धारण कर रहे थे। प्रकार थे—(१) राष्ट्रवादी विद्वानों मुविघादा, मणि

व दरगाहा, प्रभाव क्षेत्र आदि का अन्त करवा तथा चीनिया के

द्वारा चीन का गठन। (२) प्रजापत्र—जनता का संविधान मन्त्र के सदस्यों का

धुने तथा वापस जुनाने (यदि उनका प्रतिनिधि उनकी इच्छाया वा प्रतिनिधित्व न करे) तथा कुछ विषया में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार देना । (३) डा० सेन के तीसरे सिद्धान्त का अभिप्राय सामाजिक या अथवा जनता के भरण पोषण के साधनों का जुटाना था । ये तीनों सिद्धान्त साम्यवादी सिद्धान्तों के काफी निकट थे । यही कारण था कि रूस ने कुमोमिताग दल की सहायता करने का निश्चय किया । इससे अतिरिक्त एक और कारण था—वह यह कि रूसी सहायता का फलस्वरूप राष्ट्रवादी दल (कुमोमिताग) में मार्क्सवादीयों की स्थिति के दृढ़ होने की आशा थी । डा० सेन ने रूसी सहायता इसलिये स्वीकार की थी कि उसे पश्चिम देशों में महायुद्ध मिलने की सम्भावना नहीं थी ।

कुमोमिताग दल शीघ्र ही उन्नति की तरफ अग्रसर होने लगा । १९२४ में वाम्पाय्वा सैनिक संस्था की स्थापना की गई । इसके द्वारा राष्ट्रवादियों का सैनिक शिक्षा देने लगी । वाम्पाय्वा संस्था का अधिष्ठता व्यापक था परन्तु अधिकांश शिक्षण इसी थे । वाराडोन की सहायता से राष्ट्रवादी दल का भी पुनर्गठन किया गया और सरकार के साथ इसका सम्बंध घनिष्ठ कर दिया गया । रूसी प्रचारकों की दल रेव में सम्पूर्ण चीन में राष्ट्रवादी दल का प्रचार किया गया । मास्को में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया जहाँ हजारों चीनी युवक युवनिया का मार्क्सवादी सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी । इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी दल एक प्रमुख शक्ति बन गया । १९२५ में डा० सनयात सेन की मृत्यु हो गई । परन्तु रूसी मलाहकारों की सहायता से, डा० सेन के विचारों का आदर की भावना के साथ प्रचार किया गया । हाईडो ने लिखा है 'एक स्थानीय और अनभिज्ञात सरकार के अध्यक्ष की सदिग्ध स्थिति में, वह राष्ट्रीय आकांक्षाओं के लिए जो सारे साम्राज्य में चीनी लोकमत का संगठित करने वाली एक चीज थी संगठन का प्रतीक बन गया ।'

राष्ट्रवादी दल के अन्तर्गत साम्यवादी प्रभाव शीघ्र ही स्पष्ट हो गया । फरवरी १९२४ में शंघाई में जापानी शिपों के चीनी श्रमिकों ने हड़ताल कर दी और स्थिति गम्भीर हो गई जिसके साथ हिंसक आन्दोलन, ताड़ फाड़ और हत्या भी हुई । १४ मई को हड़तालियों द्वारा जबरदस्ती मिल में घुसने के प्रयत्न को विफल करने के सम्बंध में जापानियों को गाली चलानी पड़ी जिसमें एक व्यक्ति मारा गया । ३० मई को भी ऐसी ही घटना हुई जिसमें १२ दर्गों मारे गए । इस प्रकार की घटना शमीन द्वीप तथा पर ब्रिटन और फ्रांस का सुविधाएँ प्राप्त थी, में भी हुई जिसमें ३७ चीनी मारे गए । इन घटनाओं ने सम्पूर्ण चीनी लोकमत को आविष्ट कर दिया और विदेशी लोगों का मुख्य रूप में अग्रणी योगा का बहिष्कार शुरू किया गया तथा चीन से विदेशियों को खदेड़ने का प्रतिपाद की गई । इस जोशपूर्ण साम्यवादी आंदोलन की चर्चा करते हुए श्री गेथोर्न हाईडो ने लिखा है कि "तथ्य यह है कि यह घटना चीनी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के इतिहास में एक उत्प्रेक्षणीय घटना है ।"



यास्तव में, डा० सनयात सेन की मृत्यु के उपरांत चीन का इतिहास प्रायः गृह युद्ध की कहानी है। ऐसी कहानी जिसमें पात्र अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की दृष्टि में पक्ष बदलते रहते थे। उत्तरी चीन में मैनचू नेताओं ने आपसी झगडा के कारण अराजकता फैली हुई थी। कुमोमिताग में कुछ समय तक एकना च्यांगकाई शेर रही और इस बात में मनापति च्यांगकाई नेक के नेतृत्व में था उत्थान राष्ट्रवादी मना ने उत्तरी चीन के सेना नायकों के विरुद्ध सफलता पूर्वक युद्ध किया तथा यांगत्सेनदी के दोनों छोर द्विपक्ष प्रात पर अधिकार कर लिया। १९२६ के अन्त तक वृत्तर हैको पर भी राष्ट्रवाद्या का अधिकार हो गया। १ जनवरी १९२७ को हैको राष्ट्रवादिया की राजधानी बन गया। इसी समय कुमोमिताग में मतभेद शुरू हो गया। बोरोडिन के उद्देशाने पर चानी सोपा ने हैको को विदेशी वस्तियों पर आक्रमण कर दिया। इसी प्रकार की घटना क्यूकियांग में भी हुई। च्यांगकाई नेक तथा उसके साथियों को यह नीति पसन्द नहीं आई। अतः तनाव बढ़ता गया और राष्ट्रवादी दल दो प्रमुख भागों में विभजित हो गया। एक भाग साम्यवादिया की तरफ झुका हुआ था और दूसरा च्यांगकाई नेक के साथ था। १९२७ २८ में च्यांगकाई नेक उताव चनाव के मूल में डोलता रहा। १० दिसम्बर १९२७ को उसने राष्ट्रवादी सरकार के वित्त मंत्री टी० बी० मुङ्ग तथा थीमना सनयातसेन की बहन में विवाह कर लिया। इसमें उसकी नाक़ि काफी बढ़ गई। ६ जुलाई १९२८ का राष्ट्रवादी सेनापतिया ने आपसी झगडा को समाप्त करके च्यांगकाई लोक का अपना नेता स्वीकार कर लिया और एक प्रजातन्त्रिक सरकार का स्थापना की गई जिसकी राजधानी नानकिंग रखी गई तथा च्यांग को राष्ट्रपति घोषित किया गया।

परन्तु फिर भी, आगामी कुछ वर्षों में चीन की स्थिति गिरावने लग गई। क्योंकि राष्ट्रवादिया के गठन के उपरांत भी चीन का एकीकरण नहीं हो पाया था। मचूरिया में च्यांगसोलिन और उसका पुत्र च्यांगहसोलिग एक तरह से विलुप्त स्वतंत्र थे। कैंटन में साम्यवादियों का जोर था और मई १९३१ में उन्होंने एक प्रतिद्वन्दी सरकार का स्थापना भी करदी थी। हैकों तथा आसपाम के क्षेत्र भी साम्यवादियों के अधिकार में थे। फिर भी च्यांग की साम्यवादी विरोधी नीति तथा कार्यवाहिया के कारण पश्चिमो राष्ट्रा न नानकिंग सरकार की मायता प्रदान की तथा उसके साथ नई संधियाँ की गई और आर्थिक सहायता प्रदान की गई। इस प्रकार की सहायता पाकर च्यांग ने चीन के एकीकरण की याजना को कार्यावित करना शुरू किया जिसके परिणाम स्वरूप चीन शीघ्र ही पुन गृह युद्ध की लपटा में जलने लग गया। ऐसी परिस्थिति में, जापान ने सितम्बर १९३१ में चीन पर आक्रमण कर दिया।

जापान ने मचूरिया पर आक्रमण क्या किया ? इस प्रश्न को समझने के लिये उन प्रवृत्तियों को जो जापान को साम्राज्यवादी प्रचार के लिये प्रोत्साहित कर रही थी, समझना आवश्यक हो जाता है। जापान के सामने मचने अधिक महत्वपूर्ण समस्या

अपनी बढ़ती हुई जन संख्या के भरण पोषण की थी । १९५४

मचूरिया पर म जब वमाण्डर पैरो जापाग आया था तब उसकी जनसंख्या जापानो आक्रमण ३ करोड मे कुड कम थी परतु १९३१ मे लगभग ३ करोड हो ने कारण गई और प्रति वष ८ लाख के प्रतुगत ५ वृद्धि जारी थी । इस विशाल जनसंख्या का भरण पोषण एक असाध्य कार्य था ।

हृषिक द्वारा इस समस्या का समाधान हो नहीं सकता था क्योंकि कृषि योग्य एक डच भूमि भी बेकार नहीं पड़ी थी । अतः जापान को अपनी भूमि इतने लागा का बोझ उठाने में असमर्थ थी । उत्प्रवास (emigration) के द्वारा भी इस समस्या का हल होना असम्भव था । क्योंकि जापान के अपने आधीन प्रदेशों कोरिया, फारमोसा आदि, में उत्प्रवास की गुंजायन नहीं थी और आस पास के अन्य प्रदेशों जा अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा यूजोलेण्ड के आसीन थे, मे जापानियों को बसने की आज्ञा नहीं था । गौरव सरकारने एशियाई जापानियों के उत्प्रवास के विरुद्ध थी । फिर जापानिया को अपने देश के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा थी कि वे जापान से दूरस्थ प्रदेशों में बसने के आकांक्षी भी नहीं थे । अब जापान के सामने एक ही मार्ग बचा था—पूव का कारखाना बन जाना अर्थात् केवल औद्योगीकरण मे वह अपनी जनसंख्या का पेट भर सकता था । परंतु इसमें भी बहुत सी कठिनाइयाँ आ खड़ी हुई । उद्योग धंधा का चलाने योग्य कोयला और सोहे को दृष्टि मे जापान आत्मनिभर नहीं था और उसे इन वस्तुओं के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था । कच्चा माल के लिये भी उम विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था, जैसे—सूत के लिये अमेरिका और भारत पर, ऊन के लिए आस्ट्रेलिया पर तेल के लिए अमेरिका और डच साम्राज्य पर, केवल रेशम व माले मे वह आत्मनिभर था । इसी प्रकार अपने निर्मित माल के बाजार के लिए भी उसे अमेरिका तथा ब्रिटिश साम्राज्य का मुह दखना पड़ता था । संक्षेप में, स्थिति नाशुक थी और यदि ब्रिटेन तथा अमेरिका जापान का कच्चा माल देने तथा तैयार मान जाने से इन्कार कर देते तो जापान का सवनाश हो जाता । इसी भय के कारण जापान अपना स्वयं का एक विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहता था ताकि उसका कच्चा माल भी मिल जाय और तयार माल के लिये बाजार भी ।

दूसरा प्रमुख कारण जापान मे पूजोवाद का विकास था । पश्चिम के संपन्न में मान के बाद जापान मे औद्योगिक क्रांति हुई जिसके परिणाम स्वरूप पूजोवाद का विकास हुआ । पूजोवाद साम्राज्यवाद को जन्म देने का एक प्रधान कारण होता है, और जापान मे इस समय पूजोवाद इस सीमा तक विकसित हो चुका था कि देश के राजनीतिक तथा सैनिक नवागण समूहों को अंगीकार करके, वहाँ की सरकार का साम्राज्य विस्तार के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे । जापान के पूजोवादी अपने व्यवसायों और भारों का उन्नति के लिये यह आवश्यक मानते थे कि जापानी साम्राज्य का प्रसार हो ताकि वहाँ कच्चा माल तथा तयार माल के लिये बाजार उपलब्ध हो सके ।

तीसरा कारण विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव था। जसा कि तीसरे अध्याय में बतलाया जा चुका है कि कुछ कारणों से १९३०-३१ में सम्पूर्ण ममार आर्थिक मन्दी के भवर जाल में उलझ गया था। सवत्र बेरोजगारी फैल रही थी, कारखान बंद हो रहे और लोग अपनी आवश्यक वस्तुओं को भी खरीदने में अममय थे। जापान भी इस विश्व व्यापी अर्थ संकट से नहीं बच सका। अमेरिकन जनता की अर्थव्यवस्था के घट जाने से अमेरिका में, जो जापानी रेशम का एक भारी ग्राहक था, जापानी रेशम के माग (demand) पर घातक प्रभाव पड़ा। अन्य देशों में भी जापानी मान का खान बंद हो गई। चीनिया द्वारा जापानी मान का उत्तरात्तर बहिष्कार भी, जापानी व्यापार के लिये बहुत घातक प्रमाणित हुआ। इस प्रकार की स्थिति में जापानी कारखान बंद हो लगे गये और लाखों मजदूर बेकार हो गये। कृषिजन्य वस्तुओं की कीमतें भी गिरने लग गई जिससे किसानों की स्थिति दयनीय हो गई। अधिकांश साग वज के भारी बाकस दब गये। जापानी नेताओं को इस प्रकार के आर्थिक संकट से मुक्ति का जो एकमात्र मार्ग दिखलाई पड़ा—वह था, साम्राज्य प्रसार का मार्ग।

चौथा प्रमुख कारण सैनिक नेताओं तथा राजनीतिक नेताओं का आपसी मतभेद था। यहाँ पर एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि जापानी सेना तथा उसके अधिकारी सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे और लाकसमा का उन पर विनिष्ट नियंत्रण नहीं था। सैनिक नेताओं का सीधे सम्राट से सम्पर्क रखने का अधिकार एवं सुविधा प्राप्त थी। वाणिज्य सम्मेलन में जापानी राजनीतिज्ञों ने अमेरिका और इंग्लैंड से कम अनुदान में नौ सना रखना स्वीकार कर लिया था। इससे सैनिक नेता राजनीतिज्ञों से असन्तुष्ट थे। दूसरी बात यह थी कि राजनीतिक नेता नाग पू जीपतिया के हाथ की कठपुतली बन हुए थे और पू जीपति जनता का गोपण कर रहे थे। इस कारण भी सैनिक नेता उनसे क्राधित थे। आर्थिक मन्दी के प्रभाव को कम करने की दृष्टि से राजनीतिज्ञ सना का विघटन तथा सैनिक शक्ति को कम करने का प्रस्ताव रखने की बात कर रहे थे। इससे सैनिक नेता और अधिक क्राधित हो उठे और उन्होंने सम्राट को विश्वास दिलाया कि जापानी संकट का कारण राजनीतिज्ञों की कमजोर नीति है तथा इस संकट को दूर करने का एकमात्र उपाय—साम्राज्य प्रसार की नीति ही है। चूँकि सैनिक नेताओं का सम्राट पर बहुत प्रभाव था, उनकी योजना स्वीकार कर ली गई। १९३१ में जापान साम्राज्यवाद के भाग पर जिस प्रकार तेजी से अग्रसर हुआ, उसका उत्तरदायित्व सैनिक नेताओं पर था।

पाँचवा कारण जापानी लाकमत में विद्यमान राष्ट्रभक्ति की भावना थी। वाणिज्य सम्मेलनों की जापानियों ने बहुत आलोचना की। उनका विश्वास था कि इस सम्मेलन ने जापान को पशु बना दिया है। जापान की प्रतिष्ठा को नीचे गिरा दिया है। जापानी लोगों को इस प्रकार का कमजोर विदेशी नीति से घृणा उत्पन्न हो गई और परिणाम यह

निकला कि जापानियों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना दृढ़ होती गई। उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को जन्म देती हैं। जापान में भी ऐसा ही हुआ। जापानी नवयुवक साम्राज्य विस्तार के लिये व्याकुल हो उठे। सम्पूर्ण जापान में अनेक प्रकार की समिति या स्थापित की गई जिनका उद्देश्य था राष्ट्रीय भावना का परिचय न जिसके मूल में साम्राज्य प्रसार के द्वारा जापान के वर्तमान की भावना थी।

छठा परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण मचूरिया में जापान का स्वार्थ था। मचूरिया खनिज पदार्थों की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था। कुछ परमवश्यक वस्तुएँ सामान, विशेषकर सोया बीन के सभरण के आधार के रूप में इसका महत्वपूर्ण स्थान था। कोयला, लोहा और तेल भी प्रचुर मात्रा में था। इसके अतिरिक्त मचूरिया जापान के लिये एक अच्छा बाजार भी था। जापानी लोग काफी सख्या में यहाँ पर बस गये थे और जापानियों ने मचूरिया की रेलवे तथा खनिज पदार्थों की खोज में करोड़ों रुपये लगा चुके थे। अतः जापान मचूरिया पर अपना अधिकार स्थापित करने को लालायित था।

सातवा कारण मचूरिया की सामरिक स्थिति थी। हार्डी ने लिखा है कि "जापान के लिए मचूरिया का प्रतिरक्षा और आक्रमण की दृष्टि से सामरिक महत्व इसकी अवस्थिति के कारण है।"

अन्तिम कारण तत्कालीन राजनीतिक स्थिति थी। मचूरिया के सूबेदार चांग-स्तोलीन ने नानकिंग सरकार की आधीनता स्वीकार नहीं की थी परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र हनुएह लिमांग ने नानकिंग की कुमोमिनांग सरकार को मचूरिया का वास्तविक स्वामी स्वीकार कर लिया। इससे जापान अशान्त हो गया क्योंकि जब तक मचूरिया का सूबेदार स्वतन्त्र था, वह उससे अपनी मांगों को सुगमता के साथ मनवा सकता था। चीन सरकार का अंग बन जाने से जापान के लिए अब ऐसा करना कठिन हो गया। दूसरी तरफ उत्तरी मचूरिया में रूस का प्रभाव था। अतः एक ही प्रान्त में तीन राष्ट्रीय चीन, जापान और रूस का शासन अथवा प्रभुत्व सम्भव नहीं था। चीन और जापान में लिमोतुंग प्रायद्वीप तथा दक्षिणी मचूरियन रेलवे के अधिकार को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। वास्तव में इन दोनों के पट्टे २५ वर्ष की अवधि के लिये रूस को दिये गये थे। १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध के बाद इन पट्टों पर जापान का अधिकार हो गया। १९१५ में जापान और चीन में संधि हुई जिसके अनुसार इन पट्टों की अवधि २५ साल से बढ़ा कर ६६ साल कर दी गई थी। राष्ट्रवादी चीन १९१५ की संधि को मान्यता नहीं दे रहा था क्योंकि उसका कहना था कि १९१५ की संधि पर जापान ने सैनिक शक्ति के द्वारा चीन को हस्ताक्षर करने पर विवश किया था। अतः उस संधि की कोई कीमत नहीं। पुरानी संधि के अनुसार १९२३ में २५ साल की अवधि समाप्त हो गई थी और चीन चाहता था कि जापान अब लिमोतुंग से हट जाये तथा दक्षिणी मचूरियन रेलवे का अधिकार भी छोड़ दे तथा रेलवे क्षेत्र से जापानी सेनाप्रा का हटा ले। जापान इसके लिये तैयार नहीं था। इस पर राष्ट्रवादी चीनी सरकार ने मचूरिया में

हजारा चीनिया का बरमाना तथा मचूरिया में अपनी रेलवे का निर्माण करना शुरू कर दिया। इससे जापान कोषित हो उठा। उधर कष्ट की सगवार जापान के मित्र धुमाधार प्रचार कर रही थी। उत्तर से सावियत मध्य का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इन सब परिस्थितियों में जापान ने चीन आघात एक स्वतंत्र मचूरिया राज्य की स्थापना करने का निश्चय कर लिया और ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा जिससे आस में मचूरिया पर आक्रमण किया जा सके। बहुत पीछे जापान को ऐसा अवसर मिल गया।

१८ सितम्बर १९३१ का रात्रि में मुकुन्न नगर के समीप दक्षिणी मचूरियन रेलवे की लाइन पर एक बम्ब का विस्फोट हुआ जिससे रेलवे लाइन को कुछ क्षति अवश्य पहुँची। जापानिया ने इस घटना का दोष समीप में स्थित

मचूरिया पर चीनी मनिक् छात्रों पर डाला और इस घटना से लाभ उठाकर जापान का अधिकार मचूरिया की राजधानी मुकुन्न पर अधिकार कर लिया। कुछ ही दिनों में क्वातुंग में स्थित जापानी सेना ने मचूरिया के प्रमुख

नगरों पर अधिकार कर लिया। १९३१ के अन्त तक जापान ने सम्पूर्ण मचूरिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। १८ फरवरी १९३२ का जापान ने मचूरिया में एक नूतन स्वतंत्र राज्य 'मचूको' की स्थापना की। चीन के पदच्युत सम्राट पू यी का मचूरिया का शासक नियुक्त किया गया। मचूको की स्थापना के समय जापान ने घोषणा की थी कि यह प्रान्त चान का अंग कभी नहीं था अतः एक पृथक् एवं स्वतंत्र राज्य की स्थापना की गई है। १५ सितम्बर १९३२ को जापान ने मचूको राज्य को मायता

नी परन्तु वास्तविक शासन जापानी अधिकारियों के हाथ में था। चान का सरकार जापान की इस कार्यवाही का विरोध नहीं कर सकी।

१९ सितम्बर १९३१ का जेनेवा स्थित चीनी प्रतिनिधि ने प्रतिश्रवक ११ वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्र सभ की कौंसिल के सम्मुख मचूरियन स्थिति को रखा। जापान

प्रतिनिधि ने इस सम्बन्ध में कहा कि यह दुष्टता महत्वहीन है राष्ट्र सभ और मचूरिया और इस चीन जापान की प्रत्यक्ष वार्त्ता के द्वारा सुलझा जा सकता है। अमेरिकन सहयोग के अभाव में (जो कि प्राप्त नहीं हो

रहा था) राष्ट्र सभ की कौंसिल जापान के विरुद्ध सख्त कार्यवाही करने में असमर्थ थी। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश प्रतिनिधि भी जापान के विरुद्ध सख्त

बदम उठाने के पक्ष में नहीं था। अतः २२ सितम्बर को कौंसिल ने चीन और जापान दोनों को सलाह दी कि फिलहाल वे सधन क्षेत्र से अपनी अपनी सनाएँ हटा लें। दूसरी ओर अमेरिका ने भी दोनों देशों के पास इसी आग्रह का सुझाव भेजा परन्तु जापान ने इन सुझावों का पालन नहीं किया और मचूरिया में जापानी आक्रामक कार्यवाहियाँ जारी रही।

१३ अक्टूबर को कौंसिल की पुन बैठक हुई । इस बार अमेरिका ने कौंसिल से अपन पूर्ण अधिकारों का यथा सम्भव प्रयोग करने का अनुरोध किया था तथा कौंसिल को प्रार्थना पर अमेरिकन प्रतिनिधि का भी कौंसिल की बैठक में भाग लेने की भेजा । जापान ने कौंसिल के सामने अपने कदम के औचित्य का सिद्ध करते हुए कहा कि उसकी सन्धि गतिविधियाँ का केवल आत्मरक्षा के अतिरिक्त और किसी बात में, किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । अतः उसको दृष्टि में यह उचित नहीं है कि राष्ट्र सभ इस सम्बन्ध में विचार करे । २४ अक्टूबर को कौंसिल ने एक प्रस्ताव पाम कर दिया जिसमें जापान में यह कहा गया कि वह १६ नवम्बर १९११ तक मचूरियन प्रांतों से अपनी सनाई हटा ले । जापान ने इस प्रस्ताव पर भ्रमस्त नहीं किया ।

१६ नवम्बर का कौंसिल की पुन बैठक हुई परन्तु इस बार अमेरिका ने अपना निरीपक नहीं भेजा । अमेरिका की इस नीति परिवर्तन से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका सभ को सहयोग देने के दायित्व से बचना चाहता है । १० दिसम्बर का कौंसिल ने इस समस्या के सम्बन्ध में एक आयोग को नियुक्ति की । इस 'लिटन आयोग' कहा जाता है और इसमें ब्रिटिश, इटली, फ्रांस, जर्मनी और अमेरिका के प्रतिनिधि शामिल थे । इंग्लैंड के एल आर लिटन आयोग के अध्यक्ष थे ।

७ जनवरी १९३२ को अमेरिका ने घोषणा की कि वह चीन और जापान के बीच किए जाने वाले ऐसे किसी समझौते को उस समय तक स्वीकार नहीं करेगा जब तक कि वह समझौता परिस पकट के आधार पर नहीं किया जायेगा । इसका अर्थ था जापान के प्रति कठोर कदम उठाना । ब्रिटन जापान के प्रति कठोर कदम उठाकर जापान का चुनौती देने के पक्ष में नहीं था क्योंकि मुद्र पूर्व में उमड़े स्वार्थ अन्य देशों की अपेक्षा अधिक था । अतः उसने अमेरिकन प्रस्ताव को ठुकरा दिया । क्योंकि इस बात की भी आशा नहीं थी कि अमेरिका जापान के प्रति की जाने वाली सख्त कार्यवाही में सहयोग देगा । वास्तव में, अमेरिका तो जापान के विरुद्ध आर्थिक अनुशास्तियों को लागू करने के पक्ष में भी नहीं था । इसीलिए इंग्लैंड ने अमेरिकन घोषणा का स्वागत नहीं किया । इससे जापान को भी विश्वास हो गया कि उसके विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही नहीं की जा सकेगी । इंग्लैंड और अमेरिका के सहयोग के बिना जापान के विरुद्ध सख्त कदम उठाना राष्ट्रसभ की कौंसिल के लिए सम्भव नहीं था ।

इस अन्तरिमकाल में लिटन आयोग अपना कार्य करता रहा परन्तु उस मचूरिया का सही स्थिति जानने की सम्पूर्ण सुविधाएँ नहीं दी गई । २ अक्टूबर १९३२ का लिटन आयोग का प्रतिवेदन (Report) प्रकाशित किया गया । आयोग ने सिफारिश की कि सभ के तत्वाधान में चीन और जापान का सम्मेलन किया जाय तथा मचूरिया में जापानी हितों का मायता दो जाय एवं चीन की सावभौम सत्ता के अन्तर्गत मचूरिया को स्वायत्त शासन प्रदान किया जाय ।

दिसम्बर १९३२ में राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने इस सम्बन्ध में एक समिति की स्थापना की जिसने चीन को मुक्त कर दिया तथा जापान की सैनिक कार्यवाहियों को आत्मरक्षा के विरुद्ध बतलाया । समिति ने यह सुझाव भी दिया कि राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य देश मच्छकों को माफता न दे और एक अन्य समिति की स्थापना की जाए जो नए विवाद को हल कर सके । २४ फरवरी १९३३ को साधारण सभा ने भारी बहुमत से समिति के प्रतिवेदन को स्वीकार कर लिया । २७ मार्च १९३३ को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वृषक होने का नोटिस दे दिया ।

चीन की राष्ट्रवादी सरकार जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने में समर्थ नहीं थी परन्तु उसने अन्य उपायों से जापान के प्रति अपना रोष प्रकट किया । जापानी माल के बहिष्कार का आन्दोलन जार गोर से शुरू हो गया । सितम्बर १९३१ में १,२७,०६,००० येन का जापानी माल चीन में आया था परन्तु शंघाई विवाद आन्दोलन के परिणामस्वरूप जापानी माल की मात्रा घट गई । दिसम्बर १९३१ में ४२,६६,००० येन का माल ही चीन में आ सका । इन आन्दोलनों का प्रमुख केन्द्र शंघाई था । जापान पर इस आन्दोलन का बुरा प्रभाव पड़ा । अतः उसने शंघाई की नगरपालिका से मांग की, कि शंघाई में स्थित जापानी माल के बहिष्कार से संबंधित स्थापित संस्थाओं तथा समितियों को भंग कर दे । शंघाई नगरपालिका ने जापानी मांग स्वीकार कर ली परन्तु जापान को इससे सतोष नहीं हुआ और जापानी जंगी जहाजों ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया तथा एक जापानी सेना ने शंघाई नगर पर भी अधिकार कर लिया । १ फरवरी १९३२ को चीन की राजधानी नानकिंग पर भी बम्ब बर्षा की गई । इस प्रकार चीन और जापान के बीच बाकायदा युद्ध की घोषणा हुए बिना युद्ध चलता रहा और मई १९३२ में आन्दोलन के सिप्ति होने पर ही युद्ध का अन्त हो सका ।

राष्ट्रसंघ से वृषक होने के उपरान्त जापानी सेना ने आंतरिक मंगोलिया के एक अन्ध प्रांत—जेहोल को मच्छका राज्य में मिला लिया । अग्न के युद्ध विराम संधि प्रारम्भ में जापानिया ने नये सिरे से आक्रमण शुरू कर दिया और महान् दीवार के दक्षिण में स्थित पीपिंग तथा तिन्दोन्तोन से कुछ ही दूरी तक जा पहुँचे । चीन सरकार ने यथाशीघ्र पीपिंग को खाला कर दिया । ३१ मई १९३३ को युद्ध विराम संधि की गई जिसके अनुसार दक्षिण पश्चिम में तिन्दोन्तोन से लेकर पीपिंग की विराम रेखा तक के क्षेत्रों से चीनी सेनाओं को हट जाना पड़ा और जापानी सेनाओं को महान् दीवार के पूर्व तक हट जाना पड़ा ।

इसमें कोई सन्देह नहीं था कि यदि पश्चिम की शक्तियाँ मिलकर जापान के विरुद्ध कार्यवाही करती तो जापान को पराजित होना पड़ता और जापान का संधि ने दायित्वों

का पालन करने के लिये मजबूर किया जा सकता था तथा उसे मचूरिया से हटने के लिये विवश भी किया जा सकता था परन्तु इस प्रकार का सघष मचूरियन विवाद एक ऐसा कीमती सघष हो सकता था जिसमें लाखों व्यक्तियों के तथा महान् बलिदान की आवश्यकता पड़ती। पश्चिम की जनता, इस शक्तियों समय इतना त्याग करने को तैयार नहीं थी। आर्थिक अनुशास्तियों को लागू करके भी जापान को विवश किया जा सकता था परन्तु १९००-३१ में सम्पूर्ण ससार आर्थिक अवसान के भँवरजाल में उलझा हुआ था और ऐसी स्थिति में आर्थिक अनुशास्तियों को लागू करना सरल नहीं था। इस पर भी यदि राष्ट्र सघ के तत्त्वाधान में जापान के विरुद्ध कार्यवाही की जाती तो, अमेरिका स, जो कि सघ का सदस्य नहीं था, ऐसी आशा नहीं की जा सकती थी कि वह सघ की कार्यवाही का समर्थन करेगा। यहाँ तक कि सावियत रूस भी जिसमें कि अपेक्षा की जाती थी कि वह इस सम्बन्ध में दृढ़ बंदम उठायगा, अपने धरेलू कार्यक्रम में जुटा हुआ था।

परन्तु महान् शक्तियों के द्वारा चीन का सहायता न करने के वास्तविक कारण कुछ दूसरे ही थे। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही चीन में यूरोपियन लोग के विरुद्ध एक जबरदस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। अतः यूरोपियन देश यह चाहते थे कि चीनी जनता का ध्यान जापानी आक्रमण की तरफ उलझा रहे ताकि उनके विरुद्ध चल रहा आन्दोलन समाप्त हो जाय और चीन जब उनसे सहायता मागे तब उसको इस सम्बन्ध में झुकाया जा सक। दूसरा प्रमुख कारण साम्यवाद का भय था। जापान साम्यवाद का शत्रु था। अतः जापान की शक्ति का कुचलना साम्यवादों रूस की सहायता करना था। तिसरा कारण व्यापारिक था। चीन और जापान दोनों ही पश्चिम के ग्राहक थे। अतः यदि मचूरिया चीन के पास रहता है या जापान के अधिकार में खला जाना है तो उनके व्यापार को विशेष नुकसान नहीं पहुँचता। परन्तु जापान के विरुद्ध युद्ध लड़ा जाता है तो चीन और जापान, दोनों देशों के व्यापार स हाथ धोना पड़ता है। अन्तिम कारण यह था कि जापान एक सामुद्रिक शक्ति था। उससे युद्ध करने का अर्थ होता सम्पूर्ण युद्ध का दायित्व ब्रिटेन पर डालना। यह ब्रिटेन को स्वीकार नहीं था अतः जापान का सतुष्ट करना आवश्यक हो गया था।

परन्तु बाद में घटने वाली घटनाओं के प्रकाश में यह स्पष्ट हो गया कि चीन के मामले में सामूहिक सुरक्षा को लागू न करना एक असफलता थी एक महान् भूल थी। क्योंकि इस प्रकार के प्रसादन से जापान की भावी योजनाओं में किसी प्रकार की कमी नहीं आई और उसकी साम्राज्य प्रसार की भूख समाप्त नहीं हुई। उल्टे इससे समार का सामूहिक सुरक्षा से विश्वास उठ गया और भावी अधिनायकों को अपनी योजनाओं का कार्यान्वित करने का आत्साहन मिला जिसने परिणामस्वरूप समार को अनेक अन्तराष्ट्रीय सघों का सामना करना पड़ा।



१९२३ के बाद जापान ने मुद्रपूर्व में अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया और उसने घोषणा की कि 'पूर्वी एशिया में शांति के भवन को स्थिर रखने वाला वह अनेका स्तम्भ है, इसलिये उस सम्पूर्ण एशिया सहन करना पड़ रहा है।' इस घोषणा में उसकी नीति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

चीन में जापानी अप्रैल १९३४ में जापानी विदेश विभाग ने अपने दृष्टिकोण का साम्राज्य का स्पष्ट करते हुए कहा कि चीन में विस्थापिता की बसान के प्रसार सम्बन्ध में राष्ट्र सभ की गतिविधियाँ, अमेरिका द्वारा चीन का दिये जाने वाले श्रृंखला और चीनी मना के मण्डन हेतु विदेशी सैनिक विरोधों की उपस्थिति आदि बातों का जापानी सरकार अध्ययन कर चुका है और इस निश्चय पर पहुँची है कि इन सबका अभिप्राय जापान के विरुद्ध चीन की महायत्ना करना तथा एशिया की शान्ति को नष्ट करना है। जापान इन सब बातों का नजरअंदाज नहीं कर सकता और यदि इस प्रकार की कामवाहिया जारी रहती और शक्ति के साथ इन्हें कार्यान्वित किया जाता रहा तो, जापान को बाध्य होकर शक्ति का सहारा लेना पड़गा। जापान की इस घोषणा से यह स्पष्ट हो गया कि जापानी, जापानी सुरक्षा और जापानी आर्थिक प्रसार का दृष्टि से, चीन की नियंत्रित करने के अपने अधिकारों को बनाये रखने का दृढ़ निश्चय कर चुका था।

१९३५ में जापान ने चीन के विविध पूर्वी प्रान्तों की हड़पने का प्रयत्न शुरू कर दिया। नानकिंग सरकार के सामने जापाना मागे बढ़ती गई। इन मांगों के परिणामस्वरूप हापेई ( Hopei ) और चहर ( Chahar ) प्रांतों का उनके पंगु स हटा दिया गया। पूर्वी चीन में राष्ट्रवादी दल की सभा 'गालाए' बंद कर दी गई, चहर में जापान विरोधी संस्थाओं को नष्ट कर दिया गया, हापेई प्रान्त तथा चहर-जेहोल सीमांत से नानकिंग की राष्ट्रवादी सरकार न अपना समस्त सैनिकों को हटा लिया और जापान को मांग, एक नया मगर, पुलिय कमिश्नर और सैनिक टुकड़ों के कमांडर की तोन्सिन ( Tientsin ) में नियुक्त की गई। नवम्बर १९३५ में अमृतिककरण क्षेत्र तथा महान् दीवार के आसपास के १६ प्रान्तों में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और एक जापान पक्षीय कमिश्नर के अंतर्गत स्वायत्त शासन राज्य की स्थापना का। दिसम्बर में नानकिंग सरकार ने हापेई तथा चहर क्षेत्रों में त्रिमूर्ति चीन की प्राचीन राजधानी पोपिंग भा सम्मिलित था, एक अर्द्ध स्वतंत्र राज्य का स्थापना का स्वीकार कर लिया। नवनिर्मित मन्चूर के अधिकांश सदस्य जापान के समर्थक थे और १९३६ में यह सरकार गुप्त रूप से पूर्वी चीन में जापानी सामान को भेजने में सहायता पहुँचाती रही।

जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में नानकिंग सरकार अक्षम थी परन्तु चीन की जनता अंदर ही अंदर अपमान की ज्वाला में जल रही थी। सरकार से जनता

की इच्छा किसी हुई नहीं थी। अतः उसने जापान विरोधी भावनाओं को कुचलने का अथक प्रयत्न किया। फिर भी, चीनी विद्यार्थियों के नेतृत्व में चीनी जनता का १९३६ में जापान विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो शीघ्र आन्दोलन ही सम्पूर्ण चीन में फैल गया। आन्दोलन इतना उग्र था कि वेस्टन की मध्य-स्वतंत्र सरकार का नानकिंग सरकार से यह कहना पड़ा कि वह जापानी आक्रमण का डटकर सामना करे। चीन के राष्ट्रवादी नेताओं में केवल च्यांगकाई शेक ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इस समय जापान के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाने के विरुद्ध था। वह जापानियों से पूव चीन के साम्यवादियों का समाप्त करना चाहता था। दिसम्बर १९३६ में यह स्पष्ट हो गया कि नानकिंग सरकार जापान विरोधी आन्दोलन का हर हालत में कुचलना चाहती है क्योंकि इस सम्बन्ध में जापानी सेनाहारा का नियुक्त किया गया तथा चीन के निर्यात करों को भी कम कर दिया गया। इसी महीने में, जापान के मुद्दा पर नानकिंग सरकार ने उत्तरी चीन के १२ प्रांतों के राज्यपालों को यह आदेश दिया कि वे पूर्ण शक्ति के साथ चीनी साम्यवादियों को कुचलने का प्रयत्न करें क्योंकि इन क्षेत्रों में उनका प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। स्वयं च्यांगकाई पक्ष को शान्ति प्राप्त में साम्यवादियों को कुचलने के लिए जाना पड़ा क्योंकि वहाँ का सेनापति चांग हू सुएह लिआंग साम्यवादियों के विरुद्ध सक्रिय कदम नहीं उठा रहा था।

परन्तु १२ दिसम्बर को एक गुप्त पत्र के द्वारा च्यांगकाई शेक का अपहरण कर दिया गया और उसे चांग हू सुएह लिआंग का बंदी बना पड़ा। उसने च्यांगकाई शेक की मुक्ति के लिये उसके सामने निम्न शर्तें रखी—जापान के विरुद्ध युद्ध को घोषणा, लोभे हुए प्रांतों की वापसी के लिए प्रयत्न और चीनी साम्यवादियों को कुप्रोमिताग दल में पुनः प्रवेशाधिकार प्रदान करना। यद्यपि अपहरण की घटना रहस्यमय ही बनी रही परन्तु साप्ताहिक के बाद च्यांगकाई शेक पुनः नानकिंग गेट आया और साथ में चांग को बंदी बनाता भी लाया। फिर भी, जनवरी १९३७ में सेनापति चांग को गिरा कर दिया गया और शान में एक सम्झौता हो गया जिसके परिणामस्वरूप साम्यवादियों को शान्ति प्राप्त के उत्तरी क्षेत्र पर अधिकार करने का आश्वासन मिल गई। कम साम्यवादी नेताओं ने अपने सामाजिक कार्यक्रम में सहायन करने तथा अपनी सेनाओं का च्यांग के नेतृत्व में रखने की इच्छा व्यक्त की थी, यदि राष्ट्रवादी सरकार जापान विरोधी नीति का अनुसरण करने तथा चीन में पूर्ण प्रजातान्त्रिक शासन लागू करने का तयार हो।

च्यांगकाई ने कम साम्यवादी नेताओं से मुठबंद नहीं करता परन्तु इस समय सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय भावना जागृत हो रही थी, अतः नानकिंग सरकार को, अस्पायी तौर पर

ही सही, लाकमत व साथ रहना पड़ा । इसका एक कारण उत्तरी चीन व राजकर्मचारियों पर अन्धा प्रभाव डालना था । १६ जुलाई १९३७ का जापान जापान की चीन ने चीनी सरकार के सामने वृद्ध मांगें रखी जिसे चीन ने ठुकरा मे प्रगति दिया । जुलाई के अन्त में, जापान ने चीन का चेतावनी दी और इसके बाद चीन और जापान में युद्ध गुरू हा गया । जापानी सैनिक दस्ता ने उत्तरी चीन के प्रांतों की तरफ बढ़ना गुरू कर दिया । कुछ ही दिनों में हापई प्रांत के उत्तरी हिस्से जिमम तोन्सिन और पीपिंग भी सम्मिलित थे पर जापानियों का अधिकार हो गया और यहाँ पर जापान समर्थक सरकारें स्थापित की गई । १६३७ के अंत तक, गांग्जी और गातुंग प्रांतों को राजधानियों पर भी जापान का अधिकार हो गया । इस प्रकार पीली नदी के उत्तर में स्थित चीन के पाँच प्रांतों पर जापान का अधिकार हो गया । १४ दिसम्बर को पीपिंग में एक नूतन जापान समर्थक सरकार की स्थापना का गई । पीपिंग का नाम भी बदल दिया गया और नया नाम था— पकिंग ।

चीन जापान युद्ध का सीमा उत्तरा चीन तक ही सीमित नहीं रही । अगस्त में, प्रसिद्ध व्यापारिक बंदरगाह तथा नगर शंघाई पर आक्रमण हुआ और तीन महान क भयकर संधि के उपरान्त ८ नवम्बर १९३७ को जापानी सेना ने इस पर अधिकार कर लिया । इसके उपरान्त जापानी सेनाएं यांग्त्सी नदी की तरफ बढ़न लगी और दिसम्बर में चीन को राब्धानी नानकिंग पर उसका अधिकार हो गया । आगत हुए चीनी सैनिकों पर जापानियों ने भयकर गोली बर्षा का जिसके परिणामस्वरूप यांगत्सा नदी में एक अमेरिकन लडाकू नौका, स्टे डड आयल कम्पनी के तीन जहाज और ब्रिटेन के चार जहाज डूब गये । एक जहाज के बचे हुए कर्मचारियों ने जब किनारे की तरफ भ्रान का प्रयत्न किया तो उन्हें भी मौन के घाट उतार दिया गया ।

जापानी सेना की इस कायवाही ने अमेरिका और इंग्लैंड को क्रोधित कर दिया और इन दोनों देशों की सरकारों ने जबरदस्त विरोध प्रकट करते हुए जापान के सामने अपनी मांग रखी । जापान ने कष्ट नीति का सहारा लेते हुए क्षमा याचना मांग ली तथा क्षति पूर्ति देना स्वीकार कर लिया और भविष्य में ऐसी कायवाही न करने का आश्वासन दिया । इससे अमेरिका और इंग्लैंड का क्रोध शांत हो गया । परंतु इससे जापान को पश्चिम की निर्बलता का आभास हो गया और वह निश्चित होकर चीन की विजय का पूरा करने में लग गया । १९३८ के अंत तक तोन्सिन, पीपिंग, शंघाई, नानकिंग, ह्वो और कैंटन आदि प्रमुख नगरों पर उसका अधिकार हो चुका था । ज्यंग की राष्ट्रवादी सरकार का चीन के अंतरी भाग में स्थित चुफकिंग में शरण लेनी पड़ा । जापान की विजय योजना द्वितीय महायुद्ध में जारी रही और जापानी पराजय तथा युद्ध समाप्ति के साथ ही उसका अन्त हो सका ।

इस बीच में, जता कि १९३१ में चीन ने किया था, उसी प्रकार पुन राष्ट्र

से अग्रिम की। सितम्बर १९३७ में राष्ट्र सच को साधारण सभा ने चीन को अग्रिम का  
 सुदूर पूर्वी सलाहकार समिति (Far Eastern Advisory  
 राष्ट्र सच और Committee) को सौंप दिया। समिति ने सब सम्मति से  
 चीन जापान विवाद जापान की भर्त्सना को तथा उस संधि को भंग करने का दोषी  
 करार दिया। समिति ने सुझाव दिया कि साधारण सभा  
 वाशिंगटन को नौ राष्ट्रों को संधि के हस्ताक्षर बर्तामा की बैठक बुलाये और चीन को  
 प्रभुता, स्वाधीनता तथा प्रादेशिक अखण्डता पर विचार किया जावे। परिणामस्वरूप  
 नवम्बर १९३७ में ब्रूमेल्स स्थान पर १६ देशों के प्रतिनिधियों की बैठक बुलाई गई  
 जिसमें सुदूरपूर्व में शांति स्थापित करने के सम्बन्ध में विचार किया गया। जापान ने इस  
 बैठक में भाग लेने से इनकार कर दिया और यह घोषणा भी की कि संधि की भावना  
 व उत्साह का उल्लेख जापान नहीं अपितु चीन कर रहा है और युद्ध का सम्पूर्ण दायित्व  
 भी चीन पर है। बैठक में उपस्थित प्रतिनिधियों ने चीन में जापानी कार्यवाहियों को  
 अवधानिक करार दिया परन्तु चीन के इस मुझाव पर कि जापान को दी जाने वाली  
 धार्मिक तथा सामरिक सहायता पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, कोई ध्यान नहीं दिया  
 गया। नवम्बर के अन्त में बैठक को स्थगित करते हुए घोषणा की गई कि मौजूदा स्थिति  
 में, शांति का स्थापित करने के लिए, समिति किसी प्रकार का कदम उठाने में  
 असमर्थ है।

सितम्बर १९३८ में, चीन ने प्रतिश्रव के १७ वें अनुच्छेद के आधार पर, जिसमें  
 एक सदस्य राष्ट्र और गैर सदस्य राष्ट्र के विवादों का निपटाने की व्यवस्था थी, पुनः  
 राष्ट्र सच से अग्रिम की। कौन्सिल ने तय किया कि चीन पर जापानी आक्रमण, पेरिस  
 पक्ट तथा वाशिंगटन संधि का अतिक्रमण है और जापान के विरुद्ध १६ वें अनुच्छेद के  
 अन्तर्गत अनुशास्त्रियाँ लागू की जानी चाहिए परन्तु सामूहिक कदम उठाने योग्य परिस्थिति  
 नहीं है। इसका अन्तिम परिणाम यही निकला कि कौन्सिल ने सदस्य राष्ट्रों का व्यक्तिगत  
 रूप से चीन की सहायता करने का आदेश दे दिया। इस प्रकार, एक बार पुनः  
 सामूहिक सुरक्षा एक टूटी रोड के समान प्रमाणित हुई। कोई भी राज्य भयवा राज्यों  
 का समूह, चीन को जापान के आक्रमण से बचाने के लिए अपेक्षित जन धन की कीमत  
 चुकाने को तयार नहीं था। परन्तु फिर भी ज्यामकार्ड श्रेक १९४५ के अन्त तक डटा  
 रहा और जापान सम्पूर्ण चीन पर अपना अधिकार स्थापित करने में असफल रहा।

चीन जापान युद्ध के प्रति महान् शक्तियों का क्या रवया रहा? इंग्लैंड, फ्रांस  
 और अमेरिका की नीति का उल्लेख नवें अध्याय में किया जा चुका है अतः उसको पुनः  
 दोहराना ठीक नहीं है। रूस की नीति का उल्लेख अवश्य करना  
 चीन जापान युद्ध होगा। कोरिया, मंचूरिया और प्रशान्त महासागर की प्रभुता के लिये  
 रूसी नीति रूस और जापान की प्रतियोगिता पूर्वी एशिया की राजनीति का  
 प्रमुख लक्षण थी। १९०४-५ में प्रतियोगिता अपने शिखर बिन्दु  
 पर पहुँच गई थी और परिणामस्वरूप रूस और जापान में एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें

रूस पराजित हुआ। प्रथम महायुद्ध के अन्तिम समय में रूस में क्रांति हो गई और उमन जर्मनों के साथ संधि करके युद्ध से पृथक् होने की घोषणा कर दी। इसी समय से जापान ने रूसी प्रांतों का दहलाने की चेष्टा की और महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त जापान ने रूसी प्रांत साइबेरिया तथा उत्तरी सखालीन द्वीप पर अधिकार कर लिया। इससे रूस काफी क्रोधित हो उठा। १९२२ के अन्त तक जापान का रूस के प्रांतों से हट जाना पड़ा। १९२३ में जापान और रूस के मध्य पेरिस की संधि सम्पन्न की गई जिसके अनुसार दोनों देशों ने एक दूसरे की सुरक्षा, व्यापार नागरिकों का समान सुविधा आदि देने का वचन दिया। १९२७ तक दोनों देशों के बीच शांति सम्बन्ध बने रहें।

मंचूरिया पर जापानी नियन्त्रण न रूस के पूर्वी साइबेरिया प्रांत जिसमें मनाडिवा स्टोक भी सम्मिलित था को एक ऐसे दुर्ग में परिवर्तित कर दिया, जो चारों तरफ से जापान और उमन प्रभावशाली क्षेत्रों में सततनाक ढग से घिरा हुआ था। इसमें रूस की चिन्ता बढ़ गई। रूस की चिन्ता के बढने का एक कारण यह भी था कि सितम्बर १९३१ में रूस द्वारा प्रस्तुत अनाक्रमण संधि पर जापान ने हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था। जापान द्वारा उत्तरी चीन की विजय ने रूस के साइबेरियन सीमांत का असुरक्षित बना दिया और साइबेरिया के सम्य सीमांत को सैनिक कायबाहिया का भ्रष्टा बनाया जा सकता था परन्तु सावियत सरकार अपने इस क्षेत्र की उपेक्षा नहीं कर सकती थी क्योंकि उसने इसकी औद्योगिक उन्नति के लिये बहुत कठिन श्रम किया था।

अतः मंचूरिया तथा उत्तरी चीन के प्रांतों पर जापान का विजय रूस के लिये प्रत्यक्ष खतरे की घण्टी थी। रूस में यथानीघ्न इसका प्रतिक्रिया भी हुई और १९३३ में उसने अमेरिका के साथ दोस्ताना व्यवहार गुरु कर दिया तथा १९३४ में राष्ट्र सच का सदस्य भी बन गया। १९३२ में उसने राष्ट्रवादी चीन के साथ पुनः दूतनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। संक्षेप में चीन में जापानी प्रसार ने रूस को यूरोप में मित्र दूढ़न तथा मंचूरिया के निकट रूसी सीमा पर अपने सैनिक तनात करने को मजबूर कर दिया। क्योंकि यह समय काफी सन्दहजनक और तनावपूर्ण था और छोटी छाना घटनाएँ भी बहुत महत्वपूर्ण रूप ले सकती थी। रूस ने अनेक बार जापानी सत्ता के द्वारा रूसी सीमा के अतिक्रमण की शिकायत की। जून में रूसी तट रक्षक ने कुछ जापानी मछियारा का माली से उठा दिया। इस कारण स्थिति सततनाक हो गई और जुलाई में जब एक रूसी जहाज ने जापानी समुद्र (व्यूराइल्स के पास) में प्रवेश किया तो जापानियों ने उसे पकड़ लिया। इस प्रकार तनाव बढ़ता गया।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से चीन का जापानी आक्रमण मत्त हो मुक्ति मिल गई

परन्तु गृह युद्ध से मुक्ति न मिल सकी। हालांकि, महायुद्ध के समय में चीन के दो प्रमुख परस्पर विरोधी दलों-कुओमिन्तांग तथा साम्यवाद, ने एक दूसरे चीन में साम्यवादी के साथ सहयोग स्थापित करके जापानियों से टक्कर ली थी, शासन परन्तु युद्ध समाप्ति के तुरन्त बाद दोनों में मूषण गुरु हो गया जिसमें साम्यवादी दल सफल रहा और कुओमिन्तांग के नेता

च्यंग का चीन से हट जाना पड़ा। इस सम्बंध में शूमेन ने लिखा है— 'द्वितीय महायुद्ध के विनाश एवं संहार ने मित्रों तथा शत्रुओं का मूर्खताओं के साथ मिलकर चीन के साम्यवाद के हाथों में साप दिया। अमेरिका के धनक लागाने चीन की क्रांति का 'हसो पड्यत्र' अथवा वाणिगटन में 'विद्रोह घातिया' के एक पड्यत्र का किसी न किसी रूप में परिणाम बताया। चीन की साल विजय वासवी सती में रूप की सबसे भारी विजय तथा अमेरिका की सबसे भारी पराजय हाथ लए भी, त तो अमेरिका के लागो का काय था और न रूसियों का, वरन् चीनियों का ही काय था।'

परन्तु यह सब कुछ कैसे हो गया, इसका यहाँ पर विस्तार महित नहीं समझाया जा सकता पर तु संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है। चीन जनता का साम्यवाद का संगी पहचान का सब प्रथम सफल प्रयास गुआंगडू पत्र 'गू चाइना' जिसका सम्पादक चन हू प्यु था, ने हांग प्रथम विद्रोह युद्ध के उपरान्त किया गया था। इसी सम्बन्ध में अपने कुछ साधनों की सहायता से मिनम्बर १९२० में साम्यवादी दल का नांव रखा। उसका प्रधान कार्यालय शंघाई में रखा गया था। इसने बाद चीन के प्रमुख नगरों तथा सम्बन्धित साम्यवादी दल की गाथाओं का स्थापित किया जाने लगा। जुलाई १९२१ में शंघाई में साम्यवादी दल का प्रथम अधिवेशन किया गया जिसमें आधुनिक साम्यवादी चीन का चीनी के नेतागण-माओत्सेतुंग, चाऊ एन लाई, लू तह आदि भी उपस्थित थे। चीनी साम्यवादी दल के सिद्धांत बहुत कुछ अंशों में सावित दल से मिलत जुलत थे। फिर भी १९२२ से १९२७ तक साम्यवादी दल और कुओमिन्तांग दल में घनिष्ठ सहयोग रहा। माओ तथा च्यंग में भी घनिष्ठ सम्बंध रहा। दोनों दलों के सहयोग के कारण राष्ट्रीय दल की शक्ति का अद्भुत विकास हुआ और चीन का एकीकरण भी यथाथ रूप धारण करने लग गया था। परन्तु इसी समय बोरोडिन तथा च्यंग में तनाव उत्पन्न हो गया क्योंकि दोनों दल अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिये दूसरे दल का रूपन के रूप में काम में लाने की सोचने लग गये। साम्यवादी दल ने च्यंग का एक पाखण्डो, क्रांति के साथ विश्वासघात करने वाला कहकर उसकी धार निंदा की। दूसरी तरफ च्यंग ने सैनिक तथा पूँजीपतियों से साठ साठ करके चीनी साम्यवादियों का सफाया करना शुरू कर दिया। १९३४ में च्यंगलाई नेक की सेनावा ने साम्यवादियों पर निम्न आक्रमण किये। यद्यपि राष्ट्रीय सेनाओं का अधिक सफलता नहीं मिली फिर

भी उठोने साम्यवादियों को चारा तरफ से घेरने में सफलता प्राप्त कर ली और साम्यवादियों को भी इसका आभास हो गया । अतः साम्यवादियों ने जा फिलहाल दमिणी चीन के बजाय सी प्रांत में स्थित थे, उत्तर पश्चिमी चीन के शेंसी प्रांत में जाने का निश्चय कर लिया । गेन्सी क्वातुंग से लगभग तीन हजार मील दूर था । इस दूरी को साम्यवादियों ने आठ महीने में तय किया । साम्यवादियों का यह पलायन इतिहास में "ऐतिहासिक प्रयाण" (Long March) के नाम से प्रसिद्ध है । इस पलायन का उद्देश्य सोवियत सीमा के समीप तथा राष्ट्रवादियों को पहुँच से बहुत दूर एवं चीन के प्रमुख शत्रु जापान द्वारा अधिकृति मचूरिया के पिक्ट पहुँचना था ताकि सोवियत रूस की सहायता उपलब्ध हो सके और जापान तथा राष्ट्रवादी चीन को सरकार दोनों में ही मुकाबला किया जा सके ।

इस बीच च्यांगकाई साम्यवादियों का सफाया करने की तूतन योजनाएँ बनाता रहा परन्तु उसे सफलता नहीं मिली । अन्त में, १९३६ में वह स्वयं साम्यवादियों के विरुद्ध चल पड़ा । परन्तु उसका अपहरण कर लिया गया और उसे इस बात पर छोड़ा गया कि वह लाल चीन के साथ समझौता कर लेगा तथा उनके साथ मिलकर जापानी साम्राज्यवाद का मुकाबला करेगा । क्लार्क ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि साम्यवाद च्यांग की हत्या भी कर सकते थे परन्तु स्टालिन के निर्देशानुसार उन्होंने ऐसा नहीं किया ।<sup>१</sup>

च्यांग तथा साम्यवादियों की मुलाहत्ती हो गई परन्तु एक दूसरे के प्रति विश्वास की अब भी कमी थी परन्तु जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करना भी आवश्यक था । अतः दोनों ने मिलजुल कर जापानियों का सामना करने की योजना बनाई । साम्यवादियों ने निष्ठापूर्वक अपनी भूमिका अदा की और जापानियों को भारी क्षति पहुँचाई । एक जापानी सेनापति ने उनके सम्बन्ध में कहा था कि "यदि हम इनके विरुद्ध छोटे सैनिक दस्ते भेजते हैं तो वे कभी वापिस नहीं लौटते, यदि बड़ी सेना भेजते हैं तो वह कभी साम्यवादी नहीं मिलते ।" च्यांग को साम्यवादियों की सफलता से प्रसन्नता नहीं हुई । उसकी अप्रसन्नता का एक कारण यह भी था कि साम्यवादी दल धीरे धीरे अपनी सदस्या संख्या भी बढ़ा रहा था और प्रभाव क्षेत्र का भी विकास कर रहा था । साम्यवादी दल की यह आश्चर्यजनक प्रगति सोवियत सरकार की सहायता का परिणाम नहीं थी, परन्तु उसके स्वयं के उच्चादस तथा जनवत्याणकारी कार्यों का परिणाम थी । १९८० के अन्त तक दोनों दलों के मध्य आपसी सहयोग का स्पष्ट रूप से अन्त हो गया और च्यांगकाई सेव ने जापान को कुचलने के स्थान पर अपने ही स्वयंभुम्भा को स्वर्णधाम पहुँचाने का पसंदा कर लिया और इस निमित्त म अमेरिका तथा ब्रिटेन से मिलन वाना सहायता जो कि वस्तुतः जापान के विरुद्ध दी जा रही थी, का कुलकर प्रयोग किया

परन्तु फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस तीनों देशों ने चीन के दोनों दलों में समझौता कराने का अथक प्रयत्न किया परन्तु उहे सफलता नहीं मिली। द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक आपसी नोक भोक जारी रही।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद, सभी देशों को यह विश्वास था कि अब चीन में भाषान्ति स्थापित हो जायेगी। क्योंकि युद्धकाल से ही अमेरिका और रूस चीन के दोनों दलों में समझौता कराने में लगे हुये थे। अगस्त १९४४ तथा फिर अप्रैल १९४५ में मास्का ने ज्यांगकाई गेक की अध्यक्षता में चीन की एकता के विषय में अमेरिका की नीति का समर्थन करने का वचन दिया था। नवम्बर १९४४ में चीन स्थित अमेरिकन राजदूत पट्रिक हर्से ने चीन में एक मिली जुली सरकार के सम्बन्ध में दोनों दलों से वातालाप की परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। १४ अगस्त १९४५ को चीन सोवियन संधि जिसके अनुसार रूस ने चीन की राष्ट्रीय सरकार को सहायता का वचन दिया था, शान्ति की आशा अधिक बढ गई थी।

१५ अगस्त १९४५ को जापान ने आत्म समर्पण कर दिया। इस समय मन्चूरिया और कोरिया में रूसी सैन्यो निरन्तर आगे बढ रही थी। यानान की साम्यवादी सरकार उत्तरी चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी। मित्रराज्यों की सहायता से कुमोमिताग सरकार भी अपनी खाई हुई गति पुन प्राप्त कर रही थी। इसी समय यह प्रश्न उठ खडा हुआ कि जापान द्वारा खाली किये गये प्रान्तों पर किस सरकार का अधिकार माना जाये याना कि चीन में कौन सा सरकारें था—एक कुमोमिताग और दूसरा साम्यवादी। अमेरिका यह नहीं चाहता था कि पूर्वी चीन के जिन प्रान्तों को जापानी अधिकार से मुक्त किया गया उन पर साम्यवादियों का अधिकार हो। अतः उसने ज्यांग को हर प्रकार का सहायता दी ताकि उसकी सेनाएँ यथाशीघ्र पूर्वी चीन पर अपना अधिकार कर लें। इस पर चीन में गृह युद्ध की ज्वाला भभक उठी। अमेरिका गृह युद्ध के पक्ष में भी नहीं था। अतः दिसम्बर १९४५ को जनरल मार्शल को दोनों दलों में सुझाव करवाने के उद्देश्य से चीन भेजा गया। जनवरी १९४६ में दोनों दलों में अस्थायी समझौता हो गया परन्तु यह अधिक समय तक नहीं चल सका और सघर्ष पुन शुरू हो गया। नवम्बर १९४६ में ज्यांगकाई शेक ने सम्पूर्ण देश के लिए एक नूतन संविधान बनाने के लिये एक विनाश राष्ट्रीय महासभा का आयोजन किया। साम्यवादी दल ने इसका बहिष्कार किया। इसपर रूस ने मन्चूरिया और उत्तरी कोरिया से अपनी सैन्य हटा दी और इन दोनों पर साम्यवादियों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अब चीन दो बराबर की सरकारों में विभाजित हो गया जिनका आपसी सघर्ष जारी था। कुमोमिताग का अमेरिकन सहायता का भरोसा था और साम्यवादियों को सोवियत सहायता का।



इससे बाद जा कुछ हुआ, वह चीन के विने डाक नहीं हुआ। मार्च १९८७ ई० में च्यांग की मेनामा ने भारत गणतन्त्र प्राप्त की और साम्यवादियों की राजपूतों यना तथा मूरियाएँ एवं गान्धु पर राष्ट्रवादी सरकार का अधिकार हो गया परन्तु वह न गमाप्त होत होने राष्ट्रवादी मेनामा को इन प्रान्ता में खट्ट दिया गया घपवा मोन के घाट उतार दिया गया। इसके बाद साम्यवादी सना निरन्तर आगे बढ़ता गई। २० अप्रैल १९४६ का नानकिंग तथा २५ मई का 'ग्याई' पर लाल सनामा का अधिकार हो गया। २१ सितम्बर १९४६ का, पीपिंग ( पिंग ) में 'चीन के जनगणतन्त्र' की स्थापना की गई। १५ अक्टूबर का वॉटन का पतन हो गया। दिसम्बर १९४८ तक सब कुछ समाप्त हो गया और जनरल ज्वांगवाई नेक अपनी अवशिष्ट बुद्धिमान सरकार के साथ अमेरिका की दृष्टि में फार्मोसा द्वीप भाग गया। २७ जून १९५० के उपरान्त च्यांग की अमेरिका का सैनिक सरकार भी प्राप्त हो गया। तब से आज आज तक यह इस द्वीप में सुरक्षित है और दिसाव के तौर पर सयुक्त राष्ट्र सभ की सदस्यता भी इसी राष्ट्रवादी चीन को प्राप्त है—किंगाल लाल चीन को नहीं। चीन का समस्या का अभी अंतिम समाधान नहीं हुआ है। उस कारण पूर्व एशिया की गति स्तर में ही है।

जान चीन की वैदेशिक नीति का उल्लेख करते हुए गूमन लिखते हैं कि वह 'अधिकारों रूप में, अमेरिका के विरुद्ध थी, क्योंकि सयुक्त राज्य अमेरिका ने नये गामन के गठन का हथियार दिया था, उसे मान्यता देन से इनकार कर दिया था निरन्तर उसको उतारने की चपटों की थी, फार्मोसा में राष्ट्रीय सरकार

लाल चीन की का सरकार दिया था, तथा महादेश के सम्भावित घुटकारे का वैदेशिक नीति दृष्टि से च्यांग का नवीन महामता थी थी। यही कारण था

कि पीपिंग की सहानुभूति भावित के साथ घनिष्ठ सहयोग तथा

इसी चीन, मलामा तथा अन्य सांसारिकवाद विराधी लाल विद्रोहियों की सहायता की ओर ही थी।" आज भी चीन की वैदेशिक नीति इसी नीति की तरफ घबराते हैं और अमेरिकन घुट भी फार्मोसा की सरकार के साथ है परन्तु वह देशों के साम चीन के सम्बन्धों में बाकी सुधार हुआ है। सब प्रथम भारत ने लाल चीन का मान्यता प्रश्न की। इससे बाद अनेक एशियाई देशों ने भी लाल चीन को मान्यता प्रदान की। इसका परिणाम अन्ध निकास और इग्नण्ड तथा कुछ अन्य यूरोपियन देशों ने भी लाल चीन के साथ दूतनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये परन्तु स्वतन्त्र देशों की जमान (सयुक्त राष्ट्र सभ) में लाल चीन को अपना यथायोग्य स्थान अभी तक नहीं मिल सका है। लाल चीन साम्यवाद का कट्टर उपासक है। कारिया के युद्ध में जब सयुक्त राष्ट्र सभ की मेनाए ३८ की अभ्यास रखा का पार करके उत्तरी कारिया की सना को पराजित करती हुई निरन्तर आगे बढ़ती गई ता लाल चीन के पांच लाख स्वयं सेवकों ने आधुनिक अस्त्र

॥ से सुसज्जित इस विजयवाहिनी का पराजित करके सत्तर का आश्चर्यजनक

कर दिया। सान चीन के हस्तक्षेप के कारण ही साम्यवादी उत्तरी कोरिया का अस्तित्व बना रह सका और बुद्ध विराम सधि हो सकी। इसी प्रकार का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप करके जमन इ. डो. चीन में साम्यवादियों के पृथक् राज्य की स्थापना में महयोग दिया। गुरु गुरु में लाल चीन ने भारत के साथ घनिष्ठ मित्रता का परिचय दिया और गानों ने पवशील 'म विदवास भो व्यस' किया परन्तु अभी हास की घटनाओं—तिब्बत पर लाल चीन का पूर्ण अधिकार तथा भारत-चीन सीमा विवाद, से यह स्पष्ट हो गया कि चीन साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की तरफ झुकने लगा है और भारत चीन भैत्री किसी भी क्षण टूट सकती है।

## (२) जापान की विदेश नीति

जलोमवी गताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अपने महान् पड़ोसी राष्ट्र चीन की भांति जापान भी सम्राट् एकान्तवास का उपभोग कर रहा था परन्तु साम्राज्यवादी देशों ने व्यापारिक सुविधाओं का आवरण ओढ़ कर जापान को दीर्घ कालीन पृथक्ता का द्वार खोल दिया परन्तु जापान ने सूझ-बूझ से काम लिया और १८५४ ई० में उसने अमेरिका के साथ सधि कर ली और अपने तीन बंदरगाहों के द्वार अमेरिकन व्यापार के लिये खोल दिये। इसी प्रकार की सधिया अन्य यूरोपीय देशों के साथ भी की गई।

चीन की भांति, जापान में भी विदेशियों के प्रति तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ परन्तु इस आन्दोलन के परिणाम चीनी आन्दोलन से भिन्न निकले। जापान के सामन्तों के प्रतिनिधि 'सोगन' जो कि शासन का कर्त्तावर्त्ता माना जाता था, की गति का अवसान हुआ और जापानी सम्राट् (मिकाडो) की शक्ति का विकास हुआ। इससे सामन्तवादो व्यवस्था का पतन हो गया और जापानी समाज का पुनर्निर्माण हुआ जिससे सब साधारण की उन्नति करने का अवसर मिला। इसके अतिरिक्त, जापान ने पाश्चात्य विद्वानों एवं शान्ति को व्यासम्भव प्रायोगिक रूप दिया। अनेक प्रणामन व्यवस्था ने आचार पर स्थानीय शासन को प्रधानता दी गई। आगत पद्धति के आधार पर नौ सेना का संगठन तथा विकास किया गया। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर औद्योगिक उन्नति की नांव रखी गई। परिणामस्वरूप जोस वहाँ के अन्दर ही अन्दर जापान का वायाकल्प हो गया और वह एक शक्तिशाली देश के रूप में रंगमंच पर आ गया।

चीन में विदेशी साम्राज्य के प्रसार से जापान का जी मां सलचा उठा और उसने भी चीनी प्रांतों का हड़पने के लिये अपने हाथ-पंर हिलाने शुरू कर दिये। १८७४ में

उमने फार्मोसा पर आक्रमण किया। १८६४-६५ में चीन जापान युद्ध लड़ा गया जिसमें चीन पराजित हुआ और शिमोनेशसकी संधि के द्वारा उस चीन में जापान मचूरिया का प्रांत जापान का देना पड़ा। परन्तु यूरोपियन देशों की प्रगति विशेषकर रूस, जर्मनी तथा फ्रांस को एशियाई देश जापान का उत्पन्न माय नहीं था। अतः उनके दबाव के कारण जापान को मचूरिया का प्रांत चीन का लौटाना पड़ा। इससे जापान का किसी महान् शक्ति को मित्रता की आवश्यकता का अनुभव हो गया और १९०२ में उमने ग्रेट ब्रिटेन से संधि करली। इससे जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अत्यधिक मजबूत हो गई। १९०४ में रूस जापान युद्ध हुआ जिसमें यूरोप का शक्तिशाली देश रूस एशिया के जापान से पराजित हुआ और जापान को चीन में महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए। १९१४ में प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हुआ और जापान ने मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। युद्धकाल में जापान ने प्रशांत महासागर में स्थित जर्मन द्वीपों तथा चीन में जर्मनी के प्रभाववर्ती क्षेत्रों पर ही अधिकार नहीं किया बल्कि चीन के सामने "हक्कीम मार्ग" रखकर चीन को अपना आर्थिक उपनिवेश बनाने का भी प्रयत्न किया।

पेरिस शांति सम्मेलन के समय जापान की विदेश नीति का ध्येय था—(१) चीन में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना तथा (२) जर्मन उपनिवेशों पर अपने अधिकार का स्वीकार करवाना। जापान को अपनी सफलता का पूर्ण विश्वास था क्योंकि युद्धकाल में वे कई शुभ संधियों के अनुसार मित्रराष्ट्रों ने उसके दावों का पेरिस शांति सम्मेलन समर्थन करने का आश्वासन दिया था। यही कारण था कि और जापान जब चीनी प्रतिनिधि ने यह प्रार्थना की कि चीन में विदेशी राज्यों को प्राप्त राज्य क्षेत्रातीतता (Extra territoriality)

का पुनः अध्ययन किया जाय तथा युद्धकाल में जापान द्वारा अधिकृत चीनी प्रदेशों को पुनः चीन को लौटाया जाय, तो शांति परिषद ने चीनी प्रार्थना को रद्द कर दिया। अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन के विरोध के उपरान्त चीन का शांत प्रदेश जो पहिले जर्मनी के पास था, जापान को सौंप दिया गया तथा प्रशान्त महासागर के कई जर्मन द्वीपों को भी आदिष्ट प्रथा के अन्तर्गत जापानी प्रशासन के अन्तर्गत रखा गया। फिर भी जापान शांति सम्मेलन के निष्पत्ति से असंतुष्ट ही रहा। इस सम्बन्ध में उसे चीन तथा अमेरिका, दोनों की सहानुभूति से वंचित होना पड़ा। १९१७ में जापान द्वारा किया गया साइबेरिया अभियान भी असफल रहा। इससे इटली की भांति जापान में भी यह भावना व्याप्त होती गई कि उसने युद्ध में जो कुछ जीता था, उस संधि में खा लिया। परन्तु दूसरे राष्ट्रों विशेषकर अमेरिका का कथन था कि जापान को बहुत अधिक सुविधाएँ प्रदान की गई थी जिसके कारण सुदूर पूर्व में सैनिक शक्ति के सहारे जापान का चुनौती देना किसी राष्ट्र के लिये असम्भव हो गया।

शांति सम्मेलन से न तो जापान ही सन्तुष्ट था और न अमेरिका ही परन्तु फिर भी दोनों देशों में आपसी मतभेद बढ़ता गया। आपसी मदभेद के बहुत से कारण थे। जापान की प्रगति की ओर उन्मुख जहाजी शक्ति से अमेरिका काफी भयभीत था। फिर आगो-जापानी संधि भी अमेरिका के सिरदर्द को बढ़ा रही थी। इसके अतिरिक्त अमेरिका सुदूरपूर्व में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने को उत्सुक था। इन सब बातों की पृष्ठभूमि में नवम्बर १९२१ में वार्शिंगटन सम्मेलन बुलाया गया जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है।

वार्शिंगटन सम्मेलन के उपरान्त जापान और अमेरिका के सम्बन्ध कुछ समय तक तो अच्छे रहे। १९२३ में अमेरिका ने भूकम्प से पीड़ित जापान को सहायता दी परन्तु १९२४ में जापानी उत्प्रेरणाओं को अमेरिका में बसने से मना कर दिया। इससे दोनों देशों में पुनः तनाव उत्पन्न हो गया। फिर भी जापान वार्शिंगटन वार्शिंगटन सम्मेलन के निष्पत्ति का पालन करता रहा। १९२३ में उसने लान के उपरान्त चीन को शांतुग वापस सौटा दिया। वास्तविक सत्य तो यह था कि इस समय जापान अकेला पड़ गया था। आगो-जापानी संधि समाप्त हो चुकी थी, जापान और अमेरिका के सम्बन्ध बिगड़ने लगे हो गये थे और रूस तथा चीन के सम्बन्ध बढ रहे थे। ऐसी स्थिति में जापान ने अपनी विदेश नीति में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया था। १९२२ में उसने साइबेरिया खाली कर दिया और २० जून १९२५ को रूस के साथ संधि भी करली। इस अवधि में उसकी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य चीन के साथ मंत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखना था। जापान की उदार नीति का श्रेय जापान के विदेश मंत्री शिदेरा (Shidehara) की उदार नीति को है जो सहयोग की भावना में विश्वास रखता था।

१९३१ ई० तक जापान की विदेश नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन तो नहीं हुआ परन्तु इसके बाद म लायू की जाने वाली साम्राज्यवादी नीति का निर्माण इसी अवधि में हो चुका था। इस साम्राज्यवादी योजना की झलक जारल बॅरन टका शयवा तनाका द्वारा १९२७ में जापानी सम्राट् को प्रस्तुत किये गये 'तानका मेमोरियल तनाका मेमोरियल मल' (Tanka Memorial) में लिखलाई पढ़नी है, जिसमें स्पष्ट कहा गया कि जापान के राष्ट्रीय अस्तित्व के लिये न केवल मधूरिया, मंगोलिया और चीन की विजय की ही आवश्यकता है बल्कि सम्पूर्ण पूर्वी एशिया और दक्षिण सागरीय देशों की विजय की भी आवश्यकता है और इसमें यह भी स्वीकार किया गया था कि प्रादेशिक विस्तार की इस योजना के सम्बन्ध में संयुक्तराज्य अमेरिका को भी पराजित करना पड़ेगा। तनाका मेमोरियल की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थी— 'जापान पूर्वी एशिया में कठिनाइयाँ को उस समय तक दूर नहीं कर सकता जब तक वह 'रक्त तथा लोह' (Blood and Iron) की नीति को स्वीकार नहीं करता। यदि हम चीन पर नियन्त्रण करना चाहते हैं, तो हमें पहले संयुक्तराज्य अमेरिका को

परन्तु चीन का जीतने के लिए, हम पहले मंचूरिया और मंगोलिया का जीतना आवश्यक है। सत्तार की विजय के लिए, हमें चीन को पहले जीतना चाहिए। चीन के समस्त साधना का अपने अधिकार में करने के उपरान्त हम भारत, एशिया माइनर, मध्य एशिया तथा यूरोप तक को जीतने के लिए आगे बढ़ेंगे। यदि यामरी जाति अपनी विधिगता सिद्ध करना चाहती है, तो मंचूरिया तथा मंगोलिया का नियन्त्रण प्राप्त करना पड़ना पदम है।”

यद्यपि जापान का मन्त्रिमण्डल इस नीति पर चलने का तयार नहीं था, परन्तु जापान के सेनानायक घटनाघ्रा के प्रवाह का प्रभावित करने की स्थिति में वे क्योंकि जापान में सेना और नौ सेना विभाग व्यवहारिक रूप में नागरिक अधिकारियों से स्वतन्त्र था और मन्त्रियों की स्वीकृति के बिना सैनिक अधिकारियों का मन्नाट से प्रत्यक्ष वातावरण करने का अधिकार था। सैनिक नेताओं के हस्त में साधनमात्र का सत्तार के प्रति बहुत कम सहानुभूति था। १९३१ के प्रारम्भ में ही वे अपनी नीति का साराधित करने में सफल हो गए थे और इसके लिए सम्पूर्ण संसार का अवज्ञा करने का भी तयार थे। सैनिक नेताओं को, अवसर पड़ने पर अपनी नीति का लागू करवाने के लिये उच्च अधिकारियों की हत्या करवाने में भी पृष्ठा नहीं हानी थी। यही कारण था कि १४ नवम्बर १९३० का प्रधान मंत्री हैमागुची की हत्या कर दी गई। इसके बाद नर प्रधान मंत्री इतुकाई का भी कत्ल कर दिया गया। इसके बाद जापान की राजनीति पर सेनानायकों का प्रभाव स्थापित हो गया।

१८ सितम्बर १९३१ को, जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। इस घटना का अक्षेप पिटने पुटो में किया जा चुका है। मंचूरिया विजय के उपरान्त

मंचूरिया के  
उपरान्त

जापान ने चीन के एक बड़े प्रांत जेहाल पर आक्रमण कर दिया। ४ मार्च १९३३ तक जापान ने जेहाल पर अधिकार कर लिया और इसके बाद एक पक्षबाड में कुछ अधिक समय में जापान ने चीन की दीवार के सब दरों पर अधिकार कर लिया।

अप्रैल में, जापानियों ने कई स्थानों पर दीवार को पार करके चीनी भूमि पर बढ़ना शुरू कर दिया और पश्चिम के लिए सबट उत्पन्न हो गया जिससे परिणामस्वरूप ३ मई १९३३ को चीन और जापान में सैनिक मुत्तह हो गई और चीनी सेनाएं महान् दीवार के पास पास के ५००० वर्ग मील क्षेत्र से हट गई।

अप्रैल १९३४ में जापान की विदेश नीति में एक नया माड आया और उसने अपनी मुनरी विचार धारा (Japanese Monroe Doctrine) जिसे एशिया के लिये नई व्यवस्था (New order for Asia) भी कहा जाता है, सत्तार के सामने रखा। जापान की नूतन विचारधारा इस प्रकार थी—“सात इस समय, मंचूरिया और घाघाई की घटनाओं के बाद, विदेशी शक्तियों द्वारा चीन का टेकनिकल या द्वितीय सहायता के तम से की जाने वाली समुक्त बाधवाही का राजनीतिक अथवा अवश्य

लगाया जायेगा। यदि ऐसा कार्य जारी रहे तो इनसे उत्तमर्न पैदा होगी इसलिए जापान को सिद्धान्ततः ऐसे कार्यों पर आपत्ति उठानी पड़ेगी। चीन को लडाकू विमान दना, चीन में हवाई अड्डे बनाना, सैनिक शिक्षण, विदेशपत्र तथा सलाहकार भेजना, या राजनीतिक उपयोग के लिए घन की व्यवस्था करने की दृष्टि से ऋण दना स्पष्ट रूप से, जापान एवं चीन तथा अन्य देशों के मंत्री सम्बन्धों में तथा पूर्वी एशिया की शान्ति और व्यवस्था में बिगाड़ पड़ा करने लगेंगे। जापान ऐसी परियोजनाओं का विरोध करेगा।”

वास्तव में, जापान की यह घोषणा पश्चिमी देशों को एक चेतावनी थी जिसमें उह चीन से घृण्य रहने की धमकी दी गई थी। ग्रिपेन, अमेरिका और फ्रांस में शीघ्र ही पत्र व्यवहार हुआ और पश्चिमी देशों की भावी नीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण वक्तव्य भी दिये गए परन्तु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि जापान की विज्ञप्ति भी ठोस थी, सकारण थी। क्योंकि इस समय चीन विदेशी सहायता के सहारे अपनी शक्ति का विकास करने की योजना बना रहा था। परन्तु दुर्भाग्य से, चीन को अधिक सहायता प्राप्त नहीं हुई और जो कुछ सहायता मिली, उनका उपयोग उसने साम्यवादवादी का बुचलने में किया। अतः चीन और जापान में कुछ समय तक झुप्पी ही रही।

१९३६ में जापान की विदेश नीति में एक और परिवर्तन हुआ। इस सम्बन्ध में शूमन ने लिखा है—“अब यह बात स्पष्ट हो गई कि साम्यवाद का विरोध, देशभक्ति उभाठने तथा पश्चिमी प्रजातन्त्रों को मंदोमत्त करने के लिए एक एंटी फोर्मिडर्न पैकेट लाभदायक प्रतीत था, ता जापान के नीति निर्माताओं ने २५ नवम्बर सन् १९३६ ई० के एंटी कोमिटम पैकेट पर हस्ताक्षर करने में ताजी राय का साथ दिया, मंचूरिया, तथा मंगोलिया में रूस के विरुद्ध सीमा पर युद्ध किया (जिसमें एक भी सफलता प्राप्त नहीं हुई), तथा, अंतिम रूप में, जुलाई सन् १९३७ ई० में चीन को जीतने के लिए आग्नीवारी शक्ति लगाकर अपनी समस्या का हल करने की चेष्टा की। वस्तुतः यह जापान का एक नया कदम था। इस कदम से जापान को न केवल जर्मनी और इटली की मित्रता ही प्राप्त हुई बल्कि साम्यवादी विरोधी कार्यों को करने में, अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस का भीत समर्थन भी प्राप्त हो गया।

१९३७ में, जापान ने पुनः चान पर आक्रमण कर दिया। वह घटना जिसका परिणामस्वरूप लडाई गुरु हुई और १९३९ ई० के विश्व युद्ध से जा मिली अपन मूल में, अधिक भयकर नहीं थी। घटना इस प्रकार बतलाई जाती है कि ७ जुलाई १९३७ को मध्यरात्रि को, लूकामोचियाओ के पास मार्कोपोला स्थान पर एक जापानी सैनिक सापता हो गया और उसकी खाज करने वाली जापानी सैनिक टुकड़ी की चीनी सैनिक टुकड़ी से मुठभेड़ हो गई। जापान ने इस घटना की ओट में चीन पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध का अंत १९४५ में जापान के आत्म समर्पण के साथ ही हुआ।

दो विश्व युद्धों ने बीच जापान और अमेरिका इंग्लैंड तथा फ्रांस के सबघा की चर्चा नवें अध्याप में की जा चुकी है । मचूरिया पर जापानो अधिकार के समय तक, जापान और रूस के सम्बन्धों की चर्चा भी पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है । अब हम मचूरिया की घटना के उपरान्त, रूस और जापान के सम्बन्धों की चर्चा करेंगे । जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि जापान और रूस के मध्य तनाव उत्पन्न हो गया था । इस तनाव का मुख्य कारण चीन की पूर्वी रेलवे थी । इस रेलवे पर

रूस और जापान १९०४ से पूर्व रूस का पूर्ण नियन्त्रण था । इसके बाद चांगचुन से दक्षिण के आपसी सम्बन्ध का हिस्सा जापान को मिल गया और नैप हिस्सा चीन और रूस के संयुक्त नियन्त्रण में रहा । १९२१ में जापान ने मचूरिया में चीन को खदेड़ दिया था । अब रूसी कमचारियों को जापानी या मचूरियन साधियों के साथ कार्य करना पड़ा परन्तु उनमें सहानुभूति की भावना कायम न रह सकी जिसके परिणाम स्वरूप तनाव बढ़ने लगा । साधारण होकर रूस ने, २३ मार्च १९३५ को अपनी रेलवे सम्बन्धी अधिकार मचूरको सरकार को १,७०,००,०००,०० येन (जापानी सिक्का) में बेच दिए । जापान ने इस रकम को चुकाते की प्रत्याभूति दी क्योंकि मचूरको उसका आश्रित अथवा मित्र राज्य था ।

३० जून १९३७ को आभूर नदी में एक दुष्घटना के फलस्वरूप रूस और जापान के मध्य पुनः तनाव उत्पन्न हो गया क्योंकि इस दुष्घटना में जापानियों ने रूस के दो जहाज डुबो दिये थे । जुलाई १९३८ में चांगकू बॉम्ब भगड़े के कारण दोनों देशों के सम्बन्ध और अधिक बिगड़ गये । इसके अतिरिक्त जापान द्वारा समर्थित मचूरका राज्य और रूस द्वारा समर्थित बाह्य मंगोलिया में आपसी नोक भोक होती रहती थी जिससे सम्बन्ध कटु हो गये । विग्रह का एक कारण सत्तासीन द्वेष भी था । १९३३ ३६ की अवधि में दोनों देशों के बीच शीत युद्ध चलता रहा और दोनों देशों के नेता तथा प्रेस एक दूसरे के विरुद्ध ज़हूर उगलने लगे । फिर भी, रूस और जापान के बीच अनाक्रमण समझौता जारी रहा । रूस इसे सौहार्द के नाते नहीं बल्कि अपनी सुरक्षा की दृष्टि से जारी रख रहा था । परन्तु जापान ने परिस्थिति को समझ करके नवम्बर १९३६ में एंटी कमिन्टन पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये । इस प्रस्ताव के २१ मार्च १९३७ को चीन के साथ अनाक्रमण समझौता बरके दिया । इस समझौते के साथ ही रूस ने चीन को और अधिक सहायता देना शुरू कर दिया । सितम्बर १९३७ में जब राष्ट्र सभ में चीनी समस्या विचारण रखी गई थी तो रूस ने अपनी पूर्ण दक्षिण के साथ चीन का समर्थन किया । नवम्बर १९३७ में ब्रूसेल्स सम्मेलन में भी रूस ने चीन का पक्ष लेते हुए एंजो अमेरिकन नीति जिसका उद्देश्य जापान को संतुष्ट करने तथा चीन जापान विवाद में मध्यस्थता करने का था डटकर विचारण किया और उम प्रत्येक सत्रिय वदम जो जापान के विरुद्ध उठाया जाने वाला हो, के समर्थन का वचन दिया । इस पर पश्चिम ने यह प्रस्ताव रखा कि रूस अपनी स्थिति और वायु सेना से जापान पर आक्रमण

करे और इंग्लैण्ड तथा अमेरिका अपनी जलशक्ति का प्रदर्शन करे । रूस ने इस प्रस्ताव का ठुकरा दिया क्योंकि पश्चिम के हितों की सुरक्षा के लिये जापान से लड़े जाने वाले युद्ध का प्रमुख भार वह अकेला सहन करने को तैयार नहीं था । जुलाई १९३८ में हासन भीत के पश्चिम में जापान और रूस में एक जबरदस्त सैनिक झड़प हो गई जिसमें जापान की काफ़ी क्षति उठानी पड़ी ।

अगस्त १९३९ में रूस और जर्मनी के मध्य किये गये अनाक्रमण समझौते ने जापान को आश्चर्यचकित और साथ ही क्राधित कर दिया । जापान का ऐसा आभास हुआ मानो जर्मनी ने जापान को बेच दिया हो । अतः एक बार पुनः दोनों देशों के साथ नवीन सिर से व्यापारिक समझौता सम्पन्न किया गया । २७ सितम्बर १९४० को जापान ने "धुरी समझौते" (Axis Pact) पर हस्ताक्षर कर दिये । रूस ने जर्मनी के साथ समझौता कर लिया था परन्तु वह जापान के प्रति अब भी अविश्वास की दृष्टि से देख रहा था और चीन को सहायता दे रहा था । जर्मनी ने जापान को रूस पर आक्रमण करने का कहा था परन्तु जापान इसके लिये तैयार नहीं था । जापान यह चाहता था कि जर्मनी इंग्लैण्ड और फ़्रांस को पराजित करे ताकि इन देशों के एशियाई प्रान्तों को जापान सुगमतापूर्वक हड़बल सके । इधर जर्मनी जापान पर यह दबाव डाल रहा था कि वह जर्मनी के पक्ष में ब्रिटेन से युद्ध करे । जापान ने प्रत्युत्तर में यह माँग की कि जर्मनी रूस पर आक्रमण करे या फिर भविष्य में धुरी राष्ट्रों तथा रूस के संघर्ष में जापान की सहायता को स्वीकार करे । हिटलर ने अन्तिम माँग को स्वीकार कर लिया ।

जापान इस समय दुविधा में फँस गया था क्योंकि यदि जर्मनी रूस पर आक्रमण करता है और जापान ब्रिटेन पर तो उसे ब्रिटेन के मित्र अमेरिका तथा जर्मनी के शत्रु रूस दोनों से युद्ध करना पड़ता है । जापान एक ही समय में दोनों से लड़ने का पक्ष में नहीं था । अतः उसने २३ अप्रैल १९४१ को पाच वष के लिये सोवियत रूस के साथ अनाक्रमण समझौता कर लिया । इस समझौते के द्वारा दोनों देशों ने एक दूसरे पर आक्रमण करने का वचन दिया । दोनों देशों ने बाह्य मंगोलिया तथा मन्चूरी की हवाओं तथा एव सीमान्त सुरक्षा का आश्वासन दिया ।

२२ जून १९४१ को जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और उसने जापान का भी रूस पर आक्रमण करने का सुझाव दिया परन्तु जापान अपनी योजना में मशगूल था और उसने आक्रमण नहीं किया । उसने सोचा कि रूस और इंग्लैण्ड जब तक जर्मनी के साथ लड़ते हुये हैं, जापान अमेरिका से लिपट लेगा । यही जापान की भूल थी । ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी । ११ दिसम्बर को जर्मनी ने भी जापान का साथ देते हुए अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी ।

युद्ध के अन्तिम समय तक जापान और रूस, परस्पर विरोधी गुट में होते हुए भी, एक दूसरे के प्रति सहानुभूति बने रहें । केवल अन्तिम समय में रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी और मन्चूरिया तथा उत्तरी कोरिया पर अधिकार कर लिया था ।



### (३) कोरिया

१८९५ ई० तक कोरिया चीन के साम्राज्य का एक अंग था। १८९४-९५ ई० में चीन और जापान में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें चीन को पराजित होना पड़ा। चानो पराजय के कारण कोरिया में चीनी प्रभुत्व का अन्त हो गया ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और रूस तथा जापान का प्रभुत्व बढ़ने लगा। ये दोनों देश कोरिया को अपने अपने प्रभाव के अन्तर्गत लाने की उत्सुक थे। १९०४ ई० में रूस जापान युद्ध में रूस को पराजित होना पड़ा और इसके साथ ही रूस को कोरिया में हट जाना पड़ा। कोरिया जापान का संरक्षित राज्य बन गया। १९०५ से लेकर १९४५ तक कोरिया जापानी शासन के अन्तर्गत ही रहा।

१९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर संसार के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रियता तथा लोकतन्त्र शासन की प्रवृत्तियों की बल मिला। कोरिया भी इसमें अछूता नहीं रहा। १९१८ में कोरिया के लोगों ने जापानी शासन के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया। जापानी शासन तथा माल का बहिष्कार किया जाने लगा। 'गार्ड मे स्थित कोरियन लोग ने 'स्वतन्त्र कोरियन सरकार' का संगठन किया और पेरिस शांति अधिवेशन में एकत्र राजनीतिज्ञों से कोरिया की स्वाधीनता को स्थापित करने का अनुरोध भी किया गया परन्तु कोरियन लोगों का आन्दोलन सफल नहीं हो सका। लोकतन्त्र के समर्थकों की दृष्टि में कोरिया की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं था या वे जापान को त्याग करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। जापान ने शूरता के साथ इस आन्दोलन को कुचल दिया परन्तु इससे जापान ने भाँपाठ सीखा और उसने धीरे धीरे कोरिया स्वराज्य (स्थानीय स्वशासन) की स्थापना करने का प्रयत्न शुरू कर दिया।

द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर कोरियन लोग ने अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये पुनः आन्दोलन शुरू कर दिया। इस बार स्थिति उनके अनुकूल थी क्योंकि जापान मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध लड़ रहा था। १ दिसम्बर १९४३ को काहिरा सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के अंत से अमेरिका, ब्रिटेन तथा चीन की ओर से एक संयुक्त उद्घोषणा की गई कि महायुद्ध में जापानी पराजय के उपरान्त कोरिया का स्वतन्त्रता प्रश्न कर दी जायेगी और एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में उसका विकास किया जायेगा। याल्टा और पोर्टस्मथ के सम्मेलनों में भी उपरोक्त उद्घोषणा का समर्थन किया गया। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने की योग्य है। वह यह कि मित्रराष्ट्रों ने कोरिया का स्वाधीन करना तो तय कर लिया था परन्तु वे इस बात से परिचित थे कि कोरियन लोग तत्काल ही अपने देश के शासन को मुबारक रूप से नहीं चला सकेंगे। अतः यह सोचा गया कि जब तक कोरियन लोग अपने देश का शासन स्वयं सम्भालने में समर्थ नहीं हो जायें तब कोरिया मित्रराज्यों के अधिनगर में रखा जाय और स्वराज्य स्थापित किया जाय। अगस्त १९४५ में रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और

क्वातुंग प्रान्त में स्थित अतिशाली जापानी सेना को पराजित करके रूसी सेनाओं ने उत्तरी कोरिया पर अपना अधिकार कर लिया। इस मित्रराष्ट्रों की योजना में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया और कोरिया व सम्बन्ध में की जाने वाला व्यवस्था में रूस को भी सम्मिलित करना पड़ा। मित्र राज्यों ने कोरिया के सम्बन्ध में यह समझौता किया कि ३८ वीं परल्ल के उत्तर में रूसी सेना अपना अधिकार रखे और ३८ वीं परल्ल के दक्षिण में अमेरिकन सेनाएँ। यह कब्जा अस्थायी है और दोनों सैनिक दुकानियाँ अपने २ क्षेत्र से जापानी प्रभाव को समाप्त करने का काम कर ताकि यथाशक्ति एक सयुक्त कोरियन राज्य की स्थापना की जा सके।

दिसम्बर १९४५ में, कोरिया की भावी व्यवस्था के सम्बन्ध में, मास्को में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के विदेश मंत्रियों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में सम्पूर्ण कोरिया में एक स्वतंत्र व लोकतन्त्र राज्य की स्थापना पर विचार किया गया परन्तु रूस और अमेरिका के आपसी मतभेद के कारण संयुक्त राज्य की स्थापना की योजना सफल नहीं हो सकी। उसी स्थान पर रूस और अमेरिका का एक संयुक्त आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग को सम्पूर्ण कोरिया में एक सामयिक सरकार के संगठन का काम सौंपा गया। मार्च १९४६ ई० में सिउल नगर में इस आयोग की प्रथम बैठक हुई। सामयिक सरकार की स्थापना में कौन कौन से राजनीतिक दलों का सहयोग लिया जाय, इस प्रश्न पर रूस और अमेरिका में मतभेद उठ खड़ा हुआ। रूसी लोगों को दृष्टि से साम्यवादी दल सर्वाधिक लोकप्रिय था जब कि अमेरिका की दृष्टि में दक्षिण कोरिया के दक्षिण पक्षी दल का अत्यधिक महत्व था। अतः रूस चाहता था कि सामयिक सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में साम्यवादी दल को प्रमुख स्थान दिया जाय जबकि अमेरिका दक्षिणी पक्षी दल को प्रमुख स्थान देना चाहता था। इस स्थिति में आयोग किसी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

आयोग की असफलता के उपरान्त रूस और अमेरिका, दोनों ने ही, अपने अपने अधिकार क्षेत्रों में, अपने अपने आदेशों के अनुकूल सरकारों का संगठन करने का निश्चय कर लिया। उत्तरी कोरिया में साम्यवादी नेता किम इर सेन के नेतृत्व में सामयिक सरकार का संगठन किया गया। सितम्बर १९४६ में उत्तरी कोरिया का सरकार ने अपने देश के लिये नये शासन विधान का निर्माण कर लिया। इससे आघार पर नवम्बर १९४६ में उत्तरी कोरिया में निर्वाचन किये गये जिसमें साम्यवादी दल को भारी बहुमत प्राप्त हुआ।

दक्षिण कोरिया में सामयिक सरकार का संगठन कुछ विलम्ब के बाद हुआ। शुरू में जनरल मच ग्रार्थर के अतहत जनरल जॉन हॉज की दक्षिणी कोरिया की शासन व्यवस्था का दायित्व सौंपा गया जिसने जनवरी १९४६ तक दक्षिणी कोरिया में स्थित जापानी कर्मचारियों के द्वारा हो गायन प्रयत्न किया। इसके बाद दक्षिण कोरियन लोग का सहभाग प्राप्त किया गया। परन्तु १९४६ में एक परामर्श समिति नियुक्त की गई

जिसमें दमिण्ययी (साम्यवाद विराधी) लोगो को स्थान दिया गया। इसके बाद एक सामयिक व्यवस्थापिका सभा का संगठन किया गया और नवम्बर १९४६ में निर्वाचन हुआ। यह निर्वाचन एक सभा का मात्र था क्योंकि यह कालिग भताधिकार पर नही किया गया था। चाह जो भी हा, नवम्बर १९४६ तक, कारिया में दो सरकारों की स्थाना हा गई थी।

अप्रैल १९४७ में रूस ने प्रस्ताव रखा कि कोरिया के एकीकरण के लिये रूस अमरीकी आयोग फिर से अपना काम शुरू करे। अमेरिका ने इस स्वीकार कर लिया और २१ मई १९४७ का आयोग ने पुन अपना कार्य शुरू कर दिया। परन्तु आपसी मन भदों के कारण आयोग इस बार भी असफल रहा और उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया के दोनों क्षेत्रों में पृथक् पृथक् सरकारें कायम रही।

नवम्बर १९४७ में अमेरिका ने कारिया की समस्या को मध्य राष्ट्रमध्य में पग किया। १४ नवम्बर १९४७ का माघाण सभा ने कोरिया के मध्य में एक सामयिक आयोग की नियुक्ति का प्रस्ताव पास कर दिया। इस आयोग का कार्य साकमतानुसार नये निर्वाचन कराना था। रूस ने आयोग का नियुक्ति का विरोध किया। परन्तु उसने विराध के उपरांत आयोग को अपना कार्य करने की अनुमति दे दी गई। नतीजा यह हुआ कि उत्तरा कारिया ने आयोग का बहिष्कार कर दिया और आयोग ने दक्षिणी कोरिया में निर्वाचन कराना तय कर लिया। १० मई १९४८ का दक्षिण कोरिया में निर्वाचन की व्यवस्था की गई और देश का शासन उन निर्मात राष्ट्रीय महासभा का सौंप दिया गया जिसने १२ जुलाई १९४८ तक नया शासन विधान बना लिया। १० मई को निर्वाचित राष्ट्रसभा ने डा० सिंगमन री का कोरिया का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया था। चीन तथा फिलिपीन की सरकारों ने दक्षिणी कारिया की सरकार को मान्यता भी प्रदान कर दी।

दिसम्बर १९४८ का, उत्तरी कोरिया की सरकार की माग पर रूस ने उत्तर कोरिया से अपनी सैन्यें हटा ली। अमेरिका ने भी दक्षिणी कोरिया से अपनी सैन्यें हटा ली। इसके बाद, उत्तरी और दक्षिणी कारिया की सरकारों ने आपसी लोक शांति का सूत्रपात हो गया और आखरी परिणाम निकला युद्ध-युद्ध।

कोरिया का युद्ध-युद्ध जून १९५० में कारिया की दोनों सरकारों में बाकायदा युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध के लिये उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में कौन

उत्तरदायी था, इसका निश्चय करना सुगम नहीं है। इस युद्ध में अमेरिका द्वारा समुक्त राष्ट्रमध्य की ओट में दक्षिणी कोरिया को सज्ज सहायता पहुँचाना, उत्तरी कोरिया की बुरी स्थिति, लाल चीन के स्वयं सक्को का उत्तरी कोरिया को सहायता करना, भारत आदि देशों द्वारा कोरियन युद्ध को शांत करने का प्रयत्न और युद्ध विराम समझौता आदि बानों का उल्लेख बारम्बार प्रप्याय में किया जा चुका है। मन

यह पर उन बातों का पुन उल्लेख करना उचित नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कोरिया का युद्ध-युद्ध साम्यवाद तथा पूँजीवाद के आपसी सघर्ष की उपज

था। विश्व की दोना महा शक्तियाँ, दूसरे देशों की ओट में अपनी अपनी शक्ति का मूल्यांकन करना चाहती थी।

## (४) अन्य देश

दक्षिण-पूर्वी एशिया के उपरोक्त तीन देशों के अतिरिक्त अन्य देशों—इंडोनेशिया (हिंदीनिया), इंडोचीन (हिंद चीन), बर्मा (बरमा), मलाया आदि के बारे में भी कुछ कहना आवश्यक है क्योंकि इन देशों ने भी पश्चिम के साम्राज्यवाद का खदेड़ करके स्वाधीनता प्राप्त की है। द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक इन सभी देशों में विदेशी शासन था। भारत, लका, बर्मा, मलाना पर ब्रिटेन का अधिकार था। हिंदीनिया पर हालैण्ड का तथा हिन्द चीन पर फ्रांस का अधिकार था। पश्चिम के लिये इन देशों का अत्यधिक महत्व था। इन देशों के आर्थिक घोषण से उठाने अपने अपने देशों की औद्योगिक उन्नति की थी। इन देशों के सैनिकों के शौर्य तथा पराक्रम के कारण ही पश्चिम देशों को दोनों महायुद्धों में पराजित होना पड़ा। अतः पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियाँ एशिया के इन देशों से अपना बोरिया बिस्तर उठाना नहीं चाहती थी। परन्तु इन देशों की जनता भी अब जाग्रत हो उठी थी और उनमें स्वतंत्रता तथा राष्ट्रीयता का जोश भर उठा था। सब प्रथम अंग्रेजों को भारत से अपना बोरिया बिस्तर समेटना पड़ा। जाते जाते अंग्रेजों ने भारत को दो हिस्सों—पाकिस्तान तथा भारत में विभाजित करके, भारत की शक्ति को कुचल दिया। ४ जनवरी १९४८ को बर्मा से भी अंग्रेजों को अपना बोरिया बिस्तर समेटना पड़ा और बर्मा भी स्वतंत्र हो गया। इसी प्रकार ४ फरवरी १९४८ को लका भी अंग्रेजों के आधिपत्य से मुक्त हो गया।

हिंदीनिया को अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने में कुछ विलम्ब लगा। द्वितीय महायुद्ध के समय जापान ने हिंदीनिया पर अधिकार कर लिया और डच शासन का अंत हो गया। हिंदीनिया की जनता ने जापानियों के विरुद्ध अपना राष्ट्रीय संघर्ष जारी रखा। जापान की पराजय के पश्चात्, १७ अगस्त १९४५ को हिंदीनिया की जनता ने अपने नेताओं—सुकर्णो तथा हट्टा के नेतृत्व में स्वतंत्र गणराज्य की घोषणा कर दी परन्तु हालैण्ड ने इसे स्वीकार नहीं किया और डच लोगों ने हिंदीनिया पर पुनः अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। इस पर भयंकर संघर्ष शुरू हो गया। भारत तथा अन्य देशों ने हिंदीनिया की समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ में पेश किया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के बाहर भी हिंदीनिया का स्वाधीनता के लिये अथवा प्रयत्न किया जिसके परिणामस्वरूप हालैण्ड को झुकना पड़ा और २८ दिसम्बर १९४९ को हिंदीनिया का स्वाधीनता स्वीकार कर ली गई।

हिंदीनिया की स्वतंत्रता ता मिला गई परन्तु महान शक्तियों के स्वार्थों के कारण हिंदीनिया को कई बार आंतरिक विद्रोहों का सामना करना पड़ा है और कर रहा है। सच्ची बात तो यह है कि भारत की भाँति हिंदीनिया भी एक नवोदय देश है। परन्तु हिंदीनिया में साम्यवादी विचारों के फलने के भय से अमेरिका उसकी राजनीति में टांग

अडाना चाहता है। यह बात हिंदीयों की तटस्थ सरकार का अच्छी नहीं लगती। या अमेरिका इस सरकार को उलटाना चाहता है और यही कारण है कि हिंदीयों में यदाकदा सैनिक विद्रोह होते रहते हैं। दूसरी तरफ हिंदीयों साम्यवादियों के हाथ का बटुपुतली बनना भी पसंद नहीं करता। अतः साम्यवादी दल भी इस सरकार के स्थान पर साम्यवादी मनमर्षक सरकार को स्थापना के पक्ष में है। अतः यह अनुमान लगाना कठिन हो जाना है कि हिंदीयों के आन्तरिक उपद्रवों का मटकाने का काम कौन कर रहा है? इस प्रश्न का अमेरिका?

हिन्दू चान का फायदा के बहुत से मुक्त होने के लिये काफी मध्य करना पड़ा है। वास्तव में हिन्दू चीन तीन राज्या—नामोस कम्बाडिया और वियतनाम की एकता का शानक है। २१ जुलाई १९५८ का जेनवा सम्मेलन के परिणाम स्वरूप हिन्दू चान को मानासी साम्राज्यवाद ने मुक्ति मिली। परन्तु यथाशीघ्र उसे साम्यवादियों के त्रासमाल से उलझना पड़ा और वियतनाम का अधिकांश हिस्सा साम्यवादियों के हाथ लग गया। जहाँ पर साम्यवादियों ने १०० हो चो मिह के नेतृत्व में एक लोकतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी है। नामोस तथा कम्बाडिया पर पश्चिम का प्रभाव है। इस प्रकार हिन्दू चीन की स्थिति ठीक नहीं है और किसी भी लण सम्पूर्ण देश महायुद्ध की पृष्ठ भूमि बन सकता है।

३१ अगस्त १९५७ को मलाया भी अंग्रेजों अधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया। सिंगापुर भी स्वतन्त्र हो गया है। अब कुछ क्षेत्र बचे हैं जहाँ पर विदेशी शासन स्थापित है। जैसे चीन का हांगकांग पर ब्रिटेन का अधिकार और भारत में गोवा, दमन तथा दीव पर पुर्तगाल का अधिकार। परन्तु इस प्रकार का अधिपत्य अधिक समय तक नहीं टिक सकेगा विदेशियों को बहुत पीछे यहाँ से हटना पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, दक्षिण-पूर्वी एशिया विदेशियों को अधीनता से मुक्त हो गया है परन्तु फिर भी साम्राज्यवादी शक्तियों के बहुत से उनकी मुक्ति नहीं हो सकी है। भारत, बर्मा तथा हिंदीयों तटस्थ है परन्तु जापान आज भी अमेरिका का प्रभाव में है। कारिया का एकीकरण अभी तक नहीं हो पाया है। फिलिपीन, थाईलैण्ड लका तथा पाकिस्तान पश्चिम के बहुत से फँसे हुए हैं। उत्तरी कारिया चीन, वियतनाम साम्यवादी हो चुके हैं। अतः अमल यहाँ पर भी अमेरिका और रूस के द्वितीय आपस में गुंथे हुए हैं और अमेरिका हर कीमत पर दक्षिण पूर्वी एशिया में साम्यवाद के सामन पर तुला हुआ है। इसी दृष्टि से "सीटो" (SEATO) का निर्माण किया गया जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि दक्षिण पूर्वी एशिया का सुरक्षा के निमित्त तैयार की गई इस योजना में दक्षिण-पूर्वी एशिया के कवल तीन ही सम्मिलित है बाकि सब दूसरी दुनिया के हैं। एशियाई दुनिया से उनका अधिक सम्पर्क नहीं है। रूस और अमेरिका दोनों ही इस क्षेत्र को अपने प्रभाव में लाना चाहते हैं। उन्निग्यका यह क्षेत्र पिछड़ा हुआ है। अतः अमेरिका सोचता है कि चादी की चमक से

भूले लोगों को सुगमता के साथ अपने बर्तनीभूत किया जा सकता है और इस सोचता है कि भूले तथा बेकार लोगों को उकसा कर पूँजीवाद का अन्त तथा साम्यवाद का प्रचार किया जा सकता है । अब तक अलग अलग देशों में दोनों का ही सफलता मिली है परन्तु कुछ देश ऐसे भी हैं जिन्होंने इन दोनों दलों की नग्न अभिलाषाओं को पहचान लिया है और दोनों का ही दूर रखने का निश्चय कर लिया है । इससे इस बात का सम्भावना बढ़ रही है कि निकट भविष्य में ही, सम्पूर्ण एशिया, अपने भविष्य का फैसला अपनी इच्छानुसार करने की योग्यता को प्राप्त कर लेगा ।



# सोलहवाँ अध्याय

## ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल

**प्रस्तावना**—ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य ऐसे नव स्वतंत्र राज्य, जो पहले ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित थे, द्वारा संगठित संस्था को ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल कहा जाता है। ये दस राज्य क्रमशः ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलैंड, भारत, पाकिस्तान, जका, घाना एवं मलाया हैं। यह संगठन विभिन्न राष्ट्रा के बीच परस्पर सहकारितामय सहयोग का अनूठा उदाहरण उपस्थित करना है। भारत स्वतंत्र सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य हात धर भी इस राष्ट्र मण्डल का सदस्य है और पाकिस्तान ने भी भारत का अनुसरण करने हुए सदस्यता स्वीकार की है। इस राष्ट्र मण्डल ने परस्पर सहयोग का ऐसा ज्वलंत उदाहरण उपस्थित किया है जो अन्य दुर्लभ है। वस्तुतः साम्राज्य का ही राष्ट्र मण्डल में परिवर्तित कर लिया है तथा नये विश्वताम्य नवीन परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक संगोपन आदि करते हुए अपनी अस्तित्व उन्नी रूप में अनुगु रक्षने में सफलता प्राप्त की है। स्वतंत्र राज्यों को मजबूत बनाय रखने के लिए सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ भी मगायिन कर दी गई। यही कारण है कि भारत आदि राष्ट्र इस मण्डल में सदस्य बने रहें और इस समय ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक प्रभावशाली संस्था के रूप में विद्यमान है।

**विकास**—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न उपनिवेशों ने नीचे ही स्वतंत्रता प्राप्त की। उस समय विभिन्न प्रदेशों की सरकारों के अध्यक्षों के सम्मेलन हुआ करते थे और ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान मंत्री सम्मेलनों का अध्यक्ष होता था। ऐसे सम्मेलन परस्पर विचार विमर्श के हेतु सन् १८८७ से आरम्भ हुए थे। सन् १९०७ में उन्हें साम्राज्यीय सम्मेलनों (Imperial Conferences) को कहा दी गई। सन् १९२३ के ऐसे सम्मेलन में विभिन्न प्रदेशों (Dominance) की विदेशी शक्तिता में वृद्धि मधियाँ करने का अधिकार दिया गया और ये मधियाँ सम्राट के नाम पर ही की जानी थीं। केवल ग्रेट ब्रिटेन का राज्य सचिव (Secretary of State) औपचारिक रूप में मधियों की स्वीकृति के रूप में माहूर लगाता था। इसी प्रकार वृद्धि रूप में कूटनीतिक प्रतिनिधित्व का अधिकार भी उन्हें दिया गया। इससे पश्चात् ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल में धार्मिक महत्वपूर्ण विधान सन् १९३१ के पारित हुआ जिस वेस्टमिन्सटर विधान (Statute of Westminster, 1931) कहते हैं। इस विधान की स्वीकृति

स पूर्व ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल की व्यवस्था औपनिवेशिक नियम औचित्य विधान, १८६५ (Colonial Laws Validity Act, 1865) के अनुसार की जाती थी और उपराक्त विधान के द्वारा उपनिवेशों पर अनेक वैधानिक प्रतिबंध स्वीकार किये गये थे। उदाहरणार्थ उपनिवेशों द्वारा ऐसा प्रत्येक नियम अवैधानिक माना जाता था जो सम्राज्यीय संसद द्वारा पारित नियमों के विरुद्ध जाता हो, सम्राज्यीय संसद प्रदत्त (Dominance) के लिए नियम बनाने की अधिकारिणी थी, औपनिवेशिक विधान सम्राट द्वारा रद्द किये जा सकते थे, गवर्नर जनरल अनेक विरोधाधिकारों का प्रयोग करता था आदि आदि। परन्तु वेस्ट मिन्सटर विधान, १९३१ के द्वारा यह स्थिति बहुत सीमा तक परिवर्तित हो गई और लगभग इस समय तक भी वही विधान कार्यान्वित होता है।

सन् १९३१ का वेस्ट मिन्सटर विधान—यह ग्रेट ब्रिटेन की संसद द्वारा पारित अधिनियम था। इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के विभिन्न प्रदेशों की व्यवस्थापिका शक्तियाँ निर्धारित की गई थी तथा मुख्य रूप से सन् १९२६ एवं सन् १९३० के सम्राज्य सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों का कार्यान्वित किया गया था। इस विधान की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया गया है कि ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्यों का सम्राट के प्रति स्वाभिमत रहते हुए स्वतंत्र व्यवहार होगा तथा यह अंकित किया गया कि स्वीकृत वैधानिक स्थिति के अनुसार किसी भी प्रकार का वैधानिक परिवर्तन ग्रेट ब्रिटेन की संसद की स्वीकृति से ही हो सकेगा। तथा इस विधान के पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन की संसद द्वारा पारित नियम प्रदेशों में प्रभावित नहीं होंगे, जब तक कि वे प्रदत्त स्वयं स्वीकृति देकर अथवा स्वयं की प्राप्ति से अपने लिए भाग न उठारें।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन इस विधान के द्वारा किये गये। उपराक्त १८६५ ई० का अधिनियम इस विधान के द्वारा रद्द कर दिया गया और प्रदेशों का अपनी व्यवस्थापिका सभा में पूर्ण सावभौमिक अधिकार प्रदान किये गये। प्रदेशों की संसदों को अन्य कई प्रकार के अधिकार दिये गये। उक्त विधान द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि ग्रेट ब्रिटेन की संसद द्वारा पारित अधिनियम इस अधिनियम के प्रभावित होने के बाद प्रदेशों में प्रभावशाली नहीं होंगे।

ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्यों की स्थिति द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् प्रभावी रूप में परिवर्तित हो गई। सदस्य राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से उत्पन्न हो गये और क्रमशः स्वायत्त प्रदेशों के रूप में विकसित हो गये। वेस्ट मिन्सटर विधान के पश्चात् सदस्य राष्ट्र सार्वभौम राज्य माने जाने लगे और विदेशिक संबंधों के क्षेत्र में मुक्त स्वतंत्रता का उपभोग करने लगे। वे स्वतंत्र रूप से संधियाँ आदि करने के लिए योग्य समझे जाने लगे। इससे पूर्व ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन में यह घोषित किया जाता था कि ये प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्य के अतन्त्र स्वतंत्र संगठन हैं। इनकी प्रतिष्ठा एक दूसरे के समान है और सम्राट के प्रति स्वाभिमत रहते हुए भी विदेशी संबंधों एवं गृहकार्यों के संबंध में एक दूसरे के आधीन नहीं हैं। परन्तु फिर भी



यह कहा जा सकता है कि औपचारिक दृष्टि से भारत एवं पाकिस्तान का छाड़ कर शाय सभी सदस्य राष्ट्र ब्रिटिश सम्राट के प्रति स्वाभिमक्त हैं तथा उन्ही का भारत राज्य का अध्ययन मानते हैं ।

इस समय ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सभी प्रदेश ( Dominions ) पूर्ण रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से युक्त हैं, साथभीम सत्ता के बाह्य गुणा में युक्त हैं तथा युद्ध की घोषणा करने के योग्य भी हैं । सम्राट कबल राष्ट्र मंडलीय सरकार के परामर्श या अनुमरण करते हैं, ता भी ये कहा जा सकता है कि सन् १९३० के सम्राणीय सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित एवं स्वीकृत मित्रान्ते द्वारा यह आवश्यक है कि पर-पर प्रत्येक महत्व पूर्ण विषय के संबंध में विचार विमर्श किया जाय परन्तु यह उनकी स्वतंत्रता में किसी भी प्रकार का नुकीला मर्यादा नहीं बन सकती । विभिन्न प्रदेश जो इस समय ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल में सम्मिलित हैं वे निम्न लिखित हैं —

- (१) कनाडा प्रदेश (Dominion of Canada)
- (२) आस्ट्रेलिया राष्ट्र मण्डल (Common Wealth of Australia)
- (३) दक्षिण अफ्रीका संघ (Union of South Africa)
- (४) न्यूजीलैंड (Newzealand)
- (५) घाना (Ghana)

(भायर गणराज्य सन् १९४६ में राष्ट्रमंडल का सम्म्य नहीं रहा ।)

### (एशिया में राष्ट्रमण्डल)

(६) भारत

(७) पाकिस्तान

(८) लका

(बर्मा — सन् १९४८ से यह ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का सम्म्य नहीं रहा ।)

(९) मलाया (सन् १९५७ से स्वतंत्र होने पर यह ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का सदस्य बना ।)

(१०) इंग्लैंड (United Kingdom)

इस प्रकार उपरान्त हम सदस्य राष्ट्रों द्वारा वर्तमान ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का मांडन बना हुआ है ।

**वर्तमान स्थिति** — इस संघटन के सम्बन्ध में विद्वान अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत करते हैं । यह ऐसे बिखरे हुए राष्ट्रों का संग्रह है जिनके बीच में कोई सामान्य बंधन नहीं है, विश्व के क्षेत्र में कार्य करने का कोई एक निश्चित ध्येय नहीं है और जिनके बीच में परस्पर कोई एकता नहीं ऐसा राष्ट्र मण्डल है । राष्ट्र मण्डल के सम्म्य राष्ट्रों की जनसंख्या ५५०,०००,००० मानी जाती है परन्तु फिर भी इस संस्था का न कोई

विधान है और न अधिनियम न कोई संधि या समझौता है। इसकी सदस्यता द्वारा न कोई बंधन उपस्थिति होते हैं न कोई विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। इस संगठन की कोई महत्वपूर्ण केन्द्रीय संस्था भी नहीं है न इसकी मेना है, न पारस्परिक सहायता करने के लिए संधि है और न युद्ध के समय एक दूसरे का साथ देने का कर्तव्य ही स्वीकार किया गया है। निवृत्त भविष्य में इस संगठन में सबसे बड़ा परिवर्तन भारत, पाकिस्तान, लवा एवम् बर्मा की स्वतन्त्रता के कारण हुआ। ब्रिटिश सम्राट की उपाधि में से "भारत सम्राट" का शब्द हटा दिया गया और उसके पश्चात् भारत को पुनः मदस्य बनाये रखना चाहा। सन् १९४६ में भारत गणराज्य को सम्मिलित करने के लिये नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। तदनुसार भारत तथा अन्य मदस्यो ने भी ब्रिटिश सम्राट की स्वतन्त्र सदस्यता के इस मुक्त संगठन का प्रतीक स्वीकार किया और इस रूप में राष्ट्र मण्डल की अध्यक्षा माना तथा जाति, स्वतन्त्रता और उन्नति के लिए स्वतन्त्र और समान सदस्यता की भांति राष्ट्र मण्डल में संगठित रहने हुए उन्मुक्त सहकारिता की ओर बढ़ने के लिए सहमत हुए। सन् १९५० में विख्यात कोलम्बो सम्मेलन हुआ और दक्षिण पूर्वी एशिया के विकास के लिए कोलम्बो योजना का सृजन हुआ सन् १९५२ में डोलर समस्या सुलझाने के लिए पुनः इस प्रकार का सम्मेलन हुआ और सन् १९५५ में इसकी सफलता स्पष्ट प्रदर्शित हुई। इस प्रकार इन राष्ट्र मण्डल में लगभग ६०% व्यक्ति पूर्णरूप से स्वतन्त्र हैं तथा लगभग ७० ऐम भाग में है जो स्वतन्त्र होने वाले हैं। इस राष्ट्र मण्डल में दूर दूर के देश सम्मिलित हैं जिनकी संस्कृति एवं भाषाएँ अलग अलग हैं किन्तु फिर भी किसी न किसी प्रकार से ऐतिहासिक संबंध होने के कारण परस्पर सहायता एक दूसरे के लिए लाभदायक हो हो सकते हैं। यह राष्ट्र मण्डल प्रभावपूर्ण ढंग से अपना अस्तित्व बनाये हुए है।

**राष्ट्र मण्डल के उद्देश्य** — यद्यपि राष्ट्र मण्डल में विभिन्न प्रकार के लोग हैं और इसके उद्देश्य एवं लक्ष्य कहीं निर्धारित नहीं किये गये हैं तथापि यह निर्धारित किया जा सकता है कि फिर भी कुछ ऐसे सामान्य विषय हैं जिनके लिए समस्त सदस्य शक्य ही सहमत हो सकते हैं। निम्न सिद्धान्त अथवा आदर्श राष्ट्र मण्डल के उद्देश्य मान जा सकते हैं —

(१) प्रजातन्त्र का आदर्श, आत्मशासन तथा मौलिक मानव अधिकारों की प्राप्ति का उद्देश्य सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकार किया जाता है। प्रजातन्त्र का स्वरूप एवं प्रकार भिन्न हो सकता है किन्तु फिर भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं मौलिक अधिकारों के सम्बंध में सब सदस्य एकमत हैं।

(२) बाहरी आतंक के विरुद्ध सामान्य सुरक्षा का उद्देश्य भी स्वीकार किया जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि एक ही विषय के संबंध में विभिन्न सदस्य पृथक् विचार एवं व्यवहार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ मित्र के संबंध में ब्रिटेन ने आक्रमण किया। कुछ सदस्य जैसे—आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ब्रिटेन के पक्ष में रहे, कुछ सदस्य जैसे

कनाडा और पाकिस्तान मध्यस्थ रहें तथा कुछ सदस्य जैसे भारत और लद्दाख पूरुष से विरुद्ध रहे किन्तु फिर भी किसी प्रकार की गलत पहली उत्पन्न न करते हुए परस्पर सहयोग करने के लिए प्रयत्न जारी रहे।

(३) आर्थिक कल्याण अथवा सामान्य हित के लिए अक्सर हाथ रहना सब सदस्यों का संयुक्त उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए (Common investment policies) सामान्य धन लगाने की नीतियां के अनुसार योजनाएँ बनाई गई हैं।

वास्तव में यह स्पष्ट रूप से निर्धारित करना कठिन है कि इस संगठन के क्या क्या उद्देश्य हैं। वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह संगठन कनाडा, आस्ट्रेलिया, यूजीलैंड तथा दक्षिण अफ्रीका के लिए अधिक उदासीन एवं भारत, लद्दाख, चीना, मलाया अथवा पाकिस्तान के लिए अपेक्षाकृत कम उपयोगी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह केवल कुछ पारिवारिक मध्यम परिवार ही नहीं है किन्तु एक ऐसा संगठन है जिसके परस्पर संबंध, भावना एवं प्राथमिकताओं के आधार पर अधिकतर कार्य होत है और इस राष्ट्र मण्डल की सदस्यता के कारण प्रत्येक राष्ट्र कुछ महत्व पा जाता है, अन्तराष्ट्रीय संबंधों में कुछ प्रभावशाली बन जाता है। और सदस्य राष्ट्रों की बाणी अधिक प्रभावशाली हो जाती है। देश का आन्तरिक जीवन स्तर आगे बढ़ाना सरल हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के उपयोग के प्रत्यक्ष फल मित्रता स्वाभाविक है।

राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध एवं विभिन्न अंग—यद्यपि राष्ट्र मण्डल का कोई विधान नहीं है और न कोई केन्द्रीय साठन अथवा प्रशासनिक अंग है। क्योंकि राष्ट्रमण्डल के सदस्य स्वतंत्र एवं समान सांख्यिकीय राज्य हैं, जो अपनी नीति राष्ट्रीय हित, राजनितिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं तो भी परस्पर विचार विमर्श एवं सहयोग के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहते हैं। जिन्हे व कनाडा अटलांटिक सम्मेलन के सदस्य हैं। भारत एशिया के देशों की ओर अधिक झुका हुआ है। पाकिस्तान सीटा का सदस्य है तथा बगदाद सम्मेलन में सम्मिलित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र मण्डलीय सम्बन्ध स्वतंत्र राष्ट्रों पर किसी प्रकार बंधन नहीं है। एक सदस्य दूसरे सदस्य पर कोई दबाव नहीं डाल सकता। राष्ट्रमण्डल के निर्माण केवल सब सम्मति से होते हैं और इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि उन निर्णयों का पालन पूर्ण रूप से स्वेच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार भारत और पाकिस्तान के गणराज्यों के अतिरिक्त गैर सभी सदस्यों के मध्य में औपचारिक सम्बन्ध केवल मुद्रा (Crowd) के द्वारा विद्यमान है। सर आनीवर फेनस जो ब्रिटिश राजदूत थे। सन् १९५४ के डी० सी० सी० शीप मापणों में बहुत मुन्दर दंग से व्यक्त करते हैं कि राष्ट्र मण्डलीय प्रदेशों में सभा की स्थिति विशेष महत्व की होती है। (In Canada the Princess was a Canadian) इस प्रकार यह औपचारिक सम्बन्ध प्रचलित है।

उपयुक्त गिफ्टाबार के प्रतिरिक्त दूसरे सम्बन्ध लगभग लुप्त हो गये। प्रिवी कौंसिल अब समस्त राष्ट्र मण्डल के लिए 'याय' का अन्तिम न्यायालय नहीं है। राष्ट्रमण्डलीय राज्या के नागरिकों के लिए अब सामान्य नागरिकता का सिद्धान्त अब नहीं के समान है परन्तु परस्पर विचार विमर्श के लिए कुछ सत्याएँ अवश्य हैं। ये सत्याएँ तदर्थ (ad hoc) अनियमित तथा विधान विहीन हैं। प्रधान मंत्रियों का सम्मेलन जा साधारणतया हुआ करता है सुरक्षा एवं विदेशी सम्बन्धों के विचार करने के हेतु काय करता है। यदा कदा विदेश मंत्रियों और अन्य मंत्रियों के सम्मेलन भी होते हैं। कृषि, जहाजरानी तथा तार संचार आदि के क्षेत्रों के लिए स्थायी समितियाँ हैं। परन्तु ये समितियाँ किसी भी अर्थ में सदस्य राज्यों के लिए नियम निर्माण नहीं करती। इस समय तक राष्ट्र मण्डल का कोई सचिवालय, कर्मचारीवृत्त अथवा सुरक्षा सङ्गठन नहीं है। केवल सूचनाओं का आदान प्रदान अथवा एक दूसरे राष्ट्र के कर्मचारियों का आदान प्रदान होता है। एवं सामान्यहित के लिए निरन्तर गुप्त सूचनाएँ ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय मण्डलीय सम्बन्धों के कार्यालय द्वारा संचालित होते हैं। (U K Office of Inter-Common Wealth Relations) इसके प्रतिरिक्त राष्ट्र मण्डलीय राजदूतों की सभाएँ 'यूनाधिक' रूप से नियमित चलती रहती हैं। सर फोलीवर व मरानुसार राष्ट्रमण्डल एक समुच्च सङ्गठन है जहाँ प्रत्येक विषय विचारार्थ प्रस्तुत होता है और परस्पर समस्या के बीच के विरोधी प्रश्न (जैसे भारत और पाकिस्तान के बीच काश्मीर समस्या) भा भावेरहित ढंग से मनन किये जाते हैं। सब राष्ट्र प्रत्येक प्रश्न पर एक ही ढंग से विचार करते हैं तथा सब के सामान्य स्तर स्वीकृत हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार सम्पूर्ण पद्धति सहकारिता के आधार पर स्थापित है। १० जवाहरलाल नेहरू व शम्भू में राष्ट्रमण्डल की संस्था की तुलना समुक्त राष्ट्र सभ की सदस्यता से की जा सकती है अर्थात् राष्ट्रमण्डल की सदस्यता किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं बनाती। राष्ट्रमण्डल के सदस्यों के व्यवहार, विचार के ढंग तथा आदर्श भिन्न भिन्न हैं, (जैसे भारत एवं पाकिस्तान, भारत एवं दक्षिण अफ्रीका तथा नेहरू और चर्चिल आदि) किन्तु फिर भी आतंरिक एकता विद्यमान है। यही कारण है कि ब्रिटेन केवल विशेष स्थिति का उपयोग करता है सर्वोच्च स्थिति का नहीं और इसीलिए ब्रिटेन ने सर्वप्रथम इस सङ्गठन का नाम ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के स्थान पर केवल राष्ट्र मण्डल स्वीकार किया। सन् १९४७ में ब्रह्मा की सरकार ने यही माग की थी कि यदि इस सङ्गठन का नाम समुक्त राष्ट्र मण्डल रखा जाय तो ब्रह्मा सदस्य बना रहेगा परन्तु प्रारम्भ में प्राचीन प्रदेशों ने आपत्ति की और बाद में जब परिवर्तन किया गया तब ब्रह्मा का निराण हो चुका था। इस प्रकार वर्तमान समय में ब्रिटेन राष्ट्र मण्डल में कोई विशेष प्राधिकार का उपयोग नहीं करता केवल विशेष स्थान प्राप्त किया हुआ है। यह प्रश्न साधारणतया

किया जाता है कि विवाधी विचार होने पर राष्ट्रमण्डल किस प्रकार चले करता है। ऐसे अवसर पर जब कोई प्रश्न सर्व सम्मति से निर्णित न हो पुन विचार के लिए प्रस्तुत किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका का जातीय भेद अथवा लवा मे भारत वामियों के साथ भेद नीति अथवा भारत एवं पाकिस्तान की काश्मीर समस्या के लिए राष्ट्रमण्डलीय हल समभव हो सकता था किन्तु संयुक्त राष्ट्र सब के हस्तक्षेप के कारण यह काम राष्ट्रमण्डल नहीं कर सका।

**राष्ट्र मण्डल की सफलता** — राष्ट्र मण्डल एक ऐसी सस्था है जिसे हम वैधानिक अथवा अथवा संयुक्त प्रशासनीय सस्था अथवा आर्थिक एवं भौगोलिक संगठन नहीं कह सकते न स्वावलम्बी अथवा सैनिक ईकाई ही कह सकते हैं किन्तु फिर भी यह एक प्रभावशाली संगठन है यद्यपि सैनिक शक्ति और भौतिक दृष्टि से राष्ट्रमण्डल निरवल हो गया है किन्तु फिर भी अपने सदस्यों की परम्परा सहयोगी मित्रान्ता के स्वीकार कर लेने एवं आदात्मिक एकता के कारण इस संगठन को नवीन शक्ति प्राप्त हुई है। सहिष्णुता के सिद्धांत, स्वतंत्रता का सम्मान एवं प्रगतिशील प्रजातन्त्र इस संगठन के प्रमुख सिद्धांत हैं। यह अस्तित्व का भाव समस्त सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकार किया जाना एक अद्भुत सफलता ही है क्योंकि जातिधर्म, राष्ट्रीयता, धर्म, भाषा, विकास, राजनितिक स्थिति आदि का भेद सदस्य राष्ट्रों में बहुत स्पष्ट हैं। आज विश्व की राजनीति में यह संगठन अपना महत्वपूर्ण सबंध बनाये हुए है। विभिन्न प्रदेशों एवं गणराज्यों का प्रभाव ब्रिटेन की विदेश नीति पर और उमरे द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति पर निश्चित रूप से होता है। वागिया के सबंध में ब्रिटिश नीति चीन तथा रूस के सबंध में ब्रिटेन का व्यवहार राष्ट्रमण्डलीय विचारों से बहुत प्रभावित हुआ है। कालम्बी याजना इस दृष्टि से राष्ट्रमण्डलीय वायवाही का बहुत स्पष्ट प्रमाण है।

राष्ट्रमण्डल के सम्बंध में एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि यह साम्राज्य विरोधी संगठन है या नहीं। यद्यपि यह सच है कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्य साम्यवादी विचार धारा का स्वीकार नहीं करते परन्तु अभी तक ऐसी स्थिति भी पदा नहीं हुई कि किसी साम्यवादी राष्ट्र ने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के लिए प्रयत्न किया हो और राष्ट्र मण्डल ने ऐसी प्रार्थना अस्वीकार कर दी हो। यह अवश्य होता है कि राष्ट्रमण्डल के सम्मेलन आदि की वायवाह्या प्रभावित रूप से गोपनीय होनी है और समभवत यही इस संगठन की सफलता और निरंतर प्रगति का सूत्र भी है।

**पोलम्बी योजना** — ऐसा प्रतीत होता है कि इस याजना की रूपरेखा को पनिकर ने जब चीन में गृहयुद्ध (सन् १९४५-४८) आरम्भ हुआ तब ही पनिकर जो उस समय चीन में भारतीय राजदूत के पद पर आसीन थे, उन्होंने दक्षिण पूर्वी एशिया की समस्याओं पर विचार किया, अपने 'राजदूत के स्मरण' में उन्होंने लिखा है कि इस क्षेत्र में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन मजबूत बनाने के लिए एक सामान्य नीति बनाने की आवश्यकता है और इसलिए ब्रिटेन और फ्रांस के साथ

सहाय्य आवश्यक है। यही विचार वास्तव में बालम्बो योजना का आधार बन गया। जनवरी सन् १९५० में आस्ट्रेलिया, कनाडा, लका, भारत, पाकिस्तान, यूजीलड और ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मंत्रियों का सम्मेलन कोलम्बो में हुआ और दक्षिण तथा दक्षिण पूर्वो एशिया की निर्धन जनता की समस्याओं पर विचार किया गया। इस सम्बन्ध में सब साग एकदम सहमत हो गये कि इस भाग का आर्थिक विकास राजनतिक स्वायत्तता को बाधे रखने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस क्षेत्र की विकास योजनाओं पर विस्तारपूर्वक विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त कर दी गई जिसका नाम “परामर्श समिति” (Consultative Committee on Cooperative Economic Development in South and South East Asia) रखा इस समिति की बैठक १५ से १६ मई तक (सन् १९५०) सिडनी में हुई जिसमें आस्ट्रेलिया, लका, कनाडा, भारत, यूजीलड, पाकिस्तान एवं मलाया एवं ब्रिटिश बोरनियो सहित ग्रेट ब्रिटेन के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इस समिति ने इस क्षेत्र के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये —

- (१) जुलाई सन् १९५१ से प्रारम्भ होकर पट्वर्षिक योजना के अन्तर्गत क्रमिक ढंग से विकास आरम्भ हो।
- (२) सर्वधित दशा के विस्तृत योजनाएँ प्रस्तुत होना इस कार्य की सफलता के लिए आवश्यक है।
- (३) राष्ट्र मण्डलीय तकनीकी सहायता योजना का आरम्भ होना अनिवार्य है।
- (४) इस सम्बन्ध में अराष्ट्रमण्डलीय देशों का भी विचार विमर्श में आमन्त्रित करना चाहिए।

इस प्रकार राष्ट्रमण्डलीय दशा का सहकारिता प्रयास अराष्ट्रमण्डलीय देशों का सहाय्य तकनीकी सहायता पर बल विभिन्न देशों की पृथक् योजनाएँ तथा क्रमिक औद्योगिकरण के लिए कृषि उत्पादन पर बल देना आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किये गये थे। इसके पश्चात् ६ मे २५ सितम्बर (१९५० ई०) लन्दन में परामर्श समिति की बैठक हुई और उपरोक्त प्रस्तावों पर विचार किया गया। तत्पश्चात् अक्टूबर मास में योजना का अंतिम रूप दिया और २८ नवम्बर को कोलम्बो योजना के नाम से यह कार्यक्रम प्रसारित कर दिया गया। श्री ह्यूग गेट्स केल का मत है कि विश्व एक बहुत बड़ा क्षेत्र में राष्ट्रमण्डलीय देशों ने सहकारी विकास की एक प्रातिविकारी धारणा को प्रमत्त वास्तविक रूप दे दिया। १ जुलाई सन् १९५१ को यह पट्वर्षिक योजना नियमित रूप से कार्यान्विता हुई।

कोलम्बो योजना में आधारभूत आर्थिक विकास के साथ कृषि, सिंचाई, विद्युत, संचार, रेलवे, सड़कें, बंदरगाह आदि का विकास भी सम्मिलित था। सामाजिक सेवा के क्षेत्र में स्वास्थ्य, मकान एवं शिक्षा सम्बंधी विषय भी स्वीकार किए गए थे। सम्पूर्ण योजना में कुल २,४४६ करोड़ रुपया लगाना था। इसमें भारत का १२०० करोड़, पाकिस्तान का ३७० करोड़, मलाया एवं ब्रिटिश बर्मा को १४१ करोड़ तथा लेवा का १३६ करोड़ रुपया स्वीकार हुआ था। इसके पश्चात् कोलम्बो योजना का अवधि बढ़ाकर, भारत की द्वितीय पंच वर्षीय योजना में साम्य रखने के लिए, १९६१ तक बढ़ा दी गई है। मई सन् १९५५ में परामर्श समिति की बैठक गिमला में हुई। इस बैठक में यह निर्णय लिया गया कि विदेशी सहायता का वितरण करने के लिए कई माध्यमिक प्रादेशिक संगठन की स्थापना नहीं की जाय। स्थायी सचिवालय की स्थापना भी नहीं की जाय। द्वितीय आधार पर विदेशी सहायता प्रसारित रखी जाय और आगे भी बढ़ा दी जाय। इस बैठक में कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, जापान, लाओस, नेपाल, पाकिस्तान, फिलिपाइन्स, थाईलैण्ड, वियतनाम, मलाया, सिंगापुर, उत्तर बर्मा, सारावाक तथा भारत के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। कोलम्बो योजना के सम्बंध में परामर्श समिति (Consultative Committee) एक प्रकार से सम्बंधित राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन है, जो वर्ष भर में की हुई प्रगति पर विचार करती है, कठिनाईयाँ या वि लेपन, तथा समस्याओं का हल प्रस्तुत करती है, और बाह्य सहायता की सम्भावनाओं का भविष्य निर्धारित करती है। यह समिति विभिन्न देशों के लिए साकार योजनाओं का सुझाव करने एवं तदनुसार विकास कार्य को अग्रसर करने में सफल हुई है। विभिन्न राष्ट्रों द्वारा परस्पर अनुभव का आदान प्रदान करने एवं सहायता देने के लिए एक स्वीकृत मंच सा बन गया है। इसीलिए इस समिति की बैठक प्रतिवर्ष विभिन्न देशों की राजधानियों में होती है। तकनीकी सहायता परिषद Council for Technical Cooperation तथा सूचना विभाग की स्थापना कोलम्बो में ही की गई है।

**योजना की सफलता**—सूक्ष्म दृष्टि से देख जाय तो योजना की सफलता स्वीकार करने में कोई रुकावट नहीं है। सम्बंधी क्षेत्रों में इस योजना के कार्यान्वित होने के पश्चात् खेद्यान की उपज में वृद्धि हुई है। चाय और रबर की उपज उच्चतर सीमा पर पहुँच गई। चाय का औसत भी पर्याप्त रूप में उत्पन्न हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय बैंक, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा फोर्ड फाउण्डेशन आदि संस्थाओं से भी सदस्य राष्ट्रों की बहुत सहायता प्राप्त हुई है। विद्युत, औद्योगिकीकरण, कृषि तथा अन्य औद्योगिक सामग्रों बहुत बड़ी मात्रा में योजना क्षेत्र के देशों को प्राप्त हुई है। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि इस योजना द्वारा पारस्परिक सहायता वृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसी के अन्तर्गत भारत ने नेपाल आदि को सहायता देना स्वीकार किया है। वर्तमान परिस्थितियों में विश्व में ऐसी विचार धाराएँ एवं योजनाएँ बहुत आवश्यक हैं।

इस प्रकार राष्ट्र मण्डलीय सम्बन्ध समस्त सदस्य राष्ट्रों के लिए तो हितवद्द व है ही किन्तु दूरदर्शिता से देखने पर यह भी सिद्ध होता है कि विश्व शांति को स्थापित रखने में तथा परस्पर विभिन्न प्रकार के पृथक् पृथक् देशों में भी सद्भावना का विकास करने के लिए यह संगठन बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया है और सफलता पूर्वक अपना कार्य निपादित कर रहा है । श्री एटली के शब्दों में “अब इस राष्ट्र मण्डल की मुख्य विशेषता सभी सम्मिलित करना है अलग रखना नहीं, क्योंकि अब तो अफ्रीका के लोग भी यूरोप तथा एशिया धामियों के साथ मिलकर आगे बढ़ने में सहयोग देने लगे हैं ।” अतः राष्ट्र मण्डल विश्व-राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण पस्था है ।

---



## नवजागृत अफ्रीका

अफ्रीका विश्व में काला महाद्वीप (Black Continent) के नाम से प्रचलित है। अंग्रेजी के ब्लैक (Black) शब्द के दो अभिप्राय हैं। एक तो यह कि यहाँ के निवासी रंग से काले हैं तथा दूसरा यहाँ की सम्पत्ति तथा जनशक्ति अभी तक अंधेरे में है। आज एस० डी० किम्बल के शब्दों में "हमारी अज्ञानता ही अफ्रीका के सम्बन्ध में अधिक अंधकार का प्रतीक है।"<sup>1</sup>

(The darkest thing about Africa has always been our ignorance of it)

संसार के इस द्वितीय महाद्वीप का क्षेत्रफल 9,96,00,000 वर्ग मील है। जिसमें भारत, चीन, पश्चिमी यूरोप, अमेरिका एक साथ समा सकते हैं। इसकी उत्तर से दक्षिण की लम्बाई 5000 मील तथा पूर्व से पश्चिम तक 4600 मील है। इसके उत्तर में भूमध्य सागर, पूर्व में हिंद महासागर, पश्चिम में अटलांटिक महासागर और दक्षिण में अटलांटिक का पानी इस तरह चारों ओर से यह पानी से घिरा हुआ है।

अफ्रीका महाद्वीप की आकृति एक चपटे शल की तरह है। यह तीन महाद्वीपों (अमेरिका, एशिया, और यूरोप) को मिलाने वाला विश्व का सबसे बड़ा पुल है।

इसकी जनसंख्या लगभग 220,000,000 है। जनसंख्या का घनत्व अधिक नहीं है। लगभग 15 से 20 आदमी प्रति वर्ग मील रहता है। इसमें तीन तरह की प्रमुख जातियाँ (इमोइड्स, निग्रो तथा बालूज) रहती हैं। इसमें लगभग 6 लाख भारतीय रहते हैं जो विशेष तौर पर दक्षिणी व पूर्वी अफ्रीका में निवास करते हैं। इसी तरह यूरोपीयन की जनसंख्या लगभग 50 लाख है, जिसमें से करीब आधे लोग द० अफ्रीका में रहते हैं। नाइजीरिया की जनसंख्या सबसे अधिक है जो लगभग 3 करोड़ है।

अफ्रीका भूमध्य खनिजों का भण्डार है। विश्व के कुल हीरो में से 98% अफ्रीका में उत्पन्न होते हैं। कुल स्वर्ण का 55%, कुल तंबाकू का 22% इसी महाद्वीप से मिलता है। सामरिक महत्व के महत्वपूर्ण खनिज यूरैनियम क्रोनियम व मन्त्रक यहाँ उत्पन्न होते हैं। विश्व की कुल शोका की पूर्ति का दो तिहाई भाग अफ्रीका पूरा करता है। इसी प्रकार संसार भर में ताँद के तेल का 60% भाग अफ्रीका से मिलता है। इतने अच्छे प्राकृतिक साधन होते हुए भी अफ्रीका एक गरीब देश है। यहाँ के लोगों की प्रति व्यक्ति भाग विश्व में सबसे कम है जो 14

<sup>1</sup> Africa today the living darkness, The Reporter May 19, 1951

हासर से 28 हासर के बीच प्रतिवर्ष है। साखों की तादाद में अफ्रीकी मुलाम के रूप में काम करते हैं। गरीबी के परिणाम स्वरूप सबसे अधिक बीमारियाँ पाई जाती हैं।

धार्मिक दृष्टि से अफ्रीका में तीन धर्म, मुख्यतया (मुस्लिम, ईसाई, व पेगनस्) पाये जाते हैं। सस्या की दृष्टि से लगभग 6 करोड़ मुसलमान, 2 करोड़ ईसाई और शेष पेगनस् हैं। रहन-सहन की दृष्टि से अफ्रीकी बहुत पिछड़े हुए हैं। प्रायः लोग धर्म आदम्बरों, धार्मिक कुरीतियों, प्राचीन परम्पराओं व रीति रिवाजों के शिकार हैं। इसमें लगभग 700 भाषाओं का प्रयोग होता है। इनमें एम्हारिक, तामचेक, बायून और वाई भाषा प्रमुख हैं।

राजनैतिक दृष्टि से सम्पूर्ण अफ्रीका विभिन्न राजनैतिक ढाँचों का स्वरूप है। कुछ स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, कुछ आंशिक स्वतन्त्र हैं, कुछ उपनिवेश हैं, और कुछ देश स्वतन्त्र हो गये हैं। अफ्रीकन जागृति के कुछ पक्ष के वर्गों में इस पर खाम तोर पर पाँच यूरोपीयन राष्ट्रों का हस्तक्षेप रहा है। और आज भी फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम, स्पेन, पुतगाल बहुत कुछ प्रभावशाली हैं। 20 वीं शती के प्रारम्भ में इन पाँच राष्ट्रों का अफ्रीका में आधिपत्य निम्न प्रकार से था।

1 ग्रेट ब्रिटेन—मिश्र, सूडान, पूर्वी अफ्रीका, रोडेजिया, बेतुषाना लैण्ड, सोमाली लैण्ड, तथा दक्षिणी अफ्रीका का सय (कुल क्षेत्र 33 लाख वर्ग मील)

2 फ्रांस—सहारा, अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, सोमाली लैण्ड, मेडागास्कर द्वीप, तथा भूमध्य रेखावर्ती फ्रांसीसी अफ्रीका (कुल क्षेत्र 42 लाख वर्ग मील)

3 बेल्जियम—बेल्जियम कांगो (9 लाख वर्ग मील)

4 पुतगाल—अंगोला, मोजाम्बिक (8 लाख वर्ग मील)

5 स्पेन—स्पेनिश मोरक्को तथा स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका (75 हजार वर्ग मील)

6 इसके अतिरिक्त कुछ प्रदेशों पर इटली व जर्मनी का आधिपत्य रहा है। जर्मनी के अधिकार वाले क्षेत्र का कुल क्षेत्र 11 लाख वर्ग मील था। इनमें कैपमून, जर्मन द० प० अफ्रीका आदि थे। और इसी तरह इटली के अधिकार वाले प्रदेश लिबिया इरीट्रिया सोमाली लैण्ड जिनका कुल क्षेत्र 6 लाख वर्ग मील था।<sup>2</sup>

**अफ्रीका में जाग्रति—**

समय के परिवर्तन के साथ अफ्रीका में भी परिवर्तन व चेतनता आयी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अफ्रीकनियों के विजय से अफ्रीकी

स्वतन्त्रता आन्दोलन बलवान बना। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् यह गति और तेज हुई और सन् 1958 में अफ्रीकी जनता ने एक प्रस्ताव पास किया कि सन् 1963 तक समस्त अफ्रीका महाद्वीप स्वाधीन हो जाना चाहिए। अफ्रीका के लगभग 35 राष्ट्र स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं और यह आन्दोलन जारी है। प्रगतिशील अफ्रीका में निम्न प्रमुख मोड़ दिखाई पड़ते हैं—

(१) सम्पूर्ण अफ्रीका में एशिया की भांति राष्ट्रीयता की लहर चल पा रही है। विशेष तौर पर मिस्र, फ्रांस पू० अफ्रीका, ब्रिटिश पू० अफ्रीका में यह बहुत तेज है। कीनिया के मामो, मामो आन्दोलन तथा द० अफ्रीका के रंग भेद आन्दोलन के परिणामस्वरूप यह राष्ट्रीयता कहीं कहीं हिंसात्मक प्रवृत्ति में भी बदल गई है।

(२) सारे अफ्रीका में उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन है। सभी साम्राज्यवादियों की शक्ति का प्रभाव धीरे धीरे कम हो रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व अफ्रीका की १/५ जनसंख्या और १/१० कुल क्षेत्र का भाग यूरोपियन देशों के अधीन था और अब लगभग आधे से बड़ी ज्यादा जनसंख्या और ४० प्रतिशत क्षेत्र स्वतन्त्र हो गया है।

(३) राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद विरोधी तत्वों के परिणामस्वरूप अफ्रीका में जागृति की ज्योति जल रही है। सम्पूर्ण गुलामी के इतिहास को समाप्त कर जाग्रत अफ्रीका का साहित्य लिखा जाने लगा। इस जागृति में एशिया का अफ्रीका पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

(४) इस अफ्रीकन जागृति के दौरान में सबसे तेज आन्दोलन रंग भेद की नीति की ओर है। इनके नेताओं का कथन है कि हमें बहुजातीय समाज की अपेक्षा जातिविहीन समाज का निर्माण करना है। द० रोडेसिया, द० अफ्रीका, कीनिया, जहाँ यूरोप निवासी बस गये हैं वहाँ यह समस्या भयंकर बन गई है। धीरे धीरे अफ्रीकी इस भावना का फलाने में काफी सफल हो रहे हैं कि आने वाले वर्षों में विदेशी आधिपत्य और रंग भेद समाप्त ही नहीं होगा बल्कि उनका जीवन सुलभ बन जायगा। यदि सप्रभावा और बेसलबलक के सम्मेलनों में उन्होंने अपने निश्चय को बराबर दोहराया है कि विदेशी सत्ताओं का समयन करने वाले देशों से शेष अफ्रीका के देश कोई व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रख सकेंगे। राष्ट्र मण्डल व संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी बराबर प्रस्तावों द्वारा रंग भेद नीति के विपरीत लोकमत निर्माण में काफी प्रस्ताव पास हो रहे हैं।

(५) अफ्रीका के देश एक परिवर्तन प्राप्त की स्थिति में हैं। उनमें प्राचीन व्यवस्था रीति रिवाजों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसमें एक नवीन नेतृता सामने आ रहा है जो पश्चिम व एशिया की आधुनिक मन्तव्यों से प्रेरित है। वही-वही यह प्रतिक्रिया रक्त नातियों में भी बदल गई है।

शक्तिकारी सघों का निर्माण हो रहा है। इससे राजनैतिक स्थायित्व को भी धक्का लगा है एक ओर द्रुत आर्थिक विकास की तीव्र इच्छा तथा राजनैतिक स्थिरता ने सामाजिक जीवन को अस्त व्यस्त कर दिया है। कुछ भी हो अज्ञानता धर्मनिराकरता, रुढ़िवादिता के प्रति आन्दोलन प्रगतिशील है। दूसरी ओर अच्छा खाना और अच्छे स्वास्थ्य पर अधिक जोर डाला जा रहा है। इस परिवर्तन में प्राचीन सामाजिक व्यवस्थाएँ, जातीयता एवं कुछ कठिन समस्याएँ हैं। सांस्कृतिक मूल्यों में मतभेद काफी विद्यमान है। इन सीमाओं के बावजूद भी औद्योगीकरण, शहरीकरण व आधुनिकीकरण की ओर प्रवृत्ति विकासमान है।

(६) अफ्रीका के सभी प्रदेश विश्व राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध बढ़ाना चाहते हैं वे साम्यवाद के देशों की अपेक्षा पश्चिमी देशों के प्रति अधिक झुकाव रखते हैं। इसका एक कारण इसके नेताओं में अमरीकी शिक्षा का प्रभाव है। एशियाई राष्ट्रों के साथ वे घट जोड़ा बनाना चाहते हैं। एशियाई राष्ट्रों के सहयोग से वे समुदाय राष्ट्र सघ में भी एक शक्ति के रूप में बढ रहे हैं।

(७) एशियाई राष्ट्रा के अफ्रीका पर सबसे अधिक प्रभाव भारत का पड़ा है। महात्मा गाँधी के सत्याग्रही आन्दोलन ने उन्हें बहुत प्रभावित किया है। चीनिया, टांगानिका और यूगांडा में भारतीय व्यापारी काफी पाये जाते हैं। भारत की तटस्थता की नीति ने भी अफ्रीकी राष्ट्रों को प्रभावित किया है। भारत की नीति से दोनों गुटों से प्रयत्न रहना चाहते हैं। भारत व अफ्रीकन राष्ट्रों के बीच कुछ क्षेत्रों में मतभेद होने पर भी शान्तिपूर्ण, आर्थिक व व्यापारिक रीति देग बहुत अधिक है।

अफ्रीका के कुछ नवीन स्वतंत्र राष्ट्रों के बारे में संक्षिप्त जानकारी— यद्यपि अफ्रीका में राष्ट्रीय आन्दोलन औद्योगीकरण, शिक्षा प्रसार तथा एशिया के घनिष्ठ सम्बन्ध व सहयोग के कारण स्वतंत्रता फलती जा रही है तथापि लगभग १/३ भाग अब भी ऐसा है जो या तो विदेशी शक्तियों के सीमा हाथ में है अथवा उनके बहुत अधिक प्रभाव में है। इन अधीनस्थ भागों की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन चला रहे हैं। जो राष्ट्र स्वतंत्र हो गये हैं अथवा जो अब भी परतंत्र हैं इनकी निम्न सूची दी गई है—

#### अफ्रीका के देश

सं. नं.	देश का नाम	स्वतंत्रता का वर्ष
1	मोरक्को	मार्च, 1956
2	स्पेनी सहारा	—
3	मॉरितानिया	नवम्बर, 1960
4.	अल्जीरिया	सितम्बर, 1962

क्र स	देश का नाम	स्वतन्त्रता वर्ष
5	ट्यूनिशिया	माच, 1956
6	लिबिया	दिसम्बर 1951
7	संयुक्त अरब गणराज्य	दिसम्बर, 1959
8	सूडान	जनवरी, 1956
9	छाद	अगस्त, 1960
10	नाइजर	अगस्त, 1960
11-12	माली संघ	जुलाई, 1960
13	पुतगाली गिनी	—
14	गिनी	अक्टूबर, 1958
15	सियरा लियोन	अप्रैल, 1961
16	लाइबेरिया	1847
17	घाईबरी कोस्ट	अगस्त, 1960
18	वोल्टाई गणराज्य	अगस्त 1960
19	घाना	माच, 1957
20	टोगो	अप्रैल 1960
21	दहोमी	अगस्त, 1960
22	नाइजीरिया	अक्टूबर, 1960
23	कमरून	(ब्रिटन)
24	कमरून	जनवरी, 1960
25	स्पनी गिनी	—
26	गयाना	अगस्त, 1960
27	बींगो गणराज्य	अगस्त, 1960
28	मध्यपूर्वी अफ्रीका	अगस्त, 1960
29	माली गणराज्य	जुलाई 1960
30	सूगांडा	अक्टूबर, 1962
31	इथियोपिया	1941
32	इरिट्रिया	सितम्बर, 1952
33	फ्रांसीसी सोमाली लण्ड	—
34-35	सोमालिया	जुलाई 1960
36	रनिया	दिसम्बर, 1963
37	रवाण्डा उरुंडी	दिसम्बर, 1963

क्र.सं.	देश का नाम	स्वतन्त्रता वर्ष
38	तांगानिका	दिसम्बर, 1962
39	मोजम्बिक	—
40	यासालण्ड	अक्तूबर, 1964
41	उत्तरी रोडेशिया	जुलाई, 1964
42	स्वाजीलैण्ड	—
43	अंगोला	—
44	द० प० अफ्रीका	—
45	बेचुआना लण्ड	— (11 नवम्बर 1966
46	द० रोडेशिया	एक तरफ स्वतन्त्रता घोषणा)
47	बासुतोलैण्ड	—
48	दक्षिणी अफ्रीका संघ	—
49	मालागासी गणराज्य	जुलाई, 1960
50	मोराक्को	माघ, 1960
51	मोरीशस	माघ, 1968
52	बारबाडोस	नवम्बर, 1966
53	बोत्सवाना	सितम्बर, 1966
54	गुआना	सितम्बर, 1966
55	मलावी	दिसम्बर, 1964
56	जजीबार	दिसम्बर, 1963
57	जैम्बिया	दिसम्बर, 1964
58	नेम्बिया	दिसम्बर, 1965

उक्त सूची से स्पष्ट है कि अफ्रीका के बहुत से देश अभी तक स्वतंत्र नहीं हो पाये हैं। पुर्तगाल के अधीन अंगोला मोजम्बिक गिनी, मेडोरा टापू, फ्रांसीसीयों के अधीन सोमालीलैण्ड स्पेन के अधीन स्पेनिश गिनी, स्पेनिशसहारा, तथा ब्रिटेन के अधीन स्वाजीलैण्ड, द० प० अफ्रीका अभी तक स्वतंत्र नहीं हो पाए हैं।

## अफ्रीकी एकता आन्दोलन व एशियाई सम्बन्ध ( African Cooperation & Afro-Asian 'Unity )

नव जाग्रत अफ्रीका में यह महसूस होने लगा है कि वे अपनी समस्याओं का तभी समाधान कर सकते हैं जब उनमें एकता कायम रहे। एकता की प्रवृत्ति इसलिए अफ्रीकी राष्ट्रों में धीरे-धीरे बल पकड़ रही है। इस सम्बन्ध में अप्रैल 1958 को अफ्रीका के स्वतंत्र राष्ट्रों का अक्कारा में सम्मेलन हुआ। यह स्वतंत्र अफ्रीकी राष्ट्रों का पहला सम्मेलन था, जिसको घाना के प्रधान मंत्री डाक्टर एनक्रूमा ने आमन्त्रित किया था। इसमें भाग लेने वाले प्रमुख राष्ट्र अरब गणराज्य 'मबीसीनिया' घाना, लिबिया, साइबेरिया, मोरक्को, सूडान, ट्यूनिशिया आदि थे। इस सम्मेलन में 'पामाय' हित के प्रश्न जैसे अफ्रीका के परतंत्र राष्ट्रों को स्वतंत्र कराना, स्वतंत्र राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना व सुदृढ़ बनाना, विश्वशांति के माग को प्रशस्त करना रंग भेद को समाप्त करना आदि पर विचार विमर्श हुए। यह भी निश्चय हुआ कि प्रतिवर्ष 15 अप्रैल को अफ्रीकी स्वतन्त्रता दिवस मनाया जायगा।

दिसम्बर 1958 में घलिल अफ्रीकी जन सम्मेलन फिर घाना की राजधानी अक्कारा में हुआ। इसमें विभिन्न राजनतिक दलों, ट्रेड यूनियनों व सङ्घाओं के प्रतिनिधि एकत्रित हुए। इसमें यह निश्चित किया गया कि परतंत्र राष्ट्रों को आजाद कराने के लिए अहिंसात्मक तरीकों का सहारा लिया जाय।

समुक्त राष्ट्रसंघ की साम्राज्यवादी राष्ट्रों को अफ्रीका से हटाने के लिए अनुरोध किया जाय। रंगभेद बरतने वाली द० अफ्रीका सरकार से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए जाएँ। सम्पूर्ण अफ्रीकी राष्ट्रों को पाच समूह में बाटा जाय तथा स्वतंत्र राष्ट्रों का एक राष्ट्र मण्डल (Common wealth) बनाया जाय।

अफ्रीकी एकता का तीसरा सम्मेलन जनवरी 1962 में नाइजीरिया की राजधानी लागोस में हुआ। इस सम्मेलन में बीस अफ्रीकी राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य अफ्रीकी देशों की आर्थिक स्थिति को सुलझाना था। इस सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि अफ्रीका के सम्मेलन में भाग लेने वाले बीस राष्ट्रों के बीच आर्थिक व सामाजिक बंधन को मजबूत किया जाय दूसरा घाने वाले देशों में अफ्रीका का एक अग्रगण्य आर्थिक व्यवस्था हो, तीसरा, आर्थिक उन्नति के लिए राष्ट्रों के बीच राजनतिक मामलों में भी समन्वय किया जाय चौथा, अफ्रीकी राष्ट्र स्वास्थ्य व शिक्षा के विकास में सहयोग दें और पाँचवा अफ्रीकी राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिए एक ऐसे संगठन का निर्माण किया जाय जिसे अफ्रीकी कॉमन मार्केट कहा जा सके और जिसका उद्देश्य विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक बन्धन को मजबूत करना है।

अफ्रीकी एकता का एक बहुत बड़ा सम्मेलन 1966 में यूथोपिया की राजधानी अदिसअबाबा में हुआ। इस सम्मेलन में अफ्रीका के 32 स्वतंत्र राष्ट्रों के राज्याधिपति सम्मिलित हुए।

अफ्रीकी एकता का यह बहुत ही महत्वपूर्ण सम्मेलन था। इसके निम्न निश्चय थे।

(1) अफ्रीका से प्रजातिवाद और उपनिवेशवाद को समाप्त किया जाय।

(2) परतन्त्र देशों को आजाद कराने के लिए जो धन खर्च हो उसके लिए एक स्वतंत्रता मद बनाया जाय।

(3) अफ्रीका के सभी स्वतंत्र राष्ट्र द० अफ्रीका व पुतगाल सरकारों के साथ अपने कूटनीतिक व आर्थिक सम्बन्ध तोड़ लें और उसके जहाजों को अफ्रीकी बन्दरगाहों पर सुविधा न दी जाय और जो देश इनसे सम्पर्क रखेगा वह शेष अफ्रीका का विरोधी माना जायेगा।

(4) सम्मेलन ने अफ्रीकी एकता चाटर का निर्माण किया, जिसकी 36 धाराएँ थी। चाटर के प्रारूप के अनुसार एक सभा होगी और उसमें अफ्रीकी राष्ट्रों के अध्यक्षों का प्रतिनिधित्व होगा। इसके अनुसार एक विदेश मंत्रियों की काउंसिल भी रखी गई जो वष में दो बार मिलेगी। इसका एक सचिवालय होगा। जिसका अध्यक्ष महासचिव कहलायेगा। इस अफ्रीकी संगठन में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक सुरक्षा विज्ञान तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी कई आयोग होंगे। आपसी झगड़ों का नपटारा करने के लिए पंच निएयो की व्यवस्था भी की गई। इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य अफ्रीकी एकता परतन्त्र राष्ट्रों को स्वतंत्रता दिलाना, विवादों का शांतिपूर्ण निराकरण, आंतरिक मामलों में निरस्त्रता की नीति, प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान तथा असह्यता व तटस्थता की नीति का पालन करना।

अफ्रीकी एशियाई संगठन—एक ओर अफ्रीकी राष्ट्र आपसी सम्बन्धों पर जोर डाल रहे हैं दूसरी ओर एशियाई राष्ट्रों के साथ सहयोग व सम्पर्क करने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह प्रयत्न अफ्रीकी देशों के अतिरिक्त एशियाई राष्ट्रों ने अधिक किए हैं। इस सम्बन्ध में कई सम्मेलन हुए। मार्च अप्रैल 1947 में 28 प्रतिनिधि देशों का दिल्ली में सम्मेलन हुआ। इसमें राजनैतिक स्वतंत्रता, आर्थिक विवास रणभेद समाप्ति आदि पर विचार विमर्श हुए। दूसरा सम्मेलन 20 से 23 जनवरी 1949 को दिल्ली में हुआ। इस सम्मेलन में डच आक्रमण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न इंडोनेशिया की स्थिति पर विचार किया गया। तीसरा सम्मेलन 28-29 दिसम्बर 1954 को इंडोनेशिया के एक नगर बोगोर में हुआ। इसमें एशिया व अफ्रीका के देशों के बीच सद्भावना व सहयोग करने के लिए प्रस्ताव पारित हुए। चौथा सम्मेलन 18 अप्रैल 1955 में इंडोनेशिया के नगर बाडुग में प्रारम्भ हुआ।



इस सम्मेलन का उद्घाटन इंडोनेशिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति सुकार्णो ने किया। यह एक महत्वपूर्ण सम्मेलन था। इस सम्मेलन की निम्न विचारों थी।

(1) सम्मेलन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति की स्थापना की मांग की।

(2) एशिया व अफ्रीका के आर्थिक विकास के लिए बहुपक्षीय व्यापार तथा आदान प्रदान पर जोर दिया।

(3) सम्मेलन का यह तीसरा प्रस्ताव पेमेस्टाइन में अरबों का समयन वेस्ट इरिया पर इंडोनेशिया का समयन तथा राष्ट्र सच की सदस्य सत्ता में वृद्धि एवं निगमनीकरण आदि पर पारित हुआ।

(4) एशिया व अफ्रीकी राष्ट्रों की एकता पर जोर दिया गया।

अफ्रीकी एशियाई एकता सम्मेलन 1957 में मिस्र की राजधानी काहिरा में हुआ। इस सम्मेलन में सोवियत सच के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में रणभेद उपनिवेशवाद व अफ्रीका के राष्ट्रों की स्वतंत्रता की मांग की। 1958 की दिसम्बर में अफ्रीकी एशियाई राष्ट्रों के विकास के सम्बन्ध में काहिरा में दूसरा सम्मेलन हुआ। उसका प्रमुख उद्देश्य व्यापारिक विकास, आर्थिक सहयोग थे। इसके पश्चात् सितम्बर 1961 में एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों का सम्मेलन युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में हुआ। इसमें जर्मनी के प्रश्न पर, निगमनीकरण, अणु परीक्षण, शीत युद्ध आदि समस्याओं पर विचार विमर्श हुए। इस सम्मेलन में भी उपनिवेशवाद प्रजातीयवाद की कटु निन्दा की गई। 5 अक्टूबर 1964 को एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों का पाँचवा सम्मेलन काहिरा में हुआ। इस सम्मेलन में निम्नीकरण, कंगडो का शातिपूर्ण निष्पत्ति, रणभेद बरतने वाले देशों के साथ कूटनीतिक सबंध तोड़ने पर प्रस्ताव पारित हुए। इसके अतिरिक्त द० रोडेशिया में एक तरफा स्वतंत्रता की भावी घोषणा, कम्बोडिया तथा वियतनाम में विदेशी हस्तक्षेप का विरोध हुआ। सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसच में साम्यवादी चीन को प्रवेश प्राप्त करने के लिए प्रस्ताव पारित किया गया। एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों का सम्मेलन जून 1965 में अल्जीरिया में होना निश्चय हुआ। परंतु अल्जीरिया में सैनिक विद्रोह के कारण सम्मेलन स्थगित कर दिया। इस प्रकार एशिया व अफ्रीका आपसी सहयोग के लिए बराबर प्रयत्नशील है।

## बेल्जियम कांगो व दक्षिणी रोडेशिया का प्रश्न

शताब्दियों तक कांगों के मैदान का महत्व नहीं समझा गया था, किन्तु अचानक बीसवीं सदी के प्रारम्भ में विश्व का ध्यान इस ओर गया। सन् 1903 में यहाँ के रबर के व्यापार से सम्बन्धित रोजर केसमेन्ट की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कांगो से तांबा, हीरे, रबर, कपास तथा यूरेनियम आदि महत्वपूर्ण युद्ध सामग्री के योगदान के कारण इसका महत्व बढ़ गया। साथ ही इसके प्रशासक बेल्जियम का स्थान भी ऊँचा हो गया।

बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड द्वितीय ने योरोप के प्रसिद्ध पण्डित हेनरी स्टेनली की सेवाओं का बहुत उपयोग किया था। स्टेनली की सहायता से कांगो में व्यापार और सभ्यता का प्रसार सम्भव हुआ। सबकें बनाना, व्यापार करना और अन्त में जनता को लड़ाका रहने के बजाय श्रमजीवी बना देना, उसी के परिश्रम का फल था। इन्हीं के नाम पर वहाँ नगरों के नाम रखे गए हैं। स्टेनली ने स्वयं पेड़ काटकर गिराना और खानों से पत्थर तोड़ कर निकालना सिखाया था। प्रत्येक कदम पर वहाँ घनाजंगल था जहाँ जंगली जातियों और जंगली जानवरों की प्रचुरता थी। टिसिस्ती नामक मक्खी होती थी जिसके काटने से गाय, घोड़े आदि तुरन्त मर जाते थे। ऐसी स्थिति में भी स्टेनली ने कांगो में 1400 मील लम्बी लाईन बनाकर एक बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न किया। प्रारम्भ में कांगो पर सम्राट का आधिपत्य था। उस समय बेल्जियम के अधिारिता द्वारा वहाँ की जनता का बहुत शोषण किया जाता था। यदि कांगो निवासी पर्याप्त रबर और ताँबा का तेल पर्याप्त मात्रा में नहीं लाते थे तो उनके हाथ काट दिये जाते थे और उनकी रिश्ता और बच्चे छीनकर दासता के रूप में रख दिये जाते थे। इस प्रकार वे दूध और पीढ़ा के भय से निरन्तर घातकित रहते थे।

सन् 1908 में बेल्जियम की जनता ने जब सम्राट से शासन सार सौंभाला, तब वहाँ की दशा कुछ सुधरी। किन्तु फिर भी कांगो निवासियों को समानता का स्तर वही मिल सका। वहाँ के शासकों ने वहाँ की भाषा में ट्रेनिंग देकर वहाँ भेजा जाता था और उस प्रदेश में निरन्तर भ्रमण करते रहने का आदेश दिया जाता था। कांगों के नवयुवकों को केवल ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि अपने बेल्जियम के अधिारिताओं के लिए उपयोगी हों सकें। इस प्रकार कांगों की सम्पत्ति ताँबा, हीरे, सोना और यूरेनियम का अत्यधिक उपयोग बेल्जियम द्वारा किया गया।

सन् 1940 में जब नाज़ी लोगों ने बेल्जियम जीत लिया तब कांगों में रहने वाले बेल्जियन्स की बड़ा जोर आया और वे अंग्रेजों के साथ मिलकर बड़ी सहायता

करने लगे। अब आणविक युग में यूरेनियम और कोबाल्ट का महत्व और भी बढ़ गया। बेल्जियम ने अब इसके बड़े प्रकाशित करना भी बंद कर दिया। किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के समय संयुक्त राज्य अमेरिका में आणविक विस्फोट के प्रयोगों के लिए आवश्यक यूरेनियम कागा से ही भिजवाया गया था।

कागो का क्षेत्रफल लगभग 10 लाख वर्गमील है। किन्तु समुद्री किनारा बहुत थोड़ा है। यहाँ की राजधानी लियोपोल्डविले है। यहाँ से सभी प्रदेशों को वायु मार्ग जाते हैं। सबको और रेल मार्गों का भी अच्छा विकास हो चुका है। आवागमन के साधनों के विकास के साथ ही यहाँ के मूल निवासी जाग्रत हो गए। उन्हें यह विश्वास भी हो गया कि वे अपने पड़ोसी रोडेशिया निवासियों से अच्छे हैं किन्तु फिर भी घाना की भाँति पूरा रूप से स्वतंत्र नहीं हैं।

स्वतंत्रता का उदय—जब से बेल्जियम ने (सन् 1879) कानो पर आधिपत्य जमाया तब से ही कागो निवासी अपनी स्वतंत्रता के लिए चिंतित थे। सन् 1952 में कागो के गवर्नर-जनरल ने यह स्वीकार किया था कि अब कागो की आजादी का विचार करने का समय आ गया है, किन्तु फिर भी 'स्वातन्त्र्य' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1954 में उस समय किया गया जब बेल्जियम ने उपवादी संयुक्त सरकार स्थापित हुई। जनता की ओर से भी सर्वप्रथम भाग सन् 1956 की जुलाई और अगस्त में "अफीकी आत्मा" तथा "अवाको" की घोषणाओं में व्यक्त हुई थी। इस समय यह अनुमान किया जाता था कि लगभग तीस वर्ष में सन् 1986 तक कागो स्वतंत्र हो सकेगा। और यह घोषणा भी सबन बड़ी भयावह प्रतीत हुई थी। बेल्जियम सरकार द्वारा इसकी कोई सुनवाई नहीं की गई। परंतु कागो निवासियों ने सोचा कि यह शासन अभी कम से कम एक सौ वर्ष और चलेगा कागो की जनता का यह विचार बहुत अधिक निराशावादी था, क्योंकि इस समय तक फ्रांस ने अपने अफीका के प्रदेशों को स्वतंत्रता प्रदान कर दी थी और सूडान तथा घाना भी स्वतंत्र हो चुका था। इसलिए सन् 1956 का वर्ष ही कागो में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

सन् 1956 में जनता की घोषणा और स्वतंत्रता की माँग का कोई उत्तर नहीं मिला। इसी वर्ष अमेरिका के साथ कागो में भी आर्थिक शिथिलता आई और फलस्वरूप सामाजिक विकास के कार्य भी स्थगित कर दिये गए और शासन का प्रभाव कम होने लगा। सन् 1958 में बेल्जियम के निर्वाचा हुए और समाजवादी ईसाई सरकार स्थापित हो गई। इस सरकार ने गवर्नर जनरल एम० पटोलॉन ने उपनिवेश का विभाग लेकर इसका नाम बदल दिया और उपनिवेशों को स्वतंत्र बनाने की नीति भी (Policy of Decolonization) तय की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने एक संसदीय आयोग भी नियुक्त किया। इस प्रकार कागो का बेल्जियम के सुपुट हो गया।

किन्तु जनवरी सन् 1959 में लियोपोल्डविले में राजनैतिक आन्दोलन ने धीरे धीरे बढ़कर दंगों का रूप धारण कर लिया। इसके 9 दिन बाद 13 जनवरी सन् 1959 को बेल्जियम सरकार ने अपना निष्णय घोषित कर दिया। केवल "अवाको के प्रतिरिक्त अन्ध सभी राजनैतिक दलों ने यह निष्णय स्वीकार कर लिया था किन्तु बाद में आठों प्रमुख राजनैतिक दलों ने "आठों का स्मरण पत्र" देकर अस्वीकार कर दिया और सन् 1961 में ही स्वतन्त्रता प्राप्त करने की मांग की। इसके तुरन्त बाद ही पेट्रिस लुमुम्बा के राष्ट्रीय आन्दोलन ( Movement National Congoleis ) द्वारा जून सन् 1960 में ही स्वतन्त्रता की मांग प्रस्तुत की गई।

समझौता करने की दृष्टि से बेल्जियम सरकार ने जनवरी फरवरी सन् 1960 में एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जिसमें कांगो के 45 राजनैतिक नेता एवं तीन प्राचीन राजनैतिक दल सम्मिलित हुए और यह निष्णय लिया गया कि 30 जून सन् 1960 को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जावे।

स्वतन्त्र कांगो—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय नए प्रधान मंत्री पेट्रिस लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासाबुबू ने कांगो की बागडोर संभाली, किन्तु इन नेताओं को राजनैतिक अनुभव और प्रशासकीय रीति-रिवाजों से पूरा परिचय नहीं था। आर्थिक प्रभाव भी बहुत था। इसलिए स्वतन्त्र होते ही कठिनाइयाँ सामने आने लगीं। लियोपोल्डविले में 30 जून 1960 को राष्ट्रीय झण्डा फहराने के तुरन्त बाद ही विद्रोह सा हो गया। सेना के मूल निवासियों ने अपने श्वेत अधिकारियों का विरोध किया और नियम तथा शासन अपने हाथ में ले लिया। अभी तक की दबी हुई भावना कि बेल्जियम ने कांगो का शोषण किया है, अबक उठी और सभी यूरोप निवासियों का विरोध होने लगा। क्रुड मीड ने श्वेत नागरिकों और अधिकारियों के मकान लूट लिये और बहुतों को मार भी डाला। अविष्य आचचारमय बन गया। कुछ लोग नावों से कांगो नदी पार कर आज़बिले जाने लगे और अन्य लोग वायुयानों द्वारा बच बच कर भागने के लिए दौड़े।

समुक्त राष्ट्रसंघ की सहायता—प्रधान मंत्री लुमुम्बा ने यह स्वीकार किया कि वे अपने निवासियों को नियंत्रित नहीं कर सके और समुक्त राष्ट्रसंघ से सहायता के लिए प्रार्थना की। जब राष्ट्रसंघ की सेनाएँ सहायतायें पहुँची तो प्रधान मंत्री को भय हुआ कि ये सेनाएँ उनका विरोध करेंगी इसलिए उन्होंने कहा कि इन्हें वापस ले जाया जावे। किन्तु इस समय कांगो की दशा दयनीय थी, वहाँ न तो कोई डाक्टर था और न कोई व्यवस्थित अस्पताल। समुक्त राष्ट्रसंघ ने यह व्यवस्था की। भारत की मडिकल यूनिट इस सम्बन्ध में कागो गई थी। इस समय न तो पाठशालाओं में कोई अध्यापक थे, न बारखाओं में कोई मजदूर। दूबानें खाली थीं और पेट्रोल पम्प सूखे। दारुमानों से पत्र नहीं आते थे और सड़कों पर सफाई नहीं होती

थी। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांगो की दशा विगड़ गई। वृष्टि में विघ्न पड़ गए और धारो तरफ अकाल सा पड़ गया। राष्ट्रसंघ के सैनिक नगरों में घूमने लगे। इस समय विद्रोही सेनानायक कनल मोबुटू ने सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की। इस प्रकार पांच माह तक गड़ बड़ स्थिति चलती रहने पर लुमुम्बा ने राजधानी से भाग कर अपनी जाति की शरण में जाना चाहा परंतु कनल मोबुटू के सैनिकों ने उसे पकड़कर कैद में डाल दिया। राष्ट्रपति कासाबुबू ने व्यवस्था जमाना चाही किंतु फिर भी विभिन्न भागों में संघर्ष छिड़ गया।

**कांगो विग्रह की और—**इस बीच कांगो के खनिज सम्पन्न प्रदेश कटंगा के राजनैतिक नेताओं ने अपना पृथक् राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया। यह कांगो की एकता को गहरी और गंभीर चोट लगी, क्योंकि कांगो के आर्थिक जीवन का प्राण ही कटंगा का खनिज है। वास्तव में इस विग्रह के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम, लुमुम्बा की केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बनाने की भावना से शोम्बे (कटंगा की स्वतंत्र बनाने के समर्थक नेता) बहुत असंतुष्ट हो गए और यहाँ तक कि दोनों नेताओं के पारस्परिक सम्बन्ध भी बिगड़ गए। दूसरा, कटंगा के खानों सबकी स्वार्थों की पूर्ति भी कांगो से अलग रहने पर ही भली प्रकार होती थी। प्रशासन भी इसी पक्ष में था। इस पक्ष में बेल्जियम, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के साथ ही संयुक्त-राज्य अमरीका भी सम्मिलित था।

इस स्थिति में संयुक्त-राष्ट्रसंघ ने कांगो के शेष भाग (कटंगा के अतिरिक्त) से तो बेल्जियम की सेनाएँ आदि शांतिपूर्वक हटा दी किंतु कटंगा की स्थिति भिन्न हो बनी रही। वहाँ पर शोम्बे ने अपना आधिपत्य जमाना चाहा। उनकी महायत्ना के लिये लगभग ४०० बेल्जियम सैनिक अधिकारी, वायुयान और हेलीकोप्टर आदि भी लगे रहे। तब स० रा० संघ के महासचिव थ्री हेमरशाल्ड ने अगस्त सन् १९६० में सुरक्षा परिषद् ने नवीन आज्ञाएँ और आदेश प्राप्त किये और प्रथम २०० संयुक्त राष्ट्र सैनिकों के साथ स्वयं एलिसाबेथविले जाने का काय्य अपने ऊपर लिया। इस बीच (८ जुलाई से ११ अगस्त सन् १९६०) में शोम्बे ने अपनी अल्पमन वाली पार्टी को शक्तिसम्पन्न बना लिया था। शोम्बे ने अपनी पार्टी के अतिरिक्त अन्य पार्टियों (बालूबकात आदि) के प्रमुख सदस्यों को बंदी बना लिया जिनकी सहायता लगभग ११०० थी। इस प्रकार एक पुत्तिस राज्य की स्थापना कर ली गई। इस प्रशासन की शक्ति के तीन मुख्य आधार थे। प्रथम ३००० सुसज्जित सैनिक जिनका नेतृत्व भी विदेशी अफसर करते थे और जिनके पास सब प्रकार के आधुनिक शस्त्रास्त्र थे। दूसरा, आर्थिक स्वायत्त जिनका स्रोत वहाँ के खनिज थे। इनके कारण खानों की समस्त आमदनी केन्द्र को जाने के बजाय लगभग ५०० लाख डालर प्रतिवर्ष शोम्बे सरकार प्राप्त होने लगा। और तीसरा आधार ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य

अमरीका से प्राप्त सहायता थी जिसमें पड़ोसी राष्ट्र रोडेशिया के प्रधान सर रॉय वेलेंसकी की सहानुभूति भी सम्मिलित थी ।

इस परिस्थिति में जब लुमुम्बा सरकार ने देखा कि उसके आमदनी के साधन रुक गये और एलिजाबेथविले में शोम्बे का पूरा नियन्त्रण होता जा रहा है, तब उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह प्रार्थना की कि कटंगा के इस व्यवहार को सनिक बल द्वारा समाप्त करने की कायवाही की जावे । किंतु यह काय वाटर की परिधि से बाहर था । अतः स्वीकार नहीं किया गया । तब लुमुम्बा ने क्रोधित होकर अपनी ही सेनाओं को कटंगा पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया और इस समय उन्हें सोवियत रूस से अप्रत्याशित सहायता प्राप्त हुई । किंतु राष्ट्रपति कसावुबू लुमुम्बा के इस काय से अप्रसन्न हो गये और उन्होंने लुमुम्बा को पदच्युत कर दिया । इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप लुमुम्बा ने राष्ट्रपति कसावुबू को पदच्युत कर दिया । ऐसी सङ्कट की स्थिति में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने समस्त वायुयान उड़ान स्थल बन्द कर दिये जिससे रूस के यानों का आवागमन भी रुक गया और कटंगा का आक्रमण भी स्थगित हो गया ।

इसके पश्चात् अक्टूबर सन् १९६० में परिस्थितियाँ बदली बालुबा जाति के लोगो ने अपने नेताओं को बंदी होते हुए भी मध्य एवं उत्तरी कटंगा में शोम्बे नेताओं को हरा दिया जिससे शोम्बे की सरकार डगमगाने लगी । तब शोम्बे ने भी इज्जत बचाने की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ से ही सहायता के लिये प्रार्थना की । इस प्रकार स० रा० संघ की सेना के नियन्त्रण में एक तटस्थ प्रदेश की स्थापना हो गई । तब विद्रोह प्रदेश ने अपना नामकरण "लुआलाबा राज्य"—करके सतोष किया । इस स्थिति में स० रा० संघ को पुनः सारा प्रश्न समस्त बांगो को ध्यान रखकर सोचने और हल करने का अवसर मिल गया । किंतु बांगो की स्थिति बड़ी विचित्र बन गई थी । कैट्र का शासन निदल इलियो सरकार के हाथ में था और राज्य के अन्दर अनेक गुट बन गये थे जैसे कीबू में थोरिमटले लुमुम्बा के पक्ष में थी और उसकी हत्या के पश्चात् गिजेन्जा के पक्ष में । दूसरे, उत्तरी कटंगा से बालुबा वगैरे सविधान समा के पक्ष में था । तीसरे, दक्षिणी कटंगा अब भी शोम्बे के नियन्त्रण में था । चौथे, वालोजी ने अपनी असल ही एक स्वतन्त्र राज्य की घोषणा कर दी और बाद में यह दक्षिण कसाई का राज्य कहलाने लगा, और इस प्रकार कई वगैरे बन गए । ये समस्त वगैरे मुख्य तौर पर जातीय सम्बन्धों पर आधारित थे । किंतु स० रा० संघ ने अपनी सेनाएँ इस प्रकार तैनात की थी कि जिससे इन विभिन्न वर्गों में सघर्ष सम्भव न हो । यह वास्तव में एक बहुत ही सफल प्रयत्न था जहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ बांगो की गृह-जलह के समय शान्ति और युद्ध तथा व्यवस्था और अव्यवस्था के मध्य में अडिग रहा ।

मन्त मे स० रा० सघ के अधिकारियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप जुलाई सन् १९६१ में विभिन्न वर्गों के प्रतियोगी नेताओं के बीच यह समझौता हो गया कि मि० एह्लर (४० वर्षीय साम्यवाद विरोधी व्यक्ति) के नेतृत्व में सरकार की स्थापना कर दी जाय। स० रा० सघ ने भी अपने सस्तर साधन उसकी सहायता के लिये सौंप दिये। ऐसे समय में जब वागो में सवत्र व्यवस्था लाई जा रही थी, कटगा फिर भी अलग रहा। स० रा० सघ के सब स्थानों से विदेशी सेनायें हटाना शुरू कर दिया था। मार्च सन् १९६१ में कटगा से भी सेनायें हटाई गईं। वहाँ मुख्यतया बेल्जियम की सेनायें थी। बेल्जियम की नई सरकार ने महासचिव हेमरशोल्ड की प्रार्थना पर अपनी सेनायें तुरन्त हटा ली। शोम्बे ने सोचा कि यह स्थिति उसके प्रदेश के लिये घातक हो जायेगी, इसीलिये किसी भी तरह एक प्रयत्न और करना चाहिये। इस उद्देश्य से उसने कुछ सेना और कुछ रिटायर्ड फ्रांसीसी सफसरो से, जो अल्जीरिया से निकाल दिये गये थे, बातचीतकी और उन्हें नौकर रख लिया। किन्तु यह जम नहीं पाये थे कि स० रा० सघ की सेना ने इहे एलिजाबेथविले में बंदी बना लिया। इससे यहाँ सितम्बर सन् १९६१ में पुन विद्रोह आरम्भ हो गया। शोम्बे तो यह चाहता ही था। परन्तु स० रा० सघ इसकी आज्ञा भी नहीं करता था। इस संकट को टालने के लिये महासचिव हेमरशोल्ड ने स्वयं जाकर शोम्बे से मिलकर इस अनावश्यक उपद्रव को रोकने का निश्चय किया। किन्तु इस प्रयत्न में (सितम्बर १८, सन् १९६१) वायुयान दुर्घटना के कारण उनका आकस्मिक देहावसान हो गया। किन्तु स० रा० सघ ने अपना प्रयत्न जारी रक्खा।

कटगा का वागो से पृथक रहने का प्रयत्न बराबर जारी रहा और इसीलिये गिजेन्जा लियोपोल्डविले छोड़कर स्टेनलीविले आ गये। नवम्बर सन् १९६१ में सुरक्षा-परिपक्व की फिर बैठक हुई। उसमें यह प्रस्ताव पास किया गया कि कटगा का अविष्य समस्त वागो के साथ ही सलग्न है। इसलिये हर तरह कटगा के पृथक्करण का विरोध करना चाहिये। शोम्बेने भी एकबार फिर स० रा० सघ विरोधी प्रचार डटकर किया। २८ नवम्बर सन् १९६१ की रात्रि का पुन कटगा के लोगो ने आक्रमण आरम्भ कर दिया। इस बार दो समुक्त राष्ट्रसंघ अधिकारियों को जबदस्ती अपने कमरों में बाहर खींच लिया गया दो अन्य अधिकारियों को पीटा गया, एक अधिकारी को उठा दिया गया। इनकी सुरक्षा और छुटकारे के लिये स० रा० सघ के सैनिक दल भेजे गये जिनमें भारतीय सफसर मेजर रणजीतसिंह और उनके गोरखा ड्राइवर भी, थे। इन्हें भी जाल में फँसाकर गोली मार दी गई और नेतृत्व विहीन सेना को बुरी तरह परेशान किया, कुछ को मारा और बन्दी बना लिया। एलिजाबेथविले, जहाँ स० रा० सघ का मुख्य कार्यालय था, पर भी आक्रमण कर दिया। मुख्य मुख्य मार्गों को रोकने और वायुयान उड़डयन स्यसो पर अधिकार करने के भी प्रयत्न किये गये। जब कई प्रकार की चेतावनियों के बाद भी कटगा के लोग नहीं माने,

तब स० रा० सघ की सेनाओं को आत्म रक्षा और व्यवस्था स्थापित करने के पूरा अधिकार दे दिये गए और भयकर स्थिति बन गई। बालूवा क्षेत्र में सबसे अधिक विद्रुत उपद्रव हुआ। वहाँ नागरिकों के वेश में, भवानों की खिडकी और दरवाजों से, रेडक्रास के बैज लगाकर तथा एम्बुलेंस गाड़ियों में चढ़कर भी वे तोग गोलियाँ चलाते थे। इसका फल यह हुआ कि निरपराध व्यक्तियों को अधिक हानि हुई। अन्त में स० रा० सघ की सेनाओं ने पूरा नियन्त्रण पा लिया और एलिजाबेथविले के ताबे के कारखाने पर अधिकार हो जाने के बाद सारा विरोध शांत हो गया और जब यह विश्वास हो गया कि सब आवागमन के साधनों पर अब स० रा० सघ का पूरा नियन्त्रण हो गया है, स्थानापन्न महासचिव श्री यू० घाट ने गोली चलाना बंद करने का आदेश दे दिया।

इस विजय के लक्षण में स० रा० सघ ने पुनः बल प्रयोग के स्थान पर कूटनीति और वास्तुलाप के साधन अपनाने का निश्चय किया। फलस्वरूप शोम्बे तुरन्त किनोता में अहूला से मिलने के लिये तैयार हो गया और मतभेद दूर करने के प्रयत्न शुरू हो गये। सिद्धान्त रूप में कटगा ने यह स्वीकार कर लिया कि कागों की एकता अग्रस्कर है।

कागों एकता की ओर—जुलाई सन् १९६२ में मि० अहूला ने कागों के लिये एक नये सघीय सविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की और संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न विशेषज्ञों से उसे अंतिम रूप देने की प्रार्थना की। इस विधान में यह प्रावधान रखा गया है कि प्रत्येक प्रदेश स्थानीय प्रशासन का अधिकारी रहे, अपने आर्थिक प्रबंध स्वयं करे और अपनी प्रादेशिक शान्ति व्यवस्था के लिये भी उत्तरदायी हो। केन्द्रीय सरकार केवल वदेशिक सम्बंध, सुरक्षा जकात, विदेशी व्यापार, सिक्का, आवागमन और संचार आदि की व्यवस्था करे। उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि यह पाप शीघ्र किया जाय तथा सम्भवतः इन विशेषज्ञों में एक अफ्रीका-निवासी भी हो।

मि० घाट ने १९ सदस्यीय कागों परामश समिति में इस विषय पर विचार विमर्श किया और (६ अगस्त १९६२) घाट विशेषज्ञों को चुना गया, जो इस प्रकार हैं —

- (१) मि० बी० मलिक (भारत) प्रयाग उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश।
- (२) चाफ एच० ग्रॉ० डेवीज क्यू० सी० (नाइजीरिया) लेसक और संवैधानिक परामशज्ञाता।
- (३) मि० जीन बीज, प्रोफेसर ग्रॉफ कौंस्टीट्यूशनल सॉ, भाद्रिवल विश्व विद्यालय।



(४) मि० डिचरिच शिडलर, प्रोफेसर ऑफ कान्स्टीट्यूशनल एण्ड इटर नेशनल लॉ, ज्यूरिख विश्वविद्यालय ।

इसके पश्चात् १६ अक्टूबर सन् १९६२ को कागों घोर कटपा के नेताओं ने विराम संधि के प्रस्ताव पर औपचारिक रूप से हस्ताक्षर किये और यह तय किया कि पूर्ण एकीकरण होने तक वस्तुस्थिति बनी रहे ।

नया विधान —नये संघीय संविधान में २१२ धाराएँ हैं और प्रादेशिक सरकारों को अधिक स्वतंत्र रखने का प्रयत्न किया गया है । इसमें दो समाप्तो वाली ससद् तथा एक संघीय राष्ट्रपति के लिये प्रावधान है, जो छ थप की अवधि के लिये एक निर्वाचक मण्डल तथा राष्ट्रीय ससद् द्वारा निर्वाचित किया जायगा और केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के अधिकार प्रस्ताव के अनुसार ही रखे गये हैं ।

दक्षिणी रोडेशिया का प्रश्न—दिसम्बर ३१, सन् १९६३ को रोडेशिया और 'यासालैण्ड' का संघ जो उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया और 'यासालैण्ड' से मिल कर बना था उत्तरी रोडेशिया और 'यासालैण्ड' के प्रयत्न स्वरूप समाप्त हुआ । उत्तरी रोडेशिया २ जुलाई को स्वतंत्र हुआ और 'यासालैण्ड' २४ अक्टूबर को । दूसरी ओर द० रोडेशिया जिसमें कुल जनसंख्या के १/३ भाग अर्थात् १० लाख यूरोपियन जनसंख्या भी स्वतंत्रता की मांग करने लगी । यूरोपियन जनसंख्या बहुत कम है । किंतु रंग भेद के प्रभाव के कारण यह अपनी सरकार बनाने के लिए भावाज कर रहे थे । दूसरी ओर ब्रिटेन का यह कथन था कि द० रोडेशिया को तभी स्वतंत्र करेगा जब वहाँ अफ्रीकी निवासियों का सब मताधिकार दिया जाय और श्वेत व्यक्तियों के लिए मौजूदा सभी विशेष व्यवस्थाएँ समाप्त कर दी जायें ।

ब्रिटेन की उक्त शर्तों का वहाँ की श्वेत अल्प संख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और ११ नवम्बर १९६६ को ब्रिटेन का विरोध करते हुए ब्रिटेन के खिलाफ आन्दोलन द० रोडेशिया के नेता इवा स्मिथ ने द० रोडेशिया की एक तरफा स्वतंत्रता की घोषणा कर दी । ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विल्सन के सभी प्रयत्न उक्त समस्या को सुलझाने में असफल रहे और इवा स्मिथ ने मध्य अफ्रीका की वस्ती को ब्रिटेन से मुक्ति की घोषणा कर दी । १९६८ में ब्रिटेन के द्वारा बनाये गये संविधान को विघटित कर दिया और नवीन व्यवस्था में श्वेत अल्प संख्याओं को पुन विशेष अधिकार दे दिये गये । रोडेशिया की एक तरफा स्वतंत्रता की घोषणा के परिणाम स्वरूप ब्रिटेन के गवर्नर हम्फ्री गिब्स ने स्थिर सरकार को तुरन्त पदच्युत करने की घोषणा कर दी । सारे विश्व में इवा स्मिथ द्वारा उठाये गये कदम का विरोध हुआ ।

और अमेरिका द्वारा इवा स्मिथ की सरकार पर आर्थिक व अन्य प्रकार की सहाई गई किंतु इसका उस पर कोई प्रभाव न पड़ा । दिसम्बर १९६६ में

स्मिय और विल्सन के बीच जिब्राल्टर में इस विषय पर बातचीत हुई किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। इसके पश्चात् सयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् में २० रोडेशिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबंध का प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें १२ मुख्य वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया गया। मार्च १९६८ में रोडेशिया का प्रस्ताव पुनः जाग्रत हुआ। जब सात माच को वहाँ की सरकार ने तीन राष्ट्रवादी अफ्रीकीयों को फाँसी की सजा दी। २३ अप्रैल १९६८ और ३० मई १९६८ को सुरक्षा परिषद् रोडेशिया के विरुद्ध नाकेबन्दी के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव पारित किए हैं किन्तु समस्या का कोई हल नहीं मिला है।

११. अफ्रीका का भविष्य—अफ्रीका के नवजागरण ने विश्व राजनीति को दृष्टिपूर्वक प्रभावित किया है किन्तु इसके सामाजिक व राजनतिक परिवर्तन कई समस्याओं से युक्त हैं। प्रथम अफ्रीका की आर्थिक व सामाजिक प्रगति ने सामाजिक विकेन्द्रीकरण को जन्म दिया है। जब तक अफ्रीकी जनता में शिक्षा, तकनीकी विकास तथा स्वास्थ्य विकास नहीं होता तब तक अफ्रीका का भविष्य पूर्ण सुरक्षित नहीं है। अफ्रीका की दूसरी समस्या राजनतिक स्थिरता की है। वहाँ अभी तक भी ऐसा नेतृत्व नहीं मानपाया है जो शासन को स्थायित्व दे सके। सरकार का शक्ति इतना जल्दी बदलता है कि कोई नीति स्थायी रूप से देश में लागू नहीं की जा सकती। इसके परिणाम स्वरूप विदेशों की दिलचस्पी भी इसके विकास में कम हो जाती है। नेतृत्व के साथ साथ उनके राजनतिक विकास के लिए आवश्यक है कि संविधान का निर्माण करें तथा सुगठित राजनतिक सभों व दलों की भी स्थापना करें। कुछ ऐसे नियम बनाएँ जिससे एक राज्य व दूसरे अंतरराज्य के साथ लेन देन बढ सके। छोटे राष्ट्र मिलकर एक संघात्मक राज्य को जन्म दें। तीसरी समस्या अफ्रीका विकास में रणभेद या जातिभेद की है। अफ्रीका अपने विकास के लिए विदेशियों का निष्कासन करे यह आवश्यक नहीं है। यदि अफ्रीकी जनता और विदेशी सरकारें व जनता आपस में सहयोग का दृष्टिकोण अपना कर आंतरिक समस्याओं को सुलझाने पर जोर दें तो अफ्रीका की जागरण ज्योति उसे विश्व शक्ति के रूप में शान्तिपूर्वक परिवर्तित कर देगी।

## चीन-रूस विवाद (Sino-Soviet Conflict)

“एक विशाल ज्वालामुखी की तरह विरोध और सघर्ष की चिंगारिया, जो अब तक मैत्री एवं सद्भावना के झूठे आवरण से भ्रष्टादित थीं पूर्ण सक्रिय होकर चमक उठी जिनके शांत होने की सम्भावना निवट मरिच्य में दिखाई नहीं देती।”<sup>1</sup>

मिल्टन कोवनेर

“सघर्ष केवल पूंजीवादी राष्ट्रों में ही नहीं बल्कि साम्यवादी राष्ट्रों में भी हो सकता है। यह अन्तर्विरोध की कहानी एक रोज अवश्य सत्य सिद्ध होगी।”

एम एन राय

वर्तमान विश्व व्यवस्था के अन्तरण में कई प्रश्न महत्वपूर्ण रूप से विश्व राजनीति को प्रभावित किये हुए हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न रूस-चीन विवाद के रूप में उद्भूत होता है। 1949 में चीन में साम्यवादियों ने राष्ट्रवादियों को मुक्त भूमि चीन से खदेड़ कर सत्ता प्राप्त की। उस समय विश्व रामरस पर रूस एक विशाल शक्तिशाली साम्यवादी राष्ट्र था। सोवियत रूस को चीन में साम्यवादी सत्ता विस्थापित हो जाने से, साम्यवादी व्यवस्था के प्रसार में एक बहुत बड़ा आधार स्तम्भ उपलब्ध हुआ। साथ ही रूस को आशा भी हो चली थी कि चीन साम्यवाद के प्रसार में सहायता भी करेगा। 1950 में संधि के द्वारा रूस ने चीन को आर्थिक, सैनिक व राजनैतिक सभी तरह की सहायता देने का आश्वासन भी दिया। सोवियत संध के साथ, मैत्री चीन की विदेश नीति की प्रमुख विशेषता रही। इसके कारण चीन को सुरक्षा, आर्थिक एवं सैनिक सहायता तथा अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुधारने का अवसर प्राप्त हुआ। दोनों देशों के बीच सैद्धांतिक समानता होने के कारण प्रारम्भ में सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ थे किन्तु सन् 1956 के बाद दोनों के बीच शक्ति के लिए सघर्ष छिड़ जाने के कारण दोनों के राष्ट्रीय हितों में कनेश पदा हो गया। सन् 1954 में जब अफ़्ग़ानिस्तान तथा अन्य सोवियत नेता चीन गये तो संयुक्त विज्ञप्ति में सोवियत संध ने चीन को एक स्वतंत्र तथा समान दर्जे का राज्य स्वीकार किया और यह माना गया कि दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध समानता पारस्परिक साम, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता एवं भौतिक असंख्यता के पारस्परिक आदर के सिद्धांत पर आधारित हैं।

यह एक आश्चर्य की बात है कि जिस रणियन समाजवादी नीति से प्रभावित होकर चीन ने अपनी विदेश नीति निर्धारित की थी, वह उस पर अभी तक ठीक

उसी प्रकार से चलता आ रहा है, जबकि उसकी नीति के निर्धारण में विद्यमान रहे आदेश रूप साम्यवादी रशिया की नीति और विचारधारा में अब हम एक दम से एक नया परिवर्तन देखते ही दोनों देशों की मित्रता अधिक समय तक न रह सकी और चीन ने सोवियत रूस के राजनतिक व्यवहार, विचारधारा तथा अन्य नीतियों का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। शीघ्र ही दोनों देशों के बीच कटुता की गहरी खाई बन गई। 1949 के उपरान्त चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच को एक ऐसा रंग दिया जो अपने आप में एक विशेषता रखता था। चीन के अम्युदय के साथ उसकी विशाल जनशक्ति को देखते हुए उसमें एक विशाल बहुत बड़ी महत्वाकांक्षा का अम्युदय होना भी अत्यन्त ही स्वाभाविक था और यही हुआ। आज चीन रशिया द्वारा उस पर किये गये तमाम उपकारों को भुलाकर खुले रूप में रशियन विचार धारा को ए जिल्स, लेनिन, मार्क्स तथा स्टालिन विरोधी बताता हुआ उसे कोसने में तनिक भी नहीं हिचकिचा रहा है। अल्बानिया, भूतानासिनीकरण, नैतृत्व, युद्ध शान्ति, तटस्थता, पश्चिमी साम्राज्यवाद, निःशस्त्रीकरण, क्रांति का वितरित किया जाना, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व आदि प्रश्नों को लेकर दोनों साम्यवादी देशों में अत्यधिक दूरता व्याप्त होने लगी। रूसी साम्यवादी दल की 1961 में हुई 22 वीं कांग्रेस से ये मत भेद अत्यधिक स्पष्ट रूप में सामने आये। आज तो दोनों में हर अन्तर्राष्ट्रीय मामले का लेकर खुले विरोध चल रहे हैं।

### श्री रॉबर्ट ए० एकेलिथिनी के शब्दों में —

"The relation between China and Soviet Union have been marked by increasing tension in recent years and at the moment are in a state of crisis, they are real and serious"

विचारधारा सम्बन्धी मत-भेद एवं पारस्परिक हितों के आपस में टकराने के कारण दोनों देशों के सौहार्दता पूर्ण सम्बन्धों में अब पूर्णतः व्याघात अत्युत्पन्न हो गया है। अब सामंजस्य की कोई समावना प्रतीत नहीं हो रही है। अक्टूबर १९६४ में जब रूस में कोसिगेन की नवीन सरकार गठित हुई तो कुछ कूटनीतिज्ञों का यह निचार हुआ कि बढ़ाचिंत रूसी-चीनी शीतयुद्ध में तनाव कुछ कम हो जायगा, परन्तु दोनों देशों के बीच मत भेद के कारण इतने ठोस हैं कि सम्बन्ध सुधरने की बजाय और भी विगड़ते प्रतीत हो रहे हैं।

### कारण —

चीन-सोवियत रूस के प्रातृत्वमय स्नेह के विघटन के कई कारण निम्न निम्न रूप से उद्धृत होने हैं साथ ही विभिन्न विद्वानों ने भला भला दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं।

राबर्ट ए० स्केल्पिनो (Robert A Scalpino) के मतानुसार यह सघप तीन कारणों का परिणाम है —

- (i) सगठन, निर्यात प्रणाली एवं साम्यवादी गुट का नेतृत्व,
- (ii) क्रान्तिकारी तरीके एवं २० वीं शताब्दी के मध्य की विश्व राजनीति और
- (iii) अन्तर्गुट सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहायता का रूप <sup>2</sup>

चीन व रूस के सैद्धांतिक मत वैमिश्रता की तस्वीर उस रोज स्पष्ट उद्घट होती है। जिस दिन चीन की कम्युनिष्ट पार्टी ने (14 June 1963) 60 साठ हजार शब्दों में 25 बातों पर मत भेद प्रकट किया था। प्रमुख तक थे —

- (1) शांतिपूर्ण सह अस्तित्व,
- (2) अमरीका के साथ रूस के बढ़ते हुए सम्बन्ध,
- (3) कम विकसित देशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन,
- (4) पूंजीवाद के साथ शांतिपूर्ण प्रतियोगिता,
- (5) निःशस्त्रीकरण,
- (6) सबहाराबग की अधिनायकता,
- (7) व्यक्तिगत पूजा आदि।

सोवियत सघ और जनवादी चीन में बढ़ते हुए मतभेदों के लिए निम्न कारण ही मुख्यतया जिम्मेदार कहे जा सकते हैं —

(1) चीन की नीति का वर्तमान सोवियत नीति से मेल न रखना — (सशोधनवाद का आरोप) चीन यह समझता है कि आज की रशियन नीति स्टालिन विरोध होने के कारण लाभप्रद नहीं रही। उसका यह भी कहना है कि रशिया की नीति आज उस साम्यवादी विचारधारा के अनुरूप नहीं रही जिसका उद्गम एंजिल्स, मार्क्स एवं लेनिन की विचारधारा रही है। चीन आज रशिया को सशोधनवादी कह कर उसकी कटु आलोचना करता है। परन्तु ठीक यही आरोप रशिया द्वारा चीन पर भी लगाये जा रहे हैं।

(2) साम्यवादी जगत् एवं विश्व नेतृत्व की भावना — स्टालिन की मृत्यु परान्त साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के सम्बन्ध में भी दोनों में मतभेद उद्घट होने लगे। स्टालिन का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली था। परन्तु उसके मरणोपरान्त क्रेमलिन ऐसा व्यक्तित्व तथा प्रभावशाली नेता प्रदान न कर सका मत चीनी

1 "The Sino Soviet Conflict in Perspective"

साम्यवादियों ने सोचा कि माओ को ही अब साम्यवादी जगत का नेतृत्व प्राप्त होना चाहिए। चीन जनसंख्या तथा क्षेत्र की दृष्टि से विशाल देश है साथ ही उसकी प्राचीन मायताओं ने इसे साम्यवादी जगत में अद्भुत स्थान प्रदान किया है। क्रैमेलिन में सत्ता सघष ने मास्को को कमजोर बना दिया। स्टालिन की मृत्यु के बाद पूर्वी यूरोप में हंगरी व पोलेण्ड में परिस्थितियों ने जो खतरनाक रूप धारण किया। मास्को कुशलता पूर्वक हल न कर सका। इन घटनाओं ने मास्को के प्रभाव को शीतल कर दिया। इसी कारण चीनी साम्यवादियों का यह विचार दृढ़ हो गया कि माओ ही साम्यवादी जगत का नेतृत्व ग्रहण कर सकता है। रूस इस बात को मानने के लिए कदापि तयार नहीं था।

आज दोनों ही साम्यवादी देशों में विश्व नेतृत्व की भावना अत्यधिक प्रबल हो गई है। चीन अब अधिक दिनों तक यह सहन नहीं करना चाहता कि उसकी इतनी बड़ी जनशक्ति के रहते हुए वह एक छोटी सी आबादी वाले देश एशिया का सदस्य ही पिछलग्गू बना रहे और उसकी हर हाँ में हाँ मिलाने में उसे अपने कर्तव्य की दृष्टि भी समझ बैठे। आज चीन यह महसूस करता है कि उसके पास इतनी बड़ी शक्ति है कि वह आसानी से अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के चलने वाले चक्र को अपने ही केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित कर सके और उसकी इसी महत्वाकांक्षा की बहुत ऊँची उड़ान ने आज उसे रशिया से बहुत दूर कर दिया है।

(3) रशिया द्वारा “सह-अस्तित्व” तथा “जिओ और जीने दो” की नीति अपना लेना—चीन और रशिया में बढ़ते हुए मतभेदों के लिए एक बहुत बड़ी सीमा तक यह बात भी जिम्मेदार रही है कि आज रशिया ने यह स्वीकार कर लिया है कि विश्व में एक साथ दो विभिन्न विचार-प्रणालियाँ स्वतंत्र रूप से अपना कार्य कर सकती हैं। पहले रशिया की भी यही मायता थी कि विश्व में एक साथ दो विचार धाराएँ कदापि जीवित नहीं रह सकती परन्तु आज समय के घपड़ों और झोंकों ने उसे यह मानने को विवश कर दिया है। आज रशिया ने “सह-अस्तित्व” के सिद्धान्त में अपनी पूर्ण आस्था घोषित कर अपने आपको शांति के एक बहुत बड़े दूत की सजा में ला बिठाया है।

चीन की भी प्रारम्भिक नीति “सैंकड़ों फूलों को खिलने दो” की थी लेकिन माओ ने अपने इस मन्तव्य को तिरस्कृत किया तथा सांस्कृतिक क्रांति के नाम से स्वदेश में ही भयावह रक्तपात हो रहा है। अब चीन सिर्फ एक ही विचार-धारा का पृष्ठ पोषक है और वह है—कट्टर साम्यवादी पर्यावरण।

(4) युद्ध व शान्ति मन्तव्य में भेद—युद्ध व शांति के प्रश्न पर मतभेद भी विचार धारा की विभिन्नता का ही परिणाम है। खूशचव के समय रूस शक्तिशाली हो गया था। खूशचव के लिए आणविक युद्ध का अर्थ विश्व का विनाश था,

उसका कहना था कि—युद्ध अवश्यम्भावी नहीं है। युद्ध टाला जा सकता है। कोरिया, स्वेज, कांगो, बर्लिन आदि प्रश्नों पर इसी नीति का परिचय दिया।

इसके विपरीत माओ की नीति स्पष्ट थी कि राजनीतिक सत्ता बन्दूकों की माली से निकलती है। उसका कहना था कि पूँजीवाद के विनाश के लिये युद्ध आवश्यक है—उसमें साम्यवाद की विजय निश्चित है। चीन में आर्थिक स्थिति बड़ी असंतोष जनक थी। माओ की नीति आन्तरिक मामलों से जनता का ध्यान हटाकर किसी विदेशी के साथ युद्ध में भागपित करने की थी। अतः उसका यह प्रयत्न था कि रूस अमरीका के साथ युद्ध में उलझ पड़े। यही कारण था कि म्यूंबा से खूबश्वेत द्वारा सैनिक हटा लेने पर चीन ने रूस की मतसना की। परन्तु रूस-युद्ध की नीति नहीं अपनाता चाहता था अतः उसने पश्चिम के साथ उदारवादी नीति का परिचय दिया।

(5) साम्यवादी जगत में विकेंद्रवाद (Polycentrism) का अन्वय—चीन में साम्यवाद की स्थापना के पूर्व विश्व में कई छोटे छोटे राष्ट्रों में साम्यवादी सरकारें स्थापित हो चुकी थीं। जिनका सोवियत रूस मुख्य केंद्र था। रूस ही पूरे साम्यवादी गुट के लिये नीति का निर्धारण करता था, क्योंकि छोटे छोटे राष्ट्र आर्थिक व सैनिक दृष्टि से रूस पर ही निर्भर थे। जब चीन उस बड़े राष्ट्र में 1949 में साम्यवाद की स्थापना हुई थी तब माओ ने कहा था कि साम्यवादी जगत का एक मुखिया होना चाहिए, जो सभी के लिए नीति निर्धारित करे। सभी साम्यवादी राष्ट्रों ने रूस को उनका नेता या मुख्य केंद्र माना। किंतु माओ का मत था कि रूस जो भी नीति निर्धारित करे, उसके लिये अन्य साम्यवादी राष्ट्रों से भी परामर्श लें। यदि रूस ऐसा नहीं करता तो उसके निर्णयों को नहीं माना जा सकता। इस प्रकार साम्यवादी जगत के लिये नीति निर्धारित करने की दृष्टि से रूस चीन में मतभेद बढ़ा लगा। चीनी इस बात को स्वीकार करने के लिये कभी तैयार नहीं थे कि चीन जैसे बड़े देश के लिए रूस नीति निर्धारित करे। अतः साम्यवादी जगत में (Poly Centrism) की भावना का अन्वयद्वय हुआ। चीन ने इस प्रकार साम्यवादी जगत में नियंत्रण लेने की रूस की एकाधिकार की शक्ति को चुनौती दी। माओ ने सभी देशों के साम्यवादी दलों को महत्व देने की प्रतीति दी। एशिया में सभी को समान महत्व दिया जाय। परन्तु 1958 के बाद रूस की कम्युनिस्ट पार्टी ने ऐसे एशिया लेन प्रारम्भ किये जो चीन के हितों के प्रतिकूल थे। माओ ने इसे स्वीकार नहीं किया।

(6) राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रिय हितों की विभिन्नता—चीन कई वर्षों तक साम्राज्यवाद के परो में कुचला गया। अतः आतंककारी भावना चीन में रूस से अधिष्ठित थी। यह साम्राज्यवादियों के साथ किसी भी बीमन पर समझौता करने का

तयार न था। इससे चीन में उग्र राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। परन्तु रूस में वह प्राति-  
 कारी भावना न थी। वह प्रारम्भ से ही 'यथास्थिति' में विश्वास करता है। उसका  
 राष्ट्रवाद उतना उग्र नहीं जितना चीन का था। जहाँ तक सत्रिय हित का प्रश्न है,  
 चीन की सीमा स्पष्ट नहीं है। विशेषकर भारत व रूस के साथ सीमा विवाद है।  
 रूस के साथ सिक्यांग में स्थिति स्पष्ट नहीं है। सीमा विवाद भी मतभेदों का एक  
 कारण है। चीन के सामने बर्मा, कोरिया, मंगोलिया, नेपाल आदि राज्यों के साथ  
 सीमा की अस्पष्टता का प्रश्न था—पर यह समस्या रूस के समक्ष न थी। जहाँ तक  
 'वैज्ञानिक' हित की बात है रूस ने चीन की आर्थिक व वैज्ञानिक सहायता की। पर  
 रूस ने जानबूझ कर आणविक शक्ति की मुख्य बात चीन को नहीं बताई। चीन  
 आणविक राष्ट्र बनना चाहता था पर रूस इस बात के लिए तयार नहीं था। रूस  
 का तब यह था कि रूस चीन को आवश्यक समय पर आणविक सहायता प्रदान  
 करेगा, पर चीन इस तक से सहमत नहीं था। जहाँ तक प्रभाव क्षेत्र का प्रश्न है  
 चीन चाहता था कि उसकी सुरक्षा की दृष्टि से दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेश चीन  
 के प्रभाव में रहे। वह रूस की एशियाई शक्ति मानने को तैयार न था। पर इस  
 मामला में रूस चीन के बीच मतभेद खुले रूप से सामने आये तो रूस ने चीन को  
 आर्थिक एव तकनीकी सहायता देना भी बंद कर दिया। भाग्यो एक राष्ट्रवादी  
 नेता है, जिसकी यह दृढ़ धारणा है कि चीन में राष्ट्रवाद को सुदृढ़ करके उसके  
 राष्ट्रीय हितों की पूर्ति की जाये।

(7) शक्ति सघन—दोनों ही देश क्षेत्रफल जनसंख्या एवं साधनों की  
 दृष्टि से विशाल राष्ट्र हैं। आज राष्ट्र राज्यों का युग है, जहाँ राष्ट्रीय राज्य हैं वहाँ  
 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की महत्वपूर्ण विशेषता उनमें चलने वाला शक्ति सघन है।  
 दोनों ही देश विभिन्न माध्यमों से शासन संचय कर रहे हैं। चीन भी अपने आप  
 को एक महाशक्ति के रूप में विश्व राजनीति के रंगमंच पर उद्भूत करना चाहता  
 है। इसी होड़ में शक्ति सघन एक सक्रिय तथ्य के रूप में उद्भूत हो रहा है।

(8) चीन सोवियत सीमांत सघन—चीन और रूस का महत्वपूर्ण सघन  
 का कारण 4000 मील लम्बे सामान्य सीमा (मन्चूरिया, मंगोलिया तथा सिक्यांग)  
 रेखा पर है। समय समय पर सीमा क्षेत्रों में झुटपुट घटनाएँ होती रहती हैं।  
 सोवियत रूस ने भी सीमाओं की सुरक्षा में सुदृढ़ व्यवस्था कार्यान्वित कर रखी है।  
 चीन रूस पर यह आरोप लगाता है कि जारकालीन शासन में रूस ने अधिकृत  
 चीनी भूमि पर अधिकार कर लिया था—अतः सोवियत रूस को चाहिए कि वह  
 उसे पुन लौटा दे। सोवियत रूस इस तथ्य को स्वीकार करने को सहमत नहीं।

(9) रूस द्वारा भारत तथा असाम्यवादी देशों को अधिक आर्थिक व  
 तकनीकी सहायता, चीन की स्वीकार नहीं—चीन व रूस के मतान्तरों का एक



कारण यह भी है कि रूस भारत तथा गैर साम्यवादी देशों के साथ नम्र दल भपनाये हुए है। चीन भारत सघष में भी चीन यह माता है कि रूस ने भारत का ही समर्थन किया तथा चीन धारण कर चीन—जो कि एक साम्यवादी भाई था, को नीचा दिखाने की कोशिश की। चीन यह भी दावा करता है कि रूस ने भारत को तथा अन्य असाम्यवादी देशों को—साम्यवादी भाईयों की भपेसा अधिकृत रूप से आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्रदान की। साथ ही पूजोवादी राष्ट्रों (अमरीका, ब्रिटेन, etc) के प्रति सोवियत रूस की परिवर्तित नीति से भी चीन सहमत नहीं है। चीन नहीं चाहता है कि सो० रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, भारत आदि कुछ भा देशों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करे। चीन इन्हें अपना नम्बर एक शत्रु मानता है।

उपयुक्त कारणों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सोवियत चीन सम्बन्धों के परामर्श की कहानी अब एक विशिष्ट रूप ले चुकी है। चीन सोवियत रूस की किसी भी नीति से सहमत नहीं। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर दोनों के भिन्न भिन्न दल तथा मत उद्भूत होते हैं। सोवियत रूस की दीयतनाम के सदन में निहित नीति की भी चीन कटु आलोचना करता है। चीन नहीं चाहता है कि सोवियत रूस हर क्षेत्र में मेरा नेतृत्व करे। अतः इन विभिन्न सैद्धांतिक तथा व्यवहारिक पारस्परिक हितों ने दोनों साम्यवादी शक्तियों को दो भिन्न ध्रुवों की ओर प्रेरित किया है।

### अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव —

चीन-सोवियत सम्बन्धों के परामर्श की कहानी ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक विशिष्ट परिवर्तन ला उपस्थित किया है। जहाँ विश्व व्यवस्था के अन्तरङ्ग में दो ही स्वरूप—पूजोवादी तथा साम्यवादी राष्ट्र—विद्यमान थे तथा दोनों का अवश्यम्भावी सघष—विश्व के राजनीतिज्ञों की देखेन किए हुए था—वहाँ इस नवीन स्थिति के प्रत्युत्पन्न हो जाने से—विश्व समूह पर एक नवीन चित्रावली का आविर्भाव हुआ है—तथा समस्त दलकों का ध्यान इसी विषयित चित्रावली की ओर है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की निहित समस्याओं ने एक नवीन रूप धारण किया है, जो इस प्रकार है—

- (1) वर्षों से चले आ रहे शीत युद्ध की समाप्ति प्रायः,
- (2) सोवियत रूस व अमेरिका के सम्बन्धों में सुधार एवं सन्निवृत्ता,
- (3) निःशस्त्रीकरण की समस्या के अनेक पक्षों का हल तथा आणविक शस्त्रों के परिक्षण को रोकने के लिए टेस्टबान सन्धि (1963) एवं चीन द्वारा विरोध व सन्धि पर हस्ताक्षर न करना।

(4) असलग्न राष्ट्रों के प्रति सोवियत रुख में भी परिवर्तन—इस सभ्य ने उपस्थित किया है। जहाँ सोवियत रुस—असलग्न राष्ट्रों को “बिना पैसे के लोटे” समझता था—वहाँ आज सोवियत रुस असलग्न राष्ट्रों की नीति की सराहना कर उन्हें विभिन्न आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्रदान कर प्रोत्साहित करता है। चीन इस नीति का कट्टर विरोधी है।

(5) सोवियत रुस जहाँ पहले साम्यवादी राष्ट्रों के एक विशिष्ट प्रतिनिधि के रूप में अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करता था—तथा प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर—पूँजीवादी राष्ट्रों की नीति से भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता था—वहाँ इस विवाद के कारण—सोवियत रुस अब राष्ट्रीय हित तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा सहयोग की नीति अपनाता जा रहा है। प्रत्येक विश्व समस्या को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से देखता है तथा अमेरीका आदि पश्चिमी राष्ट्रों के साथ अनेक विषयों पर सहयोगात्मक कदम रखता है।

(6) इसी विग्रह के कारण अमेरीका की नीयतनाम के सन्दर्भ में सन्निहित नीति में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ है। अमेरीका रुस से अधिक न उलझ—वियतनाम समस्या का उचित समाधान चाहता है। इसी कारण अमेरीका ने नम्र रुख अपनाया।

इस प्रकार सोवियत चीन मनोभावान्विता से विश्व राजनीति में अनेक परिवर्तन उपस्थित हुए। जहाँ अमेरीका व रुस एक दूसरे को अच्छी निगाहों तक से नहीं देखते थे वहाँ ये दोनों अधिक से अधिक निकट आते जा रहें हैं तथा विभिन्न विश्व तथा अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के शांतिपूर्ण व उचित समाधान की ओर आगे बढ़ रहे हैं। विश्व राजनीति में इस नवीन दिन के लिए—चीन रुस विवाद ही अधिकृत रूप से उत्तरदायी है।

चीन-रुस सम्बन्धों का भविष्य—चीन-रुस विवाद वस्तुतः अन्तर्गर्भीय राजनीति में महत्वपूर्ण तथ्य है। इससे विश्वशांति का हल दूरतम प्रतीत होता है। जहाँ एक ओर वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का दम्भ है वहाँ दूसरी ओर विनाशतम जन-संख्या का दम्भ है। दोनों के मध्य सघन शांति व्यवस्था में बाधा। चीन का नेतृत्व वग अपनी हठधर्मिता के पीछे तथा लकीर के फकीर बन जिसके कंधों पर खड़े हुए थे—उसी बड़े माई की तिरस्कृत किये हुए हैं तथा एक अमानवीय राह की ओर अग्रसर हैं। अतः निकट भविष्य में दोनों के सन्निकटता की रथा कल्पनातीत है। न जाने किस हवा की लहर में आज चीन का नेतृत्व वग बह जा रहा है—सम्पूर्ण विश्व एक ओर है तथा उसकी घाँघली एक ओर। आशातीत परिवर्तन निम्न परिस्थितियों में ही सम्भव है —

(1) या तो चीन के नेतृत्व वग में परिवर्तन आये और फिर अपने कृत्यों का प्रायश्चित्त कर सोवियत रुस के साथ पुनः सम्बन्धों को सुधार।

(2) या फिर रूस तथा अमेरीका दोनों मिलकर चीन को सही रास्ते पर आने के लिए बाध्य करें।

(3) या फिर चीन भी एक अणु शक्ति सम्पन्न रूस व अमेरीका के समक्ष बन अपने आपको एक महानतम राष्ट्र के रूप में विश्व जनमत के समक्ष उपस्थित हो। प्रो० विद्याधर दत्त (Dutt) China in Foreign policy में चीन रूस सम्बन्धों का भविष्य तीन सूत्रों में निहित किया है।

(1) आपसी सम्बन्धों को सुधार लें,

(२) खुले युद्ध की स्थिति में आ जायें,

( 3 ) वर्तमान में प्रचलित बीमत्स सम्बन्ध चलते ही रहें।

समस्त अवलोकनोपरांत निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि चीन व रूस विवाद की जड़ें गहरी जम चुकी हैं। विभिन्न प्रयास जो कि समय-समय पर दोनों के सम्बन्धों में सुधार लाने के लिए किये गये समस्त चीनी महत्वाकांक्षियों के समक्ष निष्फल रहे। अतः दोनों के सुमधुर सम्बन्ध कल्पनातीत हैं। साथ ही चीन खुले सभ्य की स्थिति में आने की भी तैयार नहीं—इसका तात्पर्य होता है—साम्यवादी व्यवस्था का पतन। स्वयं रूस भी अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के प्रतिकूल इस बात को मानता है। अब सिर्फ एक ही विकल्प अवशिष्ट रहता है कि जब तक चीन में इन महत्वाकांक्षियों का बोलबाला है—ये बीमत्स सम्बन्ध यथास्थिति में बने रहेंगे तथा यह नवीन शीत युद्ध की प्रज्वलित अग्नि समय समय पर दोनों को दहकाती रहेगी। अतः दोनों के सम्बन्धों का भविष्य अकल्पित तथा अस्पष्ट है।

## पश्चिमी एशिया-अरब-ईजराइल संघर्ष

"मध्यपूर्व या पश्चिम एशिया तीन महाद्वीपों एशिया, अफ्रीका और यूरोप का संगम स्थल होने से इतिहास के उपाकाश से ही अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से यह क्षेत्र बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। यही वह क्षेत्र है—जहाँ विश्व के तीन बड़े धर्मों का उदय हुआ (यहूदी मत, ईसाई मत व ईस्लाम) और आज विश्व के नेतृत्व के लिये यही धर्म आधार स्तम्भ है।"

"मध्यपूर्व या पश्चिमी एशिया एक अस्थिर ज्वालामुखी के सदृश है, जो प्रत्येक दस साल के बाद फूटता रहता है तथा विश्व शांति के स्वप्न को भग करता रहता है—यदि विश्व के सजग राजनीतिज्ञों ने समयोचित समाधान नहीं दिया तो यह ज्वालामुखी एक दिन विश्व-शांति के लिए गल सिद्ध होगा—जिसमें शांति की प्राप्ति रूपी किरण को सदा सदा के लिए दफना दी जायगी—तथा विश्व में मानवता नाम की वस्तु मूलतः विनष्ट हो जायगी।"

अत्यंत प्राचीन काल से ही पश्चिमी एशिया विश्व व्यवस्था के सदस्य में—महत्वपूर्ण तथ्य के रूप में उद्घुत होता रहा है। प्राचीन सस्कृति, धर्मों का प्रेरणा स्त्राल, खनिज तथा पेट्रोलियम एवं राष्ट्रीयता तथा जातीयता इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण विशेषताएँ रहीं—तथा इन्हीं तथ्यों ने इस क्षेत्र को विश्व राजनीति के अंतरंग में ला बढाया। इन्हीं तथ्यों ने जहाँ एक ओर इस क्षेत्र की गौरव गाथा को अक्षुण्ण बनाया वहीं दूसरी ओर संघर्ष के कारण भी बने। मध्यपूर्व एशिया का वर्तमान संघर्ष विश्व की उन कुछ प्रमुख समस्याओं में से एक है जो कि अपनी वस्तुस्थिति और सम्भावनाओं के कारण विश्व शांति के लिए ऐसी चुनौती बन गये हैं जिनका जबाब बूढ़े बिना मानव सभ्यता आगे बढ़ने की जोखिम नहीं ले सकती। गत कुछ दिनों में पश्चिमी एशिया के रणस्थल पर जो युद्ध की आघी आई थी—उसकी जिम्मेदारी युद्ध-रत राष्ट्रों के समान ही समस्त ससार तथा बड़ी शक्तियों पर भी है, जिन्होंने इन राष्ट्रों को हथियारों से सुसज्जित किया था। इस संघर्ष में धार्मिक तत्वों की एक प्रमुख कारण के रूप में माना जाता है। वर्तमान इजराइल राज्य के निवासी यहूदी धर्म के अनुयायी हैं। ये लोग पलेस्टाइन को अपनी धर्म भूमि मानते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद टर्की का यह क्षेत्र ग्रेट ब्रिटेन को मिला। प्रथम विश्व युद्ध के समग्र ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की थी कि यहाँ पर यहूदियों का राष्ट्रीय गृह (National Home) बना दिया जायगा और पृथक् यहूदी राज्य की स्थापना कर दी जायगी। इस प्रदेश में उम सभ्य अरब जनसंख्या अधिक थी और ये निवासी इसे अपनी मातृ भूमि मानते थे।

संघर्ष का बीजारोपण नये राज्य का जन्म संघर्ष के कारण—पूर्व निर्धारित योजना रूप-ब्रिटिश परम्परागत कूटनीति के अनुरूप—“फूट डालो और राज्य करो” की नीति के अनुसार—इन्होंने अपनी मेडेट व्यवस्था समाप्त करने की घोषणा की। ब्रिटिश मेडेट काल में ही अरबों व यहूदियों के मध्य संघर्ष का सूत्रपात हो चुका था। 15 मई 1948 को ग्रेट ब्रिटेन ने U N O में मेडेट की अवधि समाप्त करने की घोषणा करने का निश्चय हुआ। 14 मई 1948 को मेडेट की समाप्ति पर, यहाँ पेलेस्टाइन में इसी दिन यहूदियों द्वारा बेनगुरिया तथा चेमवीजमन की अध्यक्षता में नवीन इजराइल राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी गई। समुक्त राज्य अमेरिका ने इस नये राज्य को तत्काल मान्यता प्रदान की। अरब राज्यों द्वारा इस राज्य की स्थापना का हर प्रकार से विरोध किया गया। अरब अपनी मातृभूमि पर किसी अन्य विदेशियों के राज्य की स्थापना नहीं होने देना चाहते थे। दूसरी ओर यहूवी इस बात पर घड़े थे कि—वे अपनी घम भूमि पर राज्य स्थापित करके रहेंगे। इन विरोधी आकांक्षाओं के बीच हिंसात्मक संघर्ष और गृह युद्ध का होना अवश्यम्भावी था। एक पक्ष अपनी मातृभूमि को विभाजित होने से रोकने के लिए जान-बूझकर करने को तत्पर था तो दूसरी ओर दूसरा पक्ष घम के नाम पर प्राणों की बलि लगाने को तयार था। इसी तथ्य को लेकर हिंसात्मक उपद्रव आदि का बोलबाला हो गया।

इजराइल के जन्म होते ही—अरब राष्ट्री द्वारा नवजात इजराइल को चारों ओर से घेर लिया तथा आक्रमण कर दिया। कई दिनों तक भारी संघर्ष चलता रहा। अरबों की सलाहों को मुँह की खानी पड़ी—कई दिनों तक U N O में मसला चलता रहा—अंत में 18 जुलाई 1948 को युद्ध विराम कर दिया गया। पर फिर भी समय समय पर छुट-पुट घटनाएँ विघटित होती रहीं। समस्या का कोई स्थायी समाधान करने में समुक्त राष्ट्र सघ पूरुत असफल रहा। इजराइल की जड़ें मजबूत जर्म गई। पश्चिमी राष्ट्री ने खुलकर इजराइल को डकसाया तथा मदद की। महा शक्तियों के इस प्रकार के मिश्र मिश्र रस के कारण ही समस्या का स्थायी हल नहीं हो पाया।

1956 में पुनः ज्वालामुखी विस्फोट हुआ। स्वेज की समस्या को लेकर—ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इजराइल को विभिन्न प्रकार की मदद कर—मिश्र या अरब राष्ट्री पर आक्रमण करने के लिए जकसाया—तथा इस समय भी दोनों में भारी संघर्ष हुआ एवं अंत में अरब राष्ट्री को मुँह की खानी पड़ी—पर इस बार पश्चिमी राष्ट्री की अमानवीयता स्पष्ट सिद्ध हो गई थी।

26 जुलाई 1956 को जब राष्ट्रपति वुड्रो विलसन ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की तो दोनों देशों के बीच की स्थिति और भी तनावपूर्ण हो गई। व फ्रांस दोनों ही स्वेज के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध थे। इजराइल के हितों पर

मौ इससे सकट आता था। अतः इजराइल, ब्रिटेन व फ्रांस ने सामूहिक रूप से मिश्र पर आक्रमण कर दिया। इससे दूसरी बार दोनों देशों के बीच तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई। परंतु स० रा० सघ, रूस और भारत के शान्ति प्रयत्नों से यह सकट टल गया। उस समय स० रा० अमेरीका तथा सो० रूस दोनों ही मिश्र के पक्ष में थे—अतः आक्रमणकारियों के पैर नहीं टिक सके और यह सकट टल गया।

मध्यपूर्व का यह सकट कई कारणों से स्थायी बना हुआ है। आपसी सघष के मूल भूत कारण निम्न हैं —

- (1) सीमा विवाद
- (2) शस्त्रों की होठ व सुरक्षा को खतरा
- (3) शरणार्थियों की समस्या
- (4) जोर्डन नदी के जल का उपयोग
- (5) जेरू सलाम का प्रश्न
- (6) तेल की कूटनीति (Oil Diplomacy)
- (7) विभिन्न शक्तियों का निहित स्वायत्त शक्ति सघष

**वर्तमान सघष—**पश्चिमी एशिया के अरब इजराइल सघष में 10 वष के छोटे में समय में अरब राष्ट्रों ने तीन बार अपने को हराया है। 1956 के स्वेज सकट के बाद दोनों देशों के मध्य शीत-युद्ध चलता रहा। यह शीत युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर 5 जून 1967 को वास्तविक युद्ध में परिणित हो गया। विश्व चकित हो गया, क्योंकि यह अब तक के सघषों में सबसे भयानक सघष था। इसके परिणाम स्वरूप—असह्य सैनिकों और नागरिकों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

नवम्बर 1966 में सीरिया व मिश्र ने एक सामूहिक सुरक्षा अधिनियम (Mutual Defence Pact) पर हस्ताक्षर किए और एक सामूहिक सैनिक बमाण्ड की स्थापना की। मिश्र ने इजरायल पर यह आरोप लगाया कि इजरायल अपने सैनिकों को सीरिया पर आक्रमण करने का आदेश देने वाला है। इस पर अरब राष्ट्रों ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ानी शुरू कर दी। 26 मई 1967 को मिश्र ने विशालकाय टैंक तथा बस्तरबंद गाड़ियाँ और अन्य हथियारों से लैस सैनिकों को उत्तरी किनारे पर भेजा तथा सिनाई रेगिस्तान में इजरायल की सीमा के निकट सैनिक शिविर स्थापित किए। मिश्र ने U N O से अपील की कि वह सिनाई व गालाण्टी में तनात सुरक्षा सेना को हटालें। दमिस्क रेडियो ने अरब राष्ट्रों को इजरायल के विरुद्ध एक होने का आह्वान किया। स० रा० सघ की सुरक्षा सेना ने 19 मई को यह क्षेत्र खाली कर दिया। इसके 4 दिन उपरान्त स० अरब गणराज्य ने अफाबा की खाड़ी को इजराइल के लिए बंद कर दिया। 30 मई को जोर्डन और मिश्र ने 3 साल की सुरक्षा सघि पर हस्ताक्षर किए। इसी समय सभी अरब

देशों ने घोषणा कर ली कि वे इजराइल के विरुद्ध सहे जाने वाले पवित्र युद्ध में तैयार हैं। यही नहीं अल्जीरिया, सूडान और ईराक ने तो अपनी सेनाएँ भी U A R की रक्षा हेतु भेज दी। 31 मई को रूस भी इस बात पर राजी हो गया कि यदि इजराइल के विरुद्ध सवाई में सीरिया व मिश्र को शस्त्रों आदि की जरूरत हुई तो वह उनकी पूरी मदद करेगा। अरब राष्ट्रों का मनोबल बढ़ाने के लिए 10 युद्ध पोतों को भूमध्य सागर में भेजा, जबकि अमेरीका का छठा बेड़ा वहाँ पहले से ही मौजूद था। स० रा० सघ के महासचिव 'ऊपाट' निजी तौर पर काहिरा गये और फनल नाविर से कहा कि वे पवित्र भी एशिया में युद्ध की स्थिति पैदा न करें। परन्तु उनकी सलाह का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सुरक्षा परिषद् में भी पश्चिमी एशिया की शांति के लिए दोनों देशों को शस्त्र युद्ध न करने की मावाज उठाई गई, परन्तु उसकी मावाज को अरब राष्ट्रों व रूस द्वारा निंदयता से दबा दिया गया तथा 27 मई को राष्ट्रपति नासिर ने यह घोषणा कर ली कि उनका प्रमुख लक्ष्य इजराइल के अस्तित्व को समाप्त करना है। इसीलिए अरब शक्तियाँ पिछले 11 वर्षों से तयारियाँ करती आ रही हैं। इस प्रकार नासिर ने इजराइल के प्रति अरब राष्ट्रों की घृणा प्रकट की। अतः युद्ध का होना अवश्यम्भावी था, जो फिर होकर ही रहा।

घृणा का उर्वरट विस्फोट 5 जून, 1967 को युद्ध के रूप में हुआ। इजरायल ने मिश्र, जोर्डन व सीरिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध के दूसरे दिन ही इजराइल ने सम्पूर्ण गाजा पट्टी अपने अधिकार में ले ली। 7 जून को इजराइल ने 'सिनाई' का क्षेत्र अपने कब्जे में कर लिया। बाद में उन्होंने 'शमउशेव' पर अधिकार करके अकाबा की खाड़ी को खोल दिया। जोर्डन का बहुत बड़ा भाग भी उनके अधिनार में आ गया। सिनाई क्षेत्र में अरब सेनाएँ पीछे हट गईं। सोवियत सघ ने इजराइल को यह चेतावनी दी कि यदि उसने युद्ध बन्द न किया तो उसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये जायेंगे। 7 जून को सुरक्षा-परिषद् ने युद्ध विराम लागू किया। जोर्डन इसके लिए तैयार हो गया, परन्तु अरब सौंग तैयार नहीं हुई और उन्होंने युद्ध विराम अस्वीकार कर दिया। जब 8 जून का इजराइली सेना सिनाई को पार करती हुई स्वैज के पूर्वी किनारे पर पहुँची और यह स्पष्ट हो गया कि इजराइली सेनाएँ 'पोर्टसाईड' को घेर ली हैं, काहिरा व सिकन्दरिया को घेर कर सकती हैं तो U A R ने भी युद्ध बढ़ा दिया। इस प्रकार यह युद्ध जितनी तीव्रता से शुरू हुआ, उतनी ही तीव्रता से समाप्त हो गया।

सिर्फ चार दिनों के युद्ध में इजरायल ने बड़े 'भारी' क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। नासिर यह स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे कि 'उनका मनु' इजरायल कीसरी बार भी मात दे पाया। सभी अरब राष्ट्रों ने युद्ध काग में—अमेरीका

व इंग्लैंड से सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। 22 हजार अरब सैनिक मारे गये तथा तीन हजार वर्गमील भूमि उनके हाथ से निकल गई।

संघर्ष की स्थिति—युद्ध की ज्वालाएँ अभी ठंडी नहीं हुई हैं। दोनों पक्षों के मन में घृणा की भावना और भी तीव्र हो गई है। अरबों को इतनी क्षति उठानी पड़ी है फिर भी उनकी इजराइल को समाप्त करने की हठ अभी तक बनी हुई है। वे स्वेज को सभी के लिए खुली नहीं रखना चाहते हैं। स्वेज के बंद हो जाने से मित्र को प्रति सप्ताह 20 लाख पौण्ड की क्षति होती रही। युद्ध के बाद होने के बाद भी वहाँ शांति नहीं है। घाए दिन गोलीबारी जारी है। यह गोलीबारी कभी भी फिर से व्यापक युद्ध का रूप धारण कर सकती है।

यह सत्य है कि अरब व इजराइल के बीच ऐसी बहुत सी समस्या हैं जिनका समाधान तुरन्त आवश्यक है। इनके बिना हल हुए किसी भी प्रकार की शान्ति बातों सम्भव नहीं है। अरब तथा इजराइल इस संघर्ष के बाद अपनी निम्न बातों को रखना चाहते हैं तथा वे इसी में समस्या का हल मानते हैं —

अरब राष्ट्र चाहते हैं कि —

- (1) इजराइल द्वारा अधिभूत प्रदेशों को खाली किया जाय तथा इजराइली सेना 5 जून के पूर्व की स्थिति पर पहुँचे।
- (2) अक्काबा की खाड़ी पर स० अ० गणराज्य U A R की सम्प्रभुता स्थापित हो।
- (3) जनमत द्वारा शरणार्थी समस्या का हल हो।
- (4) पूरा क्षेत्र में स्थायी शान्ति स्थापित की जाय, और
- (5) जोर्डन नदी के पानी का विवाद समाप्त हो।

रूसरी और इजराइल चाहता है कि —

- (1) अरब राष्ट्र उसे राजनयिक मान्यता प्रदान करे।
- (2) स्वेज नहर तथा अक्काबा की खाड़ी में अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग की तरह इजराइल को भी जहाजरानी के अधिकार मिलें।
- (3) जेरुसलम पूण्ड इनके अधिकार में हो।
- (4) जोर्डन नदी का पश्चिमी इलाका फिलिस्तीन के विस्थापितों के लिए भ्रमण कर दिया जाय।
- (5) मित्र, सीरिया तथा जोर्डन से भ्रमण २ सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय।
- (6) शरणार्थी समस्या का हल हो।
- (7) जोर्डन नदी के पानी की इजराइल को भी सुविधा हो।



समस्या के समाधानार्थ समुपत राष्ट्र सघ के भीतर व बाहर किये गये विभिन्न प्रयत्न — एशिया के जिन दो राष्ट्रों के सघ से पश्चिमी एशिया में महान सकट पैदा हो गया है उनके बीच में मध्यस्थता द्वारा शान्ति के प्रयत्नों से सकट को दूर करने में स० रा० सघ व विश्व के अन्य देशों द्वारा समय-समय पर निरन्तर प्रयत्न हो रहे हैं। इनमें मुख्य प्रयत्न सोवियत सघ, अमेरिका, ब्रिटेन, भारत आदि का है।

समुक्त राष्ट्र सघ के अतर्गत समस्या पर विचार — स० रा० सघ की महासभा का रुस की पहल पर आपातकालीन अधिवेशन इस समस्या पर बुलाया गया। रुस ने महासभा से आग्रह किया कि यह इजराईली आक्रमण के फलस्वरूप पश्चिमी एशिया में पैदा हुई परिस्थिति पर विचार करे और आक्रमण के कारणों का उन्मूलन करने तथा इजराईली फौजों का तुरन्त युद्ध बंदी रखा के पीछे हटा लिए जाने का निर्णय करे। इजराईल द्वारा 5 जून को सीरिया, जोर्डन व मित्र के खिलाफ जो युद्ध छेड़ा गया वह U.N.U के घोषणा पत्र व अन्तराष्ट्रीय कानून का खुला उल्लंघन था।

6 जून को सुरक्षा परिषद् ने यह प्रस्ताव पास किया कि शांति स्थापना की दिशा में पहल के रूप में सभी तरफ की शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियाँ समाप्त करली जाएं पर इजराईल ने इन्हें और भी बड़ा दिया। 7 जून को शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियाँ समाप्त करने के लिए सुरक्षा परिषद् ने समय भी निश्चित कर दिया, परन्तु इजराईली सेनाओं ने हमले जारी रक्ते और इजराईली विमानों ने अरब नगरों तथा गावों पर बमबारी की। 9 जून को इजराईल ने सुरक्षा परिषद् की युद्ध विराम की मांग को ठुकरा दिया तथा सीरियाई सेना पर हमला इसलिये तेज कर दिया ताकि ये राजधानी 'दमिश्क' तक पहुँच जाय। सुरक्षा परिषद् ने एक अन्य निर्णय लिया जिससे अन्य राष्ट्रों ने इजराईल से दूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए तथा युद्ध बंद न करने की दशा में सामूहिक नाके-बंदी की चेतावनी दी। जोर्डन ने सुरक्षा परिषद् की युद्ध विराम की बात को उसी दिन 7 जून को स्वीकार करली। इसके दूसरे दिन U.A.R. ने और आखिर में 10 जून को युद्ध की समाप्ति हेतु सीरिया व इजराईल ने भी युद्ध विराम की घोषणा करदी। इस प्रकार 4 दिनों के युद्ध के बाद सुरक्षा परिषद् के हस्तक्षेप से युद्ध विराम लागू हुआ।

पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधानार्थ सुरक्षा परिषद् में विभिन्न देशों ने अपने अपने प्रस्ताव भी रखे। 10 जून को भारत ने पश्चिमी एशिया की शांति के लिए एक चार सूत्री प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में रखा। सोवियत सघ ने भी एक चार सूत्री प्रस्ताव महासभा में रखा। लेकिन 20 जून को पश्चिमी एशिया में युद्ध के लिए इजराईल की निंदा करने और उसे दण्ड देने के सम्बन्ध में रुस द्वारा प्रेषित

प्रस्ताव को अमेरीका ने अस्वीकार कर दिया और शांति के लिए एक पांच सूत्री प्रस्ताव रखा। अमेरीकी प्रस्ताव में भी अधिक यजन नहीं था। इसके बाद तटस्थ राष्ट्रों के प्रयत्न भी सराहनीय रहे। 28 जून को UNO में महासचिव 'ऊयाट' ने भी अपनी रिपोर्ट पेश की व इजराइल के आरोपों का खंडन किया।

8 जुलाई को स्वेज नहर क्षेत्र में फिर से इजराइल और मिश्र के बीच लड़ाई छिड़ जाने के कारण युध्दविराम उल्लघन का प्रश्न 9 जुलाई को सुरक्षा-परिषद् में उठाया गया। उसी दिन 'ऊयाट' ने एक 'संयुक्त राष्ट्रीय प्रेसक दल' भेजने की घोषणा भी की जिसे दूसरे ही दिन अरब राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया। UNO, के नार्वे-जियम कमाण्डर जनरल 'मोडवुल' 4 प्रेसकों सहित 5 July को काहिरा पहुंच गए। दूसरे दिन से प्रेसकों ने स्वेज नहर क्षेत्र में इस बात के लिए जांच शुरू कर दी की मिश्री और इजरायली सैनिकों के बीच विभाजन रेखा कहा खींची जाय। इजरायलियों ने जनरल 'वुल' के सामने यह प्रस्ताव रखा कि विभाजन रेखा 100 मील लम्बे जल मार्गों के बीचों बीच होनी चाहिए, क्योंकि जिससे दोनों ओर की सेनाओं का एक एक तट पर नियंत्रण हो।

29 जुलाई शाम को UN महासभा ने पश्चिमी समस्या पर सबसे अंतिम कोई भी हल निकालने में अपनी असमर्थता स्वीकार करली और इस मामले को, सुरक्षा-परिषद् को सौंपने का विचार किया है। अरब राष्ट्रों ने महासभा की आलोचना करते हुए कहा है कि वह न केवल इजरायली सेनाओं को अरब क्षेत्रों से हटाने में असमर्थ रही है अपितु इजरायली कायबाही का विरोध करने में भी असफल रही है।

सं० रा० सघ में सघ को हल करने के नवीन प्रयास —

19 सितम्बर 67 को महासभा का २२ वा अधिवेशन प्रारम्भ हुआ—तथा इस समस्या पर महत्वपूर्ण रूप से विचार किया गया। 7 नवम्बर को सभा में अमेरीका ने समस्या के समाधानाथ प्रस्ताव रखा। 10 नवम्बर को सुरक्षा परिषद् में भारतीय प्रस्ताव भी प्रस्तुत हुआ और 29 नवम्बर को सोवियत रूस ने भी अपना प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में रखा—पर राष्ट्रों के पारस्परिक नोक झोक के कारण कोई भी प्रस्ताव पारित न हुआ।

23 नवम्बर 1967 को पश्चिमी एशिया के संकट पर ब्रिटेन द्वारा प्रस्तावित समझौता प्रस्ताव को सब सम्मति से सं० रा० सघ की महासभा में स्वीकार कर लिया गया। यह प्रस्ताव निम्न प्रकार से है —

-- (1) इजरायल ने जिन अरब देशों को अभी हाल ही में अपने अधिकार में लिया है—उनको खाली करेगा।

- (2) पश्चिमी एशिया में उचित तथा स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए युद्ध की स्थिति को समाप्त किया जाय एवं एक दूसरे की सम्प्रभुता, क्षेत्रीय प्रसन्नता, राजनीतिक स्वतन्त्रता आदि की स्वीकार किया जाय।
- (3) सीमाओं की स्थिति 5 जून के पहले की हो जानी चाहिए। इसके अनुसार इजराईल को समस्त सिनाई क्षेत्र, गाजा-पट्टी, मरुशलम का पुराना नगर, जोर्डन नदी के पश्चिमी भाग और सीरियाई भूमि से हट जाना पड़ेगा।

इजराईल के विदेश मंत्री मम्बरायन ने कहा कि पश्चिमी एशिया में शान्ति सुरक्षा से नहीं, आपसी समझौते से सम्भव होगी। लेकिन U A R के कतल नासिर ने कहा कि उनका देश इजराईल को मायता नहीं देगा और नहीं उसके साथ बातों-बाप की नीति अपनायेगा। खारतुम में शिखर सम्मेलन हुआ, उसमें स्वीकृत प्रस्ताव में ये दोनों बातें करने को तैयार नहीं है।

सं० रा० सभ की सुरक्षा परिषद ने पश्चिमी एशिया सम्बन्धी प्रस्ताव सर्व सम्मति से अवश्य पास किया लेकिन वह कोरा सैद्धान्तिक ही है। सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्यों की यह धारणा है कि प्रस्ताव 'यायोचित और विवेकपूर्ण' है। इजरायली सेनाओं का विजित अरब क्षेत्रों से हटना भले ही दूर की बात हो लेकिन पश्चिमी एशिया के सकट को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। U N O के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के बाद अरब देश एक शिखर सम्मेलन का आयोजन करने में सज्ज हैं। जिससे इजराईल के प्रति उदार नरम नीति का प्रयोग करने की सम्भावना है।

वर्तमान संघर्ष के प्रति महाशक्तियों का रुख — वर्तमान संघर्ष में सत्तार की राजनीतिक शक्तिमा हमारा ध्यान भूतकालीन गुटबन्दी और तनाव की ओर आकर्षित करती है। सम्पूर्ण पूर्वी देश अरब राष्ट्रों का समर्थन करते हैं—जिसमें भारत, पाकिस्तान तथा रूस भी सम्मिलित हैं। पश्चिमी गुट प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दृष्टि से विभिन्न सहायता इजराईल को कर रहा है। दोनों गुटों में अमेरिका व रूस में भाज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति निहित है। परन्तु ये खुले रूप से सामने नहीं आते हैं, वरन् छोटे राष्ट्रों को अपनी राजनीतिक तथा स्वायत्तता के साधन शतरंज के मोहरे बनाते हैं। रूस ने इस संघर्ष में खुले रूप से भाग लिया है। इजरायल को घमभी भी दी है तथा U A R को शस्त्रास्त्र भी। रूस ने इजरायल से राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए हैं। रूस का मुख्य उद्देश्य इजरायली सेनाओं को उन क्षेत्रों से हटाना, जिन पर कि उसने युद्ध में कब्जा जमा लिया था। इसके लिए वह U N O में भी प्रयत्न कर रहा था। रूस इजराईल पर इतना प्रभाव इसलिये डाल रहा है अरब हमेशा के लिए उसके भक्त बने रहें।

इस सघष के दौरान अमेरीका व ब्रिटेन इजराईल की पीठ को ठोकने में थे। वास्तव में इजराईल द्वारा युद्ध की पहल का कारण इन दोनों शक्तियों का उसके साथ होना था। फलस्वरूप U A R ने USA से राजनीतिक सम्बंध तोड़ लिये तथा USA ने भी U A R को तकनीकी सहायता देना बन्द कर दिया। इस प्रकार इस सघष के पीछे दोनों महाशक्तियों की कूटनीति क्रियाशील थी, जिसने कि अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु दोनों देशों को अपनी मोहर बना दिया।

पश्चिमी एशिया के वर्तमान सघष के प्रति भारत का दृष्टिकोण — भारत के तत्कालीन विदेश मंत्री श्री छागला ने कहा कि इजराईल ही पश्चिमी एशिया में सघष का कारण है। भारत ने 1957 में अकाबा की खाड़ी को बंद समुद्र मानकर अरबों के हितों का समर्थन किया था। 10 वर्ष बाद भी श्रीमती गांधी ने यह कह कर फिर से वही नीति अपनाई है। हल निकालकर शांति स्थापित की जानी चाहिए, परन्तु वे इससे भी आगे बढ़ गईं और उन्होंने इजराईल को आक्रमणकारी घोषित करके अरब देशों का खुला समर्थन किया है साथ ही भारत ने U A R के पहले ही अनुरोध में गाजापट्टी से अपने 1000 सैनिकों को हटा लिया। भारत में अरब देशों के साथ अत्यधिक पक्षपात पूर्ण रवया अपनाया है। यद्यपि यहां भी भारत शांति स्थापक की भूमिका का कुशलता पूर्वक निर्वाह कर सकता था, परन्तु इन्दिरा गांधी के अनुसार भारत अरब मैत्री लाभदायक होने से यह रवया अपनाया गया।

स्थायी समाधान बांछनीय — यह सघष मदानों में समाप्त हुआ है, बिलों और दिमाग में नहीं। वस्तुतः इसके लिए दोनों शक्ति घिबिर ही उत्तरदायी हैं। दोनों की मध्यस्थता से शांति सम्भव हो सकती है। इजराईल विजेता है। 10 वर्षों में यह तीसरी बार का युद्ध है जिसमें इजराईल विजेता रहा है। अरबों की हमेशा यही तमन्ना रही है कि वे इजराईल के अस्तित्व को जड़-मूल से नेस्तनाबूद कर दें परन्तु अरबों को यह समझ लेना चाहिए कि वे इजराईल को अब पूर्णतया समाप्त नहीं कर सकते हैं — यह सम्भव नहीं है। शांति स्थापना में योग देना चाहिए। समस्या यह है कि हमें जान में सम्मिलित हो कि दोनों पक्ष अपनी हठधर्मिता को छोड़ सामान्य रख अपनायें तथा विश्वशांति को अश्रय दें। इस समस्या को हल करने में दोनों महाशक्तियों को भी अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए तथा अपने पूर्ण प्रयत्नों से शांति स्थापित करना चाहिए।

## वियतनाम का प्रश्न

वियतनाम की समस्या वर्तमान विश्व की प्रमुख समस्या है। पिछले वर्षों में समाचार पत्रों, रेडियो आदि में कोई दिन ऐसा रहा हो जब वियतनाम की चर्चा नहीं रही हो। भाज की ज्वलन्त समस्याओं में सबसे अधिक जटिल और दुष्ट समस्या वियतनाम की है जो अन्तराष्ट्रीय शांति के लिये एक चुनौती बनी हुई है। वियतनाम कई पिछले वर्षों से युद्धका भूखंड बना हुआ और विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद भी कोई समझौते के आसार दिखाई नहीं पड़ते। कई क्षेत्रों में यह मय उत्पन्न हो गया कि इस समस्या के नहीं सुलझने पर विश्व युद्ध का खतरा हो सकता है। कभी भी चीन व अमेरिका जैसी शक्तियाँ इसे भयात्मक स्वरूप में बदल सकती हैं। इस समस्या को विस्तार से समझने के लिये वियतनाम के भौगोलिक स्वरूप तथा ऐतिहासिक स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है।

**क्षेत्रीय परिचय**—(भौगोलिक, आर्थिक, व्यापारिक, वन-जाति एवं समस्याएं) वियतनाम, दक्षिणी चीन सागर के पश्चिम में जंगलों और घाटियों से घिरा हुआ एक देश है जिसकी लम्बाई लगभग 1600 कि० मी० और चौड़ाई सामान्यतः 64 कि० मी० है। यह दो भागों में बंटा हुआ है। उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम के बीच 17 उत्तरी अक्षांश सीमा मानी गई है। वर्तमान में यहाँ की जनसंख्या ३ करोड़ के आस पास है। यहाँ चीनी और मलय संस्कृति है। बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव है उत्तरी वियतनाम खनिज पदार्थों में समृद्ध है और दक्षिणी भाग में चावल और रबर की खेती होती है।

**हिन्द चीन (एक ऐतिहासिक अवलोकन)**—‘हिन्द चीन’ मत्सया प्रायद्वीप के उत्तर तथा थाईलैण्ड के दक्षिण में स्थित एक दक्षिणी-पूर्वी एशियाई प्रदेश है। इसमें कोचीन चीन, कम्बोडिया, अनाम, लाओस तथा टोंगकिंग प्रदेश हैं। १७ वीं शताब्दी से ही इस क्षेत्र पर आँख रखने वाले फ्रांस ने 19 वीं शताब्दी के अन्त तक इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव पूर्ण नियन्त्रण भी स्थापित कर लिया। पूरे प्रायद्वीप को पेरिस की फ्रांसीसी सरकार के प्रति उत्तरदायी एक गवर्नर जनरल के प्रशासन में रखा गया। फ्रांस यहाँ की भाषा, संस्कृति, रीति रिवाज एवं अन्य सामाजिक माध्यमों से पूरित जनता में प्रभाव जमाने लगा। राष्ट्रवादी सहृदयतावादी भावों को फ्रांसीसी निरन्तर दबाते रहे फिर भी यहाँ की जनता धीरे धीरे विदेशी प्रभुत्व से घृणा करने लगी।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी के फ्रांस द्वारा परास्त होने पर फ्रांस स्थापित जपान समर्थक विर्शा सरकार से समझौता कर 1945 तक जापान ने

अपना अधिकार इस क्षेत्र में जमा लिया। जब अगस्त, 1945 में जापान ने आत्म-समर्पण किया तो वियतनामवासियों को जापानी नियंत्रण से छुटकारा मिला और सितम्बर में उन्होंने फ्रांस से अपनी स्वतंत्रता घोषित करके 'वियतनाम गणतंत्र' का उद्घाटन किया।

**फ्रांस की पुनः प्रतिक्रिया-फ्रांस तथा वियतकांग में लड़ाई —**

जनरल डिगॉल ने फिर से अपना हस्तक्षेप इधर करना चाहा। 'पोट्सडेम सम्मेलन' ने 16 वीं समानांतर रेखा के उत्तरी भाग पर फ्रांस व चीन की सेनाओं को कब्जा करने तथा उसके दक्षिणी भाग पर ब्रिटेन व फ्रांस की सेनाओं को कब्जा करने का आदेश दे दिया। शीघ्र ही हिंद चीन में ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा चीनी सेनाओं का एक विशाल दल ग्राह्य हुआ। लेकिन 28 फरवरी, 1946 के चीनी फ्रांसीसी समझौते के उपरान्त चीनी सेनाएं वापस लौट गईं। मार्च, 1946 में फ्रांस तथा 'वियतनाम गणतंत्र' की सरकारों के बीच भी एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार 'गणतंत्र' को हिंद चीन सघ व फ्रांसीसी सघ, दोनों का अंग बनाकर स्वतंत्र राज्य के रूप में भाग्यता प्रदान कर दी गई। जून, 1946 में हिंद चीन सघ के सदस्य के स्तर पर कोचीन चीन का फ्रांस ने 'स्वाधीनता' प्रदान की तथा वियतनाम गणतंत्र के साथ इसके सम्बंधों का विनिश्चय करने के लिए जनमत संग्रह की व्यवस्था की गई।

लेकिन कोचीन चीन के अधिष्य को लेकर 'वियतनाम गणतंत्र' व फ्रांस में कटुता पैदा हो गई। वियतनाम इस राज्य को अपने में विलीन करना चाहता था, किंतु कोचीन चीन के सैनिक व आर्थिक महत्व के कारण फ्रांस इसको वियतनाम से पृथक् ही रखना चाहता था। आपस में तनातनी प्रारम्भ हुई-सीमा के प्रश्न को लेकर फ्रांस ने 23 नवम्बर 1949 को हनोई पर बम वर्षा की जिससे वियतनामी सहस्रों की सख्या में मारे गये। 19 दिसम्बर 1949 को बदला लिया गया व कई फ्रांसीसीयों को हनोई में मौन के घाट उतार दिया। इन घटनाओं से हो ची मिह के वियतनाम गणराज्य तथा फ्रांस के बीच एक गह्र युद्ध सा प्रारम्भ हो गया।

डा० हो की स्थानीय साम्यवादियों, कुछ असाध्यवादियों व बाद में चीनी साम्यवादियों की सहायता प्राप्त हो गई। उसके अनुयायियों ने देश में आतंक, लूट, छापामार-युद्ध तथा विध्वंस का वातावरण पैदा कर दिया तथा फ्रांस के लिए देश में व्यवस्था पैदा करना असम्भव बना दिया। सैनिक साधनों की असफलता के बाद फ्रांस ने राजनितिक साधनों की शरण ली। इसने बाओदाई को अपनी अलग सरकार बनाने के लिए उकसाया। कुछ समझौतों के बाद 1949 मार्च में वियतनाम 'फ्रांसीसी सघ का एक उपराज्य' बना लिया गया और उसके विदेशी मामलों व सेनाओं पर फ्रांस का नियंत्रण स्थापित हो गया। 30 Dec 1949 को बाओदाई ने सगोन में स्वयं को 'राज्याध्यक्ष' घोषित कर दिया।

'शीत युद्ध' के फलस्वरूप हिन्द चीन की स्थिति का बिगड़ना—शीघ्र ही उपरोक्त गृह युद्ध ने अमरीकी हथारो, अस्त्रास्त्रों, टैंकों, वायुयानों तथा बमों के सुसज्जित 150,000 फ्रांसीसी सैनिकों व साम्यवादी चीन की सहायता पर लड़ रही 'हो' की सेनाओं के बीच एक राष्ट्र व्यापी युद्ध का रूप धारण कर लिया। स्थिति तब और भी गम्भीर हो गई जब सन् 1950 में अमरीका तथा रूस 'शीत युद्ध' को भी हिन्द चीन के द्वार तक खींच लाए। वियतनाम तथा वियतमिन्ह सरकारों को दोनों गुटों ने कूटनीतिक मायता अलग अलग प्रदान की। फ्रांस के नाम से पूरा अमरीका इस क्षेत्र में घा डटा। इसी तरह दिखाव के लिए साम्यवादी चीन, किन्तु वस्तु स्थिति में रूस 'वियतमिन्ह सरकार' को यथा सम्भव हर प्रकार की सहायता प्रदान कर रहा था। वह युद्ध, जो 'उपनिवेशवादी शासकों' तथा 'उपनिवेशी शासितों' के बीच खिड़ा-या अब 'स्वतन्त्र विश्व' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' के मध्य एक विश्व व्यापी सघर्ष में परिणत हो गया।

7 मई 1954 को 'वियतमिन्ह' सेनाओं ने फ्रांसीसी सेनाओं को बुरी तरह पराजित किया, फ्रांस के 15,000 सैनिक बंदी बना लिए गए और दायन बिनेन फू नामक फ्रांसीसी गढ़ पर बम वर्षा की। किन्तु राष्ट्रपति ब्राइजन हॉवर ने इस समय से कि कहीं युद्ध विश्व व्यापी न बन जाए, समस्या के शांतिपूर्ण समाधान का निश्चय किया।

जेनेवा सम्मेलन वियतनाम का प्रादुर्भाव—26 अप्रैल से 21 जुलाई 1954 तक अमरीका, इंग्लैण्ड, रूस, फ्रांस, चीनी गणतन्त्र (साम्यवादी चीन), वियतनाम, वियतमिन्ह, लाओस तथा कम्बोडिया के विदेश मन्त्रीगण—जेनेवा में पार्लमैण्ट के बंदेश मन्त्री राजकुमार वानवैययाकौन की अध्यक्षता में एकत्रित हुए तथा उन्होंने कुछ समझौते किए—जिनमें प्रमुख निम्न थे—

1—वियतनाम (हिन्द चीन का सबसे बड़ा राज्य) दो भागों में विभाजित किया गया। 17वीं समानांतर रेखा के दक्षिण का भाग 'दक्षिणी वियतनाम' तथा उत्तर का भाग, जो वियतमिन्ह के नियन्त्रण में था, 'उत्तरी वियतनाम' कहलाया। यह व्यवस्था की गई कि दक्षिणी क्षेत्र से साम्यवादी सेनाएं तथा उत्तरी क्षेत्र से फ्रांसीसी सेनाएं 21 जुलाई 1954 के उपरांत 300 दिनों के अंदर-अन्दर हटा ली जाएंगी।

2—20 अगस्त 1954 तक युद्ध बंदिया के रिहा किए जाने तथा उनके आदान-प्रदान की भी व्यवस्था की गई।

3—दश की भावी सरकार का निर्धारण करने के लिए कनाडा, भारत तथा पोलैण्ड के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक 'अंतर्राष्ट्रीय आयोग' की व्यवस्था की गई। इसमें दो वर्ष बाद अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए देश में एक 'राष्ट्रीय चुनाव' आयोजित करने का अधिकार प्रदान किया गया।

लाओस तथा कम्बोडिया को कुछ समझौते के साथ स्वाधीनता प्राप्त हो गई। दोनों देशों में साम्यवाद विरोधी सरकारों की स्थापना हुई। पर इन दोनों ने हिन्द चीन सघर्ष में तटस्थता का अनुसरण किया।

### वर्तमान सकट का आरम्भ

जेनेवा के युद्ध-विराम समझौते से भी हिन्द-चीन में शांति स्थापना सम्भव न हो सकी। इस प्रदेश को फ्रांसीसी साम्राज्यवाद से तो अवश्य चैन मिला पर यह शीघ्र ही भ्रान्तरिक सघर्ष में लिप्त हो गया और स्थिति 'शीत-युद्ध' के कुछ प्रभाव के कारण और भी बिगड़ गई। दक्षिणी वियतनाम में कई सारी भ्रान्तरिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थी। साम्यवादी भ्रत्याचारों से बचने के लिए हजारों की सख्या में लोग—मुख्यतः रोमन कैथोलिक लोग—उत्तरी वियतनाम से भागकर दक्षिणी वियतनाम में भागे लगे।

सेगोन का शासन (द० वियतनाम) डायम जिसे बामो-दाई ने सन् 1954 में प्रधान मंत्री नियुक्त किया था, द्वारा ही संचालित किया जा रहा था। अमरीकी प्रोत्साहन तथा आर्थिक एवं अन्य प्रकार की सहायता से डायम ने 26 अक्टूबर 1955 को बामो दाई से 'राज्याध्यक्ष' का पद छोड़ कर स्वयं को नवोदित गणतन्त्र का राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री घोषित कर दिया। 4 मार्च 1956 के एक चुनाव के परिणाम स्वरूप उसे जनता का 'पूर्ण समर्थन' प्राप्त हुआ। उसने देश में सन् 1956 में एक 'अर्ध-लोकतन्त्रीय' तथा 'अर्ध-अधिनायकवादी' शासन स्थापित करके व्यवस्थापक पदा की। जुलाई 1956 में जेनेवा में एकीकरण के लिए होने वाला चुनाव आयोजित न हो सका, क्योंकि डायम ने उत्तरी वियतनाम की साम्यवादी सरकार से किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने से स्पष्ट इनकार कर दिया। दक्षिणी वियतनाम अधिक से अधिक अमरीकी प्रभाव तथा सुरक्षण में आता चला गया।

उत्तरी वियतनाम की स्थिति भी सतोष जनक नहीं थी। राष्ट्रपति हो बी मिह भूमि सुधारों तथा जन-वल्याण की अन्य योजनाओं द्वारा व्यवस्था को दूर करने का प्रयत्न कर रहा था। हनोई में जिस सरकार की स्थापना की गई थी उसका प्रशासन गुरेला योद्धाओं के हाथ में था।

जेनेवा के शांति समझौते के बाद भी उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम के सम्बन्ध अच्छे नहीं हुए। जुलाई, 1956 में दोनों खण्डों के पुनः एकीकरण के दृष्टिकोण से किये जाने वाले आम चुनाव सम्बन्धी अनुच्छेद को लागू नहीं किया जा सका, क्योंकि दक्षिणी वियतनाम की सरकार ने समझौते का अपने प्रति बंधन स्वीकार करने में इन्कार कर दिया था, उ० वियतनाम की सरकार द्वारा 1955 में 58 तक के समय में प्रस्तुत किए गए निर्वाचन की व्यवस्था सम्बन्धी बात चोट के सभी प्रस्तावों को रद्द कर दिया। द० वियतनाम सरकार कि यह



धारणा थी कि स० वियतनाम में वास्तविक रूप से स्वतंत्र चुनाव करना सम्भव नहीं है। अतः दोनों सरकारों में तनाव बढ़ता ही गया। सगौन और हनोई एक दूसरे पर सशस्त्र मेला की वृद्धि का आरोप लगाते ही गए। डा० हो की सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय युद्ध विराम निरीक्षण आयोग से शिकायत की कि अमेरिका स० वियतनाम को हथियार दे रहा है और हायम की सरकार ने हनोई पर धाराप लगाया कि वह उसकी सरकार का नुक़्ता खटने के लिए साम्यवादियों की सहायता ले रहा है।

इसी बीच 30 अगस्त 1959 को दक्षिणी वियतनाम में आम चुनाव हुए और राष्ट्रपति हायम की सरकार को भारी बहुमत मिला। इसी प्रकार 15 जुलाई 1960 का उत्तरी वियतनाम ने भी सत्तर वर्षीय डा० हो को राज्याध्यक्ष चुन लिया। दोनों नेता सत्ता से विपट रहें और एक दूसरे पर शान्ति सम्झौता मन करने का धोप लगाते रहे।

1960-61 के दौरान साम्यवादी वियनकांग (साम्यवादियों ने 'राष्ट्रीय मुक्ति सेना' की स्थापना 1960 में की थी इसे सरकारी बयानों में वियतकांग कहा जाता था) गुरेलो ने अपनी पारवाई देश के बहुत से भागों में अव्यधिक बढ़ा दी। 1961 के अन्त तक लगभग बीस हजार गुरेले सारे देश में जहाँ तहाँ घातक पूरा कृत्य करने लगे थे और दक्षिणी वियतनाम के राष्ट्रपति ने 19 अक्टूबर 1961 को सारे दक्षिणी

यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद है कि वीएटकांग (Vietcong) कौन है। अमरीकी तथा दक्षिणी वियतनामियों के अनुसार यह ऐसे व्यक्तियों का संगठन है जिसे उत्तरी वियतनाम द्वारा भेजा गया है ये लोग साम्यवादी हैं। इनको शस्त्र तथा समर्थन भी उत्तरी वियतनाम द्वारा मिलता है। कुछ अन्तर्दृष्ट एवं स्वार्थी दक्षिणी, वियतनामी तत्त्व ही इसके सदस्य हैं। बाकी जाता से इस संगठन को कोई समर्थन नहीं प्राप्त है। उत्तरी वियतनाम के नेताओं का कहना है कि वीनकांग या नेशनल लिबरेशन फ्रंट (Vietcong या National Liberation Front) एक ऐसा संगठन है जो राष्ट्रीयता का जनम है, विदेशियों का अपने देश में हस्तक्षेप करने से रोकना चाहता है। यह जनता द्वारा समर्थन प्राप्त किये हुये हैं। किन्तु असल में दोनों, ही विचार अतिवादी हैं। वीएटकांग को उत्तरी वियतनाम से शस्त्र दिये जाते हैं और शक्ति के द्वारा दक्षिणी वियतनाम का तत्त्वा उत्तटना उनका उद्देश्य है।

अमरीकी और दक्षिणी वियतनामियों का कहना है कि वियतनाम में गृहयुद्ध नहीं हो रहा है, उस पर साम्यवादी वियतनाम द्वारा आक्रमण किया गया है। घुसपैठिय भेजे गये हैं, अतः वह विदेशी आक्रमण के विरुद्ध लड़ रहा है किन्तु साम्यवादी इसे गृह युद्ध से सम्बोधित कर रहे हैं, वहाँ का राष्ट्रवादी तत्त्व कठपुतली सरकार से छुटकारा ले के सिये साक्षात्कृत हो रहा है।

वियतनाम में आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। मई, 1961 में अमरीकी उप राष्ट्रपति लिण्डन बी० जानसन सैंगोन के द्वारे पर गये और उन्होंने दक्षिणी वियतनाम को अमरीकी सहायता में वृद्धि करने व उसकी गति बढ़ाने के उपाय करने की सिफारिश की।

इसी वर्ष 10 दिसम्बर 1961 को अमरीकी राज्यविभाग ने 'शान्ति को खतरा' के नाम से दो भागों में एक श्वेत-पत्र निकाला और आरोप लगाया कि वियतकांग 'भुक्ति भ्रान्दोलन' का निर्देशन व संचालन उत्तर से होता है और साम्यवादियों द्वारा द० वियतनाम को विजित कर लिये जाने का स्पष्ट रूप से खतरा उपस्थित है। यदि यह सम्भव हो गया तो अल्प एशियाई देशों की प्रगति रुक जायेगी। अतः 4 जनवरी 1962 को स० रा० अमेरिका ने द० वियतनाम को आर्थिक व सैनिक सहायता देने की योजनाएँ घोषित की। इसी समय द० वियतनाम ने अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग ICC से शिकायत की कि उत्तरी वियतनाम घुस पैंठ और विनाश की कामवाहिया कर रहा है।

सोवियत रूस द्वारा दक्षिणी वियतनाम के आन्तरिक मामलों में अमरीका के समुचित हस्तक्षेप की निन्दा की गई और फरवरी 1962 में चीन सरकार ने भी आरोप लगाया कि अमरीका द्वारा दक्षिणी वियतनाम में सैनिक कमान, दक्षिण वियतनामी जनता के 'नो दिह डायम गठजोड़' के विरुद्ध न्यायोचित व देशभक्तिपूर्ण सघर्ष का दमन करने के लिए स्थापित की गई है। रूस ने अमरीका को दक्षिणी वियतनाम में युद्ध सामग्री ले जाने से मना किया। 2 जून 1962 को अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग के भारतीय और केनेडियन सदस्यों ने निर्णय दिया कि उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम दोनों में ही जेनेवा समझौते की अवहेलना की है। उत्तरी वियतनाम ने दक्षिणी वियतनाम में शत्रुतापूर्ण कामवाहियों को प्रोत्साहन व समर्थन देकर और दूसरे ने सैनिक सहायता लेकर व अमेरिका से एक वास्तविक सैनिक गठबंधन करके। दोनों वियतनामों के मध्य में सम्बन्धों का प्रश्न 'शीत-युद्ध' में उलझकर रह गया और आरोपों व प्रत्यारोपों की बीछारें होने लगी। रूस व साम्यवादी चीन उत्तरी वियतनाम का पक्ष ले रहे थे और इंग्लैण्ड दक्षिणी वियतनाम में अमरीका की स्थिति का समर्थन कर रहा था।

**वियतनाम सघर्ष एक जटिल विश्व समस्या के रूप में —**

उपयुक्त स्थिति के कारण अमरीकी प्रतिरक्षा मंत्री राबर्ट मेकनमारा यदि ने सैंगोन का दौरा कर यह घोषणा की कि—“द० वियतनाम को जब तक आवश्यकता होगी—अमरीकी सैनिक सहायता दी जायेगी।” इस घोषणापत्रात् वियतकांग की भातवपूर्ण कामवाहियों की मात्रा व भयानकता में वृद्धि होती गई।

अमरीकी राजनीतिज्ञों को साम्यवादी खतरे से विशेषतया दक्षिणी वियतनाम और सामान्यतया सारे द० पूर्वी एशिया की गम्भीर चिन्ता सताने लगी। २३ जून

1964 को जोसन ने संयुक्त संसदीय समितियों के प्रधान व अमेरिकी वरिष्ठ सैन्य अधिकारी मेक्सवेल डी० टेतर को दक्षिणी वियतनाम में राजदूत नियुक्त किया। उत्तरी वियतनाम से 17 वीं अक्षांश रेखा पर दबाव निरंतर बढ़ता गया। चीनी साम्यवादी सेना चीन की दक्षिणी सीमा पर बड़ी मात्रा में सगा दी गई और कुल चीनी सेना को उत्तरी वियतनाम के भीतर जमकर बैठ गई। 7 अगस्त 1964 को द० वियतनाम के राष्ट्रपति जनरल स्पूयन काह ने आपातकालीन स्थिति की घोषणा की और कहा कि वियतकांग गुरेलो को उत्तरी वियतनाम से निरंतर सस्त्रास्त्र इत्यादि युद्ध सामग्री मिल रही है। अमेरिका ने और दक्षिण वियतनाम को सैनिक व आर्थिक सहायता में वृद्धि की घोषणा की। रूस ने इसे अनुचित कहा और कहा कि यदि उसने उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण किया तो वह (रूस) उत्तरी वियतनाम को सहायता देगा। पीकिंग सरकार ने भी आपत्तिका की।

संयुक्त राष्ट्र सच के महा सचिव ऊपाट ने 8 जुलाई 1964 को अपनी की कि, वियतनाम समस्या को बातचीत के राजनीतिक व राजनयिक प्रसाधनो द्वारा सुलझाया जाना चाहिए और जेनेवा सम्मेलन पुन बुलाया जाना चाहिए। किन्तु दक्षिणी वियतनाम की सरकार ने इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। अमेरिकी अधिकारियों ने द० वियतनाम सरकार को असीम सैनिक सहायता देने की नीति का अनुसरण किया।

1965 के प्रारम्भ में द० वियतनाम में बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अमेरिकी विरोध प्रदर्शन किये, पर दबा दिये गये। अमेरिका ने द० वियतनाम में अमेरिकी सेना पर वियतकांग आक्रमण प्रतिशोध-स्वरूप 7 फरवरी को उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले प्रारम्भ किये। मात्र म व उमक गव गन् इन आक्रमणों की मात्रा अधिक हो गई और ये अधिकतर सैनिक ठिकानों पर ल। र। ए जाने लये। नम प्रकार की भयावह तथा विश्व शांति की भाशा का मिटने की स्थिति देख भारत-पाक व रूसी सरकारों ने कोई समझौता करने के लिए पुन जेनेवा सम्मेलन बुलाए जाने की अपील की। महामन्त्री ऊपाट ने सम्बन्धित दशा के बीच बातचीत का प्रस्ताव किया और 17 तटस्थ राष्ट्रा ने युद्ध बन्द करने की अपील की।

अप्रैल के प्रारम्भ में डा० हो ने एक चार सूत्रीय प्रस्ताव रखा, जिसमें और बातों के अतिरिक्त द० वियतनाम से अमेरिकी सेनाओं को पूर्णत हटाने और संगोच में वियतकांग के राजनीतिक कार्यक्रम के अनुसार निपटारा किए जाने की मांग की गई थी। 7 अप्रैल, 1965 को जॉनसन ने घोषणा की कि यदि द० वियतनाम को स्वतन्त्र रहने दिया जाय और अमेरिकी सेना वहीं रहे तो अमेरिकी सरकार 'बिना शर्त बातों' करने को तैयार है। वियतनामियों ने इस प्रस्ताव को रद्द कर । सोवियत सच और चीन ने उत्तरी वियतनाम के इस दृष्टिकोण का समर्थन

किया। रूस ने हनोई के निकट वायुयान भेदी प्रक्षेपणास्त्रों के झड्डे बनाने प्रारम्भ किए और चीन ने रूसी सामान को उत्तरी वियतनाम में ले जाने की सुविधाएं प्रदान की। अमरीका ने ६० वियतनाम में अपनी सेना की शक्ति और बढ़ा दी। कांग्रेस ने मई 1965 में एक विधेयक पास करके युद्ध कार्यों के लिए सत्तर करोड़ डॉलर की प्रतिरिक्त निधि पारित की। जून, 1965 में सदन में हुए 12 राष्ट्र मण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन में एक वियतनाम-विषयक शांति आयोग स्थापित किया गया जिसे यह युद्ध समाप्त कराने का काम सौंपा गया। अमरीका तथा ६० वीयतनाम ने राष्ट्र मण्डलीय मध्यस्थता स्वीकार की पर रूस, चीन व वीयतनाम ने इसका बहिष्कार किया।

1 जुलाई में यूरोस्लाविया के राष्ट्रपति टोटो और भारतके प्रधान मन्त्री श्री शास्त्री ने वियतनामी सघर्ष के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए एक संयुक्त प्रपील जारी की, किन्तु चीन के सरकारी पत्र (Peoples Daily) ने इस प्रपील की कटु प्रालोचना की और टोटो व शास्त्री को 'अमरीकी साम्राज्यवाद के एजेंट' कह कर पुकारा। 30 अगस्त को चीन ने रूस की भी वियतनाम सम्बंधी नीति के लिए उसकी प्रालोचना की। 11 नवम्बर 1965 को चीनी साम्यवादी दल के समाचार पत्रों ने आरोप लगाया कि अमरीका और रूस मिलकर सारे ससार पर प्रभुत्व स्थापित करने की योजना पर चल रहे हैं।

1965 के दौरान वियतनाम युद्ध की सैनिक स्थिति में पर्याप्त उन्नति हुई, जबकि 1964 में वियतनाम की प्रमुख शक्ति 30,000 व्यक्तियों की थी, 1965 में यह 80,000 तक हो गई। इसमें उत्तरी वियतनाम के 'वियतमिन्ह' नामक दो डिवीजन और मिल गए। तीन डिवीजन सेना दक्षिणी वियतनामी व अमरीकी सेनाओं के समान ही उत्तम शस्त्रास्त्रों से लैस थी। कहा जाता है कि इनमें से अधिकतर शस्त्र चीन व रूस से प्राप्त किये गए थे। अमरीकी 'सैन्यबल' 55,000 तक जा पहुंचा। उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति हो ने अमरीकी सरकार पर युद्ध को विस्तृत बनाने व 'नृशंसतापूर्वक' लड़ने का आरोप लगाया। अमरीकी अधिकारियों ने आरोप लगाया कि चीन पहले सारे वियतनाम पर फिर लाओस व कम्बोडिया पर, फिर थाइलैण्ड व बर्मा पर और अन्ततः सारे एशिया पर अधिकार जमाने की योजना बना रहा है।

अमरीका और वियतनाम—आज अमेरीका वियतनाम युद्धमें इतना उलझा दिखलायी पड़ता है उतना शायदही कोई अन्य दूसरोंके लिए उलझा हो। चारों ओरसे प्रालोचना के उपरांत भी वियतनाम प्रश्न 'अमरीकी प्रतिष्ठा' का प्रश्न बन गया है। ऐसा लगता है कि युद्ध उत्तरी वियतनाम और अमरीका के बीच हो रहा है। अमरीका वियतनाम की सहायता के लिए क्यों आया? अमरीका द्वारा पांच लाख से भी अधिक

सैनिक, करोड़ों डालर की वार्षिक सहायता देना, और जगह जगह दक्षिणी वियतनाम को घोर से दबालत करना क्यों स्वीकार किया है ? बिना राष्ट्रीय हित के कोई भी देश चाहे बड़ा हो या छोटा, झगडा करना नहीं चाहेगा। यह बात सबविदित है कि वार्षिक दृष्टि से अमरीका को वीयतनाम में कोई स्वायत्त हल होता नहीं दिखता। सतत युद्ध के कारण, अमरीकी अर्थ व्यवस्था ही अस्त व्यस्त हो गयी है। राजनतिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि चीन के साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए वियतनाम प्रथम व्यवह है। अमरीका यह मानता रहा है कि यदि दक्षिण पूर्वी एशिया में चीन के प्रभाव को नहीं रोका गया तो यह क्षेत्र साम्यवादी हो जायगा। अतः कम्युनिस्टों की चालबाजियों और आक्रमक कार्यवाहियों से द० वियतनाम का शासन प्रजातांत्रिक प्रणाली से चले, साम्यवादी शासन नहीं घोषा जाये। विभिन्न विचार, जो समय समय पर प्रसारित किये गये, अमरीका के वियतनाम में निम्न उद्देश्यों को प्रकट करते हैं—

1 अमरीका चाहता है कि वियतनाम की समस्या को जेनेवा सम्मेलन के अनुसार हल किया जायें।

2 अमरीका द० वियतनाम की स्वतंत्रता तथा आक्रमण से रक्षा चाहता है।

3 द० वियतनाम की जनता द्वारा ही यह निश्चय किया जा सकता है कि वे एकीकरण चाहते हैं या नहीं।

4 अमरीका द० वियतनाम को वार्षिक सहायता देकर उसका रहन सहन, जीवन पद्धति सुधारना चाहता है।

अमरीका ने वियतनाम को प्रारम्भ से ही सहायता की है। सबसे प्रथम 1945 में रूजवेल्ट प्रशासन ने ही चीन को सहायता दी। 1950-54 तक अमरीका ने फ्रांस को हिन्द चीन के विकास के लिए सहायता दी। 1954 की 'सीएटो सॉमि' में वीयतनाम को 'प्रोटोफल क्षेत्र' के नाम से माना गया और यदि वीयतनाम सहायता के लिये प्रार्थना करेगा तो सहायता देना सन्धि के राष्ट्र अपना कर्तव्य समझे।

विलियम ब्रॉडी का विचार है कि जेनेवा सम्मेलन के 'एकीकरण सम्बन्धी चुनाव बलॉज' का तात्पर्य 'जनमत' (Plebiscite) से है। यदि जनमत चाहेगा तो एकीकरण होगा अन्यथा नहीं। साम्यवादियों ने आक्रमण करके, उत्तरी वियतनाम में अथर्व राजनीतिक हत्याओं द्वारा, इस बलॉज का महत्व घटा दिया। राष्ट्रपति नेही, जब सेनेटर ये उन्होंने स्पष्ट कहा था कि चुनाव सम्बन्धी परिस्थितियाँ ही

American interest in the affairs of South Vietnam streams from U S policy to restrain China from spreading its influence in the region,  
—Current Affairs Act, 1965,

वियतनाम में नहीं रही। अमरीका ने दक्षिण वियतनाम की ओर से उत्तर पर बम बारी की, जिसका समूचे विश्व जनमत द्वारा प्रतिरोध किया गया। भूतपूर्व सेनेटर रोबर्ट केनेडी, जॉनसन की वियतनाम नीति के कटु आलोचक थे। लाखों की तादाद में सैनिक, आधुनिक शस्त्र आदि का उपयोग करने के उपरान्त भी अमरीका वियतनाम को सैनिक बल पर नहीं जीत सका अतः १ अप्रैल १९६८ को राष्ट्रपति जॉनसन ने शान्ति के लिए वार्ता हेतु ३० वियतनाम के कुछ क्षेत्रों पर बमबारी बंद करने का आदेश दिया।

अन्य देशों की वियतनाम नीति—चीन और रूस उत्तर वियतनाम को सहायता दे रहे हैं ताकि साम्यवादी देश की विजय हो। यह बड़ी विचित्र राजनीति है कि रूस चीन में मतभेद होते हुए भी दोनों ही सहायता के लिए कटिबद्ध हैं। यद्यपि एन्ग्लेव ने कुछ दिनों के लिये उत्तर वियतनाम को सहायता देने में चुप्पी साध ली थी तथापि कोसीजन भरपूर सहायता दे रहे हैं। शस्त्रों, दवाईयों, वायुयानों आदिकी सहायता के बावजूद रूस अमरीकी साम्राज्यवादी नीति की आलोचना कर रहा है। चीन ने भी जहाँ तक एक ओर उत्तर वियतनाम के साहस और धैर्य को ऊँचा उठाया है वहाँ आर्थिक सहायता भी दी है। कुछ कम्युनिस्ट देश जैसे चेकोस्लोवाकिया आदि ने भी सहायता दी है। भारत अमरीकी बमबारी का घोर विरोधी रहा है। अन्य देशों का जनमत अमरीकी वियतनाम नीति के प्रतिशूल है। किन्तु आस्ट्रेलिया, जापान, थाईलैण्ड, फिलिपाइन्स आदि अमरीका की हानि में हानि मिला रहे हैं। एक बात अवश्य है कि रूस वियतनाम प्रश्न पर विरोध में खुले तौर पर सामने नहीं आया है। जितना कि मध्य एशिया के प्रश्न पर। अन्य पड़ोसी राज्यों में कम्बोडिया और लाओस तटस्थ होते हुए भी चीनी नीति से प्रभावित हैं।

वियतनाम में शान्ति के लिए प्रयास—वियतनाम की गुराही का हल शान्ति स्थापना के उपरान्त ही हो सकता है, शान्ति के लिए प्रयत्न नहीं किये गये हो, ऐसी बात नहीं है फिर भी इस समस्या का सम्बन्ध राष्ट्रीय इज्जत से जोड़ दिया गया है इस यह जटिल से जटिलतर बन गयी, संयुक्त राष्ट्र सभ के महा सचिव ऊ पाट ने कहा था कि समस्या उलझी रहेगी क्योंकि दोनों पक्षों को सैनिक विजय में विश्वास है। किन्तु यह बात सब विदित है कि तीन वर्षों के इस सम्बन्ध युद्ध ने जन, पन का विनाश कर समूचे वियतनाम की आन्तरिक शान्ति को विघटित कर दिया है।

अमरीकी राजनयकों का यह कथा है कि वे वियतनाम में स्थायी शान्ति चाहते हैं और इसलिए उन्होंने 1965 में मई महिने में 5 दिन और 20 घण्टों के लिये बमबारी बन्द कर दी तथा हनोई से शान्ति वार्ता के लिए पहल करने को कहा किन्तु उनको प्रस्ताव का प्रत्युत्तर सासी कामज पर हनोई द्वारा भेजा गया। इसी प्रकार 1965 के दिसम्बर व 66 के जनवरी में 36 दिन, 15 घंटे के लिये, फरवरी 1967 में 5 दिन 18 घंटे के लिये बमबारी बंद कर दी। किन्तु हनोई ने इसका

उत्तर पोप के द्वारा अभ्यवहारिक ढंग से दिया जिसमें कहा गया कि अमरीका को अपनी आक्रामक कायवाहियाँ बद कर, इस क्षेत्र से प्रस्थान कर देना चाहिये तभी स्थायी शांति स्थापित की जा सकती है। अमरीका का विचार है कि यदि द० वियतनाम की स्मृतनता को मान लिया जाये, यदि हनोई सब प्रकार की आक्रामक कायवाही बद करदे तो शांति के लिये सफल वार्ता हो सकती है।

इसके विपरीत उत्तरी वियतनाम ने अपने चार सूत्रों का शांति स्थापना के लिये रामबाण प्रयोग के रूप से उनकी बार बार वक्तव्य की है—वे इस प्रकार हैं—

1 स० राज्य अमरीका का पूर्ण प्रस्थान। अमरीकी सेना हटा ली जायें।

2 द० वियतनाम के भविष्य का निर्धारण वीतकाँग संगठन की नीतियों के अनुसार हो।

3 जेनेवा सम्मेलन को मान्यता दी जाये तथा,

4 वियतनाम के दोनों खण्डों का शांतिपूर्ण एकीकरण हो।

दोनों ओर के विचार एक दूसरे के विरोधी हैं, दोनों जेनेवा सम्मेलन की मिश्र मिश्र व्याख्या करते हैं। इनमें सामंजस्य स्थापित करवाने हेतु 1967 में पोप ने राष्ट्रपति 'हो' से वार्ता की किंतु व्यर्थ। इसपर द० वियतनाम का कहना है कि वह जेनेवा सम्मेलन मानने के लिए बाध्य नहीं है क्योंकि उसने इसे स्वीकार ही नहीं किया था, यह कानूनी सन्धि नहीं है।

किंतु परिस्थितियाँ राजनीति की करवटें बदल देती हैं। दिसम्बर 1967 से पहले वीएटकाँग तथा साम्यवादियों ने अमरीकी सैन्य के धक्के छुड़ा दिये। स्वयं अमरीका में जानसन प्रशासन के विरुद्ध आवाजें उठने लगी। अमरीकी राष्ट्रपति का चुनाव भी निकट आने लगा। विश्व जनमत अमरीका के विरुद्ध था ही, ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति जॉनसन ने 1 अप्रैल 1968 को अमत्वारिक घोषणा करते हुए कहा कि 'शांति की छोज में वियतनाम में तत्काल अमरीकी सैन्य को खींचा जायें'। इसे उन्होंने शांति की दशा में पहला कदम कहा। हनोई ने भी कुछ समय बाद 'हो ना' करते हुये सकारात्मक कदम उठाये। पेरिस की शांति वार्ता का स्थान चुना गया।

पेरिस वार्ता—10 मई 1968 से पेरिस वार्ता शुरू होना निश्चय हुआ। 9 मई को ही दोनों दलों के प्रतिनिधि पेरिस पहुँच गये। द० वियतनाम की ओर से अमरीका वार्ता में भाग ले रहा है। अमरीकी दल के नेता एक्सील हेरीमेन हैं तथा उ० वियतनामी दल के नेता भि० युई हैं। तब से लेकर आज तक (15 अगस्त 68 तक) कई बार वार्ता हुई, एक दूसरे दल को कोसा गया प्रत्येक ने एक दूसरे को साम्राज्यवादी, प्रतिक्रियावादी कहा, तथापि वार्ता का क्रम चल रहा है, कोई अमर्याद रिक्त निराप नहीं लगा गया। यह बड़ा विचित्र दिसमायी दे रहा है कि दोनों ओर के सैनिक भी लड़ रहे हैं और कूटनीतिज्ञ भी। यदि कूटनीतिज्ञ सफल हो गये तो युद्ध का कोई हल निकल आयेगा।

## वियतनाम युद्ध—नये परिणाम

वियतनाम युद्ध दक्षिणी पूर्वी एशिया के लिए नहीं भविष्य सम्पूर्ण एशिया में एक नया आयाम लायेगा। यदि भूमरीका वियतनाम से हटता है तो इस क्षेत्र में 'शक्ति शून्य' (Power Vacuum) हो जायेगा, चीन का प्रभाव बढ़ेगा, इस क्षेत्र के छोटे छोटे राज्य भयभीत होकर क्या रास्ता अपनायें, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इससे एशिया में भूमरीकी प्रभाव को जबरदस्त धक्का लगेगा। उत्तरी वियतनाम की बीरता का झूठा पाठ दुनिया के भयभीत राष्ट्रों को सीखना चाहिये। भूमरीका वियतनाम में जहाँ एक ओर साम्यवादियों से लड़ रहा है वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रवादियों से। उनके लिये हानि की बात यह है कि ये एक विदेशी हैं। चाहे कुछ भी हो किन्तु सिंगोपुर के प्रधानमंत्री के इन विचारों में सत्यता अवश्य है—'दक्षिणी एशिया, दक्षिणी पूर्वी एशिया यहाँ तक की एशिया का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि आने वाले वर्षों में वियतनाम की गुत्थी का क्या हल निकलता है ?'

### समस्या का समाधान कैसे ?

वियतनाम समस्या दिन ब दिन उलझती जा रही है और ऐसा लगता है कि अपने समाधान से कोसों दूर है। आखिर क्या कारण है कि विश्व जनमत भी नहीं चाहते हुए भी वियतनाम युद्ध की होली खेल रहा है ?

समुक्त राष्ट्र सभ, राष्ट्रमण्डल, तटस्थ गुट या अन्य कोई सस्या एक कारगर कदम उठाने में असफल है ? क्यों व्यक्तिगत भयवा सामूहिक रूप से किये गये शान्ति के प्रयासों का असुना कर उनका मजाक उड़ाया जा रहा है। इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि जो इस समस्या को उलझाये हुए हैं वो विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में से हैं और अपने स्वार्थों की भावित नैतिकता भयवा मानवीयता के नाम पर देना उनके शर्म कोप से शायद उपयुक्त नहीं। शक्ति और सामर्थ्य ने उनके मस्तिष्क विकृत कर दिये हैं।

वियतनाम एक राजनीतिक समस्या है मत उसका हल सैनिक शक्ति से न तो सम्भव है, न योग्यचित हो। विश्व के सभी युद्धप्रिय देश यह समझें कि वो स्थिति बदल रहे हैं जब किसी की कमजोरी से व अपनी सामर्थ्य से नाजायज फायदा उठाया जा सकता था। अपनी शक्ति का वास्ता देकर, डरा धमकाकर या भय दबाव डालकर अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धी की जा सकती थी। वे लोग अब नहीं रहे, वे धारणाएँ, विचारधारणें नहीं रही। परिस्थितियों में आमूल छून परिवर्तन हो चुका है। आत्म स्वामिमान राष्ट्रों की नसों में खून बनकर दौड़ रहा है। एशिया व पफीका का अभ्युदय हो रहा है और ये महाद्वीप अब किसी भी सूरत में विदेशी शक्तियों को चाहे वो कोई भी हो, हाथों की कठपुतली बन कर नहीं रह सकते। मत वियतनाम समस्या का हल धैर्य व शान्ति से निकालना ही होगा।



## भारत की विदेश नीति

स्वतंत्रता के पूर्व — भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के पूर्व भारत की कोई विदेश नीति नहीं थी। उस समय प्रत्येक दूसरे राष्ट्र से भारत के सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित किये जाते थे। यद्यपि स्वतंत्रता संग्राम के प्रारम्भ होने के बाद ब्रिटिश सरकार के निष्कर्षों व प्रति भारत की प्रतिक्रिया अवश्य प्रारम्भ हो गई थी जो समय समय पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा पारित प्रस्तावों द्वारा अभिव्यक्त होती थी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् कांग्रेस का ध्यान विदेश नीति की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ और भारत की राष्ट्र सभ्य की सदस्यता प्राप्त होने पर वह विदेशी सम्बन्धों के क्षेत्रों में क्रियाशील होने लगा। 1919 के वेरिस सम्मेलन में भारतीय सदस्य ने भाग भी लिया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सभ की काय कारिणी में सन् 1931 में अतुलचन्द्र बटर्जी स्थायी समिति के अध्यक्ष चुने गये थे। राष्ट्र सभ के अनेक कार्यों में भी भारत अत्यधिक सक्रिय रहा। सन् 1920 से लेकर 27 तक भारतीय कांग्रेस ने अनेक प्रस्ताव पास किये थे जिनसे भारत की विदेश नीति की रूप रेखा प्रस्तुत हो जाती थी। उदाहरणार्थ—भारत सभी देशों के साथ और विशेषकर पड़ोसी राष्ट्रों के साथ सदा सहकारिता का व्यवहार करेगा, पराधीन देशों के स्वाधीनता एवं समानता आन्दोलनों का सदैव समर्थन करेगा, जातीय भेद नीति का विरोध करेगा, साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के प्रत्येक रूप का विरोध करेगा। शांति स्थापना एवं साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध करेगा शांति स्थापना एवं साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध में सदा तयार रहगा आदि प्रस्ताव पारित किए गये थे।<sup>1</sup> 1930 से आगे वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर भारत ने अपने मत व्यक्त किए थे। नाजीवाद, फासीवाद आदि अधिकनायकवादियों के आक्रमण के समय भारत उनकी ओर निन्दा करता था। सन् 1937-38 में जापान द्वारा चीन पर आक्रमण करने पर भारत ने आक्रमणकारी की, केवल निन्दा ही नहीं की बल्कि सहानुभूति के रूप में चीन में स्वास्थ्य मिशन भेजने का निष्ण भी किया। इस प्रकार कांग्रेस ने प्रांतीय स्वतंत्रता के समय विदेश नीति के सम्बन्ध में एक अलग विभाग स्थापित कर दिया था तथा पंडित जवाहर लाल नेहरू उसके अध्यक्ष बने थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय कांग्रेस नाज़ियों के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार का सहयोग करने के लिए प्रस्तुत थी, किन्तु ब्रिटिश सरकार अपने ढंग में सहायता चाहती थी, इसलिए फिर कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने पद त्याग दिये और अपनी स्वतंत्र नीति की रक्षा की। सुभाष चन्द्र बोस द्वारा सम्स्थापित (I N A) भारत की

राष्ट्रीय सेना भी स्वतन्त्र थी, जापानियों के प्रभाव में नहीं थी। इसके प्रतिरिक्त मल्टीनैटिवालिस्ट चार्टर एव चार स्वतन्त्रताओं के प्रति भी भारत का व्यवहार सहानुभूति पूर्ण रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर जब जापान के युद्ध बन्दियों पर अभियोग चलाया गया, उस समय अभियोग के लिए टोकियो स्थित भारत के प्रतिनिधि श्री राधाविनोदपाल को अपना विरोधी नियुक्त किया। यह भारत का विश्व सहकारिता के प्रति भुकाव होने का प्रमाण है। स्वतन्त्रता होते ही भारत ने शीघ्र ही विश्व के अधिकाधिक देशों से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति पर विदेश नीति का दृष्टिकोण—2 सितम्बर 1946 को जब अन्तरिम सरकार का निर्माण किया गया उसके 5 दिन पश्चात् पण्डित नेहरू ने भारत की विदेश नीति के सम्बन्ध में अपनी घोषणा की। “हम दूसरे देशों से निकट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं और विश्व शांति व स्वतन्त्रता को प्रमत्त करने में हम उनके सहयोगी हैं। हम जहाँ तक सम्भव हो सके शक्ति राज-नीति ब्लाक राजनीति से पृथक् रहना चाहते हैं। हम उपनिवेशों की स्वतन्त्रता में अत्यधिक इच्छुक हैं और उन्हें साम्राज्यवादी चंगुल से मुक्त कराने में सहायक होना चाहते हैं।”<sup>2</sup>

8 मार्च 1948 को लोक सभा में विदेश नीति पर प्रकाश डालते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था कि बड़े राष्ट्रों की पारस्परिक विरोधी गुटबन्दियों से पृथक् रहना तथा प्रत्येक राष्ट्र से मित्रता, बिना सधि सामरिक, सैन्यवा प्रसामरिक। जो कि हमें किसी लड़ाई की ओर ले जाये—से सम्बन्ध न रखना ही हमारी विदेश नीति का मूल आधार है। नेहरू ने लिखा हमारी विदेश नीति दोनों बड़ी बड़ी महा-शक्तियों के साथ मित्रता रखते हुए भी उनसे पृथक् रहने के पक्ष में है। यद्यपि यह एक कठिन मार्ग है क्योंकि समय समय पर इधर-उधर झुकना सदेहात्मक समझा जा सकता है किन्तु स्वतन्त्र नीति में इससे छुटकारा भी नहीं पाया जा सकता<sup>3</sup> इसलिए भारत ने निगुट नीति (Policy of non alignment) का निर्माण किया।

भारत के विदेश नीति के आधार—विदेश नीति के वास्तविक तत्वों का विवेचन करने से पूर्व यह धनिवाम है कि उसके आधारभूत तत्वों का उचित मूल्यांकन कर लिया जाय। आधारभूत तथा विदेश नीति अनेक तत्वों के आधार पर विकसित होती है। ये तत्व प्रधान रूप से भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति इन तत्वों से प्रभावित होती है। भारत के भूतत्त्व प्रधान मंत्री को तटस्थता अथवा पड़ोसी राज्यों के प्रति जैसे ईरान, इराक, अफगानिस्तान, नेपाल,

2 Broadcast from New Delhi Sept 7, 1946,  
(Publication Division,) P 13

3. K. P. S. Menon Many worlds P. P. 229-230,

प० नेहरू ने भी अपने 15 मार्च सन् 1950 के भाषण में सदन के सामने यह विचार रखा था कि हम एशिया के ऐसे महत्वपूर्ण भाग में स्थित हैं जहाँ हिंद महासागर का मध्य है, पश्चिमी एशिया के प्राचीन और अर्वाचीन सम्बन्ध हमारे साथ हैं। इसलिए भारत की स्थिति प्रत्येक रूप में महत्वपूर्ण है। अपने प्राचीन सम्बन्धों के कारण ग्रेट ब्रिटेन आदि से गहरे सम्बन्ध हैं। भौगोलिक तत्वों के आधार पर भारत ग्रहा, लवा, मलाया, हिंद चीन, स्याम, नीदरलैंड आदि के प्रति मंत्री भाव अपनाता अनिवार्य हो जाता है। इसी के साथ इन देशों से प्राप्त तेल की प्राप्ति, वहाँ रहने वाले भारतीयों की हित की रक्षा तथा हिंद महासागर में व्यापार आदि की सुरक्षा के कारण भारत की विदेश नीति प्रभावित होती है।

विदेश नीति के निर्धारण में ऐतिहासिक परम्पराएँ भी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उदाहरणार्थ भारत का इङ्ग्लैण्ड से सम्बन्ध, साम्राज्य सत्तवीय प्रणाली, अंग्रेजी भाषा का उपयोग आदि चीजें दोनों देशों को भिन्न बना देती हैं। राष्ट्र मण्डल के द्वारा ये सम्बन्ध और भी गम्भीर हो जाते हैं। इसी प्रकार भारत व चीन के सम्बन्ध ऐतिहासिक हैं। हजारों वर्ष पूर्व चीन और भारत में बौद्ध स्थापित हुई थी वही आज एशिया के इतिहास का मुख्य आधार बन गया है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन समय से ही भारतवर्ष शांति प्रिय रहा है और उपनिवेशवाद विरोधी नीति भी भारत ने आरम्भ से ही अपनाई है। ये सभी ऐतिहासिक तत्व भारत की विदेश नीति का सुदृढ़ आधार हैं।

दार्शनिक आधार भी विदेश नीति के लिए महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से भारत के पास "महामात" एवं "अथशास्त्र के बृहद प्रथ" विद्यमान हैं। सैकड़ों वर्षों के पश्चात् भी आज हमारी वर्तमान समस्याओं का हल इस साहित्य की सहायता से ही सुन्दर रूप में मिलता है। बौद्धिक के अथशास्त्र के अनुसार आज भी ऐसे लोक राज्य का सिद्धांत विकसित हुआ है जो शक्ति पर आधारित है। विदेश नीति में भी हमारा प्राचीन दर्शन पथ प्रदर्शन का कार्य करता है परन्तु वह दर्शन पूर्ण रूप से नहीं अपनाया जा सकता। उदाहरणार्थ—बौद्ध धर्म के सिद्धान्त विदेश नीति में नहीं अपनाये जा सकते, अहिंसा का सिद्धांत, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। इसलिए भारत की विदेश नीतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह पूज्य बापू के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित है। परन्तु वास्तव में जो सिद्धांत आधारभूत माने गये हैं वे कुछ और ही हैं। साम्राज्यवाद का विरोध विदेशी गठबन्धन से दूर रहना तथा शांति का समर्थन करना आदि सिद्धान्त आधार माने जा सकते हैं। साम्यवाद एवं साम्प्रदायिकता का विरोध करने के लिए अथवा आरक्षक आदि समस्याओं का हल करने के लिए भारत ने अहिंसा को नहीं अपनाया। इस प्रकार आन्तरिक एवं बाह्य क्षेत्रों में भारतवर्ष अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करता है।

वर्तमान मार्क्सवादी दशन के अनुसार पूँजीवादी उपनिवेशवाद आदि का विरोध किया जाता है तथा स्वतंत्रतावाद, विधानवाद, आदि के सहयोग ने नीति का निर्धारण किया जाता है। भारत के आदर्श के अनुसार किसी देश विशेष से कोई राग द्वेष नहीं माना जाता, इसलिए सोवियत पद्धति की प्रशंसा के साथ साथ उनके अनुचित साधनों की निन्दा भी की जाती है। जिसके फलस्वरूप भारत का व्यवहार स्वतः तटस्थ हो जाता है। इस प्रकार दार्शनिक तत्वों का प्रभाव भारत की विदेश नीति पर स्पष्ट रूप से है।

भारत की विदेश नीति के निर्माण में आर्थिक तत्वों का विशेष स्थान है। हमारे भारत की कृषि तथा उद्योग का विकसित होना, विदेशी सहायता की आवश्यकता बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिए भारत ने ऐसी नीति अपनाई है जिससे इङ्ग्लैण्ड, अमेरिका रूस, जर्मनी, जापान आदि सब देशों से सहायता मिल सके। इसलिए तटस्थता और शांति की नीति अविनाश है। इसके प्रतिरिक्त हमारी विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत पूर्ण प्रयत्न के साथ हमारा निरन्तर आर्थिक विकास होता रहे, राष्ट्रीय हित सुरक्षित रहे, ऐसी नीति अपनाई गई है। इसलिए कभी हमारी नीति अमेरिका साम्यवादी तो कभी सोवियत रूस को पूँजीवादी प्रतीत होती है। भारत का अधिकांश व्यापार राष्ट्र मण्डल तथा अमेरिका से है परन्तु साम्राज्यवादी देशों की आर्थिक सहायता भी पूर्णरूप से प्राप्त हो रही है। इसलिए भारत की विदेश नीति आर्थिक साधनों द्वारा भी प्रभावित निर्धारित हुई है।

भारत की विदेश नीति में कुछ व्यक्तिगत तत्व भी प्रधान रहे हैं। श्री कटारके के कथनानुसार यह सही है कि "पश्चिम की शक्तियों के प्रति हमारा व्यवहार भले नेहरू की व्यक्तिगत धारणाओं के अनुसार निर्धारित हुआ है तथा उन धारणाओं को क्रियावित करना ही हमारी विदेश नीति बन गई।" 5 सन् 1947 में जब इण्डोनेशिया का प्रश्न अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सम्मुख आया तो सरदार पटेल ने कहा—“इण्डोनेशिया कहाँ है और इस पर हमारा क्या रस है यह नेहरू का विषय है और वे ही केवल मात्र इस पर अपना मत दे सकते हैं।” यह उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि नेहरू के व्यक्तित्व का भारत की विदेश नीति के निर्माण में अत्यधिक प्रभाव था। किन्तु इस आधार पर यह दोष लगाना भी अनुचित होगा कि भारत की विदेश नीति नेहरू नीति है। पण्डित नेहरू ने यह स्पष्ट किया था कि यह नीति मैंने उत्पन्न नहीं की भारत की परिस्थितियों के फलस्वरूप इसका निर्माण हुआ है मेरे स्थान पर यदि अन्य कोई व्यक्ति होता या दूसरा दल होता तो भी विदेश नीति इससे अधिक भिन्न नहीं हो सकती थी।” 6

5 D F Karaka "Nehru the Loser Eater from Kashmir P 20

6 Lok Sabha Debates Dec 9, 1958 Vol XXIII P 3961

इसी भाति गांधी के व्यक्तित्व तथा विचारों पर विदेश नीति का प्रभाव पड़ा है। महात्मा गांधी का दृष्टिकोण उच्च साध्य व उच्च साधन भारत की विदेश नीति के आधार रहे हैं। महात्माजी का कथन था कि “राजनीति के अंतर्गत भी ऐसे कार्यों को सदैव पृथक् रखा जाय जो नैतिक कानून के विपरीत हो।” गांधीजी विश्व शांति पर बहुत अधिक जोर डालते थे और राष्ट्रीय विषयों के प्रति उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण था इस प्रकार गांधी के प्रभाव के कारण हमारी विदेश नीति पर नैतिकता का तत्त्व बहुत जुड़ा हुआ है।

उपयुक्त तत्वों के अतिरिक्त कूटनीतिक सेवा जिसका निर्माण हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हुआ है तथा राष्ट्रीय हित भारत के विदेश नीति के मूल आधार हैं। साधारणतया यह कहा जाता है कि भारत विदेश नीति प्रतियोगिक हितों एवं प्रभावों का दायण है उचित ही जान पड़ता है। एशिया व अफ्रीका का विश्व में प्राधाय बढ़ता जा रहा है और भारत को रूस व अमेरिका के प्रति दृष्टिकोण इन दो प्रायद्वीपों के सहज प्रवृत्तियों से सम्बंधित हैं।

### असलग्नता की नीति—

असलग्नता नीति भारत ने साध्य व साधन दोनों रूप में इसे का प्रयोग किया है। देश विदेशों में भारत की विदेश नीति के उद्देश्य के रूप में इस नीति का प्रयोग किया गया है। असलग्नता की नीति का अभिप्राय है कि भारत किसी भी राजनैतिक शक्ति गुट में सम्मिलित नहीं होगा। इसके अंतर्गत भारत किसी देश विदेश से कोई प्रतिज्ञाए नहीं करता जिसके कारण वह एक देश का मित्र व दूसरे देश का शत्रु बन जाय।

नेहरू के शब्दों में—“यदि हम किसी भी गुट में सम्मिलित हों तो कुछ लाभ हो सकते हैं किन्तु मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि गुट में मिलने से भारत ही नहीं बल्कि विश्व शांति की दृष्टि से अहित कर सिद्ध होगी।”

स्वर्गीय पण्डित नेहरू जब रूस में एक भोज पर आमंत्रित किये गये तो तत्कालिक प्रधान मंत्री जी श्री बुलगानीन ने कहा था कि “प्रधान मंत्री जी अगर हम मित्र हैं तो जीवनोपरांत मित्र हैं और अगर शत्रु हैं तो वटुर शत्रु। भारत के प्रधान मंत्री नेहरू ने जवाब में कहा मि० प्राइमिनिस्टर हमारा कोई दुश्मन नहीं है।” निगुट नीति का दूसरा अभिप्राय स्वतंत्र मतव्य का अधिकार अर्थात् भारत अन्तर्राष्ट्रीय मतसों पर स्वतंत्र मत प्रकट करने के पक्ष में है। नेहरू ने कहा कि यदि हम गुट में सम्मिलित हो जाए तो हम स्वतंत्र मत प्रकट नहीं कर सकते।”

इसी लिए भारत निशस्त्रीकरण जातीय भेद नीति, उपनिवेशवाद, कोरिया हिन्द चीन आदि मसलों पर स्वतन्त्र मत व्यक्त करता है। इसका तीसरा अभिप्राय शांतिवाद का समर्थन करना है। इसी लिए भारत समुत्तराष्ट्र संधि के प्रतिरिक्त सभी विश्व शांति से सम्बन्धित सस्थाओं का सक्रिय सदस्य बना रहा है। इसका चौथा अभिप्राय विश्व मसलों पर भारत का निष्पक्ष व विशुद्ध मत जो वस्तु स्थिति पर निर्भर कर देना है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत विश्व में तीसरा गुट या शक्ति बनाना चाहता है और न मुनरो ग्रयवा आइजनहावर के सिद्धांत की भांति किसी प्रकार नेहरू सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यह अवश्य है कि इस नीति द्वारा विश्व में ऐसा क्षेत्र प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ युद्ध की निंदा व शांति की प्रशंसा की जाती हो तथा सहकारिता में झटूट विश्वास किया जाता हो इस प्रकार विश्व के तनाव को कम कर शांति का क्षेत्र व्यापक बनाना भारत की नीति का एक मात्र उद्देश्य कहा जा सकता है।

कुछ भ्रमात्मक प्रश्न—पण्डित नेहरू ने समय समय पर अपने भाषणों द्वारा हमारी विदेश नीति के सम्बन्ध में तीन प्रकार के भ्रमात्मक मतों का खण्डन किया और उसका शुद्ध रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। 8 मार्च 1949 का उन्होंने बताया कि हमारी असलग्नता की नीति का उद्देश्य विश्व राष्ट्रों से सहयोग में काम करना नहीं है।

दूसरा असलग्नता की नीति का उद्देश्य तटस्थता नहीं है। उन्होंने बताया कि शांति काल में तटस्थता की नीति का कोई महत्व नहीं होता यद्यपि शीत युद्ध से भारत पृथक् रहना चाहता है किन्तु तटस्थता के पारम्परिक अर्थ से यह दृष्टिकोण भिन्न है। 22 नवम्बर 1960 को लोकसभा में दिये गये भाषण में तटस्थता व निगुट नीति विच्छेद उन्होंने स्पष्ट किया।

तीसरा, पण्डित नेहरू ने बताया कि असलग्नता की नीति का यह भी अभिप्राय नहीं है कि जब विश्व युद्ध हो तो भारत तटस्थ रहेगा। अर्थात् विश्व के प्रमुख मसलों पर भारत की विदेश नीति हमें निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाती।

पंचशील का सिद्धांत—1954 में भारत की विदेश नीति का फिर इसका विस्तार व स्पष्टीकरण किया गया। इसने 5 प्रमुख दृष्टिकोण स्पष्ट किये गये और पंचशील के नाम से ये प्रचलित हुए। पंचशील का सिद्धांत साधारणतया अशोक लेख एवं बुद्ध के सिद्धांतों का स्मरण कराते हैं। वैसे भी पंचपरमेश्वर आदि के रूप में तथा मुसलमानों के यहाँ पाँच रिवाजों का महत्व प्राचीन काल से चला आता है उसी के आधार पर 28 अप्रैल, 1954 को तिब्बत के सम्बन्ध में भारत चीन सम्झौते के साथ निम्न पाँच सिद्धांतों को स्वीकार कर पंचशील की नीति अपनाई गई —

- (1) पारस्परिक भौगोलिक एकता एवं भावभौमिकता के प्रति सम्मान रखना ।
- (2) भ्रातृमण्डल का विरोध करना ।
- (3) पारस्परिक गृह कार्यों में हस्तक्षेप न करना ।
- (4) समानता तथा परस्पर लाभ पहुँचाना ।
- (5) शांतिपूर्ण सह-भास्तिव्य की भावना ।

उपरोक्त पाँच सिद्धान्त 23 सितम्बर, सन् 1954 को हि-देशिया के प्रधान मन्त्री के सम्मान में आयोजित दत्ते हुए प० नेहरू ने पञ्चशील के नाम से पुकारे । तत्पश्चात् 17 अक्टूबर 1954 को वियतनाम के राष्ट्रपति डॉ० होचिमीन्ह ने भी स्वीकार किये । तत्पश्चात् यूगोस्लोवाकिया, ब्रह्मा, चीन, लाओस, नेपाल तथा कम्बोडिया ने भी नियमित रूप से अपनी स्वीकृति दी और 10 अप्रैल-1955 को नई दिल्ली में चौदह देशों से 200 प्रतिनिधियों ने जो एशिया सम्मेलन में भाग ले रहे थे, पञ्चशील का समर्थन करने का प्रस्ताव पारित किया । तत्पश्चात् अफगानिस्तान, सीरिया, सऊदी, अरब आदि ने भी इस सिद्धान्तों की प्रशंसा की । अप्रैल 1955 में बाङ्गु सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका के 29 देशों ने पुनः इन सिद्धान्तों के समर्थन एवं पालन करने के लिए विचार किया । इसी समय पञ्चशील में मानव के भौतिक अधिकारों एवं सम्मत अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिमय ढंग से निपटाने के दो विचार और जोड़े गये । आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, आदि देशों ने पञ्चशील की प्रशंसा की । इस प्रकार पञ्चशील विभिन्न देशों की, समानता तथा परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का समर्थन करता है । शांतिपूर्ण सह-भास्तिव्य इस नीति का प्राण है ।

1962 के चीनी भ्रातृमण्डल और 1965 के पाकिस्तान द्वारा भ्रातृमण्डल किये जाने पर भारत की विदेश नीति के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हुई । क्या पञ्चशील भारत की विदेश नीति का आधार बना रहेगा और क्या विमुख परिस्थितियों में भारत असह्यता की नीति का परित्याग नहीं करेगा ? इस सम्बन्ध में प० नेहरू ने चीनी भ्रातृमण्डल के पश्चात् फिर एक बार यह स्पष्ट किया कि भारत विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भी असह्यता नीति का परित्याग नहीं करेगा । किन्तु यह सब विदित है कि दो भ्रातृमण्डलों ने सुरक्षा के प्रश्न को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है और इसके दौरान में यह प्रश्न उठने लगा है कि भारत शक्ति गुट में सम्मिलित हो अणु बम बनाए और सैन्य शक्ति पर बल दे । किन्तु जमा कि 1962 और उसके पश्चात् की घटनाओं से स्पष्ट है कि भारत ने सह्य नीति का परित्याग नहीं किया यद्यपि देश की विदेश नीति को राष्ट्र हित तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण से अतृप्त सक्रिय बनाने के लिए अग्रसर किया जा रहा है । इस प्रकार सुरक्षा और राष्ट्र हित के प्रश्न

1962 के बाद असलगतता की नीति के प्रमुख आधार बने । ५० नेहरू की मृत्यु के पश्चात् इन दो प्रश्नों को हल प्रदान करने के हेतु यथायथा की दृष्टि से पड़ोसी राष्ट्र सम्बन्धों पर ( Good neighbour Policy ) जोर दिया और इसके फलस्वरूप भारत सरकार ने पूरा सन्धियता के साथ पड़ोसी राष्ट्रों से सम्बन्ध बढ़ाने के हेतु सक्रिय कदम उठाये जिनका विवरण हम विस्तार से आगे करेंगे ।

### भारत और महाशक्तियाँ

भारत व रूस—यद्यपि भारत और रूस में पृथक् पृथक् सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक प्रणालियाँ हैं किन्तु फिर भी दोनों में राष्ट्र हित व अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से दोनों में परस्पर सहयोग रहा है । इसके कई कारण हैं । भारत के नेता सोवियत रूस की आर्थिक प्रगति से बहुत प्रभावित रहें हैं । रूस जैसे कमजोर राष्ट्र ने एक सीमित समय में प्रगति की है और नाजीवाद व पूँजीवाद के विपरीत महाशक्ति बन पाया है । भारत के जन मानस को बहुत प्रभावित किया है । भारत व एशिया दक्षिणी एशिया के सभी राष्ट्र ऐसा मानते हैं कि रूस से बहुत कुछ सीखा जा सकता है । रूस द्वारा संचालित निरोजन व्यवस्था ने भारत को विशेष तौर पर प्रभावित किया है । भारत व रूस के बीच में कुछ और समानताएँ हैं । दोनों देशों में विभिन्न जाति धर्म, भाषा, संस्कृति की समस्याएँ हैं ।

दोनों देश लम्बे समय तक साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के शिकार रहे हैं । 1947 में भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद दोनों देश कई वर्षों के बाद एक दूसरे के निकट आए । स्वतन्त्रता प्राप्ति के वर्षों के बाद रूस व भारत के बीच मंत्री सम्बन्ध बढ़ते चले गये । 1647 में एशियन रिलेशन कॉन्फरेन्स में सोवियत प्रतिनिधि ने भाग लिया, 1949 में रूस द्वारा भारत को गेहूँ का निर्यात और भारत द्वारा जूट व चाय का निर्यात सम्बन्धी समझौता हुआ । 1954 के समझौते के बाद भारत से रूस का व्यापार ५ द्रह गुना बढ़ गया । 1955 में ५० जवाहर लाल नेहरू की रूस यात्रा के पश्चात् भारत रूस के सदियों पुराने सम्बन्ध अधिकाधिक दृढ़ हो गये । 12 फरवरी 1960 में दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तथा शिल्पिक सहयोग पर हस्ताक्षर हुए । इस समझौते के पश्चात् रूस व भारत के बीच विभिन्न प्रकार की वैज्ञानिक शैक्षणिक, शिल्पिक, कृषि सम्बन्धी व स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में आदान प्रदान बढ़ाना रहा । राजनैतिक दृष्टि से रूस ने भारत के कश्मीर प्रश्न का समुक्त राष्ट्र के भीतर व बाहर समायन किया । उसने भारत चीन संधि के पश्चात् शस्त्र सहायता भी प्रदान की । रूसी नेताओं ने भारत की असलग नीति का समर्थन किया और भारत भी रूस की अल्जीरिया में होने वाले असलग राष्ट्रों के सम्मेलन में चीन का विरोध होते हुए भी आमंत्रण करवाने में सफल रहा । दोनों ही देश उपनिवेशवाद, विषयनाम युद्ध, शांतिपूर्ण सह अस्तित्व विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग



आदि मामलों में समान दृष्टिकोण रखते हैं। सन् 1967 व 68 और 69 का सातवा भारत-रूस सांस्कृतिक व वैज्ञानिक आदान प्रदान कार्यक्रम अंतिम रूप से शीघ्र ही मास्को में तैयार किया जायगा। यह दोनों देशों के मन्त्रीपूरा सम्बन्ध बढ़ाने में महत्वपूर्ण बड़ी होगी। 9 अक्टूबर 1967 को भारत स्थित रूसी राजदूत एम एन पेगोव ने कहा कि भारत तथा रूस की बढ़ती हुई मन्त्री स्तरी आस्त्री का सबसे बड़ा स्मारक है। रूस के प्रधान मन्त्री कोसीजिन ने भारत की कई बार यात्रा की है और दोनों के प्रधान मन्त्रियों के बीच मैत्री सम्बन्धों को दोहराया गया है। साशकन्द समझौता भी भारत का रूस के प्रति सम्मान का प्रतीक है।

कुछ विषयों पर भारत व रूस के बीच मतभेदों का अंतर रहे। हंगरी के प्रश्न पर भारत ने रूस का विरोध किया। अभी हाल ही की दो घटनाओं ने भारत रूस मन्त्री सम्बन्धों को कम कर दिया है। ये दो घटनाएँ रूस द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण तथा रूस द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र सहायता ने भारत की रूसी दृष्टिकोण की आलोचना करने के लिए बाध्य कर दिया है।

अणुशक्ति निर्माण के सम्बन्ध में भी 1961 में भारत ने सोवियत रूस के अणु प्रयोग का विरोध किया था। किन्तु 1963 में होने वाली अणु प्रयोग प्रति बंधक संधि पर रूस और भारत ने हस्ताक्षर किये। इस प्रकार सोवियत रूस के साथ भारत के सम्बन्धों से उतार चढ़ाव आता रहा है।

भारत व अमेरिका—भारत और अमेरिका के सम्बन्धों पर मापण करते हुए 1949 में नेहरू ने अमेरिकी कांग्रेस को कहा "हम दोनों ने ही आति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की है, हम दोनों ही सभ्यता गणराज्य हैं, हम दोनों ही समानता, स्वतन्त्रता आदि मानवीय अधिकारों के समर्थक हैं, हम दोनों ही जनतन्त्र और प्रजाशक्ति में मरोमा करते हैं।" अमेरिका और भारत का राजनितिक आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में सम्बन्ध बढ़ता रहा है। राजनितिक दृष्टि से राजनितिक मतों जैसे २० अमरीका में भारतीय, दक्षिण अफ्रीका की स्वतन्त्रता, उत्तरी कोरिया द्वारा २० कोरिया पर आक्रमण, ब्रिटेन, फ्रांस द्वारा मित्र पर आक्रमण आदि विषयों पर दोनों देशों के समान दृष्टिकोण रहे हैं अमेरिका ने आर्थिक दृष्टि से भारत को सबसे अधिक सहायता प्रदान की है। चीनी आक्रमण के दौरान में अमेरिका ने भारत को शस्त्र सहायता की। अमेरिका का राष्ट्रपति धाइजन हावर और राष्ट्रपति बेनेडी की पत्नी ने भारत की यात्रा की। इसी प्रकार भारत के राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री व उपप्रधान मन्त्री आदि ने भी अमेरिका की यात्रा की है। निताह रूस में दोनों ही दल जनतन्त्र और मन्त्री सहयोग में मरागा रहते हैं।

कुछ कारणों से भारत और अमेरिका के बीच मत भेद भी बना रहा है। भूतजीरिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, द० पश्चिमी अफ्रीका आदि मसलों पर कार्यक्रम विधि व समय सीमा को लेकर दोनों देशों में मत विरोध रहे हैं। (1) भारत ने अमेरिका द्वारा निर्मित प्रादेशिक संगठनों का समर्थन नहीं किया है। हम शान्ति से सुरक्षा लाना चाहते हैं न कि सुरक्षा से शान्ति। (2) अमेरिका ने कश्मीर मसले पर भारतीय दृष्टिकोण का समर्थन नहीं किया और न हमारे द्वारा प्रस्तावित साल चीन के संयुक्त राष्ट्र के विषय पर। (3) अमेरिका द्वारा दी गई पाकिस्तान को सैनिक सहायता और उसका 1965 में प्रयोग ने भारतीयों के मन में अमेरिका के प्रति शका उत्पन्न कर दी।

दूसरी ओर भारत अमेरिका का विधेयनाम तथा इजराईल के प्रति दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करता। किंतु मत भेदांतर के बावजूद भी भारत के अमेरिका के साथ सम्बन्ध-सुगठित हैं। अतःतोगत्वा दोनों देशों स्वतंत्रता, गणतन्त्र, आर्थिक विकास, पिछड़े राष्ट्रों का विकास, चीनी अधिनायकवाद पर रोक आदि विषयों पर समान मत का प्रतिपादन करते हैं।

### भारत व पश्चिमी जमनी

भारत और पश्चिमी जमनी के बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों का इतिहास बहुत पुराना है। भारत के कृषि विकास में प० जमनी की विशेष रुचि प्रारम्भ से ही रही है। प० जमनी भारत को आर्थिक सहायता भी देता रहा है। निर्यात के क्षेत्र में प० जमनी ने भारत को विशेष सुविधाएँ प्रदान की हैं। पश्चिमी जमनी के प्रधान मंत्री डा० किसी गर 20 नवम्बर 1967 को भारत की यात्रा पर पधारे और उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के नृत्य की अत्यधिक सराहना की। उनकी यात्रा से दोनों देशों में अधिकाधिक सहयोग की मात्रा बढ़ी। वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टिकोण से जमनी बड़ी उदारता से हमें सहायता देता रहा है। भारत के उप प्रधान मंत्री मोरारजी देसाई ने प० जमनी की यात्रा के दौरान में एक सम्झौते पर हस्ताक्षर किये। ये भारत की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के सम्बन्ध में था। यद्यपि कश्मीर के मसले पर प० जमनी का रुख तटस्थ है। अणुबम विरोधक भारत की नीति की जमनी पूर्ण समर्थन नहीं करता किंतु आर्थिक, सामाजिक, राजनतिक सभी मसलों पर भारत व जमनी अधिकांशतया सहयोगी रहे हैं।

### भारत व पूर्वी यूरोप

भारत और यूगोस्लाविया सबसे अधिक मंत्री राष्ट्र रहे हैं। गत वर्षों में यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टोटो की भारत यात्राएँ तथा श्रीमती गांधी की ब्रेलगेट में यात्रा तथा दोनों ही नेताओं द्वारा एक दूसरे की नीति की सराहना सुदृढ नीति

का प्रतीक है। दोनों ही देश प्रसन्नता की नीति में भरोसा करते हैं। आगे दोनों ही इजराइली आक्रमण का विरोध करते हैं। अथ पूर्वो यूरोप के देशों में भारत का सम्बन्ध बल्गेरिया से काफी निकट है। 13 अक्टूबर 1967 को श्रीमति गांधी बल्गेरिया पहुँची और औद्योगिक सहयोग पर कुछ महत्वपूर्ण निष्पत्ति लिए। 16 अक्टूबर को भारत की प्रधान मंत्री रुमानिया पहुँची और वहाँ भारत और रुमानिया के बीच आपसी सम्बन्ध बढ़ाने के बारे में बातचीत हुई। इसी प्रकार भारत ने चेकोस्लोवाकिया के प्रति भी सहयोग का दृष्टिकोण ही अपनाया है।

### भारत व पश्चिमी एशिया

भारत की प० एशिया सम्बन्धी विदेश नीति भारतीय पेश विज्ञप्तिओं में एक मत विरोध का विषय बनी रही है। अरब-इजराइल संघर्ष के सम्बन्ध में भारत सरकार और भारतीय जनता का मत पृथक् पृथक् रहा है। भारत सरकार इजराइल के विपरीत अरब राष्ट्रों का समर्थन कर रही है। भारतने अरब राष्ट्रों पर आक्रमणकारी इजराइल की घोर निन्दा की है और निरन्तर इस बात पर जोर देती रही है कि इजराइल की कौनों विजित प्रदेश से वापस हो जाए। भारत ने इजराइल को अभी तक कूटनीतिक मायना नहीं प्रदान की है। भारत ने अरब राष्ट्रों का समर्थन कई दृष्टियों से आवश्यक समझा है। इसका मुस्लिम राष्ट्र होने के नाते पाकिस्तान की दृष्टि से हमें उसका समर्थन करना आवश्यक है। तीसरा भारत और अरब के बीच पुराने ऐतिहासिक, राजनतिक सम्बन्ध रहे हैं। 1956 में स्वेज नहर घटना पर ही हमने मित्र का ही समर्थन किया था। यद्यपि भारत के विराधी राजनतिक दलों ने भारत के इजराइल के प्रति दृष्टिकोण का समर्थन नहीं किया है। किन्तु भारत सरकार इस विषय पर अपने को स्पष्ट और बाधित मानती है।

### भारत व पड़ोसी राष्ट्र

भारत व पाकिस्तान - पाकिस्तान भारत का सबसे नजदीक पड़ोसी राष्ट्र है। भारत व पाकिस्तान की जनता में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व आर्थिक संबंध हैं। दोनों देशों का पृथक्करण दोनों देशों के नेताओं की स्वीकृति से हुआ है। फिर भी दोनों के बीच राजनतिक कटुता के दो प्रमुख कारण रहे हैं—एक तो पाकिस्तान का निर्माण जल्दी में हुआ जिससे परिणामस्वरूप कुछ समस्याएँ जैसे सीमावर्ती इलाकों का प्रश्न, पानी के बँटवारे की समस्या आदि प० विचार नहीं हो सका। दूसरा पाकिस्तान का निर्माण सामुदायिक आधार पर किया गया कि हिन्दू व मुसलमान पृथक् पृथक् राष्ट्र हैं। जबकि यह सब विदित है कि पाकिस्तान व इण्डोनेशिया को छोड़कर सबसे अधिक मुसलमान भारत में ही रहता है। इस प्रकार 'द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त' के आधार पर पाकिस्तान का निर्माण बड़ा घातक सिद्ध हो रहा है। 'कश्मीर समस्या' उत्तमन का प्रमुख कारण यह द्वि राष्ट्र सिद्धान्त ही है।

स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् भारत व पाकिस्तान में निम्न विषयों पर मतभेद उत्पन्न हुआ—

- (1) जल विवाद
- (2) सीमा विवाद
- (3) कश्मीर विवाद

किन्तु इन तीनों के पीछे जो कारण छुपे हुए हैं वे साम्प्रदायिक अधिक नहीं हैं बल्कि महाशक्तियों की राजनीति, पाकिस्तान में सुरक्षा का प्रश्न तथा कश्मीर विवाद को जनमानस की प्रतिष्ठा का विषय बनाना है। कश्मीर विवाद को खास तौर पर लेकर पाकिस्तान को विदेशी शक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ा और उन्होंने समस्या को प्रति गम्भीर बना दिया। यदि कश्मीर समस्या जन मानस प्रतिष्ठा का विषय न बनती तो भी उसे सुगमता से सुलझाया जा सकता था किन्तु इससे भी कहीं अधिक पाकिस्तान ने किसी भी राजनैतिक प्रश्न को हल करने के पूर्व कश्मीर को हल की प्रथम शर्त के रूप में सम्मुख रखा। पाकिस्तान ने 'सुरक्षा' के प्रश्न पर सदैव जोर डालता रहा कि भारत से उसे खतरा है और दोनों के बीच निरन्तर 'शीत युद्ध' बना हुआ है और इसलिये उसे विदेशी सहायता की अत्यधिक आवश्यकता है। इस आवश्यकता के प्रश्न को लेकर व अमेरिका, लाल, चीन तथा रूस से शस्त्रों के संबंध में साँठ-गाँठ करता रहा है और बड़ी शक्तियों ने उचित स्थिति का लाभ उठा कर दोनों के बीच सपप की खाड़ी को और भी भड़कृत कर दिया—यहाँ तक कि 1965 में युद्ध भी लड़ना पड़ा। इस विषय को विस्तार से समझने की दृष्टि से हम दोनों राष्ट्रों के बीच उपर्युक्त तीन मतलों का विस्तार से स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

1 जल विवाद (Water disput)—भारत व पाकिस्तान के बीच एक प्रमुख विवाद इन्डस नदी के जल बँटवारे का रहा है। यह विवाद विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री 'यूजीनी ब्लैक' की सहायता में सुलझा दिया गया है। इस संबंध में दोनों राष्ट्रों के बीच 19 सितम्बर, 1960 को संधि हुई जिसके अनुसार जल के बँटवारे पद्धति निश्चित हुई तथा एक स्थायी इन्डस कमिशन की नियुक्ति की गई।

2 सीमा विवाद—जसा कि विदित है कि पाकिस्तान के दो हिस्से हैं—पूर्वी पाकिस्तान व पश्चिमी पाकिस्तान और उसकी सीमा भारत से कई जगह पर लगी हुई है। पाकिस्तान जसा कि गत वर्षों के इतिहास से स्पष्ट है—'कश्मीर समस्या को लेकर' विदेशी सहायता प्राप्त कर किसी न किसी कारण से इन सीमाओं का उल्लंघन करता रहा है। इन सीमा विवादों में 'कच्छ रन' का विवाद प्रमुख है। कच्छ की खाड़ी का क्षेत्रफल 8400 वर्गमील है। 1965 की भाव में पाकिस्तान ने इस क्षेत्र पर अपना दावा किया और उसका समर्थन करते हुए कहा कि 1962 में संधि के

राजा ने कच्छ पर आक्रमण किया और 1964 की संधि के अनुसार कच्छ-सिंध सीमा घमशाला पर स्थित की और वह कच्छ की खाड़ी के मध्य में है। कच्छ का रन या तो थल से अवतरित समुद्र है अथवा यह सीमा की एक भील है। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा इसके बीच में ही होनी चाहिये।

भारत ने इस संबंध में जो उत्तर प्रस्तुत किये उनमें प्रथम था कि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलेगा कि सिंध के राजा ने कहीं आक्रमण भी किया था। दूसरा, अंग्रेजों ने कच्छ के रन को हमेशा कच्छ के अधिकार क्षेत्र में माना और 1960 में यह निष्पत्ति ली गई कि, कच्छ का रन एक दलदली प्रदेश है इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था का यहाँ कोई प्रश्न नहीं उठता। तीसरा, भारत विभाजन के समय, कच्छ के रन का उत्तरी भाग कच्छ के राजा के अधिकार क्षेत्र में था। कच्छ सिंध के किनारे ब्रिटिश प्रांत सिंध व देशी शासक कच्छ के बीच सीमा निर्धारित करता था। 1948 के पूर्व के नक्शे भी इससे प्रमाण हैं।

पाकिस्तान ने कच्छ सीमा पर 24 मार्च 1965 में आक्रमण किया और 25 अप्रैल तक दोनों के बीच युद्ध जारी रहा। पाकिस्तान ने 'सरकार बिगकोट और 'खाडबेट' पर हमला की। भारत ने इस आक्रमण का मुकाबला करते हुये भी शान्ति समझौते के लिये कई प्रस्ताव प्रस्तुत किये। 30 जून 1965 को दोनों देशों के बीच युद्ध विराम हुआ। यह निश्चय किया गया कि पाकिस्तान अपनी सेना अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के उत्तर में ले जाय और डिग सूरज कजरकोट पर दोनों देश अपने पुलिस दस्ते रख सकेंगे। पाकिस्तान को अपनी सेनायें बियारबेट और बिगकोट से हटानी पड़ी और 'अंतिम निष्पत्ति' के लिये यह विचार एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग को सौंपा गया। 'आयोग का निष्पत्ति' भारत के पक्ष में न होने पर भी भारत ने इसी लिये स्वीकार किया की हम उत्तम फंसले के लिये वायदा कर चुके थे यद्यपि हमें इसमें कुछ भूमि का नुकसान हुआ और साथ में सभी विरोधी दलों ने भारत सरकार के दूसरे स्वीकृति को देश पर कुठाराघात के रूप में आलोचना की।

कश्मीर विवाद—भारत व पाकिस्तान के बीच सबसे अधिक उलझा हुआ विवाद कश्मीर समस्या है। कश्मीर समस्या भारत व पाक के बीच मतभेद की प्रमुख खाड़ी है। पाकिस्तान जैसा कि ऊपर कहा गया, कश्मीर को लेकर बराबर भारत विरुद्ध प्रचार कर रहा है और विदेशों में शस्त्र सामग्री प्राप्त करता रहता है। पाकिस्तान ने जितने ही बार घुसपैठियों का भेजा और गुप्तचरों द्वारा कश्मीर की आंतरिक शांति को भंग करता रहा है। पाकिस्तान के कश्मीर पर अपने अधिकार दावा प्रमुख आधार है—(1) इसमें 77% मुसलमान रहते हैं (2) कश्मीर में जनमत संग्रह में पाकिस्तान के पक्ष में होना (3) कश्मीर पाक विकास का आवश्यक है कि पाकिस्तान की भी कश्मीर से समवर्ती सीमा 902 मील की है। जबकि

भारत की एक मात्र 307 मील (4) भारत ने कश्मीर में जनमत संग्रह का वायदा किया है।<sup>1</sup>

उपयुक्त विवादके प्रतिकूल भारतने जो विवाद प्रस्तुत किये हैं वे इस प्रकार हैं। कश्मीर के महाराजा जन प्रतिनिधिप्रभुताके अधिकारी हैं। उन्होंने स्वेच्छा से स्वतंत्रता उपरांत भारत में मिलने के लिये हस्ताक्षर किये। दूसरा पाकिस्तान ने 1947 में कश्मीर में अपनी सेनायें भेजी और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि (ओवन डिवसन) ने इसे अंतर्राष्ट्रीय कानून का विघटन बतलाया है। तीसरा, पाकिस्तान ने संयुक्त राष्ट्र संघ चाटर का उल्लंघन कर आक्रमक रहा है। चौथा, जनमत संग्रह तब तक समय नहीं है जब तक कि पाकिस्तान यह स्वीकार न कर ले कि वह आक्रमक रहा है। पाचवां भारत-पाकिस्तान का साम्प्रदायिक आधार कमी स्वीकार नहीं कर सकता है कि वहाँ मुसलमान बहुमत में हैं, यदि यह सही है तो पाकिस्तान पूर्वी पाकिस्तान में जनमत संग्रह क्यों नहीं स्वीकार करता और पश्तूनीस्तान को स्वतंत्र क्यों नहीं करता। भारत सरकार ने इस समस्या को सुलझाने के लिए कानूनी, मानवीय व राजनैतिक सभी आधारों का सहारा लिया है और बराबर समझौते के लिये प्रयत्नशील रहा है।

इसी दौरान में पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण के पश्चात् 21 दिसम्बर, 1962 को यह घोषणा की उसने चान के साथ सद्भावपूर्ण रूप से सिकियांग और आजाद कश्मीर के बीच सीमा निर्धारित के बारे में समझौता कर लिया है। इस समझौते के अनुसार पाकिस्तान ने कश्मीर का 2000 वर्गमील क्षेत्र चीन को सौंप दिया। भारत ने पाकिस्तान की शांतिपूर्ण वार्ता से हल करने के लिए उसके पश्चात् 6 बार वार्तयें कीं किंतु पाकिस्तान की हठधर्मी में कोई परिवर्तन नहीं आया।

1963 की मार्च में पाकिस्तान ने कच्छ के रन की समस्या को लेकर आक्रमण किया और 5 अगस्त को कश्मीर में लगभग पाँच हजार तक घुसपट्टिये भेजकर विद्रोह की तयारी की। 1 सितम्बर 1965 को छम्ब के इलाके में पाकिस्तान ने पाकिस्तानी फौजों ने अंतर्राष्ट्रीय सीमा पार की और आइस दिन के युद्ध के पश्चात् 23 सितम्बर 1965 में संयुक्त राष्ट्र की सहायता से युद्ध विराम हुआ।

ताशकन्द समझौता—युद्ध विराम के तत्पश्चात् रूस सरकार के प्रयत्नस्वरूप दोनों देशों के बीच ताशकन्द में बातचीत प्रारम्भ हुयी जिसमें अयूब खान व लालबहादुर शास्त्री दोनों मौजूद थे। प्रधानमंत्री कोसीजन ने इस संयुक्त विचार विमर्श में सक्रिय मध्यस्थ का वाय किया। 10 जनवरी को ताशकन्द समझौते पर हस्ताक्षर हुये जिसके अनुसार—

1 Ishtiaque Hussain Quereshi, Pakistan—The foreign policy in a world of change pp 473 474,

(1) दोनों देश एक दूसरे से पड़ोसी राष्ट्र की भाँति व्यवहार करेंगे और शान्तिपूर्ण तरीके से विवाद पर नियुक्त होंगे,

(2) दोनों ही देश 5 अगस्त की पूर्व स्थिति पर लौट जायेंगे और 25 जनवरी तक यह कार्य पूरा हो जायगा ।

(3) दोनों ही एक दूसरे के आतंकिक भस्मलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे ।

(4) दोनों में कूटनीतिक संबंध पुनः स्थापित किये जायेंगे ।

(5) दोनों ही युद्ध बंदियों की रिहा करेंगे ।

(6) दोनों में व्यापारिक संबंध पुनः स्थापित होंगे ।

(7) दोनों एक दूसरे की संपत्ति को लौटा देंगे ।

(8) दोनों एक दूसरे के प्रति गदा प्रचार बंद करेंगे ।

(9) दोनों ही देश मिलकर एक समुक्त आयोग की नियुक्ति करेंगे ।

(10) दोनों देश अपनी समस्या के हल के लिए 'शिलखर सम्मेलन' बुलाते रहेंगे ।

भारत व पाकिस्तान दोनों ही देशों में इस समझौते की मित्र मित्र प्रति क्रियायें हुयी ।

भारत में विरोधी दलों ने इस समझौते का कटु विरोध किया । किन्तु इसके दो प्रमुख उद्देश्य-फौजी अलगाव व दोनों देशों के बीच आपसी संबंध का दोनों देशों में स्वागत हुआ । 21 जनवरी को पाकिस्तानी सेना के बमालाहर अन्तरल भूसा खेती वार्ता के लिए भारत में आये । 25 जनवरी से दोनों ही पक्षों ने अपने अपने स्थान पर पहुँचने के लिये कई स्थानों को आती कर दिये । संपत्ति को लौटाने के लिए भी बराबर प्रयत्न प्रारम्भ हुये ।

ताशकंद समझौता की प्रतिक्रिया पाकिस्तान में बरमौर प्रश्न को लेकर हुयी और भारत में हमारे द्वारा विजयी प्रदेशों के लौटाने पर । कुछ दलों के मध्य में यह समझौता भारत के लिये अपमानजनक था । किन्तु भारत ने पाकिस्तान से माँगी संधि बनाने की दृष्टि है इसका स्वागत किया । ताशकंद समझौते के उपरान्त कुछ बदम आशावाद के प्रतीत रहे किन्तु बरमौर समस्या का प्रश्न अभी तक बँधे ही बना हुआ है । पाकिस्तान ने अमेरिका से शस्त्र को पुनः देने के लिये दबाव डालता है । वह पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों से शस्त्र ले रहा है और अभी हान ही में हम ने भी उसे शस्त्र देने के लिए स्वीकृति दी दी है । मद्रासकि द्वारा उसे शस्त्र देना भारत के लिए अहितकर सिद्ध होगा । पाकिस्तान भारत की सभी आवाजायों का परिवहनकर, भारत की शक्ति का स्थान न देकर वह भारत के साथ हर मामले में सहायता का कर रहा है ।

## भारत व साम्यवादी चीन

भारत की विदेश नीति की कार्यान्वितता तथा उसकी सीमायें भारत चीन सम्बन्ध से स्पष्ट होती हैं। 30 दिसम्बर, 1949 से जौलाई 1958 तक भारत व साम्यवादी चीन के बीच सम्बन्ध अच्छे रहे। यद्यपि इस दौरान में चीन ने अक्टूबर 1950 में लासां में अपनी सेनायें भी भेजी और 12000 वर्ग मील पर अपना कब्जा भी कर लिया। भारत सरकार ने चीन सम्बन्ध बनाये रखने की दृष्टि से 1954 में चीन की प्रभुता तिब्बत पर स्वीकार कर ली। इसके बावजूद भी भारत चीन के बीच सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक व व्यापारिक संबंधों को उन्नत करने के लिये प्रयत्न जारी रहे। भारत-चीन की संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश प्राप्ति के लिये भी प्रयत्नशील रहा।

जौलाई 1958 से साम्यवादी चीन व भारत के बीच मतभेद की रेखा बढने लगी। 9 सितम्बर, 1959 में चीन के प्रधान मंत्री चाऊ एन-लाई ने घोषणा की भारत के जो प्रदेश चीन के नक्शे में चीन में दिखाए गये हैं वे चीन के ही हैं। उन्होंने तिब्बत के दलाई लामा को भारत द्वारा शरण दी जाने पर कटु विरोध किया। 23 जनवरी, 1959 के पत्र में चीनी सरकार ने बताया कि भारत व चीन के बीच कभी भी सीमाओं का वर्गीकरण नहीं हुआ है। 5 जनवरी, 1960 को दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच दिल्ली में वार्तालाप प्रारम्भ हुयी किंतु बीस घंटों की बातचीत के बावजूद भी कोई परिणाम न निकल पाया। भारत ने चीन द्वारा प्रस्तुत 245 प्रमाण की अपेक्षा 630 प्रमाण प्रस्तुत किये। 20 अक्टूबर को खुले तौर पर चीन ने सशस्त्र भारत पर आक्रमण किया और बांगला रिज की अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को पार किया।

साम्यवादी चीन ने भारत पर आक्रमण क्यों किया इसके संबंध में कई राजनीतिज्ञों ने विभिन्न कारण प्रस्तुत किये हैं। मलेशिया के टूकू अब्दुल रहमान ने एशिया में किसी भी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति को समाप्त करना, विजयलक्ष्मी पण्डित ने भारत की आर्थिक प्रगति के प्रति रोष आदि बतलाया है। वस्तुतः चीन ने उद्देश्य अनेक थे। प्रथम, चीन विश्व को अपनी शक्ति का विशाल प्रदर्शन करना चाहता था। दूसरा, चीन विश्व का ध्यान उसके आन्तरिक संकटों की अपेक्षा करे प्रयत्न कर रहा था। तीसरा, युद्ध के द्वारा वह अपने देश की आन्तरिक समस्याओं का सुलझाना चाहता था। चौथा, वह भारत की असहज नीति का अट्टहास चाहता था। पांचवा, वह वपूर्व में रूस समरतीकी स्थिति का साम उठाना चाहता था। छठा, वह भारत की नेतृत्व शक्ति को जानना चाहता था। सातवा, वह नए नए समय-समय पर आक्रमण द्वारा आन्तरिक प्रवेश की नीति अपना रहा था। आठवां, युद्ध चीन की राजनीतिक नीति की एक घाल है और वह भारत को एशिया की राजनीति से पृथक् करके मे



प्रयत्नशील रहा है। उसने भारत के सभी पड़ोसी राष्ट्रों को मैत्री, डरा धमका कर, इस उद्देश्य की पूर्ति करनी चाही है।

**कोलम्बो प्रस्ताव—**21 नवम्बर, 1962 को चीन ने एकामी युद्ध विराम की घोषणा की, यह उसके विभिन्न उद्देश्यों की प्रतीक है। युद्ध विराम के पश्चात् 'कोलम्बो प्रस्ताव' जो लका की प्रधानमंत्री श्रीमती भंडारनायके की अध्यक्षता में हुये सम्मेलन का परिणाम थे। कोलम्बो प्रस्ताव के अनुसार (1) दोनों देश अपनी सैनिक चौकीयों से 20 किलोमीटर पीछे हट जायेंगे, (2) दोनों ही देश अपनी वर्तमान सैनिक स्थिति में परिवर्तन न लाये, (3) जब तक दोनों देशों के बीच सीमा नियंत्रण पर समझौता न हो, तब तक वर्तमान सीमा निर्धारण रेखा को वास्तविक 'युद्ध विराम रेखा' बना दी जावे। (4) चीन द्वारा खाली की गई चौकीयों को 'गैर सैनिक' चौकियों का करार दिया जाये (5) दोनों देश विवाद को शांति मार्ग द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करेंगे किंतु कोलम्बो प्रस्ताव से कोई सामंजस्य परिणाम नहीं निकले।

**युद्ध का भारत की नीति पर प्रभाव—**चीनी युद्ध के पश्चात् भारत की नीति में कुछ मोड़ आया यद्यपि भारत ने अपनी असलगतता की नीति का परित्याग नहीं किया। भारत के लिये यह आवश्यक होगा कि वह (i) चीन द्वारा हड़पी गई भूमि को वापिस प्राप्त करे (ii) भारत की 2500 बग मील सीमा पर सुरक्षा की व्यवस्था करे (iii) वह अपने देश का अधिकांश बजट सेना सुरक्षा पर लगावे (iv) भारत की नीति का आधार सुरक्षा व राष्ट्र हित हो (v) सिक्किम के पास सामरिक महत्व के निर्मित चीनी स्थानों के विपरीत व्यवस्था करे। (vi) चीन व भारत का यह विवाद एक लम्बे असें तक चलने वाला मानकर नीति की कार्यविततता में मोड़ लावे। चीन भारत को किसी न किसी विषय को लेकर चुनौती देता रहा है। 17 सितम्बर, 1965 को चीन ने इस आधार पर भारत को चुनौती दी कि उसने 800 भेड़ें तथा कुछ याकें चुरा लिये हैं। 1 सितम्बर, 1967 को चीनी सेनायें नागूला के पास सिक्किम क्षेत्र में घुस आयी। चीन से भारतीय दूतवास के सदस्यों के साथ अपमान का व्यवहार किया गया। दोनों देशों में आपसी फौजी टक्कर तथा कड़ा पन-व्यवहार आदि स्थिति सदैव बनी रहती है। चीनी पाक समझौता भी इसी का परिणाम है। दूसरी ओर भारत में चीन की भांति अणुबम बनाने पर विरोधी दल सत्तारूढ़ पर जोर डाल रही है।

### भारत-नेपाल व लका

भारत व नेपाल के बीच भौगोलिक ऐतिहासिक व सांस्कृतिक संबंध हैं। पण्डित नेहरू के शब्दों में 'एक वाचक भी यह समझना है कि भारत से गुजरे बिना कोई व्यक्ति नेपाल नहीं जा सकता है।' दोनों देशों के प्रतिनिधियों में आपसी यात्रा-

विनिमय बराबर बना रहा है। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० राधा कृष्णन्, प्रधान मंत्री नेहरू तथा शास्त्री आदि ने नेपाल की यात्रा की और इसी भाँति महाराजा महेन्द्र सद्भावना यात्रा पर कई बार भारत में आए हैं। 22 अक्टूबर, 1967 को भारत के उप प्रधान मंत्री मोरारजी देसाई नेपाल गये और उन्होंने आपसी आर्थिक सहयोग की वही चर्चा की। किन्तु हमारे इन सबघो के बीच चीन फिर एक दोबार घनने का प्रयत्न कर रहा है। चीन तिब्बत के पतन के पश्चात् चीन व भारत के बीच नेपाल को मध्य राष्ट्र (Buffer State) मानता है और अपना प्रभाव वहाँ जमाने में प्रयत्नशील है।

भारत व लका के बीच नेपाल की भाँति आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सबंध हैं। दोनों देश समान रूप से राष्ट्र मण्डल के सदस्य हैं और कोलम्बो योजना में संयुक्त रूप से सहयोगी रह। लका व भारत के बीच लगभग 943,204 भारतीयों को नागरिकता देने का प्रश्न जटिल रूप से बना हुआ है। लका की सरकार इन भारतीयों को लका निवासीयों के आर्थिक विकास में भी बाधा मानती है। इस विषय पर दोनों सरकारों के बीच वार्तालाप चलती रही है किन्तु अभी तक कोई स्थायी परिणाम नहीं निकल पाया है।

भारत ने वियतनाम समस्या, अरब इजराइल समस्या पर व्यापक दृष्टिकोण से पृथक रूप से व्याख्या की है जो अलग अलग अध्यायों में मिल जायगी।

भारत व संयुक्त राष्ट्र संध—भारत राष्ट्र संध व पृथुक्त राष्ट्र संध दोनों में सक्रिय सदस्य रहा है। दोनों ही अंतरराष्ट्रीय संधों के निर्माण काल में भारत ने सक्रिय भाग लिया। भारत संयुक्त राष्ट्र संध के सभी एजेन्सीज जैसे PAO, WHO, UNESCO में लगभग सदस्य रहा है। वह सुरक्षा परिषद् का दो बार अस्थायी सदस्य के रूप में रहा है। भारत की प्रतिनिधि श्रीमती विजयी लक्ष्मी पंडित ने संयुक्त राष्ट्र संध की साधारण सभा की 22 वष तक अध्यक्षता की। पिछड़े राष्ट्र के विकास हेतु विषयों के सम्बन्ध में भारत ने एशिया अफ्रीकाई राष्ट्रों के सहयोग से कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे हैं। उदाहरणार्थ, 1946 में भारत ने प्रस्ताव रक्खा कि शासकीय शक्ति पिछड़े प्रदेशों में उनकी आवश्यकताओं तथा हितों को सामने रखकर शासन करेंगे। भारत ने कुछ अफ्रीकी प्रदेशों को तुरन्त आजाद कराने की पंरबी की। अफ्रीका में व्याप्त 'रंगभेद' का भारत ने डटकर विरोध किया। पिछड़े राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिये भारत ने SUNFED के निर्माण पर जोर दिया।

राजनीतिक दृष्टि से भारत ने कोरिया समस्या को सुलभाने में सक्रिय भाग लिया। वियतनाम के सम्बन्ध में भारत का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट रहा है। अरब इजराइल संध, स्वेज नहर समस्या आदि के विषयों में भारत का निजी दृष्टिकोण, उसके प्रस्तावों से स्पष्ट है। भारत जनतन्त्र, समाजवाद, विश्व सहयोग का समर्थन

करते हुये उन समा देशो का सयुक्त राष्ट्र सघ मे समयन करता है जो इनका अनुशीलन करत हैं । ससद द्वारा प्रस्तावित तीन सैक्रेट्री जनरल का भारत ने विरोध किया किन्तु साथ साथ वह साम्यवादी चीन की सदस्यता के लिये सदैव प्रयत्नशील रहा है । इङ्गलण्ड के प्रतिनिधि लाड बड हुड, सयुक्त राष्ट्र सघ के सचिव डाग हैमर शोल्ड आदि ने भारत की यू एन ओ मे क्रियाशीलता की बड़ी प्रशंसा की है ।

**आलोचना (Evaluation)**—भारत की विदेश नीति की तीन दृष्टिकोणों पर आलोचना की गई है । प्रथम, भारत की विदेश नीति यथाय मे असलग्न या निगुट नीति नहीं है । दूसरा, यह नीति भारत के राष्ट्रीय हित की रक्षा नहीं कर सकी है । तीसरा, भारत की इस नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरन्तर व्याप्त शक्ति सघर्ष की अवहेलना की है ।

**असलग्नता**—भारत की विदेश नीति के व्यवहारिक स्वरूप को जब ध्यान में लाते हैं तो विदेशियों के मन में यह सदेह उत्पन्न करती है कि कभी हम अमेरिका की ओर वभी रूस की ओर सलग्न दियाई पड़ते हैं । सीलिंग हैक्सन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि जाज मैनी ने एक बार कहा कि “नेहरू रूस के ऐजेण्ट दिखायी पड़ते हैं और मैं उनको व्यक्तिगत रूप से यह कहना चाहता हूँ ।”<sup>1</sup> हंगरी के मसले पर भारत की विलम्बित आलोचना भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करती है । भारत ने शस्त्रों की प्राप्ति में रूस का समर्थन प्राप्त किया है । लालबहादुर शास्त्री के समय में “ताशकंद समझौता” भारत की रूस के प्रति श्रद्धा को जाहिर करता है । किन्तु ऐसा ही भ्रम भारत का अमेरिका के बारे में भी होने लगता है, चीनी आक्रमण के समय अमेरिका द्वारा प्रेषित युद्ध सामग्री तथा धन्य प्रकार की आर्थिक सहायता प्राप्ति पर विरोधी नेताओं को हमारा अमेरिकी गुट में सम्मिलित होने का भ्रम पैदा हुआ । इस भ्रमात्मक स्थिति का यह भी परिणाम निकला है कि विश्व राष्ट्रों में भारत का कौन मित्र है और कौन शत्रु स्पष्ट नहीं है । यह अवश्य है कि विदेश नीति में हमारा निमग्न, निगुट व असलग्न स्वरूप व्यवहृत नहीं हो पाया है । भारत सरकार का पूर्वीय जमनी को स्वीकृति (Recognition) न देने में, इजरायल के विपरीत अरब राष्ट्रों का खुला समर्थन, आदि ऐसे उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि भारत की नीति असलग्न नहीं कहलाई जा सकती । राष्ट्र हित (National interest) आलोचना का मत है कि यद्यपि भारत ने इस नीति की सहायता से भारत का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान अवश्य वर्धित किया है किन्तु भारत के राष्ट्र हित की दृष्टि से इसे कोई लाभ नहीं हुआ । उदाहरणार्थ कश्मीर समस्या क्यों ही चलभी पड़ी हुई है, उत्तरी पश्चिमी सीमा पर चीन का आधिपत्य बना हुआ है, तिब्बत को

1 Quoted by Sahg Harrison, “Nehru's visit of the Retrospect 1956 p 8

चीन ने पूर्णतया हड़प लिया है और भारत ने उस पर चुप्पी डाल रखी है तथा हमारे पाकिस्तान से सबघो में झुंझार नहीं हो पाया है। लका में स्थित भारतीयों के सम्बन्ध में कुछ गुलझाहट नहीं हो पायी है तथा हमारे दक्षिणी अफ्रीका से सबघ उभरत नहीं हो पाये। इस आलोचना ने भारत की विदेश नीति में व्याप्त खोललापन को स्पष्ट कर दिया है। यह स्पष्ट है कि कोई भी नीति एक लम्बे अर्से तक 'राष्ट्रहित' का परिस्थान नहीं कर सकती क्योंकि खाली आदर्शवाद आज के मानव को संतुष्ट नहीं कर सकता है। एक ओर बड़ी से बड़ी शक्तियाँ 'राष्ट्रहित' की रक्षा तथा विकास में तीव्र गति से अग्रसर हैं और दूसरी ओर भारत इसको प्राप्ति में निष्क्रिय हो रहा है।

**शक्ति अवहेलना**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रतिष्ठित विद्वान् प्रो. मार्गें-वो ने अपनी पुस्तक में "विश्व राजनीति को शक्ति संधप माना है।"<sup>1</sup> भारत की विदेशी नीति इस शक्ति संधप को स्वीकार न कर नैतिक आचरण पर अत्यधिक विश्वास करती है जो निराधार है और राजनतिक यथार्थता से कोसों दूर है। शक्ति तत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख होता है और उसकी अवहेलना राष्ट्र नीति की रक्षा में घातक हो सकता है। चीनी व पाकिस्तानी आक्रमणों ने भारत का शक्ति निर्माण के लिये बाध्य कर दिया है। आधुनिक भारत में 'अणुबम निर्माण' की समस्या को एक विवादास्पद विषय बना दिया है। चीनी की बढ़ती हुयी शक्ति और पाकिस्तान द्वारा विदेशों से शस्त्र प्राप्ति ने भारतीय शक्ति में शका उत्पन्न करदी है। भारत 'अणुबम विरोधी' कल्ब बनाने में सफल नहीं हो पाया है और न वह बड़ी शक्तियों से अणु सुरक्षा छत्र (Nuclear Umbrella) में ही प्राप्त करने में समर्थ हो पाया है।

इसके अतिरिक्त जनसंघ, प्रजा समाजवादी-दलों ने भारत की विदेशनीति की बड़ी कटु आलोचना की है। हमारी पाकनीति, कश्मीर पर प्रयत्न, विदेशी ऋण, अरब राष्ट्र पक्षीय दृष्टिकोण, चैकोस्लोवाकिया पर हुये आक्रमण पर हमारा मत, रूस द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र सहायता तथा कच्छ फसला आदि विषयों में सभी विपक्षी दलों ने मत विरोध प्रकट किया है।

इन सब दोषों के होते हुये भी, इन असफलताओं के बावजूद भी भारत की विदेशनीति को विश्व में सम्मान मिला है। भारत ने इस नवीन नीति का निर्माण कर विदेशनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस नीति के निर्माण के समय भारत अकेला राष्ट्र था और आज विश्व के वास्तव से की बड़ी अधिकांश राष्ट्र इसके अनुयायी हैं और भारत ने अफ्रीकी देशों को इस ओर नेतृत्व प्रदान किया है। 1956 में राष्ट्रपति आइज़नहॉवर ने इस नीति की सराहना की और चतुरता की नीति घोषित किया। इसी भाँति 20 वीं पार्टी सम्मेलन में रूस ने हमारी नीति का भारी समर्थन किया। लाल चीन जैसा देश जो असह्यता को पराभूतता मानता

था आज अपने का असलान राष्ट्र कह कर गौरवान्वित करना चाहता है। असलान राष्ट्रों के बाहुग, वेलग्रेड तथा अल्जीरिया सम्मेलन इसके महत्व के प्रतीक हैं। भारत विपरीत व निकट परिस्थितियों के बावजूद भी इस नीति पर अटल रहा है जो इसकी सफलता का उदाहरण है।

यद्यपि यह आलोचना सही है कि भारत की विदेश नीति राष्ट्रहित की रक्षा नहीं कर सकी किंतु कौनसा राष्ट्र यह दावा कर सकता है कि उसकी नीति उसके सम्पूर्ण राष्ट्र हित की रक्षा करने में सफल हो पायी है। यदि भारत की असलानता के प्रति राष्ट्रों के बीच में अमरमक दृष्टिकोण है तो उससे इस नीति की सैद्धान्तिक पक्ष के महत्व में कमी नहीं कही जा सकती। भारत ने रूस व अमेरिका से सम्पूर्ण सहायता लेते हुये भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को गुट रजित नहीं किया। हमारा विमतनाम के प्रति दृष्टिकोण तथा चकोस्लोवाकिया के मामले में रूस का विरोध इसके सजग उदाहरण हैं।

भारत किसी भी शक्ति गुट में न मिस्रर शक्ति तरव का तिरस्कार नहीं करता। शक्ति का अर्थ केवल बल बनाने से नहीं। अणुबल का निर्माण भारत को सशक्त नहीं बना सकती। यदि हम अणुबल का निर्माण करें तो इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि हम चीन को अपना नेता मानकर उसकी नीति का अनुसरण कर रहे हैं। 'विमतनाम' के लम्बे युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बड़ी से बड़ी शक्ति भी शक्ति के बल पर दमन नहीं कर सकती। भारत किसी भी शक्ति गुट में सम्मिलित हो कर भी अपने राष्ट्रहित की रक्षा नहीं कर सकता। चीनी आक्रमण पर यदि वह अभी रिकी गुट में मिले तो पाकिस्तान के आक्रमण पर रूसी गुट में। यह भारतीय सार्वभौमिकता, स्वतन्त्रता तथा स्वाभिमान के विपरीत होगा।

भारत की विदेश नीति की असफलता का कारण विदेश नीति नहीं बरतना मूटनीति है। इसकी असफलता में भारत का राजनतिक स्वरूप (Political System) भी जिम्मेदार है। भारत एक जनतन्त्र देश है और जनतन्त्र के विपरीत तानाशाही में विदेश नीति की व्यवहारिक सफलता अधिक सुलभ होती है।

यह सब विदित ही है कि भारत को इस विदेश नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान मिला है। उसने विश्व राष्ट्रों के बीच सनाय बल करने में सहायता की है। कोरिया विमतनाम और समुक्त राष्ट्रसंघ की कई समितियों का भारत चेयरमन रहा है। अरबराष्ट्रों का भारत द्वारा समयन सफल मूटनीति का एक आवश्यक भाग भी भाग जा सकता है। भारत की विदेश नीति में परिवर्तन विश्व समुत्तन को बल देगा है और बड़े राष्ट्र भी इसका समया करन लग हैं।

## साम्यवादी चीन की विदेश नीति

परिचय—बहुत पहले नेपोलियन बोनापाट ने कहा था कि चीन एक दत्त है, उसे पडा सोने दो, यदि यह जाग गया तो विश्व को झकझोर डालेगा। मविष्यवाणी आज सही उतर रही है। समूचा विश्व चीन के बाय कलापो, प्रवृत्तियों, आयामों और व्यापारों की घोर आज चिंता भरी दृष्टि से देख रहा है। चीन का एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उत्थान न केवल चीनवासियों के लिये गौरव का विषय है अपितु इस उत्थान ने समूची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को ही चुनौती दे डाली है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व दो खेमों—(पूँजीवादी और साम्यवादी गुट) में विभक्त था—एक का नेता सोवियत रूस और दूसरे का नेता अमरीका था। दोनों शक्तियों को (Super Powers) की सत्ता से जाना जाता था। किन्तु विगत कुछ वर्षों में चीन ने शक्ति संचय की इस दौड़ में अपने आपको भी एक तीसरी शक्ति के रूप में सिद्ध कर दिया है। स्वीडन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने अभी कुछ समय पूर्व कहा था कि 'चीन का उद्देश्य शक्ति की चरमोत्कृष्ट सीमा को प्राप्त करना है। उसकी विदेश नीति के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व को इंगित करता है। चीन का जो वर्तमान रूप है, उस तक पहुँचने में इस राष्ट्र को कई आयाम पर करने पड़े हैं। प्राचीन समय में चीन का बड़ा महत्त्व था। सभ्यता और संस्कृति की प्रगति में उसकी देन अभूतपूर्व है। उसका प्रभाव दक्षिणी और पूर्वी एशिया के देशों पर प्राचीन काल से ही रहा है। 1949 की क्रांति से पूर्व वहाँ क्वांग काई शेक की सरकार काम कर रही थी, जिस पर अमरीकी प्रभाव की छाप थी। साम्यवादियों ने राष्ट्रवादियों के प्रति विद्रोह चला रखा था और अन्त में माओसेतुंग के नेतृत्व में उनकी विजय हुई, साम्यवादी सरकार की स्थापना की गयी क्वांग काई ने फारमोसा नामक टापू में शरण ली और आज वह वहाँ का शासक बना हुआ है।

चीन, दुनिया में जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा राष्ट्र है। आज उसने परमाणु अस्त्र भी बना लिये हैं। उसकी विचारधारा भी बड़ी सशक्त है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो तत्त्व शक्ति (Power) का निर्माण करते हैं वे सभी आज के चीन में मौजूद हैं। भौगोलिक दृष्टि से उसकी अधिकांश सीमा रूस से छूती है। दूसरी ओर उसके पड़ोसी भारत, बर्मा, नेपाल, भूटान, सिक्किम, भंगालिया, कोरिया, वियतनाम, लाओस आदि राष्ट्र हैं। जापान के पतन के पश्चात् एशिया महाद्वीप में चीन ही एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उदय हुआ है। एशिया में आज चीन का वही महत्त्व है जो यूरोप में जर्मनी, रशिया तथा अमरीकी महाद्वीप में संयुक्त राज्य का है।

चीन की विदेश नीति का अध्ययन क्यों आवश्यक है ?

चीन की विदेश नीति को समझे बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए चरण समझना अत्यंत कठिन है। चीनी विदेश नीति कुछ नवीन प्रवृत्तियों, तरीकों,

कूटनीतिक आयाया और साधनों को राजनीति में प्रस्तुत करती है अतः उसका अध्ययन आवश्यक है। द्वितीय, एशिया में चीन एक समस्या बन गया है। सिंगापुर के प्रधान मंत्री, मलेशिया, आस्ट्रेलिया, भारत आदि के नेता चीन के उदय से चिंतित हैं, ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वार्थी के लिये चीनी विदेश नीति को समझना आवश्यक है, अन्यथा इस गम्भीर समस्या का समाधान कठिन है। तृतीय, जितनी विरोधी प्रवृत्तियाँ, मिश्रित एवं विपरीत तत्व चीनी विदेश नीति में निर्धारक हैं, उतने ही किसी राष्ट्र की विदेश नीति में नहीं। चतुर्थ, चीन आज दुनिया को चुनौती देते हुए, विश्व सभ से दूर, एकागो होते हुए अपनी विदेश नीति का सफलतापूर्वक संचालन कर रहा है—अतः जटिल प्रश्न यह है कि क्या उसे विश्व सभ का सदस्य बनाया जा सकता है या नहीं, क्या अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिये चीन का एकागो रहना उचित है या अनुचित। आदि प्रश्नों का समाधान चीनी विदेश नीति को समझे बिना उसी प्रकार लगता है जिस प्रकार घोंडे के आगे गाड़ी रखना।

चीनी विदेश नीति के उद्देश्य—किसी या राष्ट्र की विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय हित (National Interest) की रक्षा करना है। राष्ट्रीय हित दो तरह के होते हैं—1 Vital Interest याने मुख्य हित तथा 2 Second Interest सहायक हित राष्ट्र का मुख्य हित है—सुरक्षा और सहायक हित समय और परिस्थितियों के अनुसार परिचालित और निर्धारित होते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें Object and aims उद्देश्य और लक्ष्य भी कह सकते हैं। चीन की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य इस प्रकार हैं—

1 चीन को विश्व में एक महत्वपूर्ण शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रस्थापित करना।

2, एशिया में चीन की दुःदुमी उसी प्रकार बजे जिस प्रकार पूर्वी यूरोप में रूस की और पश्चिमी यूरोप में अमेरिका की घुन बजती है।

3 उसकी विचारधारा जिसे साम्यवादी विचारधारा के नाम से जाना जाता है की अधिक से अधिक राष्ट्रों में प्रस्थापना हो।

4 कम से कम एशिया में शीघ्र ही साम्यवाद की स्थापना हो।

5 साम्यवादी गुट का नेतृत्व बन बन रूस के हाथ से धीनकर तत्पार में साम्यवाद का एक छत्र नेता बनना।

6 प्राचीन समय में जो क्षेत्र चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे उन्हें पुनः प्राप्त करना।

## चीनी विदेश नीति के साधन

चीनी विदेश नीति के उपयुक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिये चीनी नेताओं ने सशक्त साधनों को आधार बनाया है। फिर भी यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वे विभिन्न देशों के साथ, परिस्थितियों और समय के अनुसार भिन्न भिन्न साधनों का प्रयोग करते हैं। मुख्य मुख्य साधन इस प्रकार हैं—

(1) शक्ति के अनुसार छोटे छोटे राज्यों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेना। माओ ने कहा था कि 'शक्ति की प्राप्ति बटूक की नाली में से ही होती है।'

(2) हिंसा, विद्रोह, तोड़-फोड़ और विध्वंसालम्बन। कुछ वर्षों पूर्व इण्डोनेशिया में इसी तरीके का प्रयोग किया गया था।

(3) सहभूतित्व का नारा बुलंद करना—बर्मा, नेपाल आदि देशों से सीमा सम्बंधी झगड़ों का हल करना जिससे उन देशों में चीन के प्रति भावदर उत्पन्न हो और जब उन्हें देखबर और आरक्षित पायेगा तो अपने नियन्त्रण में लेने की कोशिश करेगा।

(4) सांस्कृतिक बूटनीति—लेटिन अमेरिका, अफ्रीका आदि क्षेत्रों में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिये चीन सांस्कृतिक दल, कलाकारों, साहित्यकारों आदि का आदान-प्रदान कर रहा है। पाकिस्तान में भी इसी साधन का महत्व दिया है।

(5) सम्मेलन—एशिया और अफ्रीका के देशों के सम्मेलनों में चीन विशेष रुचि से भाग लेता है। यहाँ उसके प्रतिनिधि इस क्षेत्र के नेताओं को प्रभावित करते हैं, चीन आने का निमन्त्रण देता है। चीन अब धीरे धीरे विश्व शक्ति के रूप में आविर्भाव कर रहा है उसके विश्व राष्ट्रों के साथ संबंधों का वरुण निम्न किया गया है—

### चीन-रूस संबंध

रूस और चीन के सम्बंध प्रारम्भ से ही बड़े घनिष्ठ रहे हैं। यद्यपि रूस के स्टालिन ने चीनी साम्यवादियों को 1949 ई० की ताति में सहायता नहीं दी थी तथापि अनुकूल विचारधारा ही उनकी मंत्री का आधार बन गया। चीन में माओ की सफलता के पश्चात् रूस ने शीघ्र ही मायता प्रदान कर दी। 1950 में दोनों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जो पारस्परिक सहायता, सद्भावना और मंत्री का प्रतीक थी। रूस ने चीन का 3 अरब डॉलर की सहायता दी। इसके प्रतिरुक्त रूसी वैज्ञानिक, इंजीनियर, प्रशिक्षक आदि चीन पहुँचे और चीन की प्रगति के लिये प्रयत्न करने लगे। ऐसा महसूस किया जाने लगा कि साम्यवादी गुट मजबूत हो गया है, किन्तु धीरे-धीरे यह मित्रता बर्फ की तरह पिघलने लगी।

भाज समाचार पत्रों में सर्वाधिक चर्चा का विषय चीन रूस का मतभेद (Sino-Soviet rift) है। 1956 के बाद घटना चक्र इस तरह बदला कि दोनों देश



एक दूसरे से दूर जाने लगे। डोनाल्ड जमोरिया ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि चीन और रूस का मतभेद वस्तुतः आपसी हितों के टकराव का फल है। विद्याप्रकाश दत्त इस मतभेद का प्रमुख कारण चीन और रूस को विचारधाराओं की भिन्नता मानते हैं। किंतु वास्तविकता यह है कि इन मतभेदों के कारण ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक हैं। चीन किसी भी राष्ट्र का पिछलग्गू नहीं बनना चाहता है। उसका अपना इतिहास रहा है, अपनी सस्कृति रही है जो एक समय महान थी। माओ उसी महान चीन के स्वप्न देख रहे हैं। वे अपने आपको साम्यवादी गुट का एक मात्र नेता भी मानना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में चीन और रूस का मतभेद स्वाभाविक था। ख्रुश्चेव ने 1956 की साम्यवादी पार्टियों की कांफ्रेंस में स्तालिन व लेनिन की निंदा की। सशोधनवादी नीति की भारी अप्रसन्नता ही उसके भाषण का सार प्रतीत होता है। दूसरी ओर चीन स्तालिन को अपनी नीति का आधार मानता है। चीन, ख्रुश्चेव द्वारा बतलाये हुए शांतिपूर्ण सहमस्तित्व (Peaceful coexistence) के सिद्धांत को अभ्यवहारिक मानता है। रूस शांतिपूर्ण सहमस्तित्व में विश्वास करता है और माओ कहते हैं कि राजनैतिक शक्ति बन्दूक की दुनाली से प्राप्त की जा सकती है। अतः यह मतभेद विचारों का मतभेद है, आपसी हितों का मतभेद है, साम्यवादी जगत का सवमान नेता बनने का मतभेद है। उस समय यह मतभेद स्पष्ट दिखलायी पड़ता था जब चीन ने रूस को एशियाई देशों की कांफ्रेंस में साफ इन्कार कर दिया था। चीन जानता है कि यदि रूस एशिया में अपना प्रभाव फैलाने लगा तो उसके हितों को गहरी चोट लगेगी।

सन् 1964 में ख्रुश्चेव के हटने का एक कारण यह भी माना जाता था कि उसने चीन से फालतू ही झगड़ा मोल लिया है। कोसीजिन ने सम्बन्ध सुधारने के प्रयास किये हैं किंतु चीनियों ने कहा कि नये नेता तो ख्रुश्चेव से भी अधिक साम्राज्यवादी हैं। आज भी दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़े हुये हैं। जहाँ तक नविष्य का सवाल है यही कहा जा सकता है कि दोनों ही साम्यवादी विचारधारा में विश्वास करते हैं अतः भाई-भाई का झगड़ा है, कभी भी ठीक हो सकता है। यदि चीन के नेतृत्व में परिवर्तन आया तो सम्भावनाएँ अधिक हैं। किंतु इस मतभेद से दो लाभ हुये हैं। प्रथम तो इसने छोट छोट साम्यवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को स्वतंत्र काम करने से सहायता दी है और दूसरा, इससे पश्चिमी देशों और रूस के शीत युद्ध में कमी आती जा रही है।

चीन और अमेरिका—विश्व की दूसरी महानतम शक्ति स० रा० अमरीका से भी चीन के सम्बन्ध बिगड़े हुये हैं। चीन जितना रूस से छुट्ट है, उससे कहीं अधिक अमरीका से भी। 1949 ई० की याति से पूर्व च्यांग काई शेक की कोमितांग

पार्टी चीन में शासन कर रही थी। अमरीकी डालर पानी की तरह इस पार्टी की सहायता के लिए बहाया गया। जब साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों में गृह युद्ध चल रहा था तो अमरीका ने स्पष्ट रूप से ज्वांग की सहायता की। किंतु ज्वांग की हार हुई जो अमरीकी शक्ति की बरारी पराजय थी, ज्वांग ने फारमोसा टापू में शरणली और वहाँ अपनी सरकार स्थापित की किंतु केवल अमरीका के कंधे पर ही सब कुछ हो रहा है। साम्यवादी माओ और पार्टी अमरीका के हस्तक्षेप से परेशान हैं। वे फारमोसा को साम्यवादी चीन का अभिन्न अंग मानते हैं। किंतु अमरीका ने फारमोसा की रक्षा की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले ली है। अतः फारमोसा दोनों देशों के सम्बन्धों के बीच 'चीन की दीवार' बना हुआ है। 1950 में कोरिया में युद्ध हुआ। उत्तरी कोरिया को चीनी स्वयं सेवकों ने मदद दी, दक्षिणी कोरिया की ओर से अमरीका स० राष्ट्र संधि के तत्वाधान में लड़ा—अतः असली रूप में यह युद्ध चीन अमरीकी युद्ध हो गया। इससे भी दोनों देशों के बीच सम्बन्धों का बिगड़ना स्वाभाविक था।

दोनों देशों की विचारधाराओं में भी अंतर है। अमरीकी विचारधारा 'पूँजीवादी' विचारधारा के नाम से जानी जाती है और चीन साम्यवाद का अनुयायी। अतः यह सम्बन्ध या विवाद विचारधाराओं की लड़ाई है। यह झगड़ा साम्यवादी या पूँजीवादी विश्व का झगड़ा है।

चीन एशिया में और विशेषकर दक्षिणी पूर्वी एशिया में अपनी दुहुमी बजाना चाहता है। वहाँ भी अमरीका ने 1954 में सौटो बनाकर उसका भाग भव-रूढ़ कर दिया है। आज दक्षिणी पूर्वी एशिया में चीन और अमरीका में होड़ मची हुई है। वियतनाम का युद्ध सही तौर में दोनों पक्षों द्वारा लड़ा जा रहा है। चीन भरपूर सहायता, शस्त्र ही नहीं अपितु उत्साह और साहस भी उत्तरी वियतनाम को दिला रहा है। चीन इस बात में उत्सुक है कि अमरीका जल्दी ही इस क्षेत्र से बिदा ले और फिर वह अपना नग्न नृत्य प्रारम्भ करे। दूसरी ओर अमरीका चाहता है कि एशिया के देशों में चीनी साम्यवाद का प्रसार कम से कम हो। अतः एशिया आज दोनों देशों के बीच विवाद का कारण बना हुआ है।

चीन आज तक स० राष्ट्र संधि का सदस्य नहीं बन पाया है। अमरीका यहाँ भी अपनी टाँग मढ़ाता है। जब भी अवसर आया अमरीका ने चीन की सदस्यता का विरोध किया, फारमोसा की बकायत की तथा चीन के विरुद्ध वोटों की धमकी दी।

अतः चीन और अमरीका का मतभेद उस समय से ही प्रारम्भ हुआ है जिस दिन चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई है। जहाँ एक ओर चीन ने अमरीका का विरोध किया वहाँ दूसरी ओर अमरीका ने चीन का। दोनों ही देश मित्रता का हाथ मिलाने के लिए आज राजी नहीं हैं। भविष्य के बारे में आज कुछ नहीं कहा जा सकता।

## चीन और भारत

प्रारम्भ से ही दोनों देशों में अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। भारत ने शीघ्र ही साम्यवादी चीन को मायता दे दी। भारत चाहता था कि पड़ोसी से मित्रता का व्यवहार करें। श्री नेहरू चीन के बड़े मित्र थे। 'हिंदी चीनी भाई-भाई' के नारे लगाये गये। 1954 में 'पंचशील' के सिद्धांतों को चीन ने मान लिया। भारत ने तिब्बत पर चीन की सत्ता स्वीकार कर भूखे मित्र की पेट की भाग भात करने का प्रयास किया किंतु चीनी साम्यवादियों ने मित्रता का जवाब विश्वासघात करके दिया। चीनियों ने झूठे नक्शे प्रकाशित कराये और जिनमें भारत की हजारों मील जमीन को चीन का भाग बताया। यही से मित्रता की दीवार में दरार शुरू होती है।

अक्टूबर 1962 में चीन ने सशस्त्र आक्रमण कर भारत की हजारों वर्गमील भूमि दबा ली। तब से आज तक दोनों देशों में शत्रुता की भाग प्रज्वलित है। आपसी आदान प्रदान करीब-करीब बंद सा है। चीन ने कोलम्बो प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। चीन ने भारत की भूमि को खाली करने से इन्कार कर दिया। चीन ने भारत के शत्रु पाकिस्तान से साँठ बाँध कर भारत का परेशान करने की ठान ली है। डॉ० शान्ति प्रसाद वर्मा के अनुसार चीनी आक्रमण के प्रमुख कारण हैं—

- (1) चीन भारत को एशिया में नीचा दिखाना चाहता था।
- (2) चीन अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था।
- (3) चीन सहाय्य को लेना चाहता था जो तिब्बत की दृष्टि से उपयुक्त था।

भारत ने चीन की स० रा० सघ में बकायत बार बार की थी किन्तु इसके बदले चीन में भारत को ही नीचा मुकाया। वास्तव में चीन ने समझा कि एशिया में भारत ही उससे सघष कर सकता है। भारत को मुकाबर उसने अपना अमीट प्राप्त करने की ठानी है। भारतीय नेताओं के चाहते हुये भी चीन मित्रता की बातों के लिये तैयार नहीं। चीनी कूटनीति की यह एक नवीन खाल है कि एशिया के देशों से अच्छे सम्बन्ध बनाते हुये भारत को एकांगी कर देना। भारतीय जनता चीनी खतरे से जग गयी है। यह शत्रुता राजनीति तक ही सीमित नहीं है अपितु जन जन के हृदय में धुल गयी है।

## चीन और पाकिस्तान

चीन और पाकिस्तान के सम्बन्ध विश्व राजनीति में एक नवीन कूटनीति की सृष्टि करते हैं। प्रारम्भ में दोनों देशों के सम्बन्ध मधुर नहीं थे। पाकिस्तान अमेरिकी गुट का एक सक्रिय सदस्य था। वह 'सीटा' का सदस्य बना जिसे अमेरीका ने एशिया में चीनी साम्यवाद के प्रसार का रोकने के लिए बनाया था। चीन इस कारण से पाक से रूठ था ही। अतः प्रारम्भ से 1954 तक दोनों देशों के सम्बन्ध 'ठण्डे' थे। ये प्रमुखतः भौगोलिक राजनीति (Geo Politics), कारण व परिस्थितियों,

राजनैतिक यथार्थवाद तथा पाकिस्तान की जागरूकता आदि तत्वों से परिचालित हुये थे। 1954 से 1960 तक के सम्बंध एक दूसरे का अप्रत्यक्ष रूप से विरोध करना तथा गुटबन्दी के तथ्य से संचालित हुये। 1962 के बाद दोनों देशों के सम्बंधों को एक लेखक के शब्दों में 'The phase of intimacy and exit' मित्रता का युग कहा जा सकता है।

फरवरी 1962 में दोनों देशों के मध्य पाक अधिकृत कश्मीर के विषय में सीमा समझौता भी इसी के बाद हुआ। अक्टूबर 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण किया। पाकिस्तान के विदेश मंत्री जुलफिकर अली भुट्टो ने चीन का पत्र लिया। 1963 में चीन ने भारत-पाक सीमा विवाद में पाक स्पष्ट समर्थन करना शुरू कर दिया। सन् 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया और चीन ने स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। चीन ने भारत विरुद्ध पाकिस्तान के प्रति राजनैतिक तथा नैतिक सहानुभूति व्यक्त की। चीन ने जो तीन दिन का 'मल्टीमेटम' (3 days ultimatum) भारत को दिया वह पाकिस्तान को सहायता देने के उद्देश्य से ही था। वर्तमान समय में चीन और पाकिस्तान के हाथ एक ही पाली में धुलते हैं। दोनों देशों के नेताओं ने, एक दूसरे देश की यात्रायें कर ली हैं। कई प्रकार के समझौते हुये हैं। चीन पाकिस्तान को आस्त्रों से लगाकर अन्य प्रकार की सहायता दे रहा है। पाकिस्तान अब अमरीका का भी उतना पिछलग्गू नहीं है जितने अब वह चीन का मित्र बन गया है।

चीन और पाकिस्तान की मंत्री के कारण इस प्रकार हैं—

(1) पाकिस्तान इस सिद्धांत पर कूटनीति का प्रयोग कर रहा है कि 'शत्रु का शत्रु हमारा मित्र है' (The enemy of our enemy is our friend)

(2) दूसरा कारण जिसे पाकिस्तान कह सकता है 'सुरक्षा की भावना' है (Sense of Security against India)

(3) तीसरा कारण, पाकिस्तान एशिया और अफ्रीका के देशों को यह बताना चाहता है कि वह अमरीका का पिछलग्गू नहीं है, उसकी विदेश नीति में स्वतंत्र नियम बनने की रीति है।

(4) चीन का उद्देश्य है कि उसके चारों ओर अमरीका ने जो घेराव कर रखा है उसे कम करना। स० रा० अमरीका ने विभिन्न प्रकार के समझौतों से चीन के चारों ओर उसके समयन की दीवार खड़ी कर दी है, उसे छोड़ना।

(5) चीन सोचता है कि यदि उसने अमरीकी गुट बन्दी की दीवार को तोड़ने में सफलता प्राप्त कर ली तो वह अमरीका की राजनैतिक पराजय होगी।

अतः सक्षिप्त रूप से पाक चीन मैत्री पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान इसे 'मारवा' के विरुद्ध एक सफलता मानता है वहाँ दूसरी ओर चीन

इसे 'अमरीका' के विरुद्ध एक प्रयत्न मानता है। यही कारण है कि चीन बार-बार 'पाकिस्तान की स्वतंत्र प्रभुसत्ता' की बाग (Independence and sovereignty of Pakistan) देता है। इस प्रकार के सम्बन्धों को बनाने में पाकिस्तान के 1964 में विदेश मंत्री भुट्टो का विशेष हाथ है जो चीन को, पाकिस्तान का 'बड़ा भाई' कहते थे।

चीन पाक के भविष्य के सम्बन्धों के विषय में एक लेखक ने ठीक ही कहा है— कि पाक चीन सम्बन्धों का भविष्य "भारत चीन", "भारत-पाक" तथा 'पाक अमरीकी' सम्बन्धों की गतिविधियों पर निर्भर करता है। किन्तु फिर भी दो कारणों से इसमें परिवर्तन के ज्वार आयेंगे—(1) पहला कारण है कि पाकिस्तान आधिक्य और सैनिक सहायता के लिये अमरीका पर आज भी निर्भर है। (2) दूसरा कारण है कि सोवियत संघ ने अब पाकिस्तान की विदेश नीति को अपनी ओर मोड़ने के लिये प्रयत्न करने शुरू कर दिये हैं।

### चीन और एशिया

चीनी विदेश नीति को प्रभावित करने वाला तत्त्व एशिया की वर्तमान स्थिति और चीनी आकांक्षायें हैं। चीन चाहता है कि जिस प्रकार रूस ने पूर्वी योरोप में अपने पिछलग्गू राज्यों का निर्माण किया है उसी प्रकार चीन भी एशिया में ऐसे राज्यों का निर्माण कर अपने प्रभाव क्षेत्र तथा शक्ति में वृद्धि कर सकता है। एशिया में विशेष कर दक्षिणी पूर्वी एशिया में चीन को विश्वास है कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं ताकि उसके मनसूबे पूरे हो सकते हैं। अस्थिरता, गरीबी, आधिक्य कमजोरी, तथा साम्यवादी दल इस क्षेत्र के सभी छोटे मोटे देशों जैसे लाओस, कम्बोडिया, वियतनाम, इण्डोनेशिया आदि में विद्यमान है। चीन चाहता है कि इन देशों में क्रांति करवा कर, अल्पवस्था फैलाकर, शासन सत्ता को साम्यवादियों के हाथों में दिलाया जा सकता है, जिन पर चीन का प्रभाव बना रहेगा। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर चीन ने 1965 में इण्डोनेशिया से पहले घनिष्ट मित्रता स्थापित की, बाद में वहाँ की साम्यवादी पार्टी को मदद देनी शुरू की और क्रांति करवादी जो असफल हुई। इस उदाहरण से चीनी की आकांक्षायें स्पष्ट हो गयी हैं। चीन एशिया में साम्यवाद का प्रसार चाहता है। चीन एशिया का सख्तमाय नेता बनना चाहता है। वियतनाम युद्ध में, वह इसीलिये साम्यवादियों को मदद कर रहा है। वह अमरीकी प्रभाव को हटाकर 'शक्ति शून्य' (Power vacuum) करना चाहता है ताकि उसके उद्देश्य पूरे हो सकें। इसीलिये चीन ने नेपाल, बर्मा तथा पाकिस्तान से अपने सम्बन्ध सुधारे ताकि यह सिद्ध जायें कि चीन शक्ति से रहना चाहना है। उन देशों को इस मुलावे में देखकर पाकर वह क्रांति करवा अपने उद्देश्य की पूर्ति करवाना चाहता है। एशिया में चीन भारत का अपना प्रतिद्वन्दी समझता है अतः भारत को भी वा भुकाकर उसने सब देशों से सम्बन्ध सुधारने की नीति अपना ली। इन देशों में

उसने अधिक सहायता के अतिरिक्त सांस्कृतिक कूट नीति (Cultural diplomacy) को आधार बनाया है।

### चीन और अफ्रीका

साम्यवादी चीन की विदेश नीति अफ्रीका महाद्वीप में बिल्कुल स्पष्ट है। वह अफ्रीका में अपना कोई विस्तार नहीं चाहता। इसका कारण है कि वह भौगोलिक दृष्टि से दूर है। वहाँ अफ्रीकी राष्ट्र भी इस बात से परिचित हैं। वहाँ वह रुसी और अमरीकी प्रभाव को कम करना चाहता है। चीन के प्रधान मंत्री ने कई बार अफ्रीका के देशों की यात्रायें की हैं अफ्रीकी नेताओं को चीन में आमंत्रित किया है। चीन अफ्रीकीवासियों को कहता है कि हम सुम भाई भाई हैं, साम्राज्यवादियों द्वारा सताये हुये हैं, साम्राज्यवादियों ने ही रंगभेद की नीति का अन्वयाया है। चीन का प्रधान उद्देश्य यहाँ सांस्कृतिक प्रसार है। चीन अमरीका का प्रभाव भी समाप्त करना चाहता है। यथायथा दृष्टि से सोचा जायें तो चीन की नीति अफ्रीका में सफल हो रही है। अमरीका रंगभेद नीति तथा पश्चिमी साम्राज्यवादियों का साथी होने से अधिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पायेगा। अभी अफ्रीका में रूस उतनी रुचि नहीं ले रहा है, अतः अफ्रीका में चीन की विदेश नीति की सफलता के अवसर अधिक हैं।

### चीन और संयुक्त राष्ट्र सघ

संयुक्त राष्ट्र सघ शान्ति प्रेमी राष्ट्रों का संगठन है किन्तु आज तक साम्यवादी चीन का इसकी सदस्यता नहीं मिल पायी है। फारमोसा को ही चीन की वैध सरकार माना जा रहा है। जबकि दूसरी ओर साम्यवादी चीन को विश्व के प्राये से अधिक राष्ट्रों ने मान्यता प्रदान कर दी है। यह एक विचित्र बात है कि विश्व की बहुत बड़ी जनसंख्या विश्व सस्था में दूर है। क्या चीन स० रा० सघ का सदस्य बनने का इच्छुक है? चीन को सदस्य नहीं बनाने से क्या कोई लाभ है?

चीनी नेताओं ने बार बार कहा है कि वर्तमान परिस्थितियों में चीन स० रा० सघ में कोई महत्वपूर्ण पाठ भ्रष्टा नहीं करना चाहता। किन्तु वास्तविकता यह है कि जब स० रा० सघ के चाटट में सशोधन किया जा रहा था तो चीनी नेताओं ने कहा था कि बिना चीन की स्वीकृति के ये सशोधन म.य नहीं होंगे। अतः प्राथमिक रूप से चीन सघ का सदस्य बनने का इच्छुक है।

जो लोग चीन का विरोध करते हैं उनका कहना है कि (1) स० रा० सघ एक शान्ति प्रेम सस्था है और चीन युद्ध तथा शक्ति में विश्वास करता है अतः इससे सस्था के उद्देश्यों में बाधा आयेगी। (2) दोनों चीन को सस्था में नहीं लिया जा सकता क्योंकि अन्य किसी बड़े हुये राष्ट्र को भी सस्था में स्थान नहीं दिया गया है। (3) चीन 1950 में स० रा० सघ के विरुद्ध सटा था अतः चीनीयों को स० रा० का सदस्य नहीं बनाया जा सकता।

वास्तविकता यह है कि अमेरीका चीन की सदस्यता के विरुद्ध है और वह चीन का प्रयोग कर इसे रोक सकता है। अमेरीका जानता है कि साम्यवादी चीन को सदस्य बनाने का मतलब होगा फारमोसा का नैतिक पतन। प्रारम्भ में रुस ने चीन की सहायता की बकालत की थी। भारत ने भी खूब सहायता की। किंतु फिर भी आज तक चीन को सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी है।

**उपसंहार—**उपगृह विवेचन से चीनी विदेश नीति की आधारभूत विषयतायें तथा सफलतायें स्पष्ट हो जाती हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की कूटनीति सफल रही है। संक्षेप में,

(1) चीन अपनी विदेशनीति के फलस्वरूप एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में अवतरित हुआ है तथा उसने सारी विश्व (Two Power Block Theory) को ही बदल दिया है।

(2) चीन एशिया तथा अफ्रीका में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने में सफल हुआ है। आज एशिया के राष्ट्र चीनी शक्ति से भयभीत नजर आ रहे हैं।

(3) चीनी विदेश नीति एक स्वतंत्र आत्मनिर्भर नीति का आदर्श उपस्थित करती है।

(4) चीन अमेरीकी गुट में तथा रुसी गुट में दरार उत्पन्न करने में सफल हुआ है। उसने पाकिस्तान, फ़ारस तथा मलेशिया को अपनी ओर खींच लिया है।

किंतु चीन की विदेश नीति का आधार है 'शक्ति' (Power) जो एक स्थायी आधार नहीं कहा जा सकता है। शक्ति के बलबूते पर प्रभाव अधिक स्थायी नहीं होते। फिर भी विदेश नीति के अर्थ आधार कूटनीति है, इस दृष्टि से चीन की कूटनीति जिसे मुख्यतः सांस्कृतिक कूटनीति (Cultural diplomacy) कहते हैं एक सफल आधार है। आज चीन के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ हैं—अमेरीका, रुस जिनका प्रभाव सत्र छाया हुआ है, चीन को इनका मुकाबला करने में पसीना छोड़ेगा क्योंकि आर्थिक दृष्टि से चीन अभी बहुत पिछड़ा हुआ राष्ट्र है अतः विदेश नीति के आधारों में समुचित समन्वय करना ही चीन नीति निर्धारकों के सामने एक प्रश्न बिन्दु है ?

# अमेरिका की वर्तमान विदेश नीति

## (Foreign policy of United States)

पिछले पृष्ठों (239-246) में हमने संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का ऐतिहासिक स्वरूप वर्णित किया है। वस्तुतः अमेरिका की विदेश नीति एक विकासमान, तथा गतिशील नीति रही है और देश की आंतरिक तथा बाह्य विश्व की घात परिस्थितियों से प्रभावित रहो है। स्थायी तौर पर अमेरिका की भौगोलिक, आर्थिक, सवधानिक, मानवीय तथा राजनीतिक तत्वों ने उसकी नीति को मूलभूत स्वरूप प्रदान किया है और इन तत्वों से निर्मित अमेरिकी शक्ति अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की परिधि में परिलक्षित हुई है। भौगोलिक दृष्टि से अमेरिका एक प्रभावशाली देश है। ब्लैक व थाम्पसन के अनुसार "भौगोलिक दृष्टि से अमेरिका विश्व का एक भाग्यशाली देश है। यह दो समुद्रों से लगा हुआ है मत यह विश्व में दो प्रमुख व्यापारिक क्षेत्रों को प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है।" X आर्थिक दृष्टि से अमेरिका के पास कच्चा माल है। कूड ऑयल, तांबा आदि का उत्पादक है और खेती की दृष्टि से भी अति उन्नत देश है। अमेरिका में प्रति व्यक्ति आय विश्व के सभी देशों से अधिक है। इसकी सैनिक शक्ति भी कम नहीं है। जॉर्ज वाशिंगटन के समय से प्रचलित दृष्टिकोण 'युद्ध के लिए सदैव 'तत्पर रहना' शांति के लिए प्रभावकारी उपाय है', आज भी लागू होता है और उसकी शक्ति दिनों दिन बेहतर होती जा रही है। सवधानिक दृष्टि से विदेश विभाग एक उच्चस्तरीय वैज्ञानिक ढंग से संचालित होता है। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति को वदेशिक मामलों में अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं किंतु राष्ट्रपति उनका प्रयोग मनमाने तौर से नहीं कर सकता। 'डिपार्टमेंट ऑफ स्टेट' वदेशिक मामलों में एक विशेष उत्तरदायित्व का पालन करता है। सम्पूर्ण निराश्रित जनतांत्रिक दृष्टिकोण की साधारणतया रक्षा की जाती है यद्यपि केवल 25% जनसंख्या विदेश नीति के मसलों में पूर्ण दिलचस्पी लेती है।

अमेरिका की विदेश नीति के उद्देश्य किसी अन्य देश की विदेश नीति से मुख्यतः भिन्न नहीं है। उद्देश्यों में वही भी परिवर्तन अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तन तथा आंतरिक शक्ति निर्माण से आया है। अमेरिका भी जनतंत्र की रक्षा, देश की सुरक्षा, विश्वशांति की प्राप्ति आदि में सलग्न है किंतु उसकी 'राष्ट्रहित की परिभाषा परिस्थिति अनुकूल परिवर्तित होती रही है जिसका वर्णन हम पिछले पृष्ठों में कर आये हैं। अब हम वर्तमान अमेरिकी विदेश नीति का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से

X ब्लैक व थाम्पसन दो यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका—फॉरेन पॉलिसी एंड वॉल्ड आफ चेंज पे-700



करना चाहते हैं—(1) अमेरिका की नीति कॅनेडी व जॉनसन युग में, तथा (2) अमेरिका व विश्व के अग्र महत्वपूर्ण राष्ट्र तथा विश्व समस्याएँ ।

### कॅनेडी की विदेश नीति

राष्ट्रपति कनेडी ने 20 जनवरी 1960 को जब शासन की बागडोर राष्ट्रपति के रूप में समाली, उस समय 'शीत युद्ध' बहुत प्रबल था । एक ओर कनेडी जैसे एक युवा किन्तु साहसी व चतुर राष्ट्रपति और दूसरी ओर रूस के प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव जो वयोवृद्ध तथा उच्च सूक्ष्म-बुद्धि वाले व्यक्ति के बीच मुकाबला था । जर्मनी से संबंधित बर्लिन का भगड़ा पुनः एक बार जोर पकड़ रहा था और इस सम्बन्ध में मई का शिखर सम्मेलन असफल हो चुका था । कॅनेडी के सत्तास्पर्द्धा होने के समय लामोस, क्यूबा भी मकट के घर बने हुए थे । कॅनेडी का यद्यपि राष्ट्रपतित्व काल बहुत छोटा था किन्तु इस अल्प दौरान में उन्होंने अमेरिकी विदेश नीति को बहुत सशक्त बना दिया था । उनका विश्वास था कि शीत युद्ध से उत्पन्न समस्याएँ वार्तालाप से सुलझायी जा सकती हैं किन्तु अमेरिका की सैन्य शक्ति भी रूस के विपरीत प्रबल रहनी चाहिये । राष्ट्रपति कॅनेडी की विदेश नीति की निम्न विशेषताएँ थी —

- (1) अमेरिका को अपनी सैन्य शक्ति को बढावा दिया, जो गुरिला-युद्ध पद्धति का मुकाबला कर सके ।
- (2) सशस्त्र नियंत्रण तथा निशस्त्रीकरण की ओर पर्याप्त कदम उठाना आवश्यक है अतः विश्व देश इस ओर सन्तुष्ट किये गये ।
- (3) अमेरिका अपनी विदेशी आर्थिक सहायता को दीर्घ कालीन आधार पर देगा ।
- (4) अमेरिका की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण भाग क्षेत्र 'लेटिन अमेरिका' है जहाँ कस्ट्रोइज्म जैसी शक्तियों का दमन करना है और अमेरिका यह यत्नाना चाहता है कि वह तानाशाही शासकों का समर्थक नहीं है ।
- (5) कनेडी ने शिखर सम्मेलन नीति का विरोध किया तथा उसके स्थान पर पारस्परिक वृत्तनीति का समर्थन किया । यह राष्ट्र नेताओं से व्यक्तिगत आधार पर, यात्रा द्वारा, भाषणी विनिमय द्वारा भगड़ों का निपटारा करने में असमर्थ रहते थे । 1961 में ख्रुश्चेव से कनेडी की व्यक्तिगत मीटिंग इसका उदाहरण थी ।
- (6) राष्ट्रपति कनेडी विश्व में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के पक्ष में नीति साना चाहते थे जिससे अहिंसात्मक तंत्र समाप्त हो सके । इसके लिये उनका दृष्टिकोण था कि अमेरिका के भीतर जातीय भेद समाप्त हो, सभी को समान अधिकार मिले और राष्ट्रीय धन का प्रयोग शिक्षा, विज्ञान तथा वैराज्यकारी को रास्त करने में लग जाय ।

इस विदेश नीति के परिणाम स्वरूप राष्ट्रपति कॅनेडी प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव से मिलकर इस नतीजे पर पहुँचे कि शीतयुद्ध दोनों गुटों में अस्पष्टता, सदेह के कारण बढ़ रहा है। साम्यवाद की समस्या के हल के लिए उन्होंने सोवियत मत को प्रभावित किया। साम्यवादी गुट की ओर उन्होंने सह अस्तित्व की नीति अपनायी। उन्होंने 'नाटो में विच्छेद' की नीति को रोका और क्षेत्रीय परिपदों में राष्ट्रों को सहयोग की ओर दबाव डाला। जर्मनी के मामले पर राष्ट्रपति कॅनेडी ने बड़ी दृढ़ता से सोवियत सच को चेतावनी दी कि रूस की एक पक्षीय कायबाही का अमेरिका कभी समर्थन नहीं करेगा।

**क्यूबा का सफ़ट—**'कनेडी युग' की विदेश नीति की सबसे बड़ी सफलता क्यूबा में मिली। क्यूबा में बढ़ता हुआ 'कैस्ट्रोवाद' अमेरिका के लिए बड़ा भयानक खतरा था और रूस उसे साम्यवादी गुट में खँच रहा था। साम्यवादी रूस ने अमेरिका के विरोध के बावजूद भी गगन भेदी प्रक्षेपास्त्र तथा अन्य अन्य सामग्री क्यूबा को भेजने का निश्चय किया। यह अमेरिका को चुनौती थी और कॅनेडी शांति का पुजारी होते हुए भी यथायथा की सबलता से मुकाबला करने को कटिबद्ध थे। 4 मितम्बर 1962 को राष्ट्रपति कनेडी ने अपने वक्तव्य में बतलाया कि क्यूबा में रूसी नीति जो सैनिक भण्डारे बनाने की है वह अमेरिका के लिए खतरा है और अमेरिका रूस को ऐसा कभी नहीं करने देगा। यद्यपि यह भी सत्य है कि—अमेरिका स्वयं सैनिक भण्डारे बनाने की ओर प्रयत्नशील रहा है तो वह रूस को इस अधिकार से नहीं रोक सकता था किन्तु शक्तिशाली राष्ट्र होने के नाते इसने उसका विरोध किया और 23 अक्टूबर 1962 को राष्ट्रपति कनेडी ने घोषणा की "अमेरिका के जहाजों द्वारा क्यूबा के बंदरगाहोंको घेर लिया जाय ताकि रूस द्वारा यहाँ के भण्डारों पर आणविक सामग्री न भेजी जा सके।" घोषणा के परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए विश्व में युद्ध के बादल मँत्राने लगे किन्तु प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने दूरदर्शिता से स्थिति को नियंत्रित किया और सामरिक सामग्री को भेजने का निषेध वापस ले लिया। किन्तु इस घटना का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि रूस व अमेरिका के बीच सह अस्तित्व की नीति बढ़ने लगी, शीत युद्ध में कभी आधी और 26 जूलाई 1963 को अमेरिका, ब्रिटेन, रूस आदि देशों ने धरु परीक्षण निरोधक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसका भारत ने भी समर्थन किया।

**राष्ट्रपति जॉनसन की विदेश नीति—**राष्ट्रपति कॅनेडी के चार वर्ष समाप्त होने के पूव ही उनकी हत्या कर दी गई और 22 नवम्बर 1963 को लिडन जॉनसन जो उपराष्ट्रपति थे राष्ट्रपति बने। यद्यपि राष्ट्रपति जॉनसन ने सत्ताह्व्य होने पर यह वायदा किया था कि वे कनेडी नीति का ही पालन करेंगे, उन्होंने विदेश नीति के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण बदल उठाये। ये बदल हालांकि अमेरिकी नीति के विवक्षित स्वरूप ही थे तथापि ये स्वयं में नवीन थे। ये इस प्रकार थे —



दोवार को और भी बढ़ा दिया। इस युद्ध के पश्चात् अमेरिका ने चीन के प्रभाव से राष्ट्रों को मुक्त करने की खुली नीति अपनायी। सीटो का निर्माण चीन के अनुसार उसके विरुद्ध एक खुला बंदग था। अमेरिका ने लाल चीन को कभी मायता नहीं प्रदान की और संयुक्त राष्ट्र सच में उसके प्रवण पर वीटो का प्रयोग किया।

दूसरी ओर चीन ने अमेरिका पर यह दोषारोपण किया कि अमेरिका एक साम्राज्यवादी देश है और आर्थिक गुलामी की स्वतंत्र राष्ट्रों पर जजोर डाल रहा है। चीन का कथन है कि साम्राज्यवादी अमेरिका शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। चीन की मायता है कि अमेरिका ने जो द्वीप अपने पास दबा रखे हैं जब तक लौटाया नहीं वह चैन से नहीं बैठेगा। माओ के अनुसार अमेरिका शीघ्र ही नष्ट होने वाला देश है। X चीन ने अमेरिका के सम्बन्ध में जो शब्द प्रयोग किये हैं जैसे—कागजी शेर (Paper Tiger) अमेरिकी जाल व भ्रामकबाजी (Trick & Fraud) उससे विरोधी भावनाएँ बढ़ीं। चीन का यह परका दृष्टिकोण है कि यदि विश्व में अणु युद्ध हुआ, जो आवश्यक भी है, तो अंत में चीन की विजय होगी क्योंकि उसकी जनसंख्या बहुत अधिक है।

चीन ने अमेरिका के विरुद्ध उत्तरी वियतनाम की सहायता दी। वह दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अमेरिका के विरुद्ध मोर्चा बना रहा है तथा उत्तरी वियतनाम को सतत युद्ध के लिए प्रेरित कर रहा है। चीन ने अमेरिकी सहायक के विरुद्ध पाकिस्तान से समझौता किया। वह जापानियों को अमेरिका के विरुद्ध उकसा रहा है। साम्यवादी नेता कुमो मो-ओ ने घोषणा की कि अमेरिका चीन व जापान का शत्रु है। चीन रूस को भी अमेरिकी पिटू की सजा देने लगा है। चीन अणुबम का निर्माण कर अमेरिकी व रूस की अणुशक्ति के समान शक्तिवात् बनने में अग्रसर है। चीन ने कनेडी को ब्राइजनहॉवर से बदतर घोषित किया और माओ शक्ति सच में अमेरिका को पछाड़ देना चाहता है।

यद्यपि अमेरिकी चीन विवाद एक ऐतिहासिक घटना के रूप में बदल चुका है। दोनों में विरोध की मात्रा निकट भविष्य में समाप्त होने वाली नहीं है। चीन अमेरिका के उस समय तक निकट नहीं आयेगा जब तक वह अमेरिका के सापेक्ष सबल नहीं, दोनों चीन मिला लिए न जायें और चीन के वर्तमान नेतृत्व में जब तक आमूल परिवर्तन न लाया जा सके।

x Mao confidently predicted 'If the U S monopoly capitalists group is bent on carrying out its policy of aggression and war the day will certainly come when humanity will hang it by the neck A similar fate awaits the accomplices of the U S

### रूस-अमेरिकी निकटता

बगुबा सफट के पश्चात् रूस व अमेरिका के बीच शीत युद्ध की समाप्ति तथा सह प्रतिस्पर्ध की भावना सबल हो रही है। यह निकटता कई कारणों से विकसित हो रही है और इनमें प्रमुख कारण रूस अमेरिका की समान सामरिक शक्ति (Balance of terror) तथा चीन का आधिपत्य है। ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि से रूस चीन की अपक्षा यूरोप तथा अमेरिका के अधिक निकट है। दोनों ही देश मतभेद होने पर भी चीन से अपने को अधिक शक्तिशाली रखना चाहते हैं। अणु प्रयोग नियंत्रण संधि, तथा 1968 की परमाण्विक संधि (Non proliferation Treaty) पर हस्ताक्षर कर दोनों ने आपसी महयाग का परिचय दिया। दोनों ही बड़े राष्ट्र आंतरिक शक्ति तथा सम्पन्नता के विकास में मत्तग्न हैं। दोनों ही ने असलगतता की नीति का समर्थन किया है तथा दोनों ही भारत-पाक युद्ध, अरब-इजराइल युद्ध में युद्ध विरोधक नीति के समर्थक रहे। इस सबके बावजूद भी रूस व अमेरिका के बीच विरोधी विचारधारा से मतभेद बना हुआ है। जर्मनी, वियतनाम, हंगरी आदि प्रश्नों पर दोनों में विरोध जारी है, यद्यपि उसकी विरोध की मात्रा में बहुत कमी आती जा रही है।

विदेशनीति की आलोचना या मूल्यांकन—उपयुक्त विवरण से अमेरिका की विदेश नीति के सम्बंध कुछ बातें बड़ी स्पष्ट हैं। अमेरिका की विदेश नीति में यथार्थता वास्तविकता तथा व्यवहारिकता का पुट बड़ा तेजी से बढ़ रहा है। कुछ समय पूर्व जॉर्ज कनन सेंटर जसे व्यक्तियों ने अमेरिकी विदेशनीति को आदेशवादी कहकर प्रशंसा तथा आशंका व्यक्त की थी। अमेरिका की विदेश नीति 'अदृश्य' (The ugly American) के अनुसार असफल है। यद्यपि, इस लेखक के मत में अमेरिका ने पूर्वीय राष्ट्रों के उत्थान में इतना धन खर्च किया किन्तु उसका परिणाम अत्यन्त न्यूनतम व प्रभावहीन रहा है। दूसरा, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिका के प्रत्येक राष्ट्रपति ने अपनी विदेशनीति का एक प्रमुख वाक्य चुना जैसे राष्ट्रपति ट्रूमैन ने टर्की व ग्रीस को, राष्ट्रपति आइजन हावर ने मध्य एशिया को, राष्ट्रपति कनेडी ने लेटिन अमेरिका और राष्ट्रपति जॉनसन ने वियतनाम को। सभी राष्ट्रपति इस प्रकार एक नये सिद्धान्त की घोषणा करना चाहते रहे हैं। जैसे की 'मुनरो सिद्धान्त', 'आइजन हावर सिद्धान्त' आदि। सभी राष्ट्रपतियों ने 'मुनरो सिद्धान्त' को लेटिन अमेरिका से बढ़ाकर विश्व में फैलाने का सफल प्रयत्न किया है। तीसरा अमेरिकी विदेशनीति की एक यह भी आलोचना की गई है कि राष्ट्रपति के व्यक्तित्व का अमेरिकी विदेश नीति निर्धारण में प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। चौथा, अमेरिका की विदेशनीति अवसरवादिता (Opportunism) की समर्थक रही है। अमेरिका एक और जनतन्त्र की दुहाई देता है तथा दूसरी ओर वह स्पेन में फ्रांकी का पथक है। पाकिस्तान में फौजदारी माशन अथवा, राष्ट्रीय चीन में चांग काई शेक,

दक्षिणी कोरिया में सिंगमेनरी तथा वियतनाम में बाओदाई जो सभी अधिनायकवादी रहे हैं। पाचवाँ, अमेरिका की वियतनाम नीति अमेरिका से बाहर के देशों में ही नहीं, बरन् अमेरिका के भीतर भी तीव्र आलोचना का विषय बना हुआ है। इसलिये राष्ट्रपति जॉनसन अमेरिका में होने वाले नवीन चुनावों में उम्मीदवार नहीं हैं। बल्कि राष्ट्रपति पद के लिये अग्रे उम्मीदवार भी वियतनाम नीति की तीव्र आलोचना कर रहे हैं। किसी भी अग्रे विषय पर अमेरिकी मत इतना विभाजित नहीं हुआ है जितना कि वियतनाम समस्या पर। छठा, अमेरिका की आर्थिक सहायता की नीति जो राजनीतिक हितों से बंध गई है, विकासवादी देशों में आलोचना का विषय बन गई है। सातवाँ, अमेरिका की संयुक्त राष्ट्र सच के अंतर्गत नीति, जातीय रंगभेद नीति तथा सशोध परिपक्व व सैनिक शत्रु की नीति का भी विश्व में बड़ा विरोध हुआ है।

इन सभी कमियों के बावजूद भी अमेरिकी नीति विश्व में काफी सफल है। अमेरिका ने विश्व को साम्यवादो से बचाया है। दुनिया के मण्डल देशों के आर्थिक व राजनीतिक विकास में अमेरिका ने सबसे अधिक सहायता पहुँचायी है। अमेरिका द्वारा दक्षिणी वियतनाम चीन के उत्तरोत्तर बढ़ते हुये हस्तक्षेप को रोकने के जो कदम उठाये हैं वे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के जनतन्त्र की रक्षा के लिये परमावश्यक हैं। अमेरिकी सरकार की क्यूबा नीति एक सफलता की परिचायक है। अमेरिका अपनी आर्थिक सबलता के कारण विश्व की आर्थिक विध्वंस से बचाकर पिछड़े राष्ट्रों को स्वतन्त्रता की उमोति रक्षित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

# रूस की वर्तमान विदेश नीति

## ( Russian Foreign Policy )

सावियत रूस की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धांतों तथा स्तालिन की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद तक का बखान हम पिछले पृष्ठों में ( 228-238 ) विस्तार से कर चुके हैं। स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् रूस की विदेशनीति में विशेष मोड़ आया और उस परिवर्तन के प्रमुख नेता ख्रुश्चेव तथा कोसीजिन रहे हैं। विदेश नीति में इस मोड़ को जानने के हेतु हमें सोवियत रूस को प्रभावित करने वाली आंतरिक व बाह्य घटनाओं का ज्ञान आवश्यक है।

5 मार्च 1943 को स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् रूस में शक्ति त्रय-समय पार्टी, पुलिस व सेना शक्ति में प्रारम्भ हुआ। संक्षिप्त में इस त्रय समय की इतिवृत्ति अतिरिक्त सुरक्षा शक्ति के अध्यक्ष बरिया के पतन ( दिसम्बर 23, 1953 ), माशल योरासोलोव के राष्ट्रपति पद पर नियुक्ति तथा 8 फरवरी, 1955 को मस्कोव के स्थान पर माशल बुलगानिन के पद स्थापन से हुई। इस नवीन शक्ति व्यवस्था में निकेता ख्रुश्चेव की सावियत कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय समिति के सचिवालय के अध्यक्ष के रूप में नियुक्ति की गई। यह पद ख्रुश्चेव के पूर्व स्वयं स्तालिन के अधीन था, और इसीलिए उक्त पद पर ख्रुश्चेव की नियुक्ति को पश्चिम राष्ट्रों की दृष्टि में 'नवीन स्तालिन' के रूप में समझा गया। यह सत्य भी निकला क्योंकि ख्रुश्चेव धीरे-धीरे अपने प्रतिद्वन्द्व को अशक्त करते हुये स्वयं शक्तिशाली बन गया। उसने 3 जून, 1957 को मोलोतोव व मलन्कोव को पदच्युत किया, 26 फरवरी 1957 को माशल जुकोव का पदोन्मुख किया और मार्च 27, 1958 को माशल बुलगानिन को पदातिरिक्त कर स्वयं ने उस शक्ति व पद को ग्रहण कर लिया।

आंतरिक दृष्टि के निकेता ख्रुश्चेव ने इस शक्ति परिवर्तन व समय के दौरान में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। प्रथम, उसने स्तालिन के व्यक्तिगत नेतृत्व सिद्धांत के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) को प्रमुखता दी। दूसरा निकेता ख्रुश्चेव ने पदोन्नत होते ही 'स्तालिनवाद' का तीव्र खंडन किया। 1956 की 20 वीं पार्टी कांग्रेस में उसने स्तालिन को असम्य दोषों व त्रुटियों का नेता पापित किया और उसके कार्यों व नीतियों की भारी भत्तना व निंदा की\*।

\* An amusing story was circulating in Moscow in March 1956 that Khrushchev following his denunciation of Stalin, received an anonymous note asking what he had been doing when Stalin was alive to stop the terror Khrushchev read the note to the Congress and demanded that the author stand up. No one volunteered. So Comrades said Khrushchev. Now you know what I was doing when Stalin was alive. I did not stand up either.

अक्टूबर 1961 में उसने 'स्तालिनवाद' का खंडन करते हुये स्तालिन के मृतक शरीर को रेड स्क्वायर में स्थापित लेनिन ट्यूब से हटाकर दुबारा दफनाया। तीसरा, उसने रूस में विद्यमान अपने बड़े बड़े प्रतिद्वन्द्वियों जैसे मोलोटोव तथा राष्ट्रपति बोरोसिलोव आदि को पार्टी सदस्यता से वंचित करने की धमकी दी।

बाह्य दृष्टि से, रूस की विदेशनीति में परिवर्तन लाने वाली कुछ महत्वपूर्ण घटनायें हुयीं उनमें हंगरी कांड, पोलैंड समस्या, लाल चीन का सशक्त होना व रूस-चीन मत विभेद, अमेरिका में राष्ट्रपति केर्नेडी की नियुक्ति, युगोस्लावियामें टीटो-पक्षीय शक्ति वेग आदि थे। स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् तथा ख्रुश्चेव के उत्थान के बीच रूस की नीति में जो परिवर्तन आने लगे थे वे मुख्यतः इस प्रकार थे—लौह भावरण का अन्त, नवीन आर्थिक सहायता की कूटनीति, शांतिपूर्ण सह अस्तित्व तथा देश विदेशों से आपसी भ्रमण विनिमय द्वारा सांस्कृतिक व राजनीतिक सम्पर्क स्थापित करना आदि मोड़ रूस की विदेश नीति में आने लगे थे। स्तालिनोत्तर विदेश नीति की दो प्रमुख विशेषतायें सामने आयी और वे अमेरिका की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण थीं, (1) रूसका यूरोपीय भाग में प्रवेश और चीन से राजनीतिक समझौता और दूसरा (2) रूस से बाहर अन्य साम्यवादी देशों से राजनीतिक सम्बन्ध की स्थापना का प्रयत्न।

**ख्रुश्चेव की विदेशनीति**—ख्रुश्चेव की विदेश नीति ने सोवियत रूस की पारस्परिक नीति को महत्वपूर्ण मोड़ प्रदान किया। उसने स्तालिन व्यवस्था के विपरीत विदेश नीति के क्षेत्र में कुछ नये कदम उठाये। ख्रुश्चेव की विदेशनीति के प्रमुख तत्व इस प्रकार थे—

(1) यात्रा की कूटनीति (Diplomacy of exchange visits)—ख्रुश्चेव ने अपने प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने के पूर्व ही विदेशों की यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। ख्रुश्चेव ने लालचीन, भारत, पूर्वीय यूरोप तथा ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका आदि देशों की यात्रा की। परिणाम स्वरूप अमेरिकी प्रतिनिधि उपराष्ट्रपति निकसन ने भी 1959 में रूस की यात्रा की। दोनों देशों के आपसी यात्रा विनिमय के फल-स्वरूप 'बर्लिन की समस्या' में सुधार आया और दोनों देशों के बीच सघन स्थिति में भी परिवर्तन आया जिसका प्रभाव 'निष्शस्त्रीकरण प्रयत्नों, अणु परीक्षण आदि विषयों पर पड़ा।'

(2) शिखर सम्मेलन व अथ वार्तायें (Summit Conferences)—रूस व अमेरिका के बीच व्याप्त 'शीतयुद्ध' तथा जमनी की समस्या को लेकर जो सघन बड़ा हुआ था, उसे ख्रुश्चेव ने वार्ता नीति से हल करने का प्रयत्न किया। 1959 में रूस व ब्रिटेन के बीच बर्लिन समस्या पर वार्तालाप शुरू हुई। मई 1959 में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका तथा सोवियत रूस के विदेश मंत्रियों का एक सम्मेलन जेनेवा (Geneva)



Summit meet) शुरू हुआ। शिखर सम्मेलन में जर्मनी के प्रश्न पर राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के बीच कई प्रस्तावों पर वाद विवाद हुए किंतु यू-२ घटना के कारण उस शिखर-सम्मेलन की हत्या कर दी गई और जर्मन समस्या में कोई सुधार नहीं आ सका यद्यपि 19 मई, 1960 को ख्रुश्चेव ने घोषणा की वह जर्मनी के सम्बन्ध में ऐसी कोई भी कायवाही नहीं करेगा जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति को खतरा पहुंचावे। इसके पश्चात् उस 5 जून 1961 में ख्रुश्चेव तथा अमेरीका के राष्ट्रपति कनेडी आस्ट्रिया की राजधानी वियना में मिले। इस सम्मेलन में जर्मनी के प्रश्न को लेकर कुछ प्रस्ताव रखे गये थे। इसी तरह रूस चीन विवाद को लेकर ख्रुश्चेव के काल में 5 जुलाई, 1963 में चीन व रूस के प्रतिनिधियों का सम्मेलन मास्को में हुआ किन्तु दोनों देशों में प्रगतिशील कटुता का वातावरण सम्मेलन को सफल नहीं बना सका। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ख्रुश्चेव ने बड़े बड़े मसलों को वातालाप द्वारा तय करने का प्रयत्न किया। स्तालिन काल में 'वातालाप की राजनीति' को कोई महत्व नहीं दिया गया था और ख्रुश्चेव ने उसे प्रारम्भ की। यद्यपि वातालाप के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम न निकले, तो भी, रूस के सम्बन्ध विश्व राष्ट्रों से बढ़ने लगे थे।

(3) शक्ति पर आधारित राजनीति (Policy based on position of strength)—ख्रुश्चेव की नीति की तीसरी विशेषता उसकी नीति का शक्ति सिद्धांत पर आधारित होना था। स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् ख्रुश्चेव ने सोवियत रूस की सैन्य शक्ति, अणुशक्ति आदि का ऐसी से बर्णन किया। उसने अमेरीका की दृष्टि में कोई नवीन आविष्कार में रूस को पीछे नहीं होने दिया। वह भी अमेरिका के डभैस की भाँति 'शक्ति दिखाना' (To demonstrate power) नीति का समर्थक था। 1962 में ब्यूबा प्रश्न पर ख्रुश्चेवकी विदेश नीति ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ह्यूमने अनुसार शक्ति-बर्णन तथा अमेरीका को शक्ति प्रदर्शन करना ही था। ख्रुश्चेव का विश्वास था कि अमेरिका को ब्यूबा के सोवियत अड्डों में घेर कर और अमेरीकी नगरों को अपने प्रक्षेपनास्त्रों का सुगम लक्ष्य बनाकर वह अमेरीका से मनमानी रियायतें प्राप्त कर सकेगा। यद्यपि वह इस नीति में सफल नहीं हो सका।

(4) सहप्रस्तित्व की राजनीति (Peaceful Co-existence)—ख्रुश्चेव ने 1956 की 20 वीं पार्टी कांग्रेस में उक्त नीति की घोषणा की। इस नीति के अन्तर्गत उसने स्तालिन युग में प्रचलित परम्परागत नीति की निंदा की और उन राष्ट्रों से सम्पर्क स्थापित करने पर जोर दिया जो गैर साम्यवादी हैं। इस नीति द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने पर जोर दिया गया। सोवियत संघ द्वारा विश्व के पिछड़े देशों को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया तथा पश्चिमी विरोधी शक्तियों के साथ खुले संघर्ष की नीति के परिणाम पर लिया गया। ख्रुश्चेव ने सम्मेलन में कहा "हम सशुक्ल राज्य अमेरिका या

अन्य किसी भी देश के विरुद्ध युद्ध करना नहीं चाहते। हम शांतिपूर्ण निर्माण में रचनात्मक दृष्टि से प्रतियोगी होना चाहते हैं।”

(5) शीत युद्ध में कमी (To ease the tension)—ख़ुश्चेव की विदेश नीति का पाचवां लक्ष्य अमेरिका से व्याप्त शीत युद्ध को कम करना था। यह सत्य है कि जिस प्रबल शीत युद्ध का स्तालिन काल में प्रारम्भ हुआ वह ख़ुश्चेव के समय में बहुत प्रभावहीन होता जा रहा था। ख़ुश्चेव ने ‘शीत युद्ध’ को कम करने के हेतु बड़े महत्वपूर्ण कदम उठाये। उदाहरणार्थ, 1958 में सोवियत रूस ने व्यक्तिगत रूप से अणु परीक्षणों को रोकने के निश्चय की घोषणा की, मई 1960 में चार बड़े राष्ट्रों का सम्मेलन, 1962 में क्यूबा में सोवियत रूस ने अमेरिकी दृष्टिकोण का समर्थन तथा 1963 में अणु-निरोधक संधि (Test-Ban Treaty) पर हस्ताक्षर किये।

इस प्रकार ख़ुश्चेव ने सोवियत रूस की विदेश नीति को भूत से सम्बन्धित रखते हुए तथा मौलिक सिद्धान्तों को रक्षा करते हुये भी नवीन युग की आवश्यकता-नुसार व्यवस्थित करने में भी भारी सफलता प्राप्त की। ‘विदेश नीति’ के क्षेत्र में सोवियत रूस में उसने एक रचनात्मक मोड़ दिया। यद्यपि 1964 में ख़ुश्चेव का पतन हुआ किंतु सोवियत विदेश नीति में जो उसने मोड़ दिया वह प्रशंसनीय रहा है। आज भी कोसीजिन उसी नीति का पूर्णरूपेण पालन कर रहे हैं।

कोसीजिन के समय में रूस की वर्तमान नीति—अक्टूबर 1964 में ख़ुश्चेव का पतन हुआ। यद्यपि सोवियत रूस में नेतृत्व परिवर्तन के कारणों का पता लगाना कठिन है किंतु प्रचलित विचारों के अनुसार रूस में कृपि असफलताएँ, रूस-चीन विवाद ख़ुश्चेव में अधिनायक तत्व उसके पतन के प्रमुख कारण थे। ख़ुश्चेव के पश्चात् कोसीजिन रूस के नए प्रधान मंत्री बने कोसीजिन ने अपनी विश्व राजनीति में जिन बातों पर अधिक जोर दिया वे हैं—सात चीन से सहयोग, एशियाई मसलों में गहरी दिलचस्पी लेना तथा पश्चिम से सम्बन्ध बढ़ाना। इसके कतिपय उदाहरण हैं। रूस ने भारत-पाक संघर्ष के संबंध में “ताशकंद समझौता” द्वारा नवीन दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसी भांति अरब-इजरायल संघर्ष में रूस का दृष्टिकोण अरब के पक्ष में स्पष्ट रूप से रहा। 21 जून, 1967 को रूस के राष्ट्रपति नासिर से बातचीत की। रूस ने खुले तौर पर अरब दृष्टिकोण का समर्थन करते हुये आधुनिकतम शस्त्र देने की घोषणा की।

इसी प्रकार ‘कोसीजिन युग’ में सोवियत रूस की विदेश नीति पश्चिम के प्रति सहयोग की रही है। रूस व अमेरिका दोनों ही चीन को अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देने में एक मत हैं। जून 1967 में अरब इजरायल समस्या को लेकर जो संयुक्त

राष्ट्र सभ का अधिवेशन हुआ उसमें रूसी प्रधानमंत्री कोसीजिन स्वयं पहुँचे और दोनों देशों के नेताओं में घंटों बातचीत हुई। दोनों ने 'सयम की राजनीति' का समर्थन किया। 1968 में सोवियत रूस व अमेरिका ने अणुसामग्री के सम्बन्ध में 'Non proliferation Treaty' हुई सधि पत्र पर हस्ताक्षर किये।

## एक नया मोड़

चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण व पाक को स व सामग्री—21 अगस्त 1968 में 'चेकोस्लोवाकिया' पर रूसी गुट की फौजों का आक्रमण एक महत्वपूर्ण घटना रही है। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रूस 'शक्ति राजनीति' तथा कूटनीतिक बलों से अपने राष्ट्रहित व दृष्टिकोण को भागे बढ़ाना चाहता है। इस आक्रमण की विश्व के सभी राष्ट्रों ने घोर निंदा की है। इसी प्रकार रूस द्वारा पाकिस्तान को जो शस्त्र सहायता दी गई है उसकी भारत में तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। क्या यह नीति रूस की 'ताशकद भावना' के विपरीत नहीं है? एक ओर रूस विद्यमान के प्रश्न पर उतना क्रियाशील नहीं है और दूसरी ओर वह अपनी नीति में मोड़ देकर 'हस्तक्षेप' नीति को अपना रहा है।

## सोवियत रूस व विश्व

रूस व अमेरिका —सोवियत रूस व अमेरिका में परस्पर मत विरोध स्वाभाविक है क्योंकि दोनों की विचारधारा पृथक् पृथक् है, दोनों की राजनीतिक व्यवस्था भिन्न हैं, दोनों का उद्देश्य शक्ति-व्ययन है, दाना ही महा-शक्ति बनने में सत्तान रही हैं और दोनों की पद्धतियाँ भी भलग भलग रही हैं। यह मत विरोध 'शीत युद्ध' के नाम से प्रारम्भ हुआ। इसका प्रारम्भ द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान में हुआ और दूसरे सिद्धान्त, मासल योजना, नाटो आदि सैन्य गठन ने इस मतभेद का विस्तार किया। इसके पश्चात् जर्मनी की जलक्रम में दोनों के बीच विरोध की दीवार बढ़ा दी। इसका परिणाम यह निकला कि दोनों देश शक्ति-व्ययन में लगे रहे और विश्वास की मात्रा समाप्त हो गयी। 1945 से 1962 के दौरान में जितने भी प्रयत्न किये गये, प्राप्त विश्वास के कारण सभी असफल रहे। खूँशेव तथा कॅनेडी युग में नवीन सबंधों को दोनों देशों में संचार प्रारम्भ हुआ। इस समय तक दानो देशों के बीच भय शक्ति सतुलन (Balance of terror) भी भा चुका था। दोनों महाशक्तियों शक्ति की सर्वोच्च सीमा प्राप्त कर चुकी थीं। इसके अतिरिक्त जो चीन दोनों ही महाशक्तियों को भयभीत करने लगा और उसके विरुद्ध आपसी सम्पर्क बढ़ने लगे। दोनों ने अणुशक्ति निरोधक संधियों पर हस्ताक्षर करके सहयोग नीति का परिचय दिया है। दोनों ही रक्षा में आंतरिक विरोध बढ़ने लगे। उदाहरणार्थ सोवियत रूस में चेकोस्लोवाकिया व सार्वभौम का मत विरोध है और अमेरिकी ब्लॉक में फ्रांस का

विरोध बढ़ रहा है। इस प्रकार रूस व अमेरिका में अपनी राजनीति का कार्य क्षेत्र काफी बँटा हुआ है किन्तु फिर भी विश्व शांति, विश्व युद्ध, चीन की भयानकता से दोनों ही पराभूत हैं दोनों ही देशों ने 'असलग्न राष्ट्रों को भायता दे दी है और जहाँ समय हो सके, एक दूसरे के नजदीक आ रहे हैं।

**रूस व चीन** —रूस-चीन विवाद को हमने एक पृथक् अध्याय में विस्तार से प्रस्तुत किया है। रूस-चीन विवाद आधुनिक विश्व की एक महत्वपूर्ण घटना है और विश्व का भविष्य इस पर बहुत अधिक निर्भर करता है। दोनों देशों में मतविरोध 'रूजवेल्ट युग' में प्रारम्भ हुआ जिसके कई कारण थे जैसे साम्यवादी दल के नेतृत्व का प्रश्न, स्तालिनवाद का खडन, चीनमें परिवर्तन नीति (Revisionism) यूगोस्लोवाकिया से रूस के संबंध, रूस द्वारा असलग्न राष्ट्रों को भायता, रूस का पश्चिमी राष्ट्रों से सहयोग तथा माओ व रूजवेल्ट में व्यक्तिगत विरोध। यद्यपि लाल चीन की वर्तमान शक्ति निर्माण का श्रोत रूस ही रहा है किन्तु दोनों में मत विरोध तीव्र है। इस मत विरोध के परिणाम स्वरूप चीन ने रूस से कुछ भूमि की माँग की, उसका एशियाई अफ्रीकी सम्मेलन में भाग लेने का विरोध किया, तथा चीन ने रूसी नेताओं तथा नीति की खुली मरसना की। इसपर रूस का 'वियतनाम' में जो दृष्टिकोण रहा है उसके पीछे यह मत विरोध ही कारण है। यद्यपि रूस ने वियतनाम को सैनिक शक्ति देने की (जनवरी 1965) में घोषणा की और 13 अप्रैल, 1967 को वियतनाम और सोवियत संघ में सैनिक सहायता पर समझौता भी हुआ किन्तु उसने खुले तौर पर अमेरिका का विरोध नहीं किया। इसका एक कारण रूस-चीन मत विरोध रहा है। रूस-चीन को सहायता अवश्य दे सकता है किन्तु वह उसे अपने से अधिक शक्तिशाली बनने का समयन नहीं कर सकता।

**भालोचना**—सोवियत विदेश नीति की भालोचना करते हुये एक बार ब्रिटेन के भूतपूष प्रधान मंत्री चर्चिल ने कहा था कि "साम्यवादी देश बौद्धिक रूप से अप्राप्त हैं (Communists are intellectually inaccessible)" यह सत्य भी है। रूस सदा तक ठीर पर मानसवाद व लेनिनवाद का समर्थक है। किन्तु उसकी व्यवहारिक राजनीति में बड़ा लचीलापन है। रूस ने एक ताशकद समझौता करवा कर शांति प्रतिनिधि का परिचय दिया और दूसरी ओर चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया और पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने लगा है। एक ओर उसने अमेरीकी गुट का मिथ में विरोध किया दूसरी ओर उसने हंगरी पर आक्रमण किया। इसी तरह वह एक ओर वियतनाम में अमेरीका का विरोध करता है तथा दूसरी ओर चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करता है। इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से रूस की विदेश नीति शक्ति संपन्न, अवसरवादिता तथा व्यक्तिगत नियम पर आधारित है। उसका प्रमुग

कारण रूस में शक्ति, राजनीति व पार्टी का समन्वय है । जैसे आज यह नहीं कहा जा सकता है कि रूस में कल कौन शक्ति ग्रहण करेगा उसी प्रकार किसी भी राष्ट्र के प्रति उसके दृष्टिकोण की निश्चित मायता रखना भ्रमपूर्ण सिद्ध होगा । विन्तु यह तर्क सिद्ध है कि रूस ने जिस गति से औद्योगिक प्रगति की है, और जिस रफ्तार से उसका सम्पर्क जनताग्रिब देशों से बढ़ रहा है उससे रूस की नीति में समन्वय सापेक्षता तथा स्थायित्व अवश्य मायेगा । इसी तरह के विचार एक बार पंडित नेहरू ने अपनी रूसी यात्रा के समय प्रगट किये थे ।

---

## निःशस्त्रीकरण की समस्या (Problem of Disarmament)

विश्व शांति के प्रश्न को हल करने के लिए जिन उपकरणों की सहायता ली गई उनमें एक निःशस्त्रीकरण भी है। विश्व शांति के लिए 'शक्ति तत्व का प्रयोग प्रमुख अवरोध है और शक्ति-तत्व को कम करने के लिए निःशस्त्रीकरण आवश्यक है।

निःशस्त्रीकरण से तात्पर्य — निःशस्त्रीकरण से तात्पर्य शस्त्रों की कमी करने से है। शस्त्रों की पूर्ण समाप्ति न तो सम्भव है और न उचित ही। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था कि, "प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के अनुपात में शस्त्रों की कमी करना, निःशस्त्रीकरण है।" दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि शस्त्र रखने के दो अभिप्राय हो सकते हैं— एक सुरक्षा का व दूसरा आक्रमण का। सुरक्षा की निर्धारित सीमा तक शस्त्रों की कमी करना निःशस्त्रीकरण है। इसके बाहर शस्त्रों की वृद्धि करना आक्रामक भावना का प्रतिनिधित्व करना है।

निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण बिलग पर एक मिश्रित उद्देश्य — आधुनिक युग में एक नवीन शब्द और प्रचलित हो चला है जिसे 'शस्त्र नियन्त्रण' (Arms Control) कहते हैं। शस्त्र नियन्त्रण से तात्पर्य राष्ट्रों के बीच उस सहयोग से है जिसका उद्देश्य शस्त्रों की दौड़ में कमी करना, युद्ध की सम्भावना को कम करना अथवा सहार के क्षेत्र को सीमित करना है। शक्ति नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रों के बीच समझौतों द्वारा विध्वंसकारी शस्त्रों की वृद्धि को रोकना है, किन्तु निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण दोनों में सम्बन्ध और विच्छेद है। निःशस्त्रीकरण में युद्ध सामग्री और युद्ध सैनिकों में अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति के अनुसार कमी करने से है, जबकि शस्त्र नियन्त्रण का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति का प्रयोग शस्त्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में लागू करने से है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जो शीत-युद्ध प्रारम्भ हुआ उसमें सोवियत रूस की यह मायता थी कि संयुक्त राज्य अमेरिका शस्त्र-नियन्त्रण निःशस्त्रीकरण के बिना चाहता है और रूस इसके बिल्कुल विपरीत, किन्तु निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण में अभिन्न सम्बन्ध है। शस्त्र नियन्त्रण के बिना निःशस्त्रीकरण सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये अमेरिका और उसके गुट के राष्ट्र निःशस्त्रीकरण का कमी समर्थन नहीं करेंगे—जब तक की उन्हें यह विश्वास न मिला दिया जाय कि रूस व

उस गुट के अन्य साम्यवादी मित्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में किये गये अन्य सन्धि पत्रों की शर्तों को कार्यान्वित करने के लिए तैयार हैं। इसी प्रकार रूस का यह मत है कि जब तक पूर्ण निशस्त्रीकरण नहीं होगा—वह शस्त्र नियन्त्रण के लिए तैयार नहीं है।

निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण का उद्देश्य एक ही है और वह है अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति प्रयोग से मुक्ति। शक्ति का प्रयोग केवल मात्र सामूहिक सुरक्षा के लिए स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण दोनों ही के पीछे युद्ध समाप्ति का उद्देश्य सम्मिलित है। इसलिए निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण दोनों एक दूसरे के स्पष्ट रूप से नजदीक हैं।

### निशस्त्रीकरण आवश्यक है— क्यों ?

निशस्त्रीकरण के पक्ष में जो तक प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें तीन प्रमुख हैं—

- (1) शस्त्र अनुपयुक्त हैं,
- (2) शस्त्र अनावश्यक खर्च है, और
- (3) युद्ध का प्रतीक भी।

शस्त्रों की होड़ मानव प्रगति नहीं, पतन का प्रतीक —शस्त्रों के निर्माण में जो धन और श्रम व्यय होता है उसके अनुपात में उसके परिणाम व्यय व हानिकारक सिद्ध होते हैं। शस्त्रों की अनुपयुक्तता को सम्बोधित करते हुए 1954 में राष्ट्रपति आइजन हावर ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा था—“हर बंदूक जो बनायी जाती है, हर युद्धपोत जो छोड़ा जाता है, हर राकेट जो चलाया जाता है—उसका अंतिम परिणाम यह सिद्ध करता है कि यह सब उन व्यक्तियों के कर्घों पर चलाये जाते हैं जो भूखे हैं और उनके पास कुछ खाने की नहीं है, जो ठिठुर रहे हैं और कपड़े नहीं हैं और जो बीमार हैं किन्तु उनका उपचार नहीं किया जाता है।” (Every gun that is made, every war-ship launched, every rocket fired signifies in the final sense a theft from those who are hungry and are not fed, those who are cold and are not clothed and those who are sick and are not treated) -

शस्त्रों के आर्थिक पहलु पर यदि दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होता है कि विश्व के राष्ट्र शस्त्र निर्माण में अपने राष्ट्र की एक महत्त्वपूर्ण राशि शस्त्रों के निर्माण पर खर्च कर रहे हैं। एक अनुमान के अनुसार आधुनिक मानव इसा मसीह के जन्म से एक स्वर्ण पीण्ड प्रति मिनट शस्त्रों पर व्यय कर रहा है। राष्ट्र संधि (League of Nations) के बजट के अनुसार विश्व शांति पर केवल उतना ही खर्च किया जा रहा है—जो शस्त्रों के ऊपर किये गये व्यय के तीन प्रतिशत व्याज के अनुपात में है। 1951 में संयुक्त राष्ट्र संधि महासचिव त्रिगवेरी ने कहा था कि—“संयुक्त राष्ट्र

संघ के 60 सदस्य राष्ट्र 2 हजार लाख डालर प्रति सप्ताह शस्त्र निर्माण पर खर्च कर रहे हैं जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ का एक वर्ष का कुल बजट 50000000 डालर है।" सन् 1967 में विश्व के कुछ बड़े राष्ट्रों का शस्त्र निर्माण पर खर्चा निम्न प्रकार से था—

(शस्त्रों पर किये गये खर्च की प्रतिशत)

(1) अमेरिका	—	9 8%
(2) सोवियत संघ	—	6 9 "
(3) इंग्लैण्ड	—	6 5 "
(4) फ्रांस	—	6 3 "
(5) लाल चीन	—	4 4 "
(6) जर्मनी (पश्चिमी)	—	3 9 "
(7) भारत	—	
(8) पाकिस्तान	—	
(9) कनाडा	—	4 6 "

ऐसा अनुमान लगाया जा चुका है कि एक परमाणु बम पर जो घनराशि खर्च होती है उससे तीस स्कूल व कालेज भवनवा पन्द्रह विक्रिसालय खोले जा सकते हैं। X ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सं० रा० संघ के आर्थिक विभाग ने अपने प्रतिवेदन में यह बताया है कि विकसित राष्ट्र के प्रति व्यक्ति की आय को 2 प्रतिशत बढ़ाने के लिए 19 हजार डालर प्रति वर्ष खर्च करना होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक व सामाजिक परिषद् के अनुमान के अनुसार 120 अरब डालर प्रति वर्ष भवनवा 330 लाख डालर प्रतिदिन विश्व में शस्त्रों के निर्माण पर व्यय किया जाता है। इसका 85 प्रतिशत भाग 7 राष्ट्रों के द्वारा वहन किया जाता है। इस प्रकार शस्त्र निर्माण पर किया गया खर्च केवल अपराध ही नहीं बल्कि ज्ञान व विज्ञान की प्रगति में एक महान बाधा है।

**निःशस्त्रीकरण एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता** — निःशस्त्रीकरण की नीति का मनोविश्लेषणात्मक पहलू अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शस्त्रों में वृद्धि ही नहीं वरन्

X The cost of one modern heavy bomber is thus—

A modern brick school in more than thirty cities It is two electric power plants each serving a town of sixty thousand population It is two fine fully equipped hospitals it is some fifty miles of concret highways "

—Ganguli B N 'Economic consequences of Disarmament  
India Quarterly Oct Dec 1962 P 324



शस्त्रों का रखना—भय, भ्रमुरक्षा, विरोध और युद्ध का प्रतीक होता है। शस्त्र स्वयं में एक बीमारी नहीं बल्कि बीमारी का प्रतीक है। जैसे कि ज्वर शरीर में किसी बीमारी का प्रतीक होता है। शस्त्र की दौड़ से भय व भविष्यवासी बढ़ता है व सैनिक प्रवृत्ति की जाति का उत्तरोत्तर विकास होता है। शस्त्रों की दौड़ से विध्वंसारमक चेष्टाओं व प्रवृत्तियों को प्रथम मिलता है। इससे प्रारम्भ में भ्रमकारी बढ़ती है व अन्त में मानव हत्या। शस्त्र स्वतन्त्रता के नहीं अपितु युद्ध एवं संधि के प्रतीक हैं। इसकी वृद्धि से समाज में भ्रमुरक्षा व युद्ध की भावना को बल मिलता है।

अतः एक और महत्वपूर्ण बात जो निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में है—यह है शस्त्रों का तथा शस्त्र बनाने वाले कारखाने व बच्चे माल का शांति के प्रसार में प्रयोग किया जाना सैनिक उत्पादन, प्रणुबल, शक्तिका यदि शांति के विस्तार में प्रयोग किया जाय तो मानव विकास कहीं अधिक द्रुतगति से करवाएँकारी सिद्ध हो सकता है। जिन सुविधाओं व आवश्यकताओं का प्रयोग सैनिका के लिए होता है यदि उनका साधारण जनता के लिए उपयोग किया जाय तो परिणाम मानव हित में कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध होंगे। भारत के मत में अणु शक्ति का शांति स्थापना में प्रयोग सम्भव है व अधिक इस ओर प्रयत्नशील भी है।

### निःशस्त्रीकरण में व्यवहारिक कठिनाइयाँ

(Difficulties in disarmament policy)

यह सब विदित है कि मानव निःशस्त्रीकरण के लिए किसी न किसी रूप में आदिकाल से प्रयत्नशील रहा है। 19 वीं शताब्दी से विश्व राजनीतिज्ञ निःशस्त्रीकरण के लिए बराबर योजनाएँ बनाते रहे हैं किन्तु निःशस्त्रीकरण को व्यवहारिक रूप देने में सफल नहीं हो पाये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निःशस्त्रीकरण को व्यवहारिक रूप देने में कुछ समस्याएँ हैं जो निम्न हैं—

(1) राष्ट्र-सुरक्षा का प्रश्न—प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख सुरक्षा का प्रश्न प्राथमिक है। सुरक्षा की प्राप्ति के लिए शक्ति अनिवार्य है। शक्ति शस्त्रों में सन्निहित है। दूसरे शब्दों में सुरक्षा, शक्ति व शस्त्र एक दूसरे के पूरक व अभिन्न हैं। स्वीडन जैसा देश जो निरन्तर रूप से सटस्य राष्ट्र है सुरक्षा के लिए 740 द० प्रति व्यक्ति शस्त्रों के निर्माण पर खर्च कर रहा है।

(2) युद्ध व निःशस्त्रीकरण—विद्वानों और राजनीतिज्ञों में युद्ध व शस्त्रों के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ के मतानुसार युद्ध व शस्त्र की दौड़ उत्पन्न होती है जबकि दूसरी ओर शस्त्रों से युद्ध प्रशस्त होता है ऐसा मानते हैं। यह स्वीकार करना अतिशय ही होगा कि शस्त्रों की कमी से युद्ध की सम्भावना नहीं रहेगी। उदाहरणार्थ ने शस्त्र वृद्धि कर भारत पर आक्रमण किया किन्तु भारत की शस्त्र क्षमता, सत्ता,

बर्मा आदि से अधिक होने पर भी वह आक्रमक नीति का समयन नहीं करेगा। 1907 के पश्चात् ज्यो-ज्यो यूरोप में युद्ध की सम्भावना बढ़ने लगी। शस्त्रों की दौड़ प्रारम्भ हुई। इसलिए स्पष्ट रूप से यह मत स्वीकार करना कि शस्त्रों की दौड़ युद्ध को जन्म देती है और निःशस्त्रीकरण से युद्ध नहीं होंगे आदि मत आदर्शवादी व तकहीन है।

3 शांति प्राप्ति व निःशस्त्रीकरण—निःशस्त्रीकरण और शांति में भी अधिक सम्बन्ध नहीं है। शस्त्रों की दौड़ से विश्व शांति का माग अवलुब्ध होता है—यह अभिमत कम व्यवहारिक दिखाई पड़ता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि यदि राष्ट्र अपनी शक्ति को उस सीमा तक बढ़ाते रहे, जब तक शक्ति सन्तुलन न हो जाय, तो शस्त्रीकरण यावत् सतत है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् रूस व अमेरिका में शीत-युद्ध प्रारम्भ हुआ और ज्यो-ज्यो दोनों शक्तियों में सन्तुलन बढ़ने लगा शीत युद्ध शनैः शनैः कम होने लगा। ऐसी स्थिति अन्य राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी दिखाई पड़ती है। भारत और चीन के मध्य मतभेद की रेखा शस्त्रीय असन्तुलन से ही है। यदि भ्रमरुत्तर से विचार करें तो शांति मानव मस्तिष्क की एक स्थिति है। शस्त्रों की कमी या वृद्धि से उसमें अंतर उत्पन्न नहीं होता है।

4 निःशस्त्रीकरण व तकनीकी विकास—विज्ञान की प्रगति व धन की खोजों में गहरा सम्बन्ध है। आज का मानव वैज्ञानिक प्रगति के लिए प्रयत्नशील है। इस दृष्टि से वह नये-नये आविष्कारों व शस्त्रों की खोज करता है। विज्ञान विकास के प्रति इस अविरल आस्था ने अधिक से अधिक भयंकर शस्त्रों की खोज की है। निःशस्त्रीकरण के लिए जो भी प्रयत्न किये जाते हैं वे जब तक प्रभावशाली नहीं होंगे, जब तक कि शस्त्र सम्बन्धी खोजों व आविष्कारों पर नियन्त्रण न किया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान की खोजों के सम्बन्ध में नियन्त्रण करना आधुनिक मानव को स्वीकार नहीं होगा।

5 निःशस्त्रीकरण नीति के लिये अनिवार्य सबदेशीयता—निःशस्त्रीकरण योजना की व्यवहारिकता सबदेशीय निःशस्त्रीकरण पर निर्भर करती है। एक पक्षीय या कुछ देशों द्वारा किये गये निःशस्त्रीकरण के परिणाम सफल नहीं होते जैसे—उदाहरण के लिए पाकिस्तान व चीन की अपेक्षा में भारत द्वारा किया गया निःशस्त्रीकरण। जर्मनी की अपेक्षा में फ्रांस ब्रिटेन द्वारा किया गया निःशस्त्रीकरण। निःशस्त्रीकरण जब सब देशीय नहीं होता, तो राष्ट्रों के बीच भय आशंका और युद्ध का खतरा बना रहता है। एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण दश की नतिक शक्ति को मजबूत होने में योग नहीं देता।

6 निःशस्त्रीकरण राष्ट्रवाद व राज्य प्रभुता—निःशस्त्रीकरण को व्यवहारिक बनाने में सबसे बड़ी कठिनाई राष्ट्रवाद और राज्य प्रभुता से उत्पन्न होती है।

उप राष्ट्रायता की भावना ने राष्ट्रों के बीच शस्त्र नियंत्रण के सम्बन्ध में पारस्परिक समझौता नहीं होने दिया है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की शक्ति की जाच का मोका नहीं देता, दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण में सभी स्वतन्त्र राष्ट्र एकमत नहीं हैं, जो राष्ट्रों के बीच समझौते को कार्यान्वित कर सकें और अपराधी राष्ट्र का दण्ड दे सकें। जब तक सभी राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता का आंशिक भाग अन्तर्राष्ट्रीय हित में समर्पित नहीं करते, निशस्त्रीकरण के परिणाम व्यवहारिक सिद्ध नहीं होंगे।

7 निशस्त्रीकरण में शस्त्रीकरण प्रवृत्ति — निशस्त्रीकरण समस्या की एक ओर अजीब प्रवृत्ति है। कुछ स्थितियों में निशस्त्रीकरण शास्त्रीकरण की ओर धकलता है। जैसा कि ऊपर कहा गया कि निशस्त्रीकरण का अर्थ सुरक्षा के अनुपात में शस्त्रों की मात्रा में कमी करने से है। अब यदि एक राष्ट्र के पास सुरक्षा के अनुपात में शस्त्र कम हैं तो उस राष्ट्र के लिए निशस्त्रीकरण का तात्पर्य शस्त्रों के बढ़ाने से होगा। दूसरी बात यह है कि सुरक्षा का स्रोत आंतरिक व बाह्य स्थिति है। कहीं भी परिवर्तन होने पर सुरक्षा स्थिति में परिवर्तन होगा और उसका प्रभाव शस्त्रों के अनुपात पर भी गिरेगा।

8 निशस्त्रीकरण की प्राप्ति में शस्त्रों के स्वरूप की कठिनाई — निशस्त्रीकरण के उद्देश्यों का व्यवहारिक बनाने में एक ओर कठिन समस्या-शस्त्रों के गुण (Quality) और सख्या (Quantity) का है।\* किसी देश के पास शस्त्र सख्या में कम है लेकिन गुण की दृष्टि से अधिक विध्वंसकारी हैं। एक अणुबम के अनुपात में विध्वंस के अर्थ सभी प्रकार के शस्त्रों की सख्या 'यूनितम' ही रहेगी। इसलिए निशस्त्रीकरण दोनों ही प्रकार के शस्त्रों की कमी से सम्भव है। किन्तु राष्ट्रों के बीच ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जो शस्त्रों के गुण व सख्या का अनुपात स्थायी-

\* Salvador de Madariaga illustrated at the Geneva Disarmament Conference in 1932 that—

"When the animals had gathered, the lion looked at the eagle and said gravely, "We must abolish talons!" The tiger looked at the elephant and said, "We must abolish tusks." The elephant looked back at the tiger and said, "We must abolish claws and jaws."

Thus each animal in turn proposed the abolition of the weapons he did not have until at last the bear rose up and said in tones of sweet reasonableness

"Comrades, let us abolish everything—everything but the great universal embrace"

—edited on the New York Times Sept 19, 1959 P 1

रूप से निर्धारित कर सके। यही नहीं विभिन्न राष्ट्र या विभिन्न राज्याधिपतियों में इस सम्बन्ध में एकमत होना सरल दिखाई नहीं पड़ता। 1932 के विश्व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण शस्त्रों की गुण व सख्या पर एकमत होना नहीं था।

9 नि शस्त्रीकरण व अणुबम—प्राधुनिक विश्व में अणुशक्ति में जब तक कमी न हो, अन्य प्रकार का नि शस्त्रीकरण कोई मूल्य नहीं रखता। जिस देश के पास अणुशक्ति है उस देश की वास्तविक शक्ति अन्य सभी देशों की, सभी प्रकार के शस्त्रों की सख्या से कहीं अधिक है। शस्त्रों की सरथा घटे या बढ़े लेकिन जब तक अणु शक्ति पर नियंत्रण न होगा नि शस्त्रीकरण की स्थापना मानव हित व विश्वशान्ति के सद्बल में प्रयत्न निष्फल रहेंगे।

10 नि शस्त्रीकरण व शस्त्र शक्ति का पता लगाने की कठिनाई—नि शस्त्रीकरण को लागू करने में शस्त्रों की विध्वंसकता का पता लगाना भी एक कठिन समस्या है। कुछ शस्त्र सख्या में अधिक होने पर भी उतने विध्वसात्मक नहीं है। शस्त्र आक्रामक भी होते हैं और सुरक्षात्मक भी। शस्त्र साध्य नहीं वरन् साधन है, उनकी मर्यादकता शस्त्रों को प्रयोग करने वाली सत्ता पर निर्भर करती है। यदि किसी देश की शासन बागडोर एक जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि के स्थान पर एक सैनिक सत्ताधारी के पास निहित है तो उस भवस्था में शस्त्रों का प्रयोग युद्ध के लिए अधिक सम्भव है। माओ की युद्ध समथन नीति, साम्यवाद युद्ध द्वारा ही प्रशस्त होता है, हिटलर का शक्तिवाद में विश्वास आदि ने शस्त्रों के आधिक्य का सहारा लिया, किन्तु दूसरी ओर शांतिप्रिय देशों ने शस्त्रों का प्रयोग सुरक्षा तथा सह-अस्तित्व की रक्षा के लिए किया। स्वीडन शस्त्रों में वृद्धि तटस्थनीति की सुरक्षा के लिए आवश्यक मानता है। दक्षिणी वियतनाम अपनी सुरक्षा के लिए विदेशों से शस्त्र आयात करता है। उदाहरणार्थ, एक हवाई जहाज का प्रयोग द्रुतगति वाले यातायात के रूप में अथवा बम डालने में भी किया जा सकता है। इस प्रकार नि शस्त्रीकरण के स्थान पर शस्त्रों के प्रयोग पर नियंत्रण अधिक आवश्यक है।

11 नि शस्त्रीकरण की नीति के अपनाने में देश की राजनीतिक विचारधारा भी एक बल बन है। विश्व के पूँजीवादी देश अपनी सुरक्षा के लिए कुछ नीतियाँ जैसे 'शक्ति स्थिति' का निर्माण (Building situation of strength) 'शक्ति अवरोध' का माग (Defence through deterrence) अथवा 'शक्ति-सन्तुलन' (Power equilibrium)। House of Commons में मापण देते हुए सन् 1955 में चर्चिल ने कहा था—“जब तक एक विश्वसनीय और सार्वदेशीय नि शस्त्रीकरण, प्राचीन एवं अर्वाचीन (Conventional and non-conventional) शस्त्रों पर समझौता नहीं होता, जब तक कि एक प्रभावशाली निरस्तरण करने का

माग नहीं मपनाया जाता, तब तक एक ऐसी नीति की आवश्यकता है जिसे प्रवरोधात्मक शक्ति' (Deterrant Power) कहते हैं।" सन् 1955 में डोनाल्ड ए. फाल्स ने कहा था—“शक्ति का माग एक लम्बा और कठिन माग है, भूत इसलिए हमें अपनी शक्ति सदैव बनाये रखनी चाहिए।”

12 निशस्त्रीकरण व बेकारी समस्या—निशस्त्रीकरण नीति का परिणाम एक ऐसे वग में बेकारी उत्पन्न करने से होगा जो शस्त्र निर्माण उद्योगों में लगे हुए हैं, और उस क्षेत्र में विशेष योग्य हैं। अमेरिका में 25 प्रतिशत व्यक्ति Semi skilled और Skilled (कुशल व अर्ध कुशल) हैं। 1954 के आकड़ों के अनुसार एक लाख तिहत्तर हजार वृत्तानिकों में 3 प्रतिशत सुरक्षा सेनाओं से सम्बन्धित थे। पोलैण्ड में सैनिक सप्लाई उद्योग—राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग प्रदा करते हैं। इस प्रकार सैनिक उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों का अर्धसैनिक उद्योगों में भेजा जाना निशस्त्रीकरण के लागू करने पर समस्या बन जायगा। एक भारी सादाद में श्रमिकों को नई शिक्षा देनी होगी, बहुत सी मशीनें ब्यर्थ घोषित कर दी जायेंगी। एक भारी सादाद में श्रमिकों को नये व्यवसाय में लगाने का प्रश्न आवश्यक हो जायगा।

अन्य व्यावहारिक कठिनाइयाँ—अन्त में निशस्त्रीकरण की नीति को कार्यान्वित करने में कुछ विशिष्ट व्यावहारिक कठिनाइयाँ और भी हैं—जिन राष्ट्रों के पास शस्त्र मौजूद हैं, क्या वे अपने शस्त्रों को—जिनमें कि उनकी बहुत बड़ी पूंजी, श्रम एवं समय लगा है—नष्ट करने के लिए तैयार हो जायेंगे? क्या बड़े राष्ट्र, छोटे राष्ट्रों को समान सुरक्षा देने का दायित्व पूरा कर सकेंगे? क्या 'शक्ति पीड़' की नीति का गौण भाग बनाने के लिए कटिबद्ध हो जायेंगे? क्या राष्ट्र एक दूसरे को शस्त्र निरीक्षण का अधिकार दे देंगे? क्या शस्त्रों व सुरक्षा के बीच का अनुपात निर्धारित हो सकेगा? क्या राष्ट्र युद्ध की नीति के परित्याग का समर्थन कर सकेंगे? क्या राष्ट्रों का नतिक स्तर इतना उठ जायगा कि वे शक्ति के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करेंगे? क्या राष्ट्रों में स्वतन्त्रता समानता व बहुता—राष्ट्रवाद की उपेक्षा कर अपेक्षित हो सकेंगे? और क्या निशस्त्रीकरण एक साथ लाया जायगा या धन धन? औरगे-ये जैसे व्यक्ति—जो अन्तर्राष्ट्रीय नीति को 'शक्ति-समर्थ' मानते हैं—निशस्त्रीकरण को एक आदर्श अधिक और यथायथा कम के रूप में मानते हैं।

### निशस्त्रीकरण एक ऐतिहासिक अवलोकन

निशस्त्रीकरण की नीति को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही प्रयत्न किये जाने लगे थे। 1815 के वियना कांग्रेस में निशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखे गये थे। 1899 के हेग सम्मेलन में प्रस्तावित हुआ कि मानव के भौतिक व नतिक विकास के लिए सैनिक कार्यों

में व्यय होने वाली रकम में कमी की जाय। 1907 के द्वितीय 'हेग सम्मेलन' ने यह सिफारिश की कि नि शस्त्रीकरण के प्रश्न को प्रत्येक सरकार गहराई से अध्ययन करेगी। 1912 में 'लाइ हाल्डेन मिशन' ने नौ सेना की दौड़ में कमी करने की कोशिश की किन्तु सफल नहीं हुए।

8 जनवरी 1918 में राष्ट्रपति विल्सन ने एक सिद्धांत की स्थापना की जिसका प्रामाण्य था कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी शस्त्र सख्या अपनी सुरक्षा के अनुपात में कम कर ले। 'वेरिस सम्मेलन' (1919) की सिफारिशों के अनुसार पराजित जर्मनी पर नि शस्त्रीकरण की शर्तें लागू की गईं और भाषा प्रकट की गई कि राष्ट्र संध की उपस्थिति में नि शस्त्रीकरण किया जा सकेगा।

1919 से 1939 के दो विश्व-युद्ध के बीच काल में नि शस्त्रीकरण की समस्या का राष्ट्र संध के भीतर और बाहर हल करने के प्रयत्न किये गये। राष्ट्र संध के अनुबंध में शस्त्रों के कमी करने के संबंध में व्यवस्था की गई। जनवरी 1920 में एक स्थायी प्रामाण्य दात्री आयोग का निर्माण किया गया। जिसका उद्देश्य राष्ट्र संध के अधीन नि शस्त्रीकरण को लागू करना था। 25 फरवरी 1921 को एक अस्थायी सम्मिश्रित आयोग (T M C) की स्थापना की गई। 1924 में लाइ ऐशर (Lord Esher's Plan) प्लान बनाया गया जिसके अनुसार स्थल सेनाएँ राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार निश्चित किये जाने की थी। सन् 1922 में 'पंचशक्ति संधि' का क्षेत्र, उन तक स्वतंत्र कर दिया था जिन्होंने सन् 1922 में हस्ताक्षर नहीं किये थे। दिसम्बर सन् 1925 में एक 'प्रिपेडरी आयोग' (Preparatory Commission) की स्थापना हुई जिसमें रूस व अमेरिका का नि शस्त्रीकरण योजना को लागू करने में सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न किये। 3 दिसम्बर 1927 को इस प्रिपेडरी आयोग में रूस के लिट्वीनोव ने खुले तौर पर पूर्ण सार्वभौमिक नि शस्त्रीकरण की घोषणा की। फरवरी 1932 में जेनेवा 'एक विश्व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ' जिसमें 57 राज्यों के 230 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। परन्तु यह सम्मेलन भी सफल नहीं हो सका। मई सन् 1931 में जर्मनी ने पॉकेट बैटलशिप का निर्माण किया। इटली ने नि शस्त्रीकरण का समर्थन नहीं किया। क्योंकि वह आक्रमक नीति का समर्थक था। फ्रांस ने नि शस्त्रीकरण को सुरक्षा के साथ जोड़ दिया। ब्रिटेन और अमेरिका यूरोपीय सुरक्षा के लिए कोई वायदा नहीं करना चाहते थे। सम्मेलन में 337 प्रस्ताव प्रस्तुत हुए। सम्पूर्ण सम्मेलन मन मतांतरों के वशीभूत होने से कुछ न कर सका। 19 अक्टूबर 1933 को जर्मनी ने राष्ट्रसंध व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन से अपने को पृथक् कर लिया। इस प्रकार सम्मेलन असफल रहा।

इसी प्रकार राष्ट्र संध के बाहर भी नि शस्त्रीकरण के सम्बंध में प्रयत्न किये गये थे। सबसे पहला सम्मेलन 12 नवम्बर 1921 को वाशिंगटन में

जिसका उद्देश्य जापान की नौसेना शक्ति को कम करना था। इस सम्मेलन में नौसेना सम्बन्धी कुछ नियम बड़े महत्वपूर्ण थे। नौसेना सम्बन्धी शस्त्रों को सीमित करने के प्रतिरिक्त—अगले दस वर्षों के लिए नौसेना अवकाश घोषित किया गया किन्तु ब्रिटेन व फ्रांस में मतभेद बना रहा और जापान ने इस सचि को एक अनिवार्य रूप से घोषी गयी सचि के रूप में समझा। 17 जून 1925 में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जेनेवा में हस्ताक्षर हुए, परन्तु वह सम्मेलन भी सफल नहीं हो सका। जून 1927 में अमेरिका ने एक पृथक् 'नौसेना सम्मेलन' का निष्पत्ति लिया जिसमें वाशिंगटन सम्मेलन के प्रतिरिक्त विषयों पर विचार करना था। 30 अक्टूबर 1930 में 'अजोरा प्रोटोकल' जो नौसेना शस्त्रों के कमी करने के सम्बन्ध में स्वीकृत हुए। 18 जून 1935 को 'एग्लो जर्मन नौसेना' समझौता हुआ। 9 दिसम्बर 1935 को लन्दन में 5 राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया गया। मार्च 1936 में फ्रांस ने रूस व अमेरिका के साथ इस सचि पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार नौसेना शक्ति में कमी करना था। इस प्रकार 1939 तक जो प्रयत्न किये गये वे सभी प्रयत्न प्रायः असफल रहे। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया भूत सभी प्रयत्न धूमिल हो गये।

युद्धांतर काल अथवा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान में भी निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न किये गये। जवाहरलाल 1941 का एटलांटिक चार्टर, 1943 का परमाणु सम्बन्धी समझौता, 11 फरवरी 1945 के 'याल्टा सम्मेलन' में जर्मनी का पूर्ण निःशस्त्रीकरण किया जाना—और "पोट्सडम सम्मेलन" में जर्मनी के सम्बन्ध में निःशस्त्रीकरण को लागू किया जाना आदि महत्वपूर्ण कदम थे। किन्तु 6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा पर बम डाला गया और निःशस्त्रीकरण योजना स्थगित हो गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में किये गये प्रयत्न—द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त काल में भी निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर तथा बाहर दोनों प्रकार के प्रयत्न थे।

3 अक्टूबर 1945 को अमेरिकी राष्ट्रपति ने यह घोषणा प्रकट की कि 'सभी विश्व-राष्ट्र अणुशक्ति के सैनिक प्रयोग का त्याग कर दे'। 24 जनवरी 1946 को सामान्य सभा (General Assembly) ने एक 12 सदस्यीय 'अणुशक्ति आयोग' की स्थापना की। 14 जून 1946 को अमेरिकी प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र सभा में प्रस्तावित किया कि अणुशस्त्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण किया जाय और उन्पर निरीक्षण व नियंत्रण शक्ति संयुक्त राष्ट्र सभा को दी जाय। यह योजना अमेरिकी 'बर्नार्ड बेरुच' ने बनायी थी और यह 'बक्य योजना' के नाम से भी प्रसिद्ध है। फरवरी 1947 को संयुक्त राष्ट्र सभा ने परम्परागत शस्त्रों (Conventional

Armaments) के सम्बन्ध में एक आयोग की स्थापना की। 4 नवम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र सभ की सामान्य सभा ने बरुच योजना को 46-6 मतों के अनुपात से स्वीकार करली, किंतु रूस ने योजना पर कुछ सुरक्षाये लगाने पर जोर दिया। 24 अक्टूबर 1950 को अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमेन ने एक नये निःशस्त्रीकरण आयोग की सिफारिश की जो परम्परागत और अणुशस्त्रों पर नियन्त्रण कर सके। 11 जनवरी 1952 को इस आयोग की स्थापना की गई। 8 दिसम्बर 1953 को राष्ट्रपति आइजन हावर ने 'शांति के लिए अणु' (Atom for Peace) योजना को साधारण सभा के सम्मुख प्रस्तावित किया। 29 जुलाई 1955 को राष्ट्रपति आइजनहावर व सोवियत रूस के प्रधानमंत्री बुल्गानिन को जेनेवा में आकस्मिक आक्रमण को रोकने के विरुद्ध एक नया प्रस्ताव 'ओपन स्काइज प्लान' (Open Skies Plan) रखा जिसे सोवियत रूस ने अस्वीकार कर दिया। 19 नवम्बर 1957 को सोवियत रूस ने यह घोषणा की कि वह निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी किसी भी योजना में भाग नहीं लेगा, क्योंकि उसने निःशस्त्रीकरण आयोग के गठन के सम्बन्ध में आपत्ति उठाई थी—यद्यपि साधारण सभा ने निःशस्त्रीकरण आयोग की सदस्य सख्या सोवियत रूस को सन्तुष्ट करने के लिए 11 से बढ़ाकर 25 कर दी थी। उसके पश्चात् सन् 1958 में सारे ही संयुक्त राष्ट्रसभ के सदस्यों को निःशस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बना दिया गया। अगस्त, 1959 में एक निःशस्त्रीकरण कमेटी, जिसमें पांच पश्चिमी व पांच साम्यवादी देश सदस्य थे नियुक्ति की गई और सन् 1960 की 15 मार्च को 10 राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का जेनेवा में प्रारम्भ हुआ। 31 अक्टूबर 1960 को रूस और अमेरिका के बीच "अणु-प्रयोग पर नियन्त्रण" के सम्बन्ध में बातचीत प्रारम्भ हुई। लगभग 9 महीने बाद सोवियत रूस ने घोषणा की कि वह अकेला ही अणु-परीक्षण फिर से चालू करेगा और तुरन्त इसके पश्चात् अमेरिका ने भी ऐसी घोषणा की। 25 सितम्बर 1961 को राष्ट्रपति केनेडी ने पूरा निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक 'अमेरिकी योजना' प्रस्तुत की—जिसका प्रथम कदम अणुशस्त्रों के परिक्षण करने पर नियन्त्रण करना था। 26 सितम्बर 1961 को राष्ट्रपति केनेडी ने अमेरिकी शस्त्र नियन्त्रण सम्बन्धी कानून पर हस्ताक्षर किये। 20 दिसम्बर 1961 को संयुक्त राष्ट्र सभ की साधारण सभा ने बड़े राष्ट्रों की निःशस्त्रीकरण समिति के निर्माण को स्वीकार किया और 1962 की मार्च में इससे निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी वार्तालाप प्रारम्भ की। रूस और अमेरिका ने समिति के अधीन पृथक् पृथक् प्रस्ताव रखे जिनका उद्देश्य निःशस्त्रीकरण को सार्वदेशीय बनाना था और टुकड़ों में बांट कर धीरे धीरे लाना था। 27 अगस्त को अमेरिका और ब्रिटेन ने दो प्रस्ताविक संधियां रखी—जिनमें एक का उद्देश्य अणु-परीक्षण पर नियन्त्रण और निरीक्षण करना था और दूसरे का अर्थ सभी प्रकार के अणुपरीक्षणों पर सीमा लगाना था। 20 जून 1963 को अमेरिका और सोवियत रूसने



युद्ध के मय वा कम करने के लिए एक 'हॉट साइन' का निर्माण किया। 5 अगस्त 1963 को मास्को में 'अणुपरीक्षण निरोधक संधि' पर हस्ताक्षर किए इस पर लगभग 100 राष्ट्रों ने स्वीकृति प्रदान की। 17 अक्टूबर 1963 को संयुक्त राष्ट्र सभ की साधारण सभाने आकाशीय अणु-शस्त्र (Nuclear weapons on outer space) को रोकने के लिए प्रस्ताव रखा। 8 जनवरी 1964 को राष्ट्रपति जॉन्सन ने घोषणा की कि वह यूरेनियम का उत्पादन 25 प्रतिशत कम करेगा और प्लूटोनियम उत्पादन करने वाले 14 रिएक्टरों में से चार को कम कर देगा। 29 जनवरी को राष्ट्रपति जॉन्सन ने निशस्त्रीकरण समिति का सिफारिश को वि राष्ट्र शक्ति प्रयोग का त्याग करे, अणुशक्ति को सीमित करे तथा आकस्मिक आक्रमण पर नियन्त्रण करें और अणुशस्त्रों के फलाव को रोके। 20 अप्रैल को राष्ट्रपति जॉन्सन ने यूरेनियम के उत्पादन को फिर कम कर दिया। 21 जुलाई 1964 को मॉस्को के कई राष्ट्रों ने भी अणु उत्पादन नीति का त्याग किया। परन्तु 16 अक्टूबर 1964 को ताई चीन ने पहला अणुबम का परीक्षण किया। 23 नवम्बर 64 को ही दक्षिणी अमेरिका के स्वतंत्र राष्ट्रों ने एक आयोग की स्थापना की जो दक्षिणी अमेरिका में अणु शस्त्र अवरोध को कार्यान्वित कर सके। 26 अप्रैल 1965 को निशस्त्रीकरण आयोग में 11 सदस्यों का निशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस ने भी इसमें भाग लिया 15 सितम्बर 1965 को घाठ असलान राष्ट्रों ने सार्वभौमिक अणु नियन्त्रण संधि को लागू करने के लिए प्रस्ताव पारित किये।

इन प्रकार 21 साल का निशस्त्रीकरण का एक सम्पन्न इतिहास यह स्पष्ट करता है कि निशस्त्रीकरण एक जटिल प्रश्न है और राष्ट्रों के बीच इसकी अनिवार्यता को महसूस करते हुए भी एकता का होना सम्भव दिखाई नहीं पड़ता।

**अणुशक्ति वृद्धिकरण सम्बन्धी प्रस्ताव (Non-Proliferation Treaty)**—  
हाल ही में यह प्रस्ताव, 27 जनवरी 1966 जिनेवा में अमेरिकी प्रतिनिधि ने रखा था। जिसके पाँच प्रमुख अनुबन्ध थे—प्रथम, कोई भी अणुशक्ति वाला देश किसी दूसरे देश का अणुशस्त्र नहीं देगा। द्वितीय, प्रत्येक अणुशक्ति विहीन राष्ट्र यह वादा करेगा कि वह अणु शक्ति का निर्माण देश में नहीं होने देगा। तृतीय प्रत्येक राष्ट्र इस संधि के अंतर्गत अणुशक्ति के शांति प्रयोग के लिए एक दूसरे को सहयोग देगा। चतुर्थ, इस संधि पर कोई भी देश हस्ताक्षर कर सकेगा। अंत में यह संधि सभी लागू होगी जब हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र (Instruments of ratification) सरकार को समर्पित कर दे। यह संधि तब तक लागू मानी जायगी जब तक कि कोई सदस्य राष्ट्र किसी विशेष अवस्था में अपने को संयुक्त राष्ट्र सभ से पृथक् न करे। अंत में, यह संधि राष्ट्रीय सरकारों के पास जमा रहेगी संयुक्त राष्ट्र सभ के 110 सदस्यों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया।

इस 'सन्धि' प्रस्ताव पर सबसे ज्यादा आपत्ति पश्चिमी जर्मनी, इटली और भारत की थी। 13 जून 1968 को उक्त प्रस्ताव को सन्धि के रूप में संयुक्त राष्ट्र में पारित किया गया जिसके पक्ष में 95 तथा विपक्ष में 4 वोट आये और 21 सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया।

यदि उपर्युक्त निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयत्नों का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट है कि विश्व के सभी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण को आवश्यक मानते हैं और उसे कार्यान्वित करने में प्रयत्नशील भी रहे हैं किंतु फिर भी निःशस्त्रीकरण के लिए कोई आशातीत परिणाम नहीं निकल सके। 1963 में जो अणु परीक्षण प्रतिबंध के सम्बन्ध में सन्धि हुई उसमें भी कई राष्ट्रों ने जैसे पश्चिमी जर्मनी, बाल्टीन, फ्रांस जैसे देशों ने हस्ताक्षर नहीं किये। इसी तरह 1968 की प्रस्तावित परमाणुविक सन्धि का पश्चिमी जर्मनी, इटली के अलावा भारत ने भी विरोध किया। भारत की चीन का स्थायी खतरा है और यह सन्धि भारत को उस खतरा से मुक्ति नहीं दे सकती। इसके अतिरिक्त इस सन्धि द्वारा परमाणु-शस्त्रधारी राष्ट्रों के आक्रमण के विरुद्ध कोई रक्षा की व्यवस्था नहीं थी।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न इसके पूर्व के प्रयत्नों की तरह ही अधिकांशतः नितांत असफल ही रहे। शीत युद्ध की प्रवृत्ति के कारण विजयी राष्ट्रों में शस्त्रों की होड़ के साथ साथ, जर्मनी और जापान जैसे पराजित राष्ट्र भी शस्त्रीकरण की होड़ में आगे बढ़ गये। निःशस्त्रीकरण की असफलता के प्रधान कारण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शीत युद्ध, महाशक्तियों का पारस्परिक वैमनस्य तथा विचारधारागत मतभेद रहे हैं।

उपर्युक्त वक्तव्यों से कुछ महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट हैं। वर्तमान जगत में निःशस्त्रीकरण की समस्या नवीन नहीं है आज यह पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण निष्पत्त्यात्मक तथा अत्यंत तत्कालिक बन चुकी है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अणुबम, महाद्वितीय प्रक्षेपणास्त्रों (ICBM) तथा स्पुतनिक आदि विकास ने निःशस्त्रीकरण की समस्या का अधिक भयानक बना दिया है। आधुनिक काल में निःशस्त्रीकरण के जितने भी प्रयत्न किये गये। वे सभी बेवत असफल ही नहीं हुए बल्कि हर कदम के पश्चात् और अधिक भयावह शास्त्रों का आविष्कार हुआ। यद्यपि निःशस्त्रीकरण की सफलता में बहुत सी बाधाएँ हैं फिर भी मानव बराबर निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्नशील है। महाशक्तियों में अब कोई ऐसा मौलिक मतभेद नहीं है कि उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। जुलाई 1963 की 'टेस्टमैन' सन्धि इस बात की प्रतीक है कि निःशस्त्रीकरण किसी सीमा तक सम्भव हो सकता है रूस व अमेरिका जैसी महाशक्तियाँ (Super Powers) भी इस बात पर सहमत हो गये हैं कि बाह्य अंतरिक्ष का सैनिक प्रयोग नहीं होना

चाहिये यदि छोटे छोटे राष्ट्रों ने अपनी मनिक शक्ति का त्याग कर दिया तो बड़े राष्ट्रों से यह आशा करना अत्यधिक कठिन नहीं होगा। फिर भी नि शस्त्रीकरण की प्राप्ति में कुछ मौलिक कठिनाइयाँ हैं जिनका समाधान व्यवहारिक दृष्टि से जटिल दिखाई पड़ता है।

नि शस्त्रीकरण स्वप्न को साकार रूप प्रदान करने के सम्बन्ध में कतिपय सुझाव—पहला, नि शस्त्रीकरण की समस्या का अधिक सम्बन्ध सुरक्षा के प्रश्न से है। सुरक्षा का प्रश्न प्रत्येक विदेश नीति का प्रमुख आधार है। इस सुरक्षा की प्राप्ति के लिए दो ही माग सम्भव हैं। या तो प्रत्येक देश अपनी सुरक्षा के अनुपात में शस्त्र रखे अथवा नि शस्त्रीकरण हो या अन्तर्राष्ट्रीय सस्था द्वारा सुरक्षा की अपेक्षित व्यवस्था हो। दूसरा, नि शस्त्रीकरण की समस्या जसा कि सार्व्वेष्टी भेद्रीभागार ने बताया—नि शस्त्रीकरण की नहीं, यह वास्तव में विश्व समाज के संगठन की समस्या है। नि सदेहरूप से आधुनिक मानव इस विश्व समाज के निर्माण में पूर्ण रूपेण सलग्न है और इसलिए विश्व संगठन को मजबूत बनाकर नि शस्त्रीकरण की अपेक्षित आशा की जा सकती है। तीसरा, नि शस्त्रीकरण या शस्त्रीकरण राष्ट्रों के बीच व्याप्त आर्थिक असमानता के कारण होती है। इससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रों के मध्य जितनी आर्थिक भेद की लाठी कम हो जायगी उतनी ही शोषण और शस्त्र की आवश्यकता कम महसूस होगी। चौथा, नि शस्त्रीकरण तभी सम्भव हो सकता है जब अथ राष्ट्र भी एक बार शस्त्रों का दौड़ की शक्ति स्थिति से समान हो जाय—इस स्थिति की प्राप्ति के कुछ समय पश्चात् राष्ट्रों में स्वतः नि शस्त्रीकरण की इच्छा प्रबल होगी। किन्तु इस प्रकार के नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध पहले शस्त्रीकरण करना होगा। अतः मे लोकतन्त्र के प्रति राष्ट्रों में जितनी धृढा भरेगी, उतना ही अधिक महत्व नि शस्त्रीकरण पर डाला जायगा।

